महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य विरचित
श्रीभागवत विवृति

सुबोधिनी

हिन्दी भावानुवाद

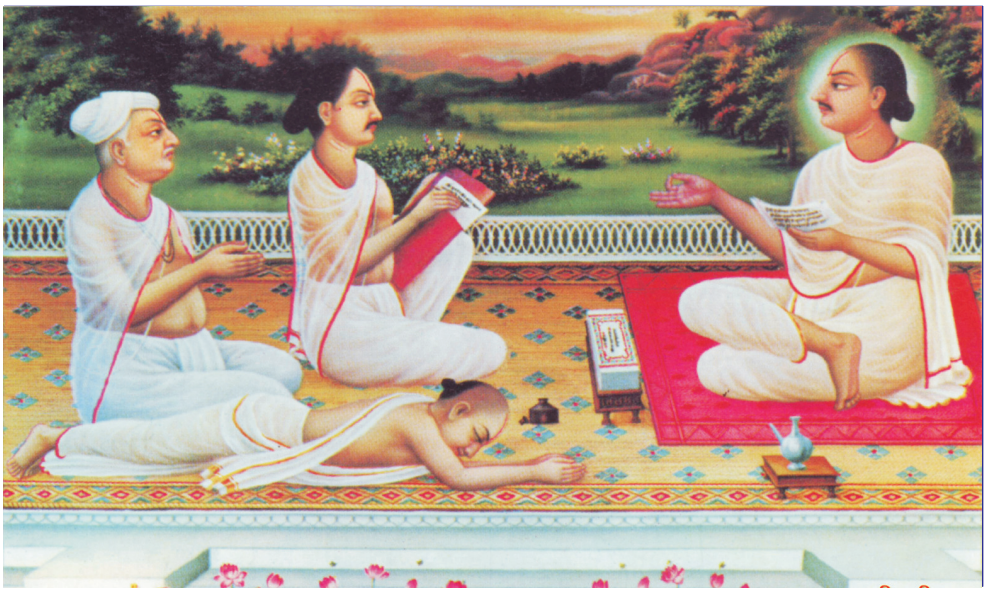

दशमस्कन्ध–जन्म प्रकरण

(अध्याय १–४)

खंड – ६

जय श्रीकृष्ण

श्रीवल्लभाधीशो जयति

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य विरचित

श्रीभागवत विवृति

'सुबोधिनी' दशम स्कन्ध

जन्म प्रकरण

(अध्याय १–४)

हिन्दी भाषानुवाद

अनुवादकः

गो.वा.श्रीफतहचन्द वासु(पुष्करणा), जोधपुर

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य

... तब व्यासजीने भागवतपुराण प्रकट किया जिसके अभ्यास (श्रवण–स्मरण–कीर्तन) से लोग मुक्त हो सकते हैं, बशर्ते भागवतका आजीविकार्थ उपजीवन न किया जाय. यह श्रीमद्भागवत एक श्रेष्ठ साधन है. अतः प्रयत्नपूर्वक, किसी लौकिक हेतु या दम्भ के बिना, आदरके साथ इसका पठन करना चाहिये. भागवतका पाठ प्रयत्नपूर्वक किसी भी अन्य हेतुके बिना ही करना चाहिये. प्राण चाहे कण्ठमृ ही क्यृ न अटक जायें परन्तु आजीविकार्थ उसका उपयोग नहीं ही करना चाहिये. भागवतका आजीविकार्थ उपयोग न करके अन्य किसी भी उपायसे अपना निर्वाह चले चला लेना चाहिये

(तत्त्वार्थदीपनिबन्ध.२।६७, २४३, २५४).

जो लोग भगवद्गुणगानको अपनी आजीविकाका साधन बनाते हैं ऐसे गुणगानकर्ता गंदे जलको एकत्रित करनेकेलिये जमीनमृ खोदे गये गहरे गढ्ढेकी तरह होते हैं. (जलभेद.५)

मुंह–हाथ–पांव आदि धोनेमृ प्रयुक्त गंदे जलको एकत्रित करनेकेलिये भूमिमृ जो गढ्ढे खोदे जाते हैं उनके जैसे अधम होते हैं दक्षिणा लेकर कथा करनेवाले ...आशय यह है कि गढ्ढेमृ भरे हुवे प्रक्षालनोच्छिष्ट गंदे जलकी तरह इन गानोपजीविअृका भाव सत्पुरुषृकेलिये ग्राह्य नहिं होता ... पौराणिकृके भावृका निरूपण करनेके बाद जो गायकृका निरूपण किया गया है वह यह दिखलानेकेलिए कि (आजीविकार्थ पुराणृका उपयोग करनेवाले) पौराणिक भी ऐसे गायकृके तुल्य नीच ही होते हैं.

(श्रीकल्याणरायविरचित जलभेदविवृति ५).

।। प्रासंगिक ।।

यह ज्ञापित करते हुए अत्यन्त हर्ष हो रहा है कि महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरण विरचित श्रीभागवतकी विवृति 'सुबोधिनी'के हिन्दी अनुवादका पुनः प्रकाशन किया जा रहा है.

यह तो सुविदित है कि मूल संस्कृत सुबोधिनीका पुनः प्रकाशन पूज्य गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजीके सम्पादकत्वमें श्रीवल्लभविद्यापीठश्रीविट्ठलेश-प्रभुचरण आश्रम ट्रस्ट, कोल्हापुर द्वारा किया गया है.

सुबोधिनीके गो.वा.श्रीनानुलाल गांधी, गो.वा.श्रीमग्नलाल शास्त्री तथा गो.वा.श्रीव्रजलाल सांकळीया आदि विद्वानों द्वारा लिखित गुर्जरभाषानुवादका पुनः प्रकाशन श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट, मांडवी द्वारा किया जा चुका है.

इसी तरह श्रीरामानुजमतानुयायी किन्तु सुबोधिनीके परम प्रेमी श्रीटी. रामनन्ने सुबोधिनीका अंग्रेजी अनुवाद करके उसे सद्गुरु पब्लिकेशन्स, दिल्ली द्वारा मूल संस्कृत सहित प्रसिद्ध करवाया है, जो २४ खंडोंमें उपलब्ध होता है. यह अंग्रेजी अनुवाद श्रीरामन्ने श्रीसुबोधिनी प्रकाशन मंडल, जोधपुर द्वारा प्रकाशित, सम्प्रति अनुपलब्ध, सुबोधिनीके हिन्दी अनुवादका ही किया है. वे लिखते हैं:

> "I owe a deep debt of gratitude to Sri Subodhini Parakashan Mandal (Jodhpur). My traslation is, to a very large extent, based on this book and I am, indeed, very grateful for this Mandal".

सुबोधिनीके हिन्दी अनुवादका प्रकाशन ''श्रीसुबोधिनी प्रकाशन मंडल''(जोधपुर) नामकी संस्थाको स्थापित करके उसके द्वारा गो.वा. श्रीनन्दलालजी मानधना,जोधपुर ने करवाया था. इनको इस भगीरथ कार्यमें गो.वा.श्रीरामचन्द्र(नन्ददास) वर्मा का साथ मिला. इन दोनों महानुभावोंकी निष्ठा प्रेरणा उत्साह और समर्पण से पुष्टिमार्गके अनेक विद्वानोंने मिल-जुलकर सुबोधिनीका अनुवाद तैयार किया. इनमें उल्लेखनीय हैं:

गो.वा.श्रीफतहचन्द वासु (जोधपुर)

दशमस्कन्धके नब्बे अध्यायोमेंसे चोहत्तर अध्याय;

तृतीय स्कन्धके १ से २१ अध्याय.

गो.वा.श्रीआनन्दीलालजी शास्त्री (श्रीनाथद्वारा)

प्रथम स्कन्धके १ से ९ अध्याय, दशमस्कन्धका चौथा अध्याय.

गो.वा.श्रीनारायणप्रसाद व्यास(कोटा)

प्रथमस्कन्धके १० से १९ अध्याय.

गो.वा.पं.गोरधनजी शास्त्री(कोटा)

दशमस्कन्धके चौदह अध्याय,

गो.वा.श्रीनारायणजी त्रिपाठी(नाथद्वारा)

द्वितीय स्कन्धके १ से ४ अध्याय. तृतीय स्कन्धके २२ से ३३ अध्याय .

गो.वा.श्रीरमानाथ शास्त्री(कांकरोली)

द्वितीय स्कन्धके ५ से १० अध्याय.

गो.वा.श्रीसबलकिशोर चतुर्वेदी (मथुरा)

दशमस्कन्धका तीसरा अध्याय.

इस अनुवादके संशोधन तथा सम्पादन कार्यमें पूज्य गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी (किशनगढ-पार्ला), गो.वा.श्रीनारायणजी त्रिपाठी (श्रीनाथद्वारा) तथा गो.वा.श्रीरणछोड कलाधर भट्ट(मुम्बई) का भी योगदान रहा है. पूज्य गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी (किशनगढ-पार्ला) तो ''श्रीसुबोधिनी प्रकाशन मंडल, जोधपुर'' के संरक्षक भी हैं.

इस श्रीभागवत-सुबोधिनीके हिन्दी अनुवादके पुनःप्रकाशनका एकमेव उद्देश्य यही है कि श्रीवल्लभवाङ्मय कभी भी किसी भी जिज्ञासुकेलिए अलभ्य न रहे. हमें विश्वास है कि इस पुनःप्रकाशनसे सुबोधिनीके अध्येताओंको अवश्य लाभ होगा.

अन्तमें सुबोधिनीके हिन्दी भाषानुवादके पूर्व प्रकाशक, अनुवादक, संशोधक, सम्पादक, द्रव्यसहायक आदि सभीके प्रति हम हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं तथा इस कार्यमें निःस्वार्थ भावसे सहयोग करनेवाले सभी वैष्णवोंका भी सादर स्मरण करते हैं.

सुबोधिनी स्वाध्याय मंडल

क्या आप पुष्टिमार्गी हैं?

एक बार श्रीवल्लभाचार्यके ये आदेश पढ़ें.

सोचें, क्या आप श्रीवल्लभके मार्ग पर चल रहे हैं?

परब्रह्म श्रीकृष्णको ही अपना आश्रय-रक्षक जानें. मन-वचन-कर्मसे अन्याश्रय कदापि न करें.

भगवानने पुष्टिजीवोंको अपनी स्वरूपसेवाकेलिये भूतल पर प्रकट किया है. कृष्णसेवा ही पुष्टिजीवका स्वधर्म है. अतः कृष्णसेवाको जो स्वधर्म समझता है वही पुष्टिजीव है और वही पुष्टमार्गमें प्रवेशके योग्य है.

भगवत् शास्त्रको अच्छी तरहसे समझकर, आत्मनिवेदित होकर अपने तन-धनसे अपने घरमें श्रीकृष्णकी सेवा करें.

घरमें बिराजते ठाकुरजीको ही अपना सर्वस्व समझें जो खास आप ही के उद्धारार्थ कृपा करके आपके घर पधारे हैं. उनको छोडकर अन्य ठाकुरजीके दर्शन-सेवा केलिये भटकना अपने सेव्यप्रभुका तिरस्कार है.

अपनी सभी वस्तु-व्यक्ति-व्यवहारका समर्पण अपने घरमें बिराजते ठाकुरजीकी सेवामें ही करें. वे ही उनके सच्चे स्वामी हैं.

अपने ठाकुरजीको सर्वस्व समर्पित करके उस समर्पित महाप्रसादसे ही खान-पान-दान आदि सभी लौकिक-शास्त्रीय कार्य करें. असमर्पित पदार्थके उपयोगका सर्वथा त्याग करें.

हवेली-मन्दिरोंमें भेंट-सामग्री देकर कराये जाते सेवा-मनोरथ पुष्टिसिद्धान्तके अनुसार सेवा-भक्ति है ही नहीं; वो न केवल सेवा-भक्तिके नामपर पाखंड है अपितु परम पवित्र भगवत्सेवाको धंधा बनानेवाले दुष्टोंको पोषित करना है.

भगवत्सेवा-मनोरथ-कीर्तनके निमित्त भेंट-सामग्री मांगना-स्वीकारना उनको व्यापार-धंधा बनाना है. ऐसा पाप करनेवालेका नर्कमें पात होता है.

अतः भगवत्सेवा–मनोरथ–कीर्तनके निमित्त किसीको कुछ भी न दृ.

अनजानेमें भी यदि कोई अवैष्णव सेव्य ठाकुरजीका दर्शन कर लेता है तो हमारी एक वर्षकी सेवा निष्फल हो जाती है. ऐसा हो जाने पर श्रीठाकुरजीको पञ्चामृत स्नान कराकर शुद्ध करना चाहिये.

भगवत्सेवा अपने ही घरमृ करृ. सार्वजनिक हवेली–मन्दिरमृ सेवा–मनोरथ करना पुष्टिसिद्धान्तके अत्यन्त विरुद्ध है.

दर्शनको कभी भक्ति न समझें. दर्शनका आग्रह उसीका रखें जो कृपा करके आपके घरमें आपकेलिये आपके माथेपर बिराज रहे हैं, जिनकी सेवा आप स्वयं कर रहे हैं.

मंदिर–हवेलियृमृ दिया जाता या वहांसे खरीदा जाता प्रसाद–पातल महापातकी देवद्रव्य होता है. ऐसा प्रसाद खानेवाला नर्कमृ ही जाता है.

प्रसादका नहीं किन्तु घरके ठाकुरजीने जो अङ्गीकार किया है उस समर्पित महाप्रसादको लेनेका आग्रह रखें.

भगवत्सेवाकी ही तरह भागवतका पाठ भी स्वयं ही करें. भक्तिभावकी वृद्धिके अलावा दूसरे किसी भी हेतुसे भागवतका पाठ न करें.

प्राण निकल जायें तो भले ही निकल जायें परन्तु दक्षिणा लेकर भागवतकी कथा–कीर्तन कभी भी न करें.

दक्षिणा लेकर कथा–कीर्तन करनेवालृके मुखसे कथा–कीर्तन सुनना गटरका पानी पीनेके समान हीन कृत्य है. व्यावसायिक कथावक्ताओृके संगको दुष्टसंग समझकर उनका त्याग करो.

।। अनुक्रमणिका ।।

भागवतार्थ निबन्धानुसार सारणी
भागवतार्थ निबन्ध दशमस्कन्धान्तर्गत जन्म प्रकरण(अ.१-४) ०१
श्रीपुरुषोत्तमनामसहस्रस्तोत्र (जन्म प्रकरणके नाम) ११

दशम स्कन्ध(जन्म प्रकरण)

अध्याय १. पृथ्वी आदि भक्तृको कालादिजन्य त्रिविध दुःखस्वरूप भगवत्प्राकट्यके चार हेतुओंका निरूपण तथा वसुदेवजीके हृदयमें वासुदेव व्यूहका प्राकट्य. १
अध्याय २. प्राकट्यकेलिए प्रभुके चतुर्विध उद्यम तथा संकर्षण व्युहका प्राकट्य ११०
अध्याय ३. चतुर्धा रूपान्तरका स्वीकार तथा प्रद्युम्न व्युहका प्राकट्य १७२
अध्याय ४. मायासे कापट्य तथा अनिरुद्ध व्युहका प्राकट्य २८६

भागवतार्थ निबन्धानुसार प्रकरणादि विभाग

दशमस्कन्ध (निरोधलीला) अन्तर्गत

जन्म प्रकरण

अध्याय १.

व्यूह प्राकट्य: वासुदेव

विषय: हेतुता

अध्याय २.

व्यूह प्राकट्य: संकर्षण

विषय: उद्यम

अध्याय ३.

व्यूह प्राकट्य: प्रद्युम्न

विषय: रूपान्तरस्वीकार

अध्याय ४.

व्यूह प्राकट्य: अनिरुद्ध

विषय: मायासे नाट्य

भहाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरण विरचित तत्वार्थदीपनिबन्धका

।। भागवतार्थ प्रकरण ।।

दशम स्कन्ध (निरोधलीला)

जन्म प्रकरण (अध्याय १-४)

(स्कन्धार्थ)

चतुर्विंशतिधा भिन्ना भक्तिरुक्ताऽतिदुर्लभा ।
सप्ताशीतिरथाध्याया निरोधे दशमे मताः ।।१।।

नवम स्कन्धके अन्तमें संक्षेपसे भगवान् श्रीकृष्णका चरित्र कहा. उस स्कन्धमें २४ अध्यायोंसे २४ प्रकारकी भक्तिका वर्णन किया गया है. यहां यह प्रश्न उठता है कि जब नवम-स्कन्धमें भगवानके अवतारोंका एवं भगवद्भक्तोंके चरित्रोंका वर्णन हो चुका है तो यहां फिर वर्णन क्यों किया जाता है तो बताते हैं कि उन चरित्रोंमें अहंतादिका नाश करनेवाला फल दूसरों पर अनुग्रह (कृपा) रूप भक्तिके बिना नहीं मिलता और ऐसी भक्ति भगवानके अधीन है इसलिए वह दुर्लभ है.

अब इस दशम स्कन्धमें निरोध लीला है जो ८७ अध्यायोंमे हैं।।१।।

नवत्यध्यायसन्दर्भो जातः कृत्रिमभावतः ।
केषाञ्चिदत्र सन्देहः स्कन्धार्थे प्रकटो महान् ।।२।।

इस स्कन्धके प्रसंगमें ९०अध्याय लिखे जाते हैं परन्तु कृत्रिम (बनावटी) तीन अध्याय इसमें प्रक्षिप्त हैं उन समेत ९० हैं, वे तीन अध्याय यहां नही माने गये हैं. इस स्कन्धके अर्थमें किन्हींको बड़ा संदेह प्रकट होता है. (श्रीधर स्वामीने इस स्कन्धका अर्थ 'आश्रय' माना है और श्री बोपदेवने दुष्ट राजाओंका प्रलय-नाश माना है परन्तु वे वेदव्यासजीके सम्मत नहीं होनेसे अमान्य है.) ।।२।।

तन्निवृत्त्यर्थमधुना सर्वनिर्णयपूर्वकम् ।
दशमार्थः प्रकरणाध्यायार्थश्च विचार्यते ।।३।।

उस सन्देह (आश्रय या दुष्ट राजाओंका नाश)को दूर करनेके लिये सब विषयोंका निर्णय करके दशमें-स्कन्धका अर्थ तथा इसके प्रकरणों और अध्यायोंके अर्थका विचार किया जाता है।।३।।

नवलक्षणलक्ष्यो हि कृष्णस्तस्य निरूपणात् ।
आश्रयः क्रमभावित्वान्निरोधो वेति संशयः ।।४।।

श्रीकृष्ण नव लक्षणों (सर्ग, विसर्ग, स्थान, पोषण, ऊति, मन्वन्तर, ईशानुकथा, निरोध और मुक्ति)से पहिचाने जाते हैं. इस दशमस्कन्धमें उन नवों लक्षणोंका निरूपण है. तब यह सन्देह होता है कि स्कन्धमें नवों लीलाओंका वर्णन होनेसे यह आश्रय बतानेवाला है अथवा भा.२।१०।१में बताये हुए क्रमके अनुसार यह निरोध बतानेवाला है।।४।।

लीलानिर्धारको ह्यर्थः क्रममात्रं तु दुर्लभम् ।
यथाकथञ्चिच्छ्रवणं सफलत्वाय कल्पते ।।५।।
निरोधः प्रलयो लोके प्रसिद्धः प्रकृते न सः ।
प्रतीतो द्वादशे चैव महत्वाच्छुद्धलीलया ।।६।।
सहितो ह्याश्रयः स्कन्धे प्रतिपाद्य इतीचि चेत् ।

(श्रीधर स्वामीका मत है कि) लीलाका निर्णय करानेवाला ही स्कन्धका अर्थ होता है, क्रम (भाग.२।१०।१में वर्णित) उसके सामने दुर्बल होता है. भगवानकी लीलाका श्रवण किसी भी क्रमसे सुना जाय, उसमें फल देनेकी शक्ति है. लोकमें प्रसिद्ध है कि 'निरोध' 'प्रलय' है, इस प्रसंग (दशम–स्कन्ध)में वह प्रलय नहीं है वह (प्रलय) तो बारहवें स्कन्धमें देखनेमें आता है. इसलिए दशम–स्कन्धमें उत्तम पक्षके लिये शुद्ध (गुणातीत) लीलाके सहित आश्रय (श्रीकृष्ण) का ही प्रतिपादन हुआ है. (यदि ऐसा मत है तो) ।।६।।

न हि सापेक्षरूपस्य प्रथमं सुनिरूपणम् ।।७।।
नवलक्षणसापेक्षो ह्याश्रयो रूप्यते कथम् ।
अग्रे लीलाद्वयकथा फलसिद्धौ मृषा भवेत् ।।८।।

(ऊपर श्रीधर स्वामीका मत कहकर उसका खण्डन करते हुए श्रीमहाप्रभुजीका सिद्धान्त बताते हैं)–जिसका आधार दूसरों पर हो, दूसरोंका वर्णन किये बिना भली प्रकार उसका निरूपण नहीं किया जा सकता (भाग.२।१०।२ में कहा गया है) कि दशम पदार्थ आश्रय लीलाकी विशुद्धिके लिये नव पदार्थों–लीलाओंका वर्णन पहिले किया गया है. जिससे दशवें पदार्थका शुद्ध निरूपण हो सके. इसलिए नव लक्षणों पर आधार रखनेवाले आश्रयका (इस दशम स्कन्धमें) वर्णन किस प्रकार हो सकता है ? यदि सात

पदार्थ–लीलाएँ जान लेनेसे आश्रय रूपी फल सिद्ध हो सकता है तो फिर शेष भाग आगेके दो (निरोध और मुक्ति)का वर्णन फल सिद्धिमें वृथा (अनावश्यक) रहता है वेसी स्थितिमें व्यासजी आश्रयकी सिद्धिके लिये केवल सात लक्षण ही कहते।।८।।

पूर्वोत्तरस्कन्धयोश्च नश्येत्कारणकार्यता।
अर्थस्त्वेकादशेऽप्यस्ति क्रमश्च स्वीकृतो भवेत् ।।९।।

यदि दशम स्कन्धको आश्रय मानें तो पूर्व स्कन्ध कारण है और अगला स्कन्ध उसका कार्य है. इस प्रकारका कारण–कार्यका सम्बन्ध नष्ट हो जाता है. यदि यह कहा जाय कि इस (दशम) स्कन्धमें भगवानकी लीलाएँ कही गई हैं जिससे इसको आश्रय माना जाय तो यह बात भी ठीक नहीं रहती क्योंकि भगवानके चरित तो एकादश स्कन्धमें भी हैं इसलिए (भाग.२।१०।१में कहा हुआ) क्रम ही स्वीकार करना चाहिये. (दशम स्कन्धको निरोध मानें तो क्रम भंग नहीं होता) ।।९।।

चरित्रं दशमे मुख्यं रूपं पूर्वत्र वर्णितम्।
निरोधार्थं तथा भक्तिसिद्ध्यर्थं च हरिर्बभौ ।।१०।।

दशम स्कन्धमें भगवानका चरित्र मुख्य है, भगवानके स्वरूपका वर्णन तो पहले (नवम स्कन्धमें अध्याय २४में) हो चुका हैं. (ग्यारहवें स्कन्धमें मुख्यता ज्ञानकी है, इस प्रकार तीन स्कन्धोंमें श्रीकृष्णका वर्णन है ऐसी स्थितिमें दशम स्कन्धमें आश्रयका निरूपण नहीं माना जा सकता) भगवान् श्रीकृष्णका प्राकट्य (सर्व लोगोंका) निरोध करने एवं उससे भक्ति सिद्ध हो सके इसके लिये है।।१०।।

आश्रयो यादृशो ह्यत्र तदर्थं न बभूव ह।
आश्रयो यादृशो ह्यत्र स वाच्यो द्वादशे स्फुटः ।।११।।

बारहवें स्कन्धमें–प्रलय स्पष्ट दिखता है न कि आश्रय, इसलिए यदि दशवें स्कन्धमें आश्रयका वर्णन नहीं मानें तो आश्रय बिना निरूपण किये ही रह जाता है. श्रीधर स्वामीके ऐसे कथनका उत्तर देते हुए कहते हैं कि, जैसा आश्रय आप कहते हो (अर्थात् प्रलय) उसके लिये भगवानका प्राकट्य नहीं हुआ, जैसा आश्रय कहना भागवतमें चाहा गया है वह बारहवें स्कन्धमें स्पष्ट कहा गया है।।११।।

भूभारस्य निरोधो वा तत्कर्तुर्वा न सन्मतः।

आद्यन्तयोरिहाभावान्मुक्तावप्यनुवृत्तितः ।।१२।।

(इस प्रकार श्रीधर स्वामीके मतका खण्डन कर अब श्री बोपदेवके मत आश्रय अर्थात् 'दुष्ट राजाओंका नाश'का खण्डन करते हैं) यदि यह माना जाय कि पृथ्वीके भारका नाश या पृथ्वी पर भार करनेवाले राजाओंका नाश इस स्कन्धमें है तो यह मत सत्पुरुषोंका सम्मत नहीं है क्योंकि इस स्कन्धके आदि और अन्तमें भूभारका नाश अथवा भूभार करनेवाले राजाओंके नाशका वर्णन नहीं है परन्तु ग्यारहवें स्कन्ध 'मुक्ति'में भूभारका नाश और दुष्ट राजाओंके नाशकी बात कही हुई है. (इसलिए इस स्कन्धमें निरोधका अर्थ 'नाश' नहीं हो सकता) ।।१२।।

लक्षणस्याप्रवेशश्च लीलाधिक्यं तथा भवेत् ।
तदर्थं जन्मकथनं पृथास्तोत्रविरोधि हि ।।१३।।

'निरोधोऽस्याऽनुशयनमात्मनासह शक्तिभिः' अर्थात् शक्तियोंके शयनके अनन्तर भगवानका शयन करना निरोध है तब यदि निरोधका अर्थ दुष्ट राजाओंका नाश माना जाय तो निरोधका लक्षण ठीक नहीं बैठेगा और यह एक अधिक लीला हो जायेगी (दससे बढ़कर ग्यारह हो जायेगी) फिर कुन्ती (पृथा)ने भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति करते हुए (भाग.१।८।१९)में कहा था कि भगवानका प्राकट्य भक्ति योगके विधानके लिये हुआ है तो दुष्ट राजाओंके नाशके लिये भगवानका जन्म कहना तो कुन्तीकी स्तुतिके विरुद्ध हो जायेगा. (अतः यहां निरोधका अर्थ दुष्ट राजाओंका नाश नहीं हो सकता) ।।१३।।

पूर्वोत्तरस्कन्धयोश्च नश्येत्कारणकार्यता ।
निरोधोस्यानुशयनं प्रपञ्चे क्रीडनं हरेः ।।१४।।
शक्तिभिर्दुर्विभाव्याभिः कृष्णस्येति हि लक्षणम् ।
निरोधो यौगिकश्चात्र रोधनात्मा सतां मतः ।।१५।।

(निरोधका अर्थ दुष्ट राजाओंका नाश माननेसे) पहिले और पीछेके स्कन्धोंके आपसमें कारण–कार्यका सम्बन्ध है वह नष्ट हो जायेगा (देखो ऊपर श्लोक ९) निरोधका लक्षण यह बताया गया है कि शक्तियोंके शयनके अनन्तर भगवानका शयन होता है अतः नवमें स्कन्धमें भगवानका अचिन्तनीय शक्तियोंसे प्रपंचमें क्रीडा करके (कारण) भक्तिका कार्य रूप निरोध अर्थात् भक्तोंको प्रपंच विस्मृत कराकर अपनेमें रोकते है. (आसक्त कराते हैं) सत्पुरुषोंका यही मत है

कि यहां निरोध शब्दका यौगिक (व्याकरण आदिके अनुसार होनेवाला) अर्थ लिया जायेगा अर्थात् भक्तोंका भगवानमें आसक्ति करना (रूढ अर्थ अर्थात् राजाओंका वध नहीं लिया जा सकता क्योंकि निरोधके लक्षण रूढ अर्थमें घटित नहीं होते) ।।१४-१५।।

भक्ताः पूर्वत्र निर्दिष्टास्ते रोद्धव्या विमुक्तये ।
कृष्णे निरुद्धकरणाद्भक्ता मुक्ता भवन्ति हि ।।१६।।
भक्तेश्च शुद्ध्यतासिद्ध्यै प्रपञ्चाद्विनिवारणम् ।
आसक्तिरात्मनि तथा निरोधार्थं न संशयः ।।१७।।

भक्तिकी शुद्धताकी सिद्धिके लिये (मन, इन्द्रिएँ, अन्तःकरण आदिको भगवानमें लगानेके लिये) ही उनको प्रपंचसे हटाया गया तथा उन (भक्त)का निरोध करनेके लिये ही अपनेमें आसक्ति कराई गई है, इसमें कोई सन्देह नहीं है. (इसलिए दुष्ट राजाओंको मारनेकी बात यहां उचित नहीं) ।।१७।।

प्रपञ्चविस्मृतिस्तस्मात् कृष्णासक्तिश्च वर्ण्यते ।
'शय्यासनाटनालाप' श्लोके फलितमीरितम् ।।१८।।

भगवानके प्रपंचमें क्रीडा करने रूपी साधनसे प्रपंचकी विस्मृति और भगवानमें आसक्ति होनेका इस (दशम स्कन्ध)में वर्णन है और उसका फल भाग.१०।८७।४६ के 'शय्या सनाटनालाप' श्लोकमें कहा गया है (जिसका अर्थ है श्रीकृष्णमें चित्त रखनेवाले वृष्णिवंशियोंको सोते, बैठते, फिरते, बातचीत करते, खेलते, स्नान भोजन आदि कर्म करते समय अपने विद्यमान देहका भी भान नहीं रहता था) ।।१८।।

रूपान्तरं तु नटवत्स्वीकृत्य त्रिविधान्निजान् ।
प्रपञ्चाभावकरणादुज्जहारेति निश्चयः ।।१९।।

नटकी भांति दूसरे स्वरूपको धारण करके तीन प्रकारके (तमोगुणी, रजोगुणी और सतोगुणी) अपने भक्तोंको प्रपंचमेंसे हटाकर भगवानने उनका उद्धार किया. (इसलिए भक्तोंके प्रपंचका नाश ही इस स्कन्धका अर्थ है न कि दुष्ट राजाओंका नाश करना) ।।१९।।

समुदायो जन्मवाची क्रीडायुक्तस्य वै हरेः ।
प्रपञ्चविस्मृतिसक्तिर्भक्तानां चापि योगतः ।।२०।।

(शंका होती है कि यदि इस स्कन्धका अर्थ निरोध माना भी जाय तो भी इसके प्रथम प्रकरण–जन्म प्रकरण अध्याय १–४में तो भगवानकी क्रीडाका वर्णन नहीं है तो फिर इसको निरोध कैसे माना जाय तो इसका उत्तर देते हैं कि) भगवानकी क्रीड़ा विशेष होनेके कारण और शक्तियोंकी सहायता होनेसे यह सारा स्कन्ध क्रीडा करनेवाले हरिके जन्म और निरोधके यौगिक अर्थके अनुसार (देखो श्लोक १५ ऊपर) भक्तोंके प्रपंचकी विस्मृति और उनकी भगवानमें आसक्ति बतानेवाला है।।२०।।

(इस प्रकार स्कन्धार्थ सम्पूर्ण हुआ)

(प्रकरणार्थ)

प्रक्रियापञ्चकं ह्यत्र जन्मार्थं प्रथमा मता।
तामसानां तु भक्तानमुद्धृत्यै तु ततः परा ।।२१।।

इस (दशम स्कन्ध)में पांच प्रकरण हैं जिनमें १.प्रथम प्रकरण भगवानके जन्मको बतानेवाला माना गया है और २.उसके पश्चातका अर्थात् दूसरा प्रकरण तामस भक्तोंके उद्धारके लिये कहा हुआ है।।२१।।

राजसानां तृतीया तु चतुर्थी सात्त्विकी मता।
अन्तर्याम्यधिदैवादिन्यायेनात्राऽपि वै हरेः ।।२२।।
भगस्य व्यपदेशः स्यादतस्तस्य निवृत्तये।
भगस्य सहजत्वाय पञ्चमी प्रक्रिया मता ।।२३।।

३.तीसरा राजस प्रकरण राजस भक्तोंका तथ्य, ४.चौथा सात्विक प्रकरण सात्विक भक्तोंके उद्धारके लिये कहा गया है और ५.पांचवेमें अन्तर्यामी अथवा आधिदेवके गुण धारण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णमें भगवानके छः गुण (भग) होने कहे गये हैं ऐसा विचार होवे तो उसको दूर करनेके लिये 'उनमें ये छः गुण सहज है' ऐसा बतानेके लिये यह पांचवां गुण प्रकरण माना गया है।।२२–२३।।

चतुर्भिश्च तथा तत्त्वैस्तत्त्वैर्विंशतिभिस्तथा।
एकाधिकैस्तथा षड्भिरध्यायैः क्रमशो मताः ।।२४।।

क्रमसे इन पांचों प्रकरणोकी अध्याय संख्या इस प्रकार है १.जन्म प्रकरणके ४, २.तामस प्रकरणके २८, ३.राजस प्रकरणके २८, ४.सात्विक

प्रकरणके २१ तथा ५.गुण प्रकरणके छः अध्याय हैं।।२४।।

जन्म प्रकरण.....अध्याय १ से ४

चतुर्मूर्त्तिर्हरिर्जातस्तेनाध्यायचतुष्टयम् ।

प्रथमे वासुदेवोऽभूद्वसुदेवहृदि स्थितः ।।२५।।

चार मूर्तिवाले भगवान् प्रकट हुए इसलिए (इस प्रकरणमें) चार अध्याय हैं. (इनमेंसे) प्रथम अध्यायमें शुद्ध चित्त और सत्ववाले वसुदेवके हृदयमें रहनेवाले वासुदेव प्रकट हुए. (१०।१।५६) ।।२५।।

'मृत्युवारणसामर्थ्यमन्यथा न भवेत् क्वचित्'. ऐसा न हो तो देवकीकी मृत्युको टालनेकी सामर्थ्य (वसुदेवमें) नहीं हो सकती।।२५ १/२।।

विशेष यह वासुदेव व्यूहका अवतार बताया गया है.

मृत्युवारणसामर्थ्यमन्यथा न भवेत् क्वचित् ।

संकर्षणो द्वितीये तु स्फुटो दैत्यवधाय हि ।।२६।।

तथा तृतीये प्रद्युम्नश्चतुर्थो तुर्य उच्यते ।

न निबद्धो यतः कैश्चिदतः सर्वे विमोचिताः ।।२७।।

धर्मरक्षार्थहेतूक्त्यै धर्मबाधश्च वर्ण्यते ।

दूसरे अध्याय (श्लोक ८)में दैत्योंके वधके लिये संकर्षण अवतार होना स्पष्ट कहा है।।२६।।

इसी प्रकार तीसरे अध्यायमें (श्लोक ८ से) प्रद्युम्न अवतार होना और चौथेमें (श्लोक १४ व २४में) चौथा अनिरुद्ध अवतार होना स्पष्ट है. वह (अनिरुद्ध) किसीसे रोका नहीं जा सकता इसलिए उसने सबको (विशेषतया वसुदेव देवकीको छुड़ा दिया)।।२७।।

धर्मकी रक्षा करना ही इस अवतार (अनिरुद्ध)का हेतु है, ऐसा कहनेके लिये (इस अध्यायमें) धर्मको भय होना भी कहा गया है।।२७।।

वसदेवाद्देवकीतो मथुरातश्च गोकुलात् ।।२८।।

प्रादुर्भूतश्चतुर्मूर्तिर्भगवान्नाऽत्र संशयः ।

(भीतर चार होंगे परन्तु बाहिर तो दो ही प्रकट हुए. इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि) चार मूर्तिवाले भगवान् प्रकट हुए थे, एक वसुदेवसे भगवान् (जो वसुदेवके हृदयमें पहिले रहते थे), दूसरे वसुदेवसे देवकीमें प्रविष्ट हुए, उन दो मेंसे

एक काले केशवाले बलरामजी देवकीसे हुए, तीसरे जब उस गर्भको योगमाया ले गई, उसके पीछे वसुदेवजीके मनसे देवकीसे प्रविष्ट हुए. वे सब तत्त्वोंमें प्रवेश करनेवाले भगवान् प्रद्युम्न मथुरामें प्रकट हुए और चौथे जो किसीसे भी न रोके जाए वे अनिरुद्ध गोकुलमें प्रकट हुए, इस विषयमें सन्देह नहीं है।।२८।।

रूपान्तरस्वीकरणमध्यायत्रितयेन हि ।।२९।।

नटभावश्चतुर्थेन.....

प्रथम तीन अध्यायोंमें भगवानका दूसरे स्वरूपोंका स्वीकार करना कहा हुआ है और चौथे अध्यायमें नटकी क्रिया ग्रहण करनेका कहा गया है।।२९।।

(प्रथम अध्याय-भगवानके प्राकट्यका कारण)

.....हेतुराद्ये निरूपितः ।

त्रिविधानां त्रिधा दुःखं हेतुर्जन्मनि वै हरेः ।।३०।।

भगवानके प्राकट्यका कारण प्रथम अध्यायमें कहा गया है. (भगवानके प्राकट्यका दूसरा हेतु बताते हुए कहते हैं कि) तामस, राजस और सात्विक ऐसे तीन प्रकारके भक्तोंका दुःख भगवानके प्राकट्यका कारण है।।३०।।

भूमिर्माता तथा चाऽन्ये दुःखभाजो हरेः प्रियाः ।

कंसादेः कालतोऽज्ञानात्त्रिधा दुःखं तु तद्गतम् ।।३१।।

१.पृथ्वी, २.माता देवकी और ३.हरिके दूसरे प्यारे(भक्त) दुःख पाते हैं. इनका दुःख तीन प्रकारसे है: १.कंसादिसे, २.कालसे और ३.अज्ञानसे।।३१।।

कालजं प्रभुसम्बन्धात्कंसजं हेतुवारणात् ।

वाक्यैरज्ञानसम्भूतं शक्यं तत्त्रितयं हरेः ।।३२ ।।

(द्वापर और कलियुगकी सन्धिके) काल (समय)से उत्पन्न हुआ दुःख भगवानके सम्बन्धसे, आकाशवाणीसे और फिर वसुदेवकी प्रतिज्ञाके कारण देवकीको उत्पन्न हुआ. कंसका भय मृत्युके कारणको रोकनेसे तथा कंसकी मूर्खतासे उत्पन्न हुआ, दूसरोंके दुःख नारदजीके वचनोंसे, ये सब दुःख ऐसे थे जो भगवानसे ही दूर हो सकते थे. इन दुःखोंको दूर करनेके लिये ही भगवानका प्राकट्य हुआ, इससे इस अध्यायमें भगवानके प्राकट्यका हेतु कहा गया है ।।३२ ।।

प्रश्नेन सहिताः पूर्वं चतस्रः प्रक्रिया मताः ।

(तीन प्रकारके दुःख निवारणके) तीन विषय और राजा परीक्षितके प्रश्नका एक विषय इस प्रकार इस अध्यायमें चार विषय कहे गये हैं ।।३२ ।।

(अध्याय दूसरा – प्राकट्यके लिये उद्यम)

उद्यमश्च तथा प्रोक्तः सामग्रीबल उच्यते ।।३३।।
मायाशक्तिः स्वविहारे रूपं स्वस्य तृतीयकम् ।
सम्मतिः सर्वदेवानां चतुर्थ्यपि निरूपिता ।।३४।।

उद्यम भी वैसे ही (अर्थात् चार प्रकारका) कहा गया है, वे चार यों हैं, १.बलरामजीको सामग्री रूप कहा गया है, २.भगवानके विहारमें माया शक्ति भी सामग्री है, ३.तीसरा, भगवानका स्वरूप भी (विहारमें साधन रूप) है; और चौथी (देवकीके भयको दूर करनेवाली) सब देवताओंकी सम्मति भी सामग्रीरूप है।।३३–३४।।

रूपसामर्थ्यबोधाय कंसज्ञानादिरूच्यते ।।

कंसका ज्ञान आदि (श्लोक २०–२३में बताया हुआ) भगवानके स्वरूपकी शक्ति बतानेवाले कहे गये हैं (अर्थात् ये ज्ञान आदि भी भगवानके स्वरूपसे ही हुए हैं) ।।३४।।

(अध्याय तीसराः दूसरे रूपका स्वीकार)

चतुर्धा स्वीकृतिश्चापि काले मूलस्वरूपतः ।।३५।।
वसुदेवस्य सम्मत्या द्वितीयाऽपि निरूपिता ।
देवक्याश्च तृतीयाऽपि चतुर्थी वाक्यनिर्गमैः ।।३६।।

इस दूसरे स्वरूपके स्वीकारके भी चार प्रकार हैं. (वे यो हैं) १.सर्व गुणोंसे युक्त (अर्ध रात्रिसे) कालमें मूल स्वरूपसे (प्रकट होकर) ज्ञान कराया, (श्लोक १–१२) २.भगवान् दूसरा स्वरूप ग्रहण करें उसमें वसुदेवकी सम्मति है (श्लोक १३–२२) ३.भगवान् दूसरा स्वरूप स्वीकार करें उसमें देवकीकी सम्मति है (श्लोक २३–३०) और ४.भगवानके दूसरे स्वरूपके स्वीकारका चौथा प्रकार भगवानके कहे हुए वचनों और गोकुल रवाना होनेकी बातसे बतलाया गया है।।३५–३६।।

(विशेष इससे ऐसा प्रतीत होता है कि मूल स्वरूपसे ही यह दूसरा रूप धारण किया है)

(अध्याय चौथा – नटकी चेष्टा)

चतुर्धा नटभावोऽपि देवक्या मायया तथा ।

पुनः कंसभयेनाऽपि वसुदेवेन च स्थितिः ।।३७।।

नटकी चेष्टामें भी चार विभाग हैं: १.देवकीका किया हुआ (कन्याको कंससे बचानेके लिये, श्लोक ४–७) २.मायाका किया हुआ (श्लोक ८–११), ३.कंसके भयके रहते हुए भी वसुदेवजीका अपनी स्थिति मथुरामें ही रखना (कहीं दूसरे स्थान पर जानेसे कंसको सन्देह और वह अनिष्ट करनेकी चेष्टा करना श्लोक १४–२८) ।।३७।।

कर्मणो हेतुसिद्ध्यर्थं शेषोऽत्र विनिरूप्यते ।

अन्यथा नटलीलैव कंसाद् दुःखं निवारयेत् ।।३८ ।।

४.कर्मके प्रयोजनकी सिद्धिके लिये (कंस द्वारा आदिष्ट ब्रह्म इत्यादि) होने पर भी कंसके मारनेके कारण उपस्थित हो जाता है क्योंकि वसुदेव देवकीके प्रति किया हुआ अपराध तो उसने क्षमा करा लिया था परन्तु ब्रह्म–हत्या क्षन्तव्य ही नहीं है) भगवानकी नटवत् चेष्टा है जो शेष अध्यायमें (श्लोक २९से अन्त तक) वर्णन की गई है. यदि ऐसा नहीं हो तो कंससे हुए दुःखका नटलीला ही निवारण कर देवे।।३८।।

तावदेवाऽत्र नाट्यं हि यावद् लीलां न बाधते ।

अतो नाट्यस्य संकोचो नाट्याध्याये निरूपितः ।।३९।।

जहां तक भगवानकी अनेक प्रकारकी लीलाओंमें बाधा न हो वहां तक ही यह नट लीला हुई. इसलिए नट लीलाकी आवश्यकता न रहनेसे इस चौथे नाट्याध्यायमें ही उस नट लीलाका संकोच कर दिया. अर्थात् नट लीलाको बन्द कर दी।।३९।।

एवं चतुर्भिरध्यायैर्नटवत्प्राकृतोऽभवत् ।

इस प्रकार चार अध्यायोंसे नटकी भांति भगवान् बालक हुए (ऐसा कहा गया) ।।३९।।

(जन्म प्रकरण समाप्त)

।। श्रीपुरुषोत्तमनामसहस्रं स्तोत्रम् ।।

दशमस्कन्धके जन्मप्रकरणके नाम

परब्रह्मावतरण: केशव: क्लेशनाशन: ।
भूमिभारावतरणो भक्तार्थखिलमानस: ।।१४९।।

(७२९) परब्रह्मावतारण:

परब्रह्मका अवतार भगवान् श्रीकृष्ण.

अक्षर ब्रह्मसे पर पूर्ण पुरुषोत्तम परब्रह्म नामसे प्रसिद्ध है अर्थात् भगवान् श्रीकृष्णका यह नाम है. गीताजीमें आपने स्पष्ट आज्ञा करी है कि ''**यस्मात् क्षरम् अतीतोऽहं अक्षरादपि चोत्तम:, अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथित: पुरुषोत्तम:**'' (मैं क्षरसे पर हूं और अक्षरसे भी उत्तम हूं. अतएव लोकोंमें और वेदमें मैं पुरुषोत्तम इस नामसे प्रसिद्ध हूं.) ये पुरुषोत्तमसंज्ञक परब्रह्म आप श्रीकृष्ण ही हैं. वैसे कृष्ण शब्दसे भी ''**कृषिर्भूवाचक: शब्द:**'' ये महाभारत प्रमाणानुसार परब्रह्मपना सिद्ध होता है. प्रथम 'श्रीकृष्ण:' इस नामके विवेचनमें स्पष्ट कहा गया है. अतएव इस विषयको यहां विशेष नहीं कहा जा रहा है. गीतामें स्वयं अर्जुन श्रीकृष्णको ही उद्देशित करके ''**परंब्रह्म परंधाम पवित्रं परमंभवान्. पुरुषं शाश्वतं दिव्यम् आदिदेवम् अजं विभुम्**'' (आपही परब्रह्म हो. आप ही परमधाम हो, परम पवित्र हो, दिव्य पुरुष हो, जन्म रहित, सनातन, समर्थ आदिदेव हो.) इस प्रकारसे स्तुति करते हैं. इसलिये ही अवतरे. आविर्भावको अवतरण कहते हैं. और परब्रह्मके जो-जो अवतरण; प्रकट होना परब्रह्मावतरण; अतएव परब्रह्मावतरण ऐसे श्रीकृष्ण साक्षात् पूर्णपुरुषोत्तम परब्रह्म ही हैं.

(७३०) केशव:

जिनके मस्तकपर केश अधिक हैं; अथवा क-ब्रह्मा, ईश-शंकर इन दोनोंके रक्षक अथवा ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर ये तीन जिनके स्वरूप हैं ऐसे अथवा केशी नामके दैत्यका नाश करनेवाले अथवा तेजके अंशरूप केश अर्थात् किरणें जिनकी हैं अथवा शिव और ब्रह्माकी शक्तिके अनुसार महान् शक्तिवाले भगवान्का नाम केशव है.

त्रिभुवन सुंदर श्रीकृष्णके घने, विपुल एवं सुंदर केश हैं, ब्रह्मा शंकरादि बारम्बार जिनकी आराधना करते हैं. जिसके कारण आपको केशव ऐसी संज्ञा

प्राप्त हुई है. जैसे अश्वका रूप धारण करके व्रजका विदारण करनेके लिये आये केशी दैत्यको मारनेसे भी केशव नामकी प्रसिद्धी आपकी हुई है. विष्णुपुराणमें नारदजी श्रीकृष्णके प्रति कहते हैं कि ''**यस्मात् ययैव दुष्टात्मा हत: केशी जनार्दन, तस्मात् केशवनाम्ना त्वं लोके ज्ञेयो भविष्यसि**'' आपके द्वेषी दुष्टात्मा केशी दैत्यको नष्ट किया है, अतएव लोकमें आपका नाम केशव प्रसिद्ध होगा. महाभारतमें आप आज्ञा करते हैं कि ''**अंशवो प्रकाशन्ते मम ते केशसंज्ञिता**'' (जो सूर्यकी किरणें प्रकाशमान हो रही हैं वो तो मेरे केश हैं. हरिवंशपुराणमें भी आप उपदेश देते हैं कि ''सर्व जीवोंका स्वामी मैं हूं एवं ब्रह्म संज्ञासे प्रख्यात हूं अतएव मुझे सबका ईश–स्वामी केशव ऐसे परमात्मा कहते हैं. इत्यादि प्रमाणोंसे तथा अनेक कारणोंसे सर्वशक्तिमान भगवान श्रीकृष्णको केशव कहकर सर्वलोक वर्णन करते हैं.

(७३१) क्लेशनाशन:

क्लेशोंका नाश करनेवाले.

गौरूपा भूमिके तथा भक्तजनोंके अनेक क्लेशोंको–तापोंको आपने 'मैं प्रकट होऊंगा' ऐसी वाणी सुनाकर दूर किया है. भक्तजनोंके क्लेशोंको अनेक रीतिसे प्रभु परिहार करते हैं. ये भागवतादिमें अच्छी तरहसे बताया गया है. अतएव भगवान्को क्लेशनाशन: कहा गया है.

(७३२) भूमिभारावतरण:

पृथ्वीपर भाररूप दुष्ट राजाओंको मारकर भूमिके भारको दूर करनेवाले.

(७३३) भक्तार्थाखिलमानस:

भक्तोंके अर्थ सिद्ध करनेमें जिनका सम्पूर्ण मन है अथवा भक्तोंके मनोरथोंको पूर्ण करनेमें जिनका अन्त:करण है, इस प्रकारके भगवान्.

सर्वभक्तनिरोधात्मा लीलान्तनिरोधकृत्।
भूमिपृष्ठपरमानन्दो देवकीशुद्धिकारणम्॥१५०॥

(७३४) सर्वभक्तनिरोधात्मा

श्रीगोकुलनिवासी व्रजभक्तोंके साथ प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक रमण करनेमें जिनका अन्त:करण है ऐसे भगवान् श्रीकृष्ण.

पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीकृष्णकी दसविध लीलाओंमेंकी सर्ग–विसर्गादि सात लीलाओंके नाम नवमस्कन्ध तकके नामोंमें कहे गये हैं. अब यहांसे दशम स्कन्धकी आठवीं लीला निरोधलीला, उसके नाम प्रकट करते हैं.

निरोध अर्थात् क्या ? यह सहज प्रश्न उद्धव होता है. तो उसके निराकरण केलिये श्रीव्यासजी आज्ञा करते हैं कि "**निरोधो अस्य अनुशयनम् आत्मनः सह शक्तिभिः**" इन जीवात्माओंकी सर्वशक्तियोंका परमात्मामें लय होना. अर्थात् प्रभुमें एक निष्ठा होनेसे प्रपंचकी विस्मृति होनेको निरोध कहा जाता है. श्रीआचार्यचरण भी तत्वार्थदीपनिबन्धमें आज्ञा करते हैं कि "**निरोधो अस्य अनुशयनं प्रपंचे क्रीडनं हरेः**" संसारमें सबकुछ प्रभुकी क्रीडा-लीला है, ऐसा समझकर संसारासक्तिको दूर करके प्रभुमें भक्ति द्वारा एक चित्त होना, उसे निरोध कहते हैं. भगवान् श्रीकृष्ण निजभक्तोंके संसारकी आसक्तिको छुड़ाकर अपने स्वरूपमें रमण कराते हैं. आनन्द प्रदान करते हैं. वैसे भक्तको परमात्मा बिना अन्य कुछ भी रुचिकर नहीं लगता. वे तो भगवत्स्वरूपमें ही आनन्दनिमग्न रहते हैं. उनको आनन्द प्रदान करनेवाला प्रभुका अन्तःकरण ही है.

(७३५) लीलानन्तनिरोधकृत्

अनन्तलीलाओंके द्वारा प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक रमण करनेवाले अथवा लीलाशक्ति और अनन्त-संकर्षण इन दोनोंके द्वारा निरोध अर्थात् दुष्टोंका विनाश करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण.

(७३६) भूमिष्ठपरमानन्दः

भूमिमें निवास करनेवाले व्रजवासी भक्तोंको जिनके द्वारा अत्यन्त उत्कृष्ट आनन्द प्राप्त होता है अथवा मथुरा नगरीमें प्रकट परम आनन्दरूप भगवान्.

(७३७) देवकीशुद्धिकारणम्

देवकीजीकी शुद्धि अर्थात् वसुदेवजीके द्वारा विवाहादि संस्कारके निमित्तभूत अथवा विष्णुरूपिणी श्रीदेवकीजीकी शुद्धि अर्थात् उनको पावन होनेमें कारणरूप.

जब-जब भक्तजनोंके ऊपर इस सृष्टिमें अनेक कष्ट आते हैं तब-तब भगवान्का प्राकाट्य होता है. अतएव वसुदेवजी एवं देवकीजीको कंस द्वारा अनेक कष्ट प्राप्त हुये. तत्पश्चात् प्रभुका प्रादुर्भाव हुआ. अतएव विभुके आविर्भावसे ही श्रीदेवकीजी शुद्ध-विमल बनीं. प्रभुके स्मरणमात्रसे ही जो शुद्ध हो जाता है तो आप अंतरमें पधारे-बिराजे तो उससे शुद्धता तो होयगी ही. अतएव यह नाम प्रकट हुआ है.

वसुदेवज्ञाननिष्ठसमजीवनिवारकः।
सर्ववैराग्यकरणस्वलीलाधारशोधकः ।।१५१।।

(७३८) वसुदेवज्ञाननिष्ठसमजीवनिवारकः

वसु–विष्णुको प्रकाश देनेवाले अथवा उनके द्वारा प्रकाशित वसुदेवमें ज्ञानरूपसे जिनकी सदैव स्थिति है ऐसे श्रीकृष्णके समान जीव अर्थात् वसुदेवके प्रथम प्रकटित छः पुत्रोंका निवारण करनेवाले संहारक भगवान् अथवा वसुदेवका ज्ञान जिन पुत्रोंमें समान जीवभाव युक्त था उनका निवारण करनेवाले भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण.

भगवान् विष्णु–व्यापकशील प्रभु, उन्हें ही वसु कहा जाता है. श्रुति वर्णन करती है कि "**विष्णुर्वसु**" विष्णु ये ही वसु है. क्योंकि सर्वमें निवास करनेके कारण प्रभुको वसु ऐसा कहा जाता है. इस कारणसे ऊपर वसुका अर्थ विष्णु किया गया है. वसुदेव स्वयं प्रभुके विशुद्ध सत्वस्वरूप हैं. भिन्न नहीं हैं. व्यासजी आज्ञा करते हैं कि "**सत्वं विशुद्धं वसुदेवसंज्ञितम्**" विशेष शुद्ध सत्त्व स्वरूप यह वसुदेव संज्ञामें रहा हुआ है. ऐसे शुद्ध सत्त्वमें ही प्रभु ज्ञानरूपसे निवास करते हैं. वसुदेवजीके प्रथम प्रकट हुये छः पुत्रोंको कंसने मारे बिना छोड़ दिया था. परन्तु प्रभुने नारदजी द्वारा कंसकी बुद्धिमें फेरफार करके उनको मरवाया. इसका कारण उनको श्रापसे मुक्ति दिलवानी थी अन्यथा नहीं.

(७३९) सर्ववैराग्यकरणस्वलीलाधारशोधकः

सर्व विषयोंसे वैराग्य उत्पन्न करानेवाली और अपने प्राकट्यरूप लीलाके आधारभूत श्रीदेवकीजीको शुद्ध करनेवाले अथवा सर्व वैराग्यकारिणी और अपनी लीलाके आधारभूत माता देवकीजीमें, स्त्रियोंमें स्वाभाविक रहनेवाले दोष वंध्यत्व, मृतप्रजत्व, निवारण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण.

मायाज्ञापनकर्ता च शेषसम्भारसम्भृतिः।
भक्तक्लेशपरिज्ञाता तन्निवारणतत्परः ।।१५२।।

(७४०) मायाज्ञापनकर्ता

माया अर्थात् योगमायाको आज्ञा करनेवाले प्रभु.

इस स्कन्धके आरम्भमें "**गच्छ देवि व्रजं भद्रे गोपगोभिरअलंकृतम्**" हे कल्याणी देवि! गोप और गौओंसे अलंकृत व्रजमें जा. ऐसे प्रभुने योगमायाको आज्ञाकी है. अतएव यहां मायाको आज्ञा करनेवाले प्रभु कहा गया है.

(७४१) शेषसम्भारसम्भृति:

शेष अनन्त भगवान् बलभद्रजीको आकर्षणकर अपने प्राकट्य स्वरूप सामग्री सम्पत्तिके सिद्ध करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण.

प्रभुकी इच्छासे शेष-बलदेवजीको देवकीजीके गर्भसे खींचकर योगमायाने रोहिणीजीके गर्भमें स्थापन किया है.

(७४२) भक्तक्लेशपरिज्ञाता

अपने प्राकट्यसे भक्तोंके क्लेशोंको भली प्रकार जाननेवाले प्रभु.

(७४३) तन्निवारणतत्पर:

भक्तजनोंके क्लेशोंको निवारण करनेमें तत्पर, ऐसे श्रीकृष्ण भगवान्.

आविष्टोवसुदेवांशो देवकीगर्भभूषणम् ।
पूर्णतेजोमय: पूर्ण: कंसाधृष्यप्रतापवान् ।।१५३।।

(७४४) आविष्टोवसुदेवांश:

जिनका कामांश वसुदेवके मनमें प्रविष्ट हुआ है ऐसे प्रभु. यहां पर जो अंश शब्द है वह पूर्ण आनन्दवाचक है अर्थात् जिनका पूर्ण आनन्द वसुदेवजीके अन्त:करणमें प्रविष्ट हुआ है ऐसे प्रभु.

(७४५) देवकीगर्भभूषणम्

श्रीदेवकीजीके गर्भमें अलंकाररूप. श्री देवकीजीके गर्भमें बिराजमान होनेके कारण उनमें अद्वितीय प्रभाको कंसादिकने देखा था. भागवतमें इस प्रकरणको स्पष्ट किया गया है.

(७४६) पूर्णतेजोमय:

सर्वव्यापी तेजके समूहरूप भगवान्.

(७४७) पूर्ण:

ऐश्वर्यादि द्वारा परिपूर्ण अर्थात् अखन्डित.

(७४८) कंसाधृष्यप्रतापवान्

कंसके द्वारा पराभूत अनिर्वाच्य प्रताप अर्थात् महिमावाले श्रीकृष्ण.

विवेकज्ञानदाता च ब्रह्माद्यखिलसंस्तुत: ।
सत्यो जगत्कल्पतरुर्नानारूपविमोहन: ।।१५४।।

(७४९) विवेकज्ञानदाता

कंसको विवेक तथा ज्ञान देनेवाले.

कंसराजा महा असुर होते हुये भी वसुदेवजीके वचनोंसे शांत हुआ और उसने अपनी बहिनको नहीं मारा. यह विवेक तथा ज्ञान प्रदान करनेवाले आप प्रभु ही हैं. और भी देवकीजीकी आखिरी एक कन्या मायाको पछाड़ते समय भगवती देवी बनके आकाशमें लोप हो गई. उसके बाद कंसने देवकीजीको तथा वसुदेवजीको आश्वासन दिया है. वो विवेक और ज्ञानसे भरपूर है. ऐसा ज्ञान कंसको प्रदान करनेवाले आप प्रभु ही हैं.

(७५०) ब्रह्माद्यखिलसंस्तुत:

ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्रादि समस्त देवताओंने परतत्वरूप पुरुषोत्तम स्वरूपसे जिनकी स्तुति करी है, ऐसे भगवान्.

(७५१) सत्य:

सत्य स्वरूप, धर्मीके सत्यत्वके कारण सत्य, सत्यके कारणरूप, जिनका व्रत सत्य है ऐसे श्रीकृष्ण भगवान्.

(७५२) जगत्कल्पतरु:

स्थावर जङ्गमात्मक जगतके कल्पवृक्षरूप.

स्वर्गमें रहा हुआ कल्पवृक्ष तो केवल देवताओंको ही फल प्रदान करता है. परन्तु परमात्मा अखिल विश्वको उसी ही प्रकार फल प्रदान करते हैं. उनके कष्टोंका हरण करते हैं. इस कारण आपको यहां जगत्कल्पतरु कहा गया है.

(७५३) नानारूपविमोहन:

विविध प्रकारके सात्विक, राजस एवं तामस प्रकृतिवाले ब्रह्मादि देवोंको मोह उत्पन्न करनेवाले. अतएव इस स्कन्धमें "**त्वन्मायया संवृतचेतस:**" आपकी मायासे मुग्ध बने हुये ऐसे हम कह कर ब्रह्मादिदेव स्तुति करते हैं.

भक्तिमार्गप्रतिष्ठाता विद्वन्मोहप्रवर्तक:।
मूलकालगुणद्रष्टा नयनानन्दभाजनम्॥१५५॥

(७५४) भक्तिमार्गप्रतिष्ठाता

भक्तिमार्गकी विशेषरूपसे स्थिति करनेवाले.

कर्म ज्ञान इत्यादि अनेक मार्ग प्रभुको प्राप्त करनेके लिये सब श्रुति स्मृतिमें बताये गये हैं. भक्तिमार्ग भी श्रुति स्मृतिसिद्ध ही है. परन्तु विशेष करके

प्रभुकी स्थितितो भक्तिमार्गमें ही है. क्योंकि भक्तिसे ही सुलभ रीतिसे प्रभु प्राप्त होते हैं, ऐसा बारम्बार श्रवणगोचर होता है, अनुभवित होता है. इससे निश्चय ऐसा होता है कि भक्तिमार्गमें ही आप विशेषरूपसे स्थिति करते है. अतएव भक्तिमार्ग प्रतिष्ठाता ऐसा नाम वर्णन किया गया है.

(७५५) विद्वन्मोहप्रवर्तक:

भक्तिरहित केवल ज्ञाननिष्ठ विद्वानोंमें लगे हुए मोह अर्थात् हम मुक्त हैं इस प्रकारके अभिमानके कारण उनको तत्त्वका प्रकाश नहीं देनेवाले.

केवल एक ज्ञान ही मुक्ति देनेवाला है, ऐसी बात नहीं है. भगवान् स्वयंही गीताजीमें आज्ञा करते हैं ''अनन्य भक्तिके द्वारा ही मैं प्राप्त हो सकता हूं'' तो प्रभुकी प्राप्तिमें भक्ति ही मुख्य है. कितनेक शुष्क ज्ञानी अपनेको मुक्त मानकर, भगवन्निष्ठ भक्तोंका परिहास करते हैं परन्तु मिथ्याभिमानमें छके हुये इतना नहीं जानते कि भक्तजनोंको तो निन्दा स्तुति बराबर ही लगती है. उनको तो किसी भी वस्तुमें भेदभाव नहीं है. केवल प्रभुके प्रेममें ही एकतान होते हैं. अतएव उनपर कोई हंसे तो क्या और न हंसे तो क्या? इसमें तो हंसनेवालोंके ज्ञानकी परीक्षा होती है और वो ही हास्यपात्र बनते हैं. स्वयंको स्वयं ही ब्रह्म मानकर अभेद दर्शाकर भेदको सिद्ध करते हैं.

(७५६) मूलकालगुणद्रष्टा

मूल–सर्व प्राणीमात्रके आधार गुणोंके द्रष्टा अथवा सर्व कालादिके मूलरूप श्रीकृष्ण जन्मके समयमें कालके शेष गुणोंको प्रेरणा करनेवाले भगवान्.

(७५७) नयनानन्तभाजनम्

प्रकट होकर वसुदेवजीके नेत्रको आनन्द देनेवाले प्रभु श्रीकृष्ण.

वसुदेवसुखाब्धिश्च देवकीनयनामृतम्।
पितृमातृस्तुत: पूर्वसर्ववृत्तान्तबोधक: ।।१५६।।

(७५८) वसुदेवसुखाब्धि:

वसुदेवजीके सुखके समुद्ररूप.

(७५९) देवकीनयनामृतम्

दु:खमें संतप्त श्रीदेवकीजीके नेत्रोंको अमृत अर्थात् नित्य सुख देनेवाले.

(७६०) पितृमातृस्तुत:

पिता वसुदेव और माता देवकीजीके द्वारा प्राकट्यके विषयमें स्तुति

करानेवाले.

(७६१) पूर्वसर्ववृतान्तबोधक:

माता पिता देवकी और वसुदेवजीको पूर्व जन्मके सम्पूर्ण वृतान्तको बतानेवाले भगवान् श्रीकृष्ण.

वसुदेव और देवकीने पूर्वके दो जन्मोंमें भगवान्की अत्यन्त तपश्चर्या करके भगवत्सदृश पुत्रकी अभिलाषा प्रभुके सन्मुख प्रकट करी थी और वरदान भी मांगा था. जिसके कारण ये दोनों जन्मोंमें भगवान् उनके यहां अंशरूपसे प्रकट भी हुये परन्तु उनकी तपश्चर्याके प्रमाणानुसार उनको कोई विशेष आनन्दकी प्राप्ति नहीं हुई. अतएव इस तीसरे जन्ममें स्वयं पूर्ण रीतिसे प्रकट होकर अपूर्व भगवदानन्द देनेके लिये ही प्रभुने उनको उनके पूर्वजन्मका वृतान्तका बोध कराया है. अपूर्व परम आनन्दमय अपने स्वरूपका उन दोनोंको अनुभव कराया है.

गोकुलागतिलीलाप्त वसुदेवकरस्थिति: ।
सर्वेशत्वप्रकटनो मायाव्यत्ययकारक: ।।१५७।।

(७६२) गोकुलागतिलीलाप्तवसुदेवकरस्थिति:

श्रीगोकुलमें लीला करनेकेलिये पधारनेके निमित्त वसुदेवजीके हाथमें स्थिति करनेवाले अर्थात् बिराजमान गोपाल कृष्ण प्रभु.

(७६३) सर्वेशत्वप्रकटन:

सर्वको नियममें रखनेवाले सामर्थ्यको प्रकट करनेवाले.

(७६४) मायाव्यत्ययकारक:

योगमायाके स्थानको परिवर्तित करनेवाले अर्थात् श्रीगोकुलमें प्रकटित योगमायाको मथुरामें भेजना और अपने आप श्रीगोकुलमें बिराजमान करना, ऐसी लीलाको करनेवाले भगवान्.

ज्ञानमोहितदुष्टेश: प्रपञ्चास्मृतिकारणम् ।
यशोदानन्दनो नन्दभाग्यभूगोकुलोत्सव: ।।१५८।।

(७६५) ज्ञानमोहितदुष्टेश:

देवकीजीके अष्टम गर्भके जन्मको श्रवणकर यह काल है ऐसा ज्ञान होनेसे दुष्ट राजाकंस को विह्वल करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण.

श्रीभागवत महापुराण दशमस्कन्धका जन्म प्रकरण

अध्याय १

पृथ्वी आदि भक्तृको कालादिजन्य त्रिविध दुःखस्वरूप भगवत्प्राकट्यके चार हेतुओंका निरूपण तथा वसुदेवजीके हृदयमें वासुदेव व्यूहका प्राकट्य.

श्रीवल्लभाचार्यचरण, दशम स्कन्धके विवरणको प्रारम्भ करते हुए सर्व प्रथम कारिका १ में उस स्कन्धके अर्थरूप, निरोधस्वरूप प्रभुको नमन करते हैं:

नमामि हृदये शेषे लीला–क्षीराब्धि–शायिनम्।
लक्ष्मी–सहस्र–लीलाभिः सेव्यमानं कला–निधिम्।।कारि.१।।

कारिकार्थ: सर्वात्मभावसे दासभावको प्राप्त मेरे हृदयरूप शेषपर स्थित, लीलारूप क्षीरसागरमें जो (दशम स्कन्धके अर्थरूप निरोधस्वरूप) प्रभु शयन (स्थिति) करते हैं, (विराज रहे हैं) एवं जिन प्रभुकी अनन्त लक्ष्मी स्वरूप तथा अनेक प्रकारके कटाक्षादि लीलाओंसे सेवा कर रही हैं, उन कलानिधि (पूर्ण पुरुषोत्तम प्रभु)को मैं नमस्कार करता हूं।।१।।

व्याख्यार्थ: श्रीवाक्पति निजजनोंकी शिक्षाकेलिए, शिष्टपुरुषोंके नियम अनुसार, ग्रन्थ प्रारम्भ करते हुए स्वयं भी मंगलाचरण करते हैं.

श्रीनिगम(वेद)रूप कल्पवृक्षके रसात्मक फलरूप श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धमें 'निरोधस्वरूप' श्रीप्रभु निरोधात्मक लीलाओं द्वारा, निःसाधन जीवोंको 'निरोध'का दान करते हैं अतः श्रीमदाचार्यचरण मंगलाचरणमें, उस स्कन्धके अर्थ–स्वरूप निरोधलीलाकर्त्ता, लीला(पूर्ण)पुरुषोत्तमको नमस्कार करते हैं.

श्रीमहाप्रभुजीने इस कारिकामें व्यतिरेक[१] अलंकार द्वारा शेषशायी 'नारायण'से 'निरोधस्वरूप' प्रभुकी विशेष(खास) विलक्षणता(अद्भुतता) बताई है, जैसे कि शेषशायी नारायण, क्षीरसागरमें शेषशय्या पर शयन करते हैं वैसे ही 'निरोधस्वरूप प्रभु' भक्तोंके हृदयरूप शेष पर लीलारूपी दूधके समुद्रमें शयन करते हैं. क्षीरसागरमें एक लक्ष्मी है जो विधि अनुसार नारायण भगवान्की सेवा करती हैं, परन्तु यहां तो अनन्त, नित्यसिद्ध, पुष्टिभक्त(गोपिकाएं) अनेक लीलाओंसे 'निरोधस्वरूप प्रभु'की सेवा करते हैं. शेषशायी नारायण केवल धर्मनिधि हैं किन्तु निरोधस्वरूप प्रभु सम्पूर्णकलाओंके भंडार हैं अतः पूर्ण धर्मी

स्वरूप हैं. इस भांति इस कारिकामें शेषशायी 'नारायण'से निरोध लीलामें स्थित निरोध स्वरूप प्रभुकी विशेष विलक्षणता बताई है.

यहां प्रमाणमार्ग(मर्यादामार्ग) और प्रमेयमार्ग(फलरूप पुष्टिमार्ग)की विलक्षणता(अद्‌भुतपन)का भी स्पष्टीकरण इस प्रकार होता है. जैसे कि प्रमाणश्रेष्ठ प्रभुके श्वासरूप वेदमें, दास्य धर्मकी उत्तमता बताई गई है, अतः उस (दास्यधर्म)को सिद्धकर बतानेकेलिए स्वयं वेद, शेषरूप धारणकर, धर्मनिधि नारायण भगवान्‌की शय्या होकर सेवा करता है, तथा श्रीलक्ष्मीजी भी दास्य धर्मकी उत्तमता बतानेकेलिए अपने रहनेके स्थान प्रभुके वक्षःस्थलको छोडकर प्रभुके चरणारविंदकी सेवा करती हुई चरणोंके पास निवास करती हैं. यह प्रमाण मार्गका सर्वोत्तम दास्य धर्म है.

उपनिषद्‌में कहे हुए सर्वात्मभाव होनेके अनन्तर, उससे पुष्टिमार्गीय फलात्मक दास्य भावकी प्राप्ति होती है. सर्वात्मभाव जिस भक्तका सिद्ध हो जाता है उस भक्तके हृदयमें अगाधलीलासागरका उद्‌भव होता है. भक्तके हृदयमें स्थित, इस लीला महोदधिमें निरोधस्वरूप प्रभु शयन(स्थिति) करते हैं, अर्थात् रसदानार्थ सदैव विराजते हैं. वे भक्त, रसको प्राप्तकर, आनन्द[२] मग्न, हो जाते हैं. इस एक कारिकामें 'लीला' शब्द दो बार आया है जिससे पुनरुक्ति दोष[३] का आभास होता है, किन्तु इसका आशय समझनेसे यह शंका स्वतः मिट जाएगी. दूसरे पादमें लीला शब्द सामान्य लीला बतानेकेलिए दिया है और तीसरे पादमें लीला शब्द, विशेष(मुख्य) लीलाएं जो व्रजभक्तों(गोपियों)ने स्वरूप तथा कटाक्षादि भावों द्वारा प्रभुसे की है उनको स्पष्ट समझानेके वास्ते दिया है, अतः पुनरुक्ति दोष नहीं है.

'शयन' शब्दका अर्थ निद्रा भी होता है किन्तु यहां 'शयन' शब्दका अर्थ 'स्थिति करना' है, अर्थात् प्रभु दूसरे स्थान पर न जाकर वहां पर ही (लीलार्थ) निवास करते हैं. जिसका तात्पर्य यह है कि प्रभुको जिस समय और जहां-जहां जैसी-जैसी लीला करनी होती है वहां आप उस समय पर उसी प्रकार विराजते हैं इसको प्रभुका शयन[४] कहते हैं. जैसे साधारण रीतिसे कहा जाता है कि नारायण भगवान् शेषशायी हैं अर्थात् शेष पर शयनकर रहे हैं, परन्तु वास्तवमें तो नारायण नाभिसे कमल उत्पन्नकर, उससे ब्रह्माका प्राकट्य करते हैं और उसके द्वारा जगत्‌की रचना कराते हैं. इससे शयनसे स्थिति ही जानी जाती है. वैसे ही

हृदयाकाशमें पुरुष शयन करता है, जिसका भी तात्पर्य यह है कि पुरुष हृदयमें स्थिति करता है.

इस प्रकार शास्त्रोंमें जैसे 'शयन' शब्द 'स्थिति'के अर्थमें दिया है वैसे ही आचार्यश्रीने 'श्रीसुबोधिनीजी'में 'शयन' शब्दका अर्थ स्थिति लिया है.

जैसे शेषशायी नारायण इस दृश्य जगत्को प्रकट करते हैं वैसे ही 'निरोधात्मक प्रभु' भक्तके हृदयमें स्थित होकर लीलाक्षीराब्धिमें 'शयन' करते हुए अपने स्वरूपमें स्थित विचित्र प्रचुर भावों द्वारा, भक्ति रसस्वरूप जगत्को प्रकट करते हैं.

यदि 'शयन' शब्दका अर्थ निद्रा लेनेमें आवे तो प्रभु कोई भी लीलाका कार्य नहीं कर सके. इसलिए शयनका अर्थ 'स्थिति' योग्य है.

प्रथम कारिकामें इस प्रकार मंगलाचरणसे स्कन्धार्थरूप प्रभुको नमस्कार कर आचार्यचरण द्वितीय कारिकामें बताते हैं कि प्रकरणार्थरूप प्रभु मेरे हृदयमें बिराजते हैं.

१. अलंकार शास्त्रमें–उपामानसे उपमेयकी विशेषता बतानेवाले अलंकारको व्यतिरेक अलंकार कहते हैं. यहां उपमान 'शेषशायी' नारायणसे, उपमेय 'निरोधस्वरूप प्रभुकी विशेषता बताई गई है.'

२. 'रसं लब्ध्वा आनन्दी भवति' श्रुतिको चरितार्थ करते हैं.

३. एक ही बातको दुबारा कहनेको पुनरुक्ति दोष कहते हैं.

४. सारांश यह है कि उन लीलाओंका ज्ञान और आनन्द भक्त ही लेवें ,अन्य समझे कि भगवान् सो गए हैं. इसलिए स्थिति न कहकर शयन दिया है.

चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च त्रिभिस्तथा।
षड्भिर्विराजते योऽसौ पञ्चधा हृदये मम ।।कारि.२।।

कारिकार्थ: जो यह प्रकरणार्थरूप प्रभु; पांच प्रकारसे मेरे हृदयमें बिराजते हैं उनको मैं नमस्कार करता हूं।।२।।

व्याख्यार्थ: प्रकरणार्थ प्रभुके पांच प्रकार बताते हैं.

ऊपर श्लोकमें दिए पहले 'चतुर्भिः' शब्दसे तात्पर्य, जन्मप्रकरणके चार अध्यायोंसे है. जिनमें क्रमानुसार हेतु, उद्यम, अन्य रूप धरना और कापट्य विषयोंका वर्णन है[१]. दूसरे 'चतुर्भिः' शब्दसे तात्पर्य 'तामस' प्रकरणके चार अवान्तर प्रकरणोंसे है, जो प्रत्येक सात–सात अध्यायोंका है और जिन अवान्तर

प्रकरणोंका क्रमानुसार नाम 'तामस' प्रमाण, प्रमेय, साधन और फल है. तीसरे 'चतुर्भिः' शब्दसे मतलब राजस प्रकरणके चार अवान्तर प्रकरणोंसे है, जो प्रत्येक सात अध्यायोंका है और क्रमानुसार उनके नाम 'राजस' प्रमाण, प्रमेय, साधन और फल है.

'त्रिभिः' शब्दसे तात्पर्य सात्त्विक प्रकरणके तीन अवान्तर प्रकरणोंसे है जो प्रत्येक सात-सात अध्यायोंका है और इनके नाम क्रमानुसार प्रमेय, साधन और फल है. इस प्रकरणमें प्रमाण अवान्तर प्रकरण नहीं है क्योंकि सात्त्विक जीव शुद्ध अन्तःकरणवाले होते हैं और उनके हृदयमें श्रद्धा होती है. इससे उनको शंकाएं नहीं होती है इसलिए उनको प्रमाणकी आवश्यकता नहीं रहती है.

'षड्भिः'का अर्थ गुण प्रकरणसे है जिसमें छः अध्याय हैं और क्रमानुसार उनमें ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य का वर्णन है. इस प्रकार कुल ८७ अध्याय हैं:

जन्म प्रकरण-४ अध्याय,
तामस प्रकरण-२८ अध्याय,
राजस प्रकरण-२८ अध्याय,
सात्त्विक प्रकरण-२१ अध्याय और
गुण प्रकरण-६ अध्याय हैं.

तीन अध्याय प्रक्षिप्त हैं. इस प्रकार दशम स्कन्धके कुल ९० अध्याय हैं.

दशमार्थः प्रकरणाध्यायार्थश्च विचार्यते ।।कारि.२।।

कारिकार्थ : इस कारिकामें दशम स्कन्धका अर्थ और उसके प्रकरण तथा अध्यायोंके अर्थका विचार किया जाता है.

व्याख्यार्थ: मंगलाचरण और प्रकरण विभाग करनेके अनन्तर आचार्यश्री स्कन्धार्थका विचार करते हैं. स्कन्धका अर्थ सुदृढ अर्थात् पूरी तरह समझमें, आ जावे इसलिए प्रकरणों तथा अध्यायोंके अर्थका भी विचार करते हैं. यद्यपि आचार्यचरणोंको यहां सुबोधिनीमें केवल वाक्योंके, पदोंके और अक्षरोंके अर्थ ही करने थे किन्तु कितनेक टीकाकारोंको स्कन्धार्थके विषयमें जो संशय हैं उसको मिटानेकेलिए यहां स्कन्ध, प्रकरण एवं अध्यायोंके अर्थका भी दिग्दर्शन आवश्यक समझकर कराया है।।२।।

१. प्रथम अध्यायमें जन्म लेनेका हेतु, द्वितीय अध्यायमें शीघ्र प्रकट होनेकेलिए उद्यम,

तीसरे अध्यायमें चतुर्भुज स्वरूपको बालरूपमें तिरोहितकर बालस्वरूपसे प्रकट दर्शन देना, चर्तुथ अध्यायमें 'कापट्य' (मायाके कार्य)का वर्णन है.

नवलक्षणलक्ष्यो हि कृष्णस्तस्य निरूपणात्।।कारि.३।।
आश्रयः क्रमभावित्वात् निरोधो वेति संशयः।

कारिकार्थः दशम स्कन्धका अर्थ आश्रय है, वा 'निरोध' है? यह संशय है. कितनेक टीकाकारोंका मत है कि दशम स्कन्धका अर्थ 'आश्रय' है क्योंकि उस स्कन्धमें सर्ग आदि नव लीलाओंसे लक्ष्य श्रीकृष्णचन्द्रकी लीलाएं हैं. इन लीलाओंसे श्रीकृष्णका स्वरूप जाना जाता है, इससे दशमका अर्थ 'आश्रय' है. अन्योंका मत है कि द्वितीय स्कन्धके दशमाध्यायके प्रथम श्लोकमें जो लीलाओंका क्रम दिया है उसके अनुसार दशमका अर्थ 'निरोध' होना चाहिए।।३।।

इस प्रकार दो मत होनेसे सन्देह है कि दशमका अर्थ 'आश्रय' है या 'निरोध' है. 'आश्रय' माननेवालोंका पक्ष इन कारिकाओंमें बताते हैं:

लीलानिर्धारको ह्यर्थः क्रममात्रं तु दुर्बलम्।।कारि.४।।
यथाकथञ्चित् श्रवणं सफलत्वाय कल्पते।
निरोधः प्रलयो लोके प्रसिद्धः प्रकृते न सः।।कारि.५।।
प्रतीतो द्वादशेऽन्यत्र महत्वात् शुद्धलीलया।
सहितो ह्याश्रयः स्कन्धे प्रतिपाद्य इहेति चेत्।।कारि.६।।

कारिकार्थः पूर्व पक्षवाले अर्थात् दशम स्कन्धका अर्थ आश्रय माननेवाले कहते हैं कि प्रत्येक स्कन्धमें जिस लीलाका वर्णन हो उससे ही स्कन्धके अर्थका निर्णय करना चाहिए. 'क्रम'से निर्णय करना ठीक नहीं क्योंकि 'लीलाओं'से 'क्रम' निर्बल है. वेदमें भी 'अर्थ'का निर्णय करनेकी विधि दी है. जैसे पूर्व मीमांसाके अनुसार क्रमको छोडकर विषयसामग्री पर निर्णय करनेकी परिपाटी है. उदाहरण ''अग्निहोत्रं जुहोति'', (अर्थ–अग्नि–होत्रमें होम करता है). यह वाक्य प्रथम आया है. ''यवागूं पचति'', (दूधमें चावल पकता है). यह वाक्य पीछे आया है तो भी यज्ञमें पहले चावल पकाये जाते है पश्चात् होम किये जाते हैं–क्योंकि यहां पर क्रम माननेसे अर्थ ठीक नहीं होता है इसलिए 'क्रम' निर्बल है और अर्थ सबल है. अतः भागवतमें भी पूर्वमीमांसाके अनुसार पाठक्रम दुर्बल है, उसको छोडकर लीलाओंके अनुसार 'आश्रय' ही स्कन्धका अर्थ लेना

चाहिए. श्रीमद्भागवतके शास्त्रका श्रवण जिससे सफल हो, उसको स्कन्धार्थ समझना चाहिए. यद्यपि क्रमसे दशमका अर्थ 'निरोध' हो सकता है. निरोधका अर्थ 'प्रलय' है ऐसा लोकमें प्रसिद्ध है, इसलिए निर्बल 'क्रम'से प्राप्त निरोध (प्रलय) स्कन्धका अर्थ ग्रहण न कर फल देनेवाला 'आश्रय' ही ग्रहण करना ठीक है।।४-५।।

यह(दशम) स्कन्ध अन्य स्कन्धोंसे उत्तम है कारण कि इसमें स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण लीलापुरुषोत्तमकी शुद्ध लीलाएं ही हैं. निरोध[१](प्रलय) लीला (नैमित्तिक प्राकृत आदि) द्वादश स्कन्धमें है. इससे उस द्वादश स्कन्धका अर्थ 'निरोध' है और दशम स्कन्धका अर्थ आश्रय है।।६।।

१. आचार्यश्री दशम स्कन्धका अर्थ 'निरोध' स्वीकार करते हैं किन्तु 'निरोध'का अर्थ 'प्रलय' नहीं करते हैं. निरोधको तीन अर्थोंसे समझाते हैं कि 'निरोध' क्या है?

१. जगत्में स्वशक्तियोंके साथ खेलना.

२. संसाररूप प्रपञ्चको भूलकर भगवान्में भक्तकी आसक्ति.

३. भक्तके लौकिक देहेन्द्रियादिकोंका अलौकिक हो जाना.

सन्देह मिटाकर जो सिद्धान्त स्थिर किया जाता है उसको 'उत्तरपक्ष' कहते हैं. उत्तर पक्षकी कारिकाएं :

नहि सापेक्ष-रूपस्य प्रथमं सुनिरूपणम्।
नवलक्षण-लक्ष्यस्य ह्याश्रयो रूप्यते कथम्।।कारि.७।।
अग्रे लीलाद्वय-कथा फलसिद्धौ वृथा भवेत्।
पूर्वोत्तर-स्कन्धयोश्च नश्येत् कारण-कार्यता।।कारि.८।।
कृष्णस्त्वेकादशेऽप्यस्ति क्रमश्च स्वीकृतो भवेत्।

कारिकार्थ: सर्ग, विसर्ग आदि नव लक्षणकी अपेक्षावाले 'आश्रय'का प्रथम निरूपण नहीं हो सकता है, क्योंकि नव लक्षण-लक्ष्य तो आश्रय है. उसका दशम स्कन्धमें शुकदेवजीने कैसे निरूपण किया होगा? क्योंकि जबकि दशममें आश्रयसे फल-सिद्धि हो गई तो इसके पश्चात् दो लीलाओंका कहना किसी भी कामका नहीं रहता है वह तो वृथा ही हो जाता है. इसके सिवाय आश्रयके पश्चात् मुक्ति और निरोधके वर्णन करनेसे स्कन्धोंकी आपसमें कारण-कार्य संगति भी नष्ट हो जाती है।।७-८।।

यदि कहो कि दशम स्कन्धमें श्रीकृष्णकी लीलाएं है अतः इसका अर्थ

'आश्रय' ही है तो श्रीकृष्णकी लीलाएं तो एकादश स्कन्धमें भी हैं. इन सबका पूर्वापर विचारनेसे यही सिद्धान्त निःसंशय सिद्ध होता है कि श्रीमद्भागवतमें क्रमानुसार ही 'स्कन्धार्थ' निर्णय करना चाहिए।।८. १/२।।

उत्तर पक्षीय कारिकाकी व्याख्या:

दशम स्कन्धमें 'आश्रय' नहीं है किन्तु निरोध लीला हैं, इस पक्षको सिद्ध करनेकेलिए एवं वादीके पक्षको अपूर्ण बताते हुए श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा करते हैं कि, यदि दशम स्कन्धमें आश्रयलीला स्वीकार की जाएगी तो श्रीशुकदेवजीके द्वितीय स्कन्धमें कहे हुए आश्रयको सर्ग आदि नवलीलाकी अपेक्षा है. श्रीशुकका वह कहना निरर्थक होगा. वास्तवमें श्रीशुकदेवजीने तृतीय स्कन्धसे सर्ग आदि लीलाएं प्रारम्भकर, दशममें निरोध, एकादशमें मुक्ति एवं द्वादशमें आश्रयका वर्णन किया है. श्रीशुकदेवजीके इस क्रमका प्रबल प्रमाण यह है कि यदि परीक्षितका दशममें ही आश्रय सिद्ध हुआ होता तो न तो श्रीशुकदेवजीको एकादश और द्वादश दो स्कन्धोंके कहनेकी जरूरत होती और न परीक्षितको सुननेकी ही चाह रहती. फिर तो यों मानना पडेगा कि दो स्कन्धोंका कहना ही वृथा था. दशममें आश्रय मानना श्रीशुकदेवजीकी उक्तियोंका अपमान करना है. इसके सिवाय दशममें आश्रय माननेसे लीलाओंके परस्पर कार्य कारणकी संगति भी नष्ट होती है. जैसे–

प्रथम स्कन्धमृ–अधिकारिओंके साधनलक्षण हैं.

द्वितीय स्कन्धमें–साधन युक्तोंका श्रवण है.

तृतीय स्कन्धमृ–१. पहिली सर्ग लीला–निराकारका पुरुष शरीर धारण करना है.

चर्तुथ स्कन्धमृ–२. विसर्ग लीला–पुरुषरूपसे ब्रह्मादिकोंकी उत्पत्ति होना है.

पंचम स्कन्धमें–३. स्थानलीला–उत्पन्न किये हुए सर्वकी, मर्यादासे स्थापनाकेलिए धर्मादि पुरुषार्थोंका साधन है.

षष्ठ स्कन्धमृ–४. पुष्टिलीला–जिन जीवों पर अनुग्रह है.

सप्तम स्कन्धमें– ५. ऊतिलीला–वैषम्य दोषके निवारणकेलिए वासना है.

अष्टम स्कन्धमृ–६. मन्वन्तरलीला–वासनाके मिटानेकेलिए सद्धर्मका वर्णन है.

नवम स्कन्धमृ–७. ईशानुकथा–निवृत्त दोषवालोंकेलिए भक्ति चरित्र.

दशम स्कन्धमृ–८. निरोधलीला– भक्तोंकी प्रपञ्च विस्मृति कराके भगवान्के स्वरूपमें उनकी आसक्ति होना है.

एकादशस्कन्धमृ–९. मुक्तिलीला–निष्प्रपञ्च अर्थात् जिनका प्रपंच नाश हो गया है वैसे, तथा भगवान्में आसक्तिवाले जीवोंको स्वरूपज्ञानके द्वारा मुक्तिदान.

द्वादश स्कन्धमृ–१०. आश्रयलीला–स्वरूपज्ञान द्वारा जीवन्मुक्त जीवोंकी ब्रह्मस्वरूपसे स्थितिरूप 'आश्रय' है.

इस प्रकार स्कन्धोंमें जो कार्य कारण सम्बन्ध है वह दशममें आश्रय माननेसे भंग हो जाएगा, अतः दशमका अर्थ 'निरोध' मानना ही प्रमाण तथा युक्तिसे संगत है. दशम स्कन्धमें 'निरोध' लीला स्वीकार करनेसे श्रीशुकदेवजीके कहे हुए क्रमका भी समादर होगा.

निरोधोऽस्यानुशयनं प्रपञ्चे क्रीडनं हरेः।।कारि.९।।
शक्तिभिर्दुर्विभाव्याभिः कृष्णस्येति हि लक्षणम्।

कारिकार्थ : इस (पूर्णपुरुषोत्तम श्रीकृष्ण) श्रीहरिकी, अपनी अचिन्त्य शक्तियों सहित जगत्में क्रीडा करना ही 'निरोध' है.

व्याख्यार्थ : श्रीमद्भागवतकी टीकाओंको देखनेसे प्रतीत होता है कि उन्होंने भागवतमें दिए हुए 'निरोध' शब्दका वास्तविक अर्थ नहीं किया है. श्रीशुकदेवजीके 'निरोध' शब्दका भाव न समझकर कहते हैं कि जीवका शक्तियोंके साथ लय ही 'निरोध' है. यों अर्थ करना श्रीशुकदेवजीके कथनके विरुद्ध है. द्वितीय स्कन्धके दशम अध्यायके ६ श्लोकमें 'अस्य' शब्द दिया है. जिससे परमात्माका बोध कराया है, न कि जीवात्माकेलिए 'अस्य' शब्द दिया है. अतः आचार्यश्रीने इस कारिकामें 'अस्य' शब्दका अर्थ स्पष्ट समझानेकेलिए 'हरेः' तथा 'श्रीकृष्णस्य' भगवान्के दो नाम दिए हैं. इसके सिवाय जो अन्य दुष्ट राजाओंका नष्टरूप प्रलयको 'निरोध' मानते हैं, वह भी सत्यपूर्ण नहीं है, कारण कि मारना आदि कार्य श्रीकृष्ण स्वयं तो करते नहीं हैं किन्तु संकर्षणादि व्यूहोंसे करवाते हैं. श्रीकृष्णने तो वे लीलाएं की हैं और करते हैं, जिससे भक्तजनोंकी अविद्या नष्ट हो और उनकी 'प्रभु'में आसक्ति हो. भक्तोंकी प्रभुमें आसक्ति हो तथा प्रपंचको भूल जाए यह ही प्रभुके प्राकट्य एवं लीला करनेका हेतु है. दशम स्कन्धमें इस प्रकारकी लीलाएं की गई हैं, अतः दशम स्कन्धमें जो 'निरोध' लीलाका वर्णन है उसका सत्य अर्थ इस कारिकामें आचार्यश्रीने स्पष्ट समझाया है.

श्रीपुरुषोत्तमजी 'प्रकाश'में विशेषरूपसे समझाते हैं कि दशम स्कन्धमें

८७ अध्यायका कारण भी यह है कि (निरोध) का अर्थ (शयन) है. और शयनकी तीन अवस्थाएं हैं. प्रथम जाग्रत, द्वितीय स्वप्न और तृतीय सुषुप्ति है. इसके सिवाय देहकी ७२ नाडियां तथा आत्माकी श्री, कान्ति आदि १२ शक्तियां हैं. इन सबका योग ८७ होता है, अतः (निरोधार्थ) दशम स्कन्धके ८७ अध्याय भी (निरोध) लीला इस स्कन्धके अर्थका समर्थन करते हैं।।९।।

नैमित्तिक–निरोधोऽन्यो धर्मग्लानि–निमित्ततः।।कारि.१०।।

कारिकार्थ : धर्मग्लानिके निमित्त(कारण)से जो दुष्ट राजाओंका नाशरूप निरोध है वह सर्ग आदि दश लीलाओंसे पृथक् है ।।१०।।

व्याख्यार्थ : श्रीमदाचार्यचरणने इस कारिकामें आज्ञा की है कि दशम स्कन्धमें दुष्ट राजाओंके नाशरूप नैमित्तिक(निमित्तकारणसे होनेवाले) प्रलयको मानना भी योग्य नहीं है, क्योंकि नैमित्तिक प्रलयरूप निरोधकी सर्ग आदि दशलीलाओंमें गणना नहीं की है. यहां इस स्कन्धमें तो शुकदेवजीके वचनानुसार, सर्ग आदि दशलीला द्वारा हुआ भगवदासक्तिरूप निरोध ही विवक्षित है।।१०।।

स चात्र नैव सद्ग्राह्यो हरिणा दुष्टभूभुजाम्।
आद्यन्तयोरिहाभावाद् मुक्तावप्यनुवृत्तितः।।कारि.११।।
लक्षणस्याप्रवेशश्च लीलाधिक्यं तथा भवेत्।

कारिकार्थ : हरिने दुष्ट राजाओंका नाशरूप जो (निरोध) किया है वह निरोध सत्पुरुषोंको यहां ग्रहण नहीं करना चाहिए. यहां 'आदि' और 'अन्त' के प्रकरणमें प्रलयात्मक निरोधका अभाव है. एवं मुक्तिलीला (एकादश स्कन्ध)में दुष्ट राजाओंका नाशात्मक निरोध है. इस निरोध (नाशात्मक)में, निरोधके लक्षण नहीं है तथा दशलीलासे एक लीला भी विशेष होती है. अतः मारणरूप निरोध अलग होनेसे इस स्कन्धमें वह है यों कहना व्यर्थ है।।११.१/२।।

व्याख्यार्थ : भगवान्ने संकर्षण व्यूह द्वारा जो दुष्ट नृपतियोंका नाशरूप निरोध किया है वह मुख्य निरोधका 'अंग'रूप निरोध है अतः वह दशम स्कन्धका 'अर्थ'रूप निरोध नहीं है. यदि कोई इस निरोधको ही दशमका अर्थ माननेका आग्रह करे तो उसके उत्तरमें आचार्यश्री आज्ञा करते हैं कि दशम स्कन्धके पहिले जन्मप्रकरणमें तथा अन्तिम गुणप्रकरणमें दुष्ट नाशरूप नैमित्तिक प्रलयरूप निरोधका लक्षण नहीं है, इसलिए हठ करनेवाले वादीके कहनेमें अव्याप्तिदोष आता है, उसके सिवाय एकादश स्कन्धमें भी प्रलयरूप निरोधकी कथा है जिससे

वादीके कहनेमें अतिव्याप्तिदोष भी आता है और दश लीलाओंके स्थान पर एकादश लीलाएं होती है. इन दोषोंके कारण प्रलयात्मक निरोधको दशम स्कन्धका अर्थ सत्पुरुषोंको नहीं मानना चाहिए।।११– १/२।।

तदर्थं जन्मकथनं पृथास्तोत्रविरोधि हि।।कारि.१२।।

कारिकार्थ : दुष्ट नृपतियोंके नाशकेलिए भगवान्ने अवतार लिया है यों मानना पृथा द्वारा की हुई स्तुतिके विरुद्ध है।।१२।।

व्याख्यार्थ : श्रीमदाचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि बोपदेवने भागवतका अर्थ करते हुए लिखा है कि भगवान् श्रीकृष्णने दुष्ट राजाओंको नाशकर भूभारको उतारनेकेलिए अवतार लिया है, यह उनका कहना अपूर्ण है क्योंकि पृथाने भगवान्की स्तुति करते हुए कहा है कि–

तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम्।
भक्तियोगविधा(ता)नार्थं कथं पश्येम हि स्त्रियः।। का.(१।८।२०)

कारिकार्थ : हे प्रभो ! यदि आपका प्राकट्य शुद्ध अन्तःकरणवाले परमहंस मुनियोंमें भक्तियोगके विधान अथवा विस्तारकेलिए नहीं होता तो हम स्त्रियां आपके दर्शन कैसे कर सकतीं ? इस प्रकार पृथाने श्रीकृष्णके प्राकट्यका कारण भक्ति विस्तार कहा है, अतः दुष्टवधको मुख्य कारण मानना असंगत है।।१२।।

कार्य–कारण–हानिश्च प्रक्रान्त–त्याग एव च।
भक्तत्वाद् भुव उद्धारो भारहाराद् निरूपितः।।कारि.१३।।

कारिकार्थ : दशम स्कन्दमें 'आश्रय' लीला माननेसे, कार्य कारणकी तथा उपक्रमकी हानि होती है. इस स्कन्धसे भक्त–श्रेष्ठ–भूमिके उद्धारका भूभार हरण करनेसे वर्णन किया है।।१३।।

व्याख्यार्थ : द्वितीय स्कन्धमें कहा है कि (दशमस्य विशुद्ध्यर्थं नवानामिह लक्षणम्), दशवीं लीला आश्रयके विशेष शुद्धिकेलिए यहां प्रथम सर्गादि लीलाएं प्रारम्भकर द्वादशस्कन्धमें आश्रय लीला कही है. इस प्रकार कारण कार्य संगति तथा क्रमकी रक्षा की गई है. उनका त्यागकर बीचमें (दशम स्कन्धमें) आश्रय माननेसे कार्य कारण संगति तथा क्रमका नाश होता है अतः बीचमें आश्रय मानना असंगत है. सर्ग आदि नव लीलाओंके ज्ञान होनेके अनन्तर ही आश्रयका ज्ञान व प्राप्ति होती है कारण कि पहली लीला कारण है, दूसरी

लीला कार्य है. इसी तरह सर्व लीलाओंका क्रमशः कारण कार्य सम्बन्ध होनेसे श्रीमद्भागवतमें लीलाओंका वर्णन भी इसी क्रमसे हुआ है।।१३।।

अतः दशममें आश्रय अथवा दुष्ट मारणरूप प्रलय निरोध मानना सर्वथा असंगत है. दशममें तो प्रपञ्च विस्मृति पूर्वक भगवदासक्तिरूप मुख्य निरोध मानना ही सुसंगत है, इसलिए सुज्ञोंको शास्त्रीय सिद्धान्त ही स्वीकार करना चाहिए.

प्रकटः परमानन्दो यदा भूमेस्तदैव हि।
मर्दनक्लेशहानिः स्याद् इति तस्याः समुद्यमः।।कारि.१४।।

कारिकार्थ : दुष्ट नृपतिओं द्वारा किये हुए पापादि भारसे पीडित पृथ्वीका क्लेश तब निवृत्त हो जब स्वयं परमानन्द प्रकट हो इसलिए पृथ्वीने ही सफल उद्यम किया।।१४।।

व्याख्यार्थ : भूमि, बोझसे अत्यन्त पीडित हुई तब पीडाको मिटानेकेलिए उसने उद्यम किया जो सफल भी हुआ. भूमिको दुष्टतापूर्ण मनुष्योंको अधिक संख्या बढनेके बोझसे पीडा नहीं होती है, क्योंकि पृथ्वी पर्वतादिकोंका भार भी वहन करनेमें समर्थ है किन्तु पापके बोझको सहन करनेमें असमर्थ है. पापके बोझकी पीडा तो प्रभुके प्राकट्यके सिवाय नहीं मिटती है. जैसे सूर्यके उदय होते ही रात्रिका अन्धकार स्वतः नष्ट हो जाता है. वैसे ही प्रभुके प्राकट्यमात्रसे भूमिकी पीडा मिट जाएगी. अतः दशमके प्रथम अध्यायमें भगवत्प्राकट्यकेलिए पृथ्वीके किये हुए उद्यमका वर्णन है।।१४।।

ब्रह्म–रुद्रादिदेवानाम् अत एवान्य–संश्रयः।
भक्तानामेव निस्तारः कृतः कृष्णेन संसृतेः।।कारि.१५।।
अतो निरोधो भक्तानां प्रपञ्चस्येति निश्चयः।

कारिकार्थ : प्रभुके प्राकट्यकेलिए ब्रह्मा, रुद्र आदि देवोंको दूसरोंका आश्रय[१] लेना पडा. दूसरी गौ(भगवान्की भक्त)का आश्रय लेकर भगवान्को प्रार्थना करनेकेलिए शिव आदि देव क्षीर–सागर पर गए. श्रीकृष्णने भक्तोंका ही 'संसार' नाश किया है, अतः प्रपञ्चसे विस्मृति पूर्वक भगवान्में आसक्तिरूप निरोध भक्तोंका ही हुआ है।।१५.१/२।।

व्याख्यार्थ : जब भूमि, पाप–बोझसे अति पीडित हुई और समझने लगी कि यह मेरा दुःख भगवान्के प्रकट होनेके सिवाय नष्ट नहीं होगा.

भगवान्का प्राकट्य देवताओंको अभीष्ट था किन्तु उनमें पृथ्वी जितनी

न आर्ति थी और न वैसा अधिकार था. भगवान् तो आर्त एवम् भक्तोंके दुःख दूर करनेकेलिए ही प्रकट होते हैं. वैसी योग्यता देवताओंमें नहीं थी केवल पृथ्वीमें थी. अतः ब्रह्मादि देवोंको पृथ्वीका सहारा लेकर भगवान्के पास प्रार्थनाकेलिए जाना पडा.

यदि यहां (दशम स्कन्धमें) दुष्ट भूपति–नाश–रूप निरोध माना भी जाए तो भी वह दशमका मुख्य अर्थरूप 'निर्णय' नहीं माना जाएगा. कारण कि दशममें मुख्य 'निरोध' तो वह है जो भगवान्के प्राकट्य आदि लीलाओं द्वारा भक्तोंके प्रपञ्चका नाश तथा भक्तोंके अन्तःकरणमें अपनी आसक्ति एवं लीलाओंकी स्फूर्ति कराते हैं. यही मुख्य 'निरोध' दशम स्कन्धका अर्थ है.

नवम स्कन्धमें वर्णन की हुई 'भक्ति'का जिन भक्तोंके हृदयमें आविर्भाव हुआ है, उन भक्तोंके ही प्रपञ्चका नाश दशममें वर्णन किया है. लीलाओं द्वारा दुष्ट भूपतियोंके प्रपञ्चका नाश नहीं किया है अतः दशमार्थ, निरोध(भक्तप्रपञ्च नाशात्मक, भगवदासक्तिरूप) ही है. भरताचार्यने भी 'निरोध'का स्वरूप बताते हुए कहा है कि 'यातु व्यसन सम्प्राप्तिर्निरोधः स तु कथ्यते', व्यसन दशाकी पूर्ण प्राप्तिको 'निरोध' कहा जाता है।।१५।।

१. 'दूसरोंका आश्रय', इसका भावार्थ बताते हुए श्रीप्रभुचरण आज्ञा करते हैं कि ब्रह्मा, रुद्र आदि देव स्वयं प्रार्थनाकेलिए प्रभुके पास न जा सके जो वे अधिकारी न थे कारण कि जैसी आर्ति भूमिमें है वैसी इन्होंमें नहीं है. अतः भक्तोंका आश्रय लेकर प्रभुकी सेवा करते हैं इसलिए गौरूप पृथ्वी जो भक्त है, उसको साथ लेकर प्रभुके पास पधारे. तब भगवान्को प्रकट करानेकेलिए प्रयत्न करने लगे.

यावद् बहिः स्थितो वह्निः प्रकटो वा विशेद् न हि।।कारि.१६।।
तावदन्तः स्थितोप्येष न दारुदहनक्षमः।
एवं सर्वगतो विष्णुः प्रकटश्चेद् न तद्विशेत्।।कारि.१७।।
तावद् न लीयते सर्वम् इति कृष्णसमुद्यमः।
रूपान्तरन्तु नटवत् स्वीकृत्य त्रिविधान्निजान्।।कारि.१८।।
प्रपञ्चाभावकरणाद् उज्जहारेति निश्चयः।

कारिकार्थ : जब तक बाहरकी अग्नि प्रकट होकर काष्ठमें प्रवेश नहीं करती है तब तक काष्ठके भीतर रही हुई अग्नि उसको जला नहीं सकती है. इसी प्रकार परमात्मा जब तक बाहर प्रकट होकर भीतर प्रवेश नहीं करते हैं तब तक अन्तःस्थित ईश्वर कुछ नहीं कर सकते हैं अर्थात् परमात्मा सर्वत्र व्यापक है एवं

देह इन्द्रिय आदिमें भी स्थित हैं तो भी इन लौकिक देहादि(संसार)का लय नहीं कर सकते हैं. अतः जैसे अग्नि काष्ठमें प्रवेशकर उसको जला सकती है वैसे परमात्मा भी बाहर प्रकट होकर भीतर प्रवेश करते हैं तब जीवकी लौकिक देह इन्द्रियादि अलौकिक होती हैं. तात्पर्य है कि जीवका संसार नष्ट हो जाता है. इसलिए (जीवका संसार नाशकर अपनेमें आसक्ति करानेकेलिए) ही श्रीकृष्णका उद्यम है. श्रीकृष्णमें नटवत् रूपान्तर (मनुष्यरूप) स्वीकारकर तीन प्रकारके अपने भक्तोंका प्रपञ्च नाशकर उद्धार किया है, यह निश्चय है।।१८– १/२।।

व्याख्यार्थ: आचार्यश्रीने उपरोक्त कारिकाओंमें दो शंकाओंका निवारण किया है.

शंका: १. दशम स्कन्धमें हरिने भक्तोंके प्रपञ्चका नाश किया है, यह स्पष्ट देखनेमें नहीं आता है.

शंका: २. अन्तर्यामी भगवान् सर्वत्र व्यापक होनेसे सबमें विराजमान् हैं, तो भीतर ही स्थित स्वरूपसे, भक्तोंके प्रपञ्चका नाशकर सकते थे, तो फिर प्रकट होनेकी क्या आवश्यकता थी? प्रपञ्चका नाश करना तो भीतरका ही कार्य है अतः दुष्ट भूपतियोंके नाश करनेकेलिए ही प्रभुका प्राकट्य हुआ है यों मानना ही सुसंगत है और नृपतियोंके नाशरूप प्रलयको ही 'निरोध' मानना चाहिए.

इन दोनों शंकाओंका दृष्टान्त देकर निवारण करते हैं–

अग्नि सर्व व्यापक है अतः काष्ठमें भी स्थित है किन्तु वह अग्नि काष्ठादिको जला नहीं सकती है, क्योंकि वस्तुका स्वभाव प्रबल है, अथवा लीलामें जो कार्य जिस प्रकार करना है तथा जिस स्वरूपसे करना है और जब करना है, वह कार्य उस प्रकार, उस स्वरूपसे तथा उस समय किया जाता है. अतः अग्नि काष्ठमें होते भी काष्ठको नहीं जलाती है, समय आने पर बाहर प्रकट होकर उस स्वरूपसे काष्ठमें प्रवेशकर काष्ठके काष्ठरूपको नष्टकर उसको अग्निरूप प्रदान करती है, वैसे ही लीलात्मक जगत्में वस्तुके स्वभावानुसार प्रभु सर्वव्यापक होते हुए भी, उस स्वरूपसे भक्तके प्रपञ्चका नाश नहीं करते हैं किन्तु प्रकट होकर उस(प्रकट) स्वरूपसे सत्(जड–देहादि) और चित्त् (जीव)में आनन्द प्रकटकर भक्तको अलौकिक सच्चिदानन्द स्वरूप प्रदान करते हैं. जिससे भक्तका लौकिक प्रपञ्च नष्ट होकर भगवदासक्तिरूप फल मिल जाता है.

साधनसे साध्यकी प्राप्ति होती है. यहां भगवान्का शक्तियोंके साथ

प्रपञ्चमें खेलना साधन(करण)रूप निरोध है. भक्तोंका भगवान्में आसक्तिरूप निरोध 'व्यापार' है और भक्तोंकेलिए प्रपञ्चका अभावरूप 'निरोध' फल है. यह त्रिविध निरोध भक्तजनोंको ही सिद्ध हुआ है न कि राजाओंको. अतः इस प्रकारका त्रिविध 'निरोध' ही दशम स्कन्धका अर्थ है.

श्रीदेवकीजीके गृहमें चतुर्भुज स्वरूपसे प्रकट होकर फिर बालरूपसे दर्शन देने लगे. इसका रहस्य भी कारिकामें 'नटवत्' शब्द देकर बताते हैं कि जैसे नट कितने ही वेश बदलता है तो भी उसके मूल स्वरूपमें थोडा सा भी विकार या भेद नहीं होता है, नट कोई भी वेश धारण करे तो भी नटका स्वरूप सब वेशोंमें वही रहता है, नटमें उस समय भी वही सामर्थ्य मौजूद रहती है परन्तु नट, खेलके कारण वेशके अनुकूल ही उस लीलाका कार्य उस प्रकार करके दिखाता है वैसे ही प्रभु भी त्रिविध भक्तोंके उद्धारार्थ नटवत् रूप धारण करते हैं, जैसी-जैसी भक्तकी भावना होती है प्रभु भी तदनुसार रूप स्वीकार करते हैं. किन्तु उन रूपोंके धारण करनेसे प्रभुस्वरूपमें नटवत् कोई विकारका भेद नहीं होता है. यहां प्रभुकी भक्ताधीना लीला है।।१८.१/२।।

।। प्रकरण ज्ञान ।।

पञ्च प्रकरणान्यत्र चतुर्भिः जन्म सत्पतेः।।कारि.१९।।
अष्टाविंशतिभिः पूर्वं तामसत्वाद् व्रजोद्धृतिः।
तथैव राजसानां च यादवानां विशेषतः।।कारि.२०।।
सात्त्विकानेकविंशत्या निःप्रपञ्चांश्चकार ह।
भगवानेव नान्योत्र तदर्थं षड्भगाभिधाः।।कारि.२१।।

कारिकार्थ : आचार्यश्रीने पूर्व कारिकाओंमें स्कन्धार्थका निर्णय किया है अब इस (दशम) स्कन्धके प्रकरण विभाग बताते हैं.

दशम स्कन्धमें पांच प्रकरण हैं:

१. प्रकरण, जन्मप्रकरण है, जिसमें भगवान्के जन्मका वर्णन हुआ है उसके ४ अध्याय हैं.
२. प्रकरण, तामसप्रकरण है, जिसमें प्रथम तामस व्रजके उद्धारका वर्णन है, उसके २८ अध्याय हैं.
३. प्रकरण, राजसप्रकरण है, जिसमें राजस भक्तोंका तथा विशेष प्रकारसे यादवोंका वर्णन है, उसके भी २८ अध्याय हैं.

४. प्रकरण, सात्त्विकप्रकरण है, जिसमें सात्त्विक भक्तोंकी कथा है, उसके २१ अध्याय हैं.

५. प्रकरण, गुणप्रकरण है, जिसमें भगवान्के षड्गुणोंकी की हुई लीलाका वर्णन है, उसके ६ अध्याय हैं. इस प्रकरणमें भगवान्का ही गुणरूपसे वर्णन है न कि दूसरे किसीका वर्णन है ।।२१।।

व्याख्या: आचार्यचरणोंने 'चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च' कारिकामें तो प्रकरण विभागको केवल इंगित ही किया है, उस प्रकरण विभागको स्पष्ट समझानेकी कृपा इन कारिकाओंमें की है.

यहां यह समझना आवश्यक है कि आचार्यश्रीने प्रकरण विभागमें जो अध्यायोंकी नियमित संख्या दी है, उसका भावार्थ क्या है?

१. जन्मप्रकरणमें ४ अध्याय इसलिए हैं कि भगवान् चतुर्मूर्ति स्वरूप (वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध व्यूह स्वरूपों)से प्रकटे हैं. आप पूर्ण स्वरूप हैं, आपको सर्व प्रकारसे (भू-भारहरण आदि) कार्य करने पडते हैं अतः आप अपने साथ अपने सर्व परिकरको भी उन कार्योंको करानेकेलिए ले आए थे. प्रत्येक अध्यायमें एक-एक व्यूह स्वरूपसे आप प्रकटे हैं. ४ व्यूह हैं अतः प्राकट्यके ४ अध्याय हैं.

२. तामसप्रकरणमें प्रमाण, प्रमेय, साधन और फलके कारण ४ अवान्तर प्रकरण हैं. प्रत्येक अवान्तर प्रकरणमें भगवान्ने ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य इन छः धर्म स्वरूपोंसे तथा अपने धर्मी स्वरूपसे लीला की है. इसलिए इनमें प्रमाण, प्रमेय, साधन और फलके ७-७ अध्याय हैं, जिससे चारोंके मिलकर २८ अध्याय होते हैं. अतः तामस प्रकरणके २८ अध्याय हैं.

३. राजसप्रकरणमें, भी तामसके समान २८ अध्याय हैं. उसमें भी प्रमाण, प्रमेय, साधन और फल के ४ अवान्तर प्रकरण हैं. प्रत्येक (प्रकरण) ७ अध्यायका है.

४. सात्त्विकप्रकरणमें २१ अध्याय हैं, कारण कि उसमें प्रमेय, साधन और फलके होनेसे अवान्तर प्रकरण तीन हैं. सात्त्विकोंको प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है कारण कि सात्त्विक जीव शुद्धांतःकरणवाले होनेसे श्रद्धालु तथा संशयरहित होते हैं जिससे उनको प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है.

५. गुणप्रकरणमें ६ अध्याय इसीलिए हैं कि भगवान्ने इस प्रकरणमें अपने ऐश्वर्यादि छः धर्म स्वरूपोंसे लीला की है अर्थात् एक-एक अध्यायमें एक-

एक गुण द्वारा लीला की है.

पाठक समझ गए होंगे कि प्रत्येक प्रकरणमें इसी भांति अध्यायोंका विभाग क्यों किया है.

सात्त्विक, राजस और तामस तीन प्रकारके भक्तोंका लीला द्वारा जिसने प्रपञ्च विस्मृति पूर्वक भगवदासक्तिरूप निरोध किया है, यह परात्पर भगवान् ही हैं. इसलिए पांचवें प्रकरणमें भगवान्के षड्गुणोंकी स्वरूपात्मकता (षड्गुण भी भगवान्के ही स्वरूप हैं) यह दिखाई गई है. २१ कारिकामें 'अन्य' शब्दसे यह कहा है कि यहां माया सबल ईश्वर, या निर्धर्मक आदि स्वरूप नहीं है किन्तु शुद्ध, परात्पर, निर्गुण(प्रकृतिके गुणोंसे रहित) श्रीकृष्ण ही लीलाकर्त्ता है. अन्यथा (मायिक आदि) समझना भ्रांतोंकी भ्रांति मात्र है।।२१।।

प्रकरण विभागसे भी दशम स्कन्धका अर्थ 'निरोध' ही निश्चित होता है. इसलिए दशमका अर्थ 'निरोध लीला' है. इसमें 'किञ्चित्मात्र' भी संशय नहीं करना चाहिए.

चतुर्मूर्तेर्जन्मतोऽत्र तथाध्याया निरूपिताः।
तत्तत्प्रकरणे तेषाम् उपयोगस्तु वक्ष्यते।।कारि.२२।।
हेतूद्यमस्वीकरण–कापट्यैः प्रथमो महान्।
प्रद्युम्नश्चानिरुद्धश्च वासुदेवस्तथापरः।।कारि.२३।।
हेतुश्च त्रिविधो ह्यत्र गुणा भक्ताहितप्रदा।
कंसादेः कालतोऽज्ञानात् त्रिधा दुःखं तु तद्गतम्।।कारि.२४।।

जन्मप्रकरणमें चतुर्मूर्ति भगवान्के प्राकट्यके कारण ४ अध्याय हैं, किस स्वरूपसे कौनसी लीला की है, वह उस प्रकरणमें कहा जाएगा।।२२।।

हेतु, उद्यम, स्वीकरण(दूसरा स्वरूप लेना) और कापट्यके कारण प्रथम प्रकरण(जन्मप्रकरण) महान् है. इसमें प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, वासुदेव और संकर्षण रूपसे लीलाओंका वर्णन है।।२३।।

तीन गुणोंके कारण दुःख भी तीन प्रकारके होते हैं. ये तीन गुण भक्तोंको तीन प्रकारके दुःख देनेवाले हैं. भक्तोंको कंसादिसे, कालसे तथा अज्ञानके कारण दुःख होनेसे, तीन प्रकारके दुःख हुवे थे. ये दुःख ही भगवान्के प्रकट होनेमें कारण हैं।।२४।।

व्याख्यार्थ: जन्म प्रकरणके अध्यायोंका अर्थ समझाते हुए, आचार्यश्री

आज्ञा करते हैं कि पांचों, प्रकरणोंमें जन्मप्रकरण उत्तम है क्योंकि इसमें परब्रह्म श्रीकृष्णचन्द्र स्वयं निरोध तथा विविध प्रकारकी लीलाओंके करनेकेलिए चतुर्मूर्ति[१] स्वरूपसे प्रकट हुए हैं, इसलिए जन्मप्रकरण चार अध्यायोंका है.

''प्रकरण''का अर्थ 'अंगी' है और अध्यायोंका अर्थ 'अंग है. अंगी जन्मप्रकरणके ४ अध्याय, ४ अंग है. प्रथम अध्यायमें हेतु, द्वितीय अध्यायमें उद्यम, तीसरेमें रूपान्तर ग्रहण करना, चौथे अध्यायमें मायाका कार्य–कापट्का वर्णन है. इसके सिवाय प्रथम अध्यायमें वासुदेव, द्वितीयमें संकर्षण, तृतीयमें प्रद्युम्न और चर्तुथमें अनिरुद्ध रूपकी लीलाओंका समावेश है।।२४।।

१. पूर्णावतारमें केवल भक्तोंके निरोधके वास्ते ही प्राकट्य नहीं है किन्तु अन्य कार्य भी (भूभार हरन आदि कार्य भी) करने हैं. अतः उनकेलिए, स्वरूपात्मक वासुदेव आदि चतुर्व्यूह रूपोंको भी साथमें प्रकट किया है. इसीलिए भगवान्को 'चतुर्मूर्ति' कहा है.

प्रथम अध्यायमें भगवान्के प्रादुर्भावका कारण भक्तोंका दुःख बताया गया है. भक्तोंको गुणों द्वारा जो त्रिविध दुःख प्राप्त हुवा उसके निवारणकी शक्ति भगवान्के सिवाय और किसी भी दूसरेमें नहीं है. प्रथमाध्यायमें पृथ्वी, देवकीजी, यादव आदि भक्तोंके दु:खोंका वर्णन हुआ है:

भूमिर्माता तथा चान्ये दुःखभाजो हरिप्रियाः।
यथायोग्यं दुःखमेषाम् अत्रैवेति निरूप्यते।।कारि.२५।।
त्रयं भगवता शक्यं दूरीकर्तुम् इतीर्यते।
प्रश्नोऽप्यत्राधिकः प्रोक्तः स्कन्धद्वितयवर्तन।।कारि.२६।।
अनुवादः स्तुतिः प्रश्ने भक्तस्वज्ञापकावुभौ।
अन्यथा ह्यतिगुप्तार्थं श्रीशुको वर्णयेत् कथम्।।कारि.२७।।
अज्ञानम् अन्यथाज्ञानं कृष्णगं विनिवार्यते।
प्राणनत्वं कथायाश्च दयासिद्ध्यै शुकस्य हि।।कारि.२८।।
एवं प्रश्नो द्वादशभिः समतो गुणदोषगः।

कारिकार्थ : पृथ्वी, माता देवकी और दूसरे भक्तोंके यथायोग्य(जैसा) दुःख था उसका वर्णन यहां ही निरूपण किया गया है।।२५।।

तीन प्रकारके भक्तोंका तीनों दुःख भगवान्के सिवाय अन्य कोई मिटानेमें समर्थ नहीं है.

दशम और एकादश स्कन्ध दोनों स्कन्धोंको ध्यानमें लाकर एक प्रश्न

अधिक कहा गया है. अनुवाद और स्तुति ये दो ही परीक्षितका भक्त होना सिद्ध करते हैं. यदि परीक्षित भक्त नहीं होते तो श्रीशुकदेवजी अति गुप्त अर्थका वर्णन कैसे करते.

वह वर्णन कृष्णके स्वरूपके अज्ञान तथा अन्यथाज्ञानका निवारण करता है. कथा ही प्राण देनेवाली है. यह शुकदेवके दयालुत्वकी सिद्धिकेलिए कहा है. अतः गुण–दोषोंकी समानता दिखानेकेलिए १२ श्लोकोंसे प्रश्न किये हैं।।२८।।

व्याख्यार्थ: भगवान्के प्रकट होनेका कारण भक्तोंका दुःख है, भक्तोंको दुःखी देखकर भक्तोंके दुःखोंको न सह सकनेवाले भक्तवत्सल भगवान् भक्तोंके दुःखोंको मिटानेकेलिए शीघ्र ही प्रकट होते हैं. इसलिए जन्मप्रकरणके ४ अध्यायोंमेंसे प्रथम[१] अध्यायमें भगवान्के प्रकट होनेका कारण, जो भक्तोंका दुःख है, उसका वर्णन किया गया है. जबसे कंसने नारदजीके मुखसे यह सुना कि व्रजमें नन्द आदि गोप तथा उनकी स्त्रिएं तथा यादव सब देवता हैं, तबसे कंसने यादव और नन्दादिकों को कष्ट देना प्रारम्भ किया.

भूमिको कंस आदिसे दुःख हुआ था, माता देवकीको आकाशवाणी सुननेसे दुःख उत्पन्न हो गया था और अन्यभक्तों(यादव, नन्द आदि)को भगवान्के प्रकट होनेके अज्ञानसे दुःख था. यदि यादव और नन्दादिको भगवान् प्रकट होंगे, ऐसा ज्ञान होता तो वे दुःखी नहीं होते क्योंकि वे समझते कि ये दुःख ही भगवान्के शीघ्र प्राकट्यके कारण हैं किन्तु वैसा ज्ञान न होनेसे वे दुःखी थे. इन त्रिविध भक्तोंको जो त्रिविध दुःख है वह भगवान् ही मिटा सकते हैं. अतः ये दुःख भी निरोधके अंग हैं.

तीन प्रकारके भक्तोंका दुःख भगवान्ने कैसे मिटाया, उसके प्रकार आचार्यश्रीने निबन्धमें स्पष्ट रीतिसे समझाए हैं, जैसे कि –

१. कंसादि–वधसे भूमिका कष्ट मिटाया.

२. भगवान्ने प्रकट होकर माता देवकीजीका दुःख मिटाया. भगवान् मेरे हैं, इस सम्बन्धके ज्ञानसे देवकीजीका दुःखका नाश हुआ.

३. वचनामृत द्वारा यादव तथा अन्य भक्तोंके दुःख दूर किये.

१. आचार्यश्री निबन्धमें लिखते हैं कि प्रथम अध्यायमें चार प्रकरण, १. प्रश्न प्रकरण, २. भूमि प्रकरण, ३. मातृ प्रकरण, ४. अन्य प्रकरण.

कारिकार्थ समाप्त

अतिशय स्नेहके कारण प्रथम देवकीजीके दुःखका नाश किया. व्रजस्थ भक्तोंके आधिदैविक दुःखकी निवृत्ति मूलस्वरूप श्रीकृष्णचन्द्रने अन्यत्र की है. दशम स्कन्धका प्रारम्भ नवम तथा दशम स्कन्धके विषयको लक्ष्यमें रखकर किया है.

परीक्षित दशम स्कन्धके प्रारम्भके डेढ श्लोकमें नवम स्कन्धका सूक्ष्म अनुवाद और भगवान्‌के चरित्रकी स्तुतिकर, श्रीशुकदेवजीको अपना भक्तपन बताते हैं. इसलिए कि श्रीशुकदेवजी भक्त समझकर अतिगुप्त विषय भी बतावें. परीक्षितने यह भी बताया है कि मुझे श्रीकृष्णके स्वरूपका ज्ञान है, अतः मेरा जीवन प्राण, अन्न, जल नहीं है किन्तु श्रीकृष्णकथामृत ही है. इसी भांति परीक्षित अपनेको आर्त भक्त बताकर श्रीशुकदेवजीकी दया सम्पादन(प्राप्त) करना चाहता है तथा भगवत्कथा सुननेका मैं अधिकारी हूं, यह भी बताते हैं.

श्रीशुकदेवजीने प्रश्न द्वारा परीक्षितको अधिकारी समझ दयार्द्र हृदयावाले हो, परीक्षितकी उत्कट आकांक्षाको पूर्ण करनेकेलिए श्रीमद्‌भागवत सुनाई है.

जैसे भगवान्‌में गुण उत्कट हैं, वैसे ही लोकमें ६ दोष भी उत्कट हैं. दोनोंकी समताके कारण ही प्रश्नके द्वादश श्लोक हैं.

प्रथमाध्यायका आरम्भ

प्रश्न प्रकरण: नवम स्कन्धमें भक्तोंके चरित्रोंका वर्णन करके भक्तिका प्रतिपादन किया गया है. जिससे राजा परीक्षितको श्रीकृष्ण भगवान्‌के चरित्र श्रवण करनेकी उत्कण्ठा हुई. अतः पूर्व स्कन्ध नवममें कही हुई कथाका सार १- १/२ श्लोकसे वर्णन करते हैं:

राजोवाच

कथितो वंशविस्तारो भवता सोमसूर्ययोः ।
राज्ञां चोभयवंश्यानां चरितं परमाद्‌भुतम् ।।१।।
यदोश्च धर्मशीलस्य नितरां मुनिसत्तम ।।

श्लोकार्थ : राजा परीक्षित कहने लगे हे मुनियोंमें परमश्रेष्ठ ! आपने चन्द्र और सूर्यके वंशका विस्तारसे वर्णन किया एवम् उन वंशोंमें पैदा हुए राजाओंके परम अद्‌भुत चरित्र भी कहे और स्वभावसे धर्मात्मा यदुराजाका सम्पूर्ण चरित्र कहा।।१. १/२।।

व्याख्यार्थ : चन्द्र तथा सूर्य वंशके राजा भक्त थे. इसी कारणसे उनके चरित्रोंका वर्णन विस्तारसे किया है. नवम स्कन्धमें सूर्यवंशका वर्णन पहले और चन्द्रवंशका पीछे किया है. यहां वैसा न कहकर 'सोम' शब्द पहले और 'सूर्य' शब्द पीछे दिया है. इसका कारण यह है कि यहां चन्द्रवंशीय श्रीकृष्णचन्द्रके चरित्रका प्रधानरूपसे वर्णन कराना है और वह सर्वसे विशेष पूजनीय है. उसके श्रवणकी ही परीक्षितको उत्कट अभिलाषा थी. मैं उनके चरित्रोंका पुनः विस्तार कराऊँगा. इस प्रकारके प्रश्नके भ्रमका निवारण 'विस्तार' शब्द देकर किया है. जैसा कि आपने चन्द्र तथा सूर्य दोनोंके वंशका वर्णन विस्तारपूर्वक कर दिया है, अतः पुनः उसके वर्णनके विस्तारकी आवश्यकता नहीं है. आपने जो दोनों वंशोंका विस्तारसे वर्णन किया है, वह योग्य ही है. जैसे सूर्य दिनके अन्धकारका नाश करता है तथा चन्द्र, रात्रिके अन्धकारका नाशक है. ये दोनों मिलकर सम्पूर्ण अन्धकारको मिटा देते हैं वैसे ही दोनोंके चरित्र सब प्रकारके मनुष्योंके सकल अज्ञान अर्थात् अन्धकारको मिटाकर भक्तिका प्रकाश करेंगे तथा राजा परीक्षितने यों कहकर अपनेमें श्रोता होनेकी योग्यता भी बता दी है. वे राजा उत्पत्तिसे ही भक्त थे अर्थात् स्वाभाविक, सहज भक्तिमान् थे. केवल स्वयं भक्त नहीं थे, किन्तु उनके चरित्रोंसे अन्योंमें भी भक्ति उत्पन्न होती है. राजा अम्बरीष आदिके चरित्र वैसे होनेके कारण पृथक् कहे गये हैं. श्लोकमें 'च' शब्द इसलिए दिया है कि नवम स्कन्धमें केवल चन्द्र और सूर्यवंशका वर्णन ही नहीं किया है किन्तु भगवान्का चरित्र भी कहा है. जब वहां भगवान्के चरित्र भी कहे हैं तो फिर अब उस विषय पर प्रश्न क्यों? इसकेलिए कहते हैं कि 'परमाद्भुतम्'. भगवान्के चरित्रोंके श्रवणसे उन चरित्रोंमें जो अद्भुतता प्रकट होती है उससे हृदयमें भगवदानन्दकी स्फूर्ति होती है तथा उसके श्रवणसे वह भक्ति उत्पन्न होती है, जिससे परब्रह्मका स्वरूप एवं 'लीला' आदि समझमें आकर आनन्द मिलता है ।।१।।

जिसने पिताकी आज्ञा नहीं मानी उस यदुको अधर्मी कहना चाहिये था, वह न कह उनको परीक्षितने 'धर्मशील' कैसे कहा? इस शंकाका निवारण करते हुए आचार्यश्री कहते हैं कि यदु, पिताकी आज्ञा न माननेसे अधर्मी नहीं हुए हैं किन्तु उनने अपने धर्मात्मापनेको दृढ सिद्ध कर बताया है, जैसा कि यदुको यह ज्ञान था कि मुख्य पिता भगवान् है, यह पिता केवल देह सम्बन्धी है. तथा इस जन्मके पिता होनेसे गौण है. युवावस्था देनेसे एक तो मुख्य पिताकी सेवा बुढापेके

कारण छूट जायेगी और मेरे मुख्यधर्मका नाश होगा तथा मेरी युवावस्थासे मेरी मातासे सम्भोग होगा वह पाप है. अतः यदुने युवावस्था न देकर धर्मकी रक्षा की. परीक्षितने 'शील' पद देकर यह कहा है कि यदुने स्वभावसे समझ लिया कि मेरे पिताजीको इस समय धर्मका अज्ञान हो गया है अर्थात् वे धर्मको भूल गये हैं इसलिए मुझसे युवावस्था मांग रहे हैं.

जिस पुत्र 'पुरु'ने अपनी युवावस्था पिताको देकर अधर्म किया इसलिए भगवान्ने अपने प्राकट्य होनेसे पूर्व उसके वंशका इसीलिए नाश कर दिया कि उससे मेरा सम्बन्ध न हो क्योंकि उससे मेरा सम्बन्ध होना योग्य नहीं है.

भीष्मसे सम्बन्ध इसीलिए अयोग्य नहीं है कि वह वसुका अवतार और भक्त है. भीष्ममें केवल पुरुवंशका बीज होनेसे दोष है. इसलिए उनको आगे तिमिङ्गिल(अपने जातीय बान्धवोंको निगलने वाला मत्स्य) कहेंगे. अतः यदु स्वभावसे ही धर्मरूप हैं, इसलिये उनके वंशका सम्पूर्ण वर्णन करना सर्वथा योग्य है. जो मनन करते रहते हैं वे 'मुनि' हैं. मुनि होकर जिन्होंने ज्ञान भी प्राप्त कर लिया है वे 'मुनिसत्'(मुनियोंमें उत्तम) हैं और 'मुनिसत्' होकर जिन्होंने भक्ति प्राप्तकर अपनेको भगवद्भक्त बना लिया है वे 'मुनिसत्तम' हैं. श्रीशुकदेवजी मननशील, ज्ञानी एवं भक्त थे. इसलिए परीक्षितने श्रीशुकदेवजीको 'मुनिसत्तम' कहा है ।।१. १/२।।

आभास : इस प्रकार पूर्व स्कन्धका १ श्लोकमें आशय कहकर अब निम्न डेढ श्लोकसे राजा परीक्षित भगवान्के पराक्रम तथा चरित्र पूछते हैं:

तत्रांशेनावतीर्णस्य विष्णोर्वीर्याणि शंस नः ।।२।।
अवतीर्य यदोर्वंशे भगवान् भूतभावनः ।
कृतवान् यानि विश्वात्मा तानि नो वद विस्तरात् ।।३।।

श्लोकार्थ : यदुवंशमें अंशसे प्रकट हुए विष्णुके पराक्रमोंको हमें सुनाओं. भूतमात्र(सकल जगत्)का पालनकर्त्ता, विश्वकी आत्मा भगवान्ने यदुके वंशमें अवतार लेकर जो चरित्र किये वे विस्तारसे कहिए.

व्याख्यार्थ : श्लोकमें 'विष्णु'के पराक्रमको पूछते हुए 'अंश' कहा, जिससे लोगों को यह भ्रम हो जाता है कि कृष्ण पूर्णावतार नहीं है किन्तु अंशावतार है. अतः आचार्यश्री इस भ्रमके निवारणकेलिए 'अंश' शब्द देनेका आशय बताते हैं कि सर्वव्यापक भगवान् जिस स्थान(देवकीके गृह-काराग्रह)में

प्रकट हुए उस स्थानमें मायाको दूरकर, आपने अपना प्रकाश किया, इस आशयसे 'अंश' शब्द दिया है, यदि सर्वव्यापक परमात्मा सर्वत्र मायाको हटा देते तो जगत्का विलय हो जाता, जिससे लीला हो नहीं सकती थी. एवं सब जगहसे मायाको हटानेका कोई प्रयोजन भी नहीं था. अतः जितनी जगहसे माया हटानेकी आवश्यकता थी उतनी जगहसे माया हटाकर वहां प्रकट हुए. यही कारण 'अंश' पद देनेका है. शेषजी तो स्वयं सर्वव्यापकरूपसे प्रकट हुए हैं. इस विषयका स्पष्टीकरण द्वितीय स्कन्धमें 'अदीनलीलाहसित' श्लोकमें कर दिया है, अथवा 'अंशावतार' प्रसिद्ध है. इसलिए परीक्षितने प्रश्नमें यों कह दिया है. कितनेक 'अंश' शब्दसे यह आशय प्रकट करते हैं कि प्रद्युम्नअंशसे भगवान् प्रकट हुए हैं कारण कि यदुवंशसे सम्बन्ध प्रद्युम्न अंशका ही है. श्लोकमें कहे हुए 'अवतीर्णस्य' शब्दका भाव बताते हैं कि वैकुण्ठसे पृथ्वीपर पधारना अवतार है. वह तत्त्वोंके द्वारा भी हो सकता है. इस शंकाको दूर करनेकेलिए 'विष्णोः' पद देकर यह बता दिया है कि तत्त्वों द्वारा पधारना नहीं हुआ है किन्तु साक्षात् सर्वव्यापी विष्णु स्वयं पधारे हैं. परीक्षितने वीर्योंका प्रश्न इसलिए किया है कि भगवान्के चरित्र अचिन्त्य ऐश्वर्य प्रकट करनेसे वे पराक्रमवाले हैं, जिनसे भगवान्के माहात्म्यका ज्ञान होता है, उन्हें सुन्दर ढंगसे वा उपदेशरूपसे कहो. यहां परीक्षितने 'नः', हमको कहो, कहकर यह बताया है कि दूसरोंको उन चरित्रोंके सुननेकी कितनी आकांक्षा है वह तो पता नहीं किन्तु मुझे तो विशेष रूपसे सुननेकी अभिलाषा है. अतः मुझे सुनाओ. यद्यपि 'नः' बहुवचनसे सब सुने वैसी उदारता भी बताई है.

स्वतन्त्र पुरुषार्थरूप होनेसे भगवान्के केवल चरित्रोंका ही जब प्रश्न किया है तो वह प्रश्न व्यर्थ है, कारण कि मत्स्य आदि अवतारोंमें भी ये ही भगवान् प्रकट हुए हैं. इस शंकाका निवारण करनेकेलिए कहते हैं कि, मैं अन्य अवतारोंके चरित्र नहीं पूछ रहा हूं, मुझे तो केवल वे चरित्र सुनाओ, जिन चरित्रोंको भगवान्ने यदुके वंशमें प्रकट होकर किये हैं, वे सब चरित्र कहो. 'वंश' शब्द कहकर यह बताया है कि वहांके किये हुए चरित्रोंमें पराक्रमकी अधिकता है, एवं प्रभु उस वंशमें विशेष समय तक भी बिराजे हैं. यदुके वंशमें होनेसे भगवान्के सब चरित्र धर्मरूप हैं. श्लोकमें ''यदोः वंशे'' कहा है, समास करते तो 'यदुवंशे' कहते. समास न करनेका कारण यह है कि यदुके चरित्र धर्मरूप थे

किन्तु श्रीकृष्णचन्द्रके चरित्र उनसे भी विशेष धर्मरूप हैं.

'भगवान्' शब्द कहनेका आशय बताते हैं कि सात प्रकारके जो व्यसन[१] हैं, वे सात ही यहां इस स्वरूपमें निरर्थक हैं अर्थात् वे अपना प्रभाव इस पर नहीं चला सकते हैं. कारण कि भगवान्में ऐश्वर्यादि छः गुण हैं और सातवें आप धर्मीरूप हैं. इसलिये सातों व्यसनोंका भगवान्में अभाव है.

१. क्षुधा, प्यास, रोग, कर्म, जूआ, मदिरापान और स्त्री सङ्ग.

राजा परीक्षितने अपनी बुद्धिसे साधारणतः जो भगवान्के अवतारका प्रयोजन जाना वह 'भूतभावनः' पदसे कहा है. इस पदका अर्थ है कि भगवान् भूतोंको आनन्द देनेवाले हैं अर्थात् भगवान्का अवतार जीवोंके कल्याणकेलिए है. भगवान् ही संसारमें रहते हुए बन्धनमें नहीं आते हैं, दूसरे तो बन्धनमें फंस जाते हैं. यदि वे भी भगवान्के चरित्रोंको श्रवणकर उनके प्रेमसे पूर्ण हो जावे तो संसार बन्धनसे छूट जाते हैं, इसलिये भगवान्का अवतार है.

इस प्रकार अवतार लेकर आप इच्छासे भी वहांके निवासियोंको मुक्तिदान कर सकते थे तो भी जो चरित्र आपने किये हैं वे आगेके प्रयोजनकेलिए किये हैं. अर्थात् जब भगवान् प्रकट न हो तो उन चरित्रोंको सुनकर संसार-बन्धनसे छूट जावे, इसकेलिए किये हैं. इसी कारणसे व्यासजीका[२] अवतार है. भगवान्के चरित्र लाभदायक तब होते हैं जब उनको पूर्णरूपसे जाना जाता है. पूर्णरूपसे उनका ज्ञान क्या है? उसको समझानेकेलिए कहते हैं कि भगवान् 'विश्वात्मा' हैं. अतः प्रभु जीवोंका हित स्वयं स्वतन्त्ररूपसे करते हैं. इसलिये अनेक प्रकारकी लीलाएं कर, जीवोंकी अविद्या आदिका नाश करते हैं, जिससे उन जीवोंमें स्वतः बिना साधन भगवान्में प्रेम होनेसे उनका हित हो जाता है. यदि भगवान् इस प्रकार स्वतन्त्ररूपसे स्वतः जीवोंका कल्याण न करें तो 'अन्योऽन्याश्रय' दोष हो जावे. जैसे कि यदि भगवान् जीवका हित न करें तो जीवको अपने हितकेलिए भक्तिका आश्रय लेना पड़े और भगवान् तब हित करें जब जीव भक्त हो. इस प्रकार जीव को भक्तिका आश्रय लेना पड़े और भगवान्को भक्तका आश्रय करना पड़े, जिससे भगवान्का विश्वात्मा होना एवं स्वातन्त्र्य अन्योन्याश्रय दोषयुक्त हो जायगा. अतः भगवान्में यह दोष न हो. इसलिए स्वयं स्वतन्त्र होनेसे जीवोंका हितकर अपने विश्वात्मापन तथा स्वातन्त्र्यका परिचय देते हैं. यह ज्ञान जब जीवको दृढ होवे तब भगवल्लीला लाभदायक होती है.

२. व्यासजीने उन लीलाओंकों समाधिमें अनुभवकर भागवतमें कहा है, जिनको सुनकर जीव बन्धनसे छूटते हैं.

यद्यपि ''जातो गतः पितृगृहात्'' जन्म लेकर पिताके घरसे चले गये और द्वितीय स्कन्धमें भी चरित्र कहे हैं तो भी अब यहां वे सब पूर्वकी तरह कहो किन्तु विस्तारसे कहो.

इस प्रकार भगवान्‌के वीर्य और चरित्रोंका प्रश्न कहकर अब भगवान्‌का और उनके चरित्रोंका माहात्म्य तीन श्लोकोंसे कहते हैं. माहात्म्य दो प्रकारका है. पहला अदृष्ट और दूसरा दृष्ट .

आभास : प्रथम, 'निवृत्ततर्षैः' श्लोकसे चरित्रका माहात्म्य कहते हैं:

निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद् भवौषधाच्छ्रोत्रमनोऽभिरामात् ।
क उत्तमश्लोकगुणानुवादात् पुमान् विरज्येत विना पशुघ्नात् ।।४।।

श्लोकार्थ : वह भगवान्‌की कथा जो तृष्णा रहित पुरुषोंसे गायी जाती है तथा जो संसाररोगकी औषधरूप है और कानों तथा मनको आनन्द देनेवाली है वैसी भगवान्‌के गुणानुवादरूप कथासे अपने जीवकी हत्या करनेवाले व्यक्तियोंके सिवाय और कौन पुरुष है, जो विरक्त होगा ? अन्य कोई नहीं।।४।।

स्वरूपतः फलतश्चापि महापुरुषयोगतः ।
विषयोत्तमतश्चापि चरित्रं परमं मतम् ।।कारि.१।।
मुक्तस्य कार्यमेतद्धि मुमुक्षोर्भवनाशकम् ।
अनिन्द्यविषयश्चायं विषयेऽस्मिन् यतेद्ध्रुवम् ।।कारि.२।।
आत्मघाती कर्मजड़ो निन्दितार्थरतः सदा ।
पशुस्त्रीव्यतिरिक्तश्चेत्, विरक्तो न ततः पृथक् ।।कारि.३।।

कारिकार्थ : स्वरूपसे, फलसे, महापुरुषके सम्बन्धसे और विषयकी उत्तमतासे श्रीभगवान्‌के चरित्र हैं।।१।।

मुमुक्षु, मोक्षकी इच्छावालेका संसार नाश करना मुक्त (जीवनमुक्त)का कर्त्तव्य है. यह चरित्र अनिन्द्य, जिनकी निन्दा न हो सके बल्कि प्रशंसा की जाए वैसे हैं. इसलिए विरक्तको गुणोंके गानमें निश्चयपूर्वक प्रयत्न करना चाहिए।।२।।

जो कोई भी यदि भगवान्‌के चरित्रोंके गुणगानसे विरक्त हो तो समझना चाहिए कि वह आत्मघाती, कर्मजड, निन्दितार्थरत, पशु वा स्त्रीजीव, इन पांचमेंसे कोई भी एक है. वैसे जीवोंके सिवाय अन्य भगवान्‌के गुणगानसे प्रेम

करते ही हैं।।३।।

व्याख्या: भगवान्के चरित्र 'निवृत्ततर्षैरुपगीयमानात्'[१] इस विशेषणसे बताया है कि ये चरित्र फलरूप होनेके कारण ब्रह्मानन्दसे भी अधिक रसरूप हैं अत: स्वरूपसे उत्तम हैं.

'भवौषधात्'[२] इस विशेषणसे यह बताया है कि भगवान्के चरित्र अविद्यासे उत्पन्न होनेवाले अहन्ता-ममता आदि संसाररूप दोषकी औषध है, जिसका उत्तम फल, इन दोषोंकी निवृत्ति है.

१. ये चरित्र फलरूप होनेसे इनका गान भी वे कर सकते हैं. जिनके तृष्णादि दोष अन्तःकरणसे नष्ट हो गये हैं अर्थात् निर्दोष अन्तःकरणवाले ही इन चरित्रोंका गान करते हैं.

२. 'संसारकी औषधि' है. इन चरित्रोंके गानसे प्रतिबन्धक दोष नष्ट हो जाते हैं. अतः गुणगानको औषध कहा है. दोष नाश करनेवाले फलसे भी उत्तम है.

'महापुरुषयोगतः', इस विशेषणसे यह बताया है कि इन चरित्रोंसे महापुरुष(भगवान्)से सम्बन्ध होता है. अतः चरित्रका भी महत्त्व है. कारिकामें चरित्रका विशेषण 'परमं' दिया है. उससे तो स्पष्ट चरित्रकी विशेष उत्तमता बताई है. क्योंकि इन चरित्रोंके श्रवणसे व गुणगानसे, पर पुरुषोत्तम स्वरूपका पूर्णज्ञान (अनुभव) हो जाता है ।।१।।

द्वितीय कारिकामें 'अनुवाद'का उत्कर्ष बताते हैं. यह अनुवाद करना अर्थात् भगवान्के चरित्र स्वयं सुनकर व पढकर पुनः दूसरोंको सुनाना एवं समझाना जीवन्मुक्त अर्थात् जिनकी अहन्ता-ममता नष्ट होकर, भगवान्में आसक्त हो गया है, उन पुरुषोंका कर्त्तव्य है. इसलिए भागवतके श्लोकमें 'निवृत्ततर्षैः' कहा है. ऐसा कहनेसे यह शंका हो सकती है कि तब जिनका संसार नष्ट नहीं हुआ हो, क्या वे नहीं सुन सकतें हैं? इस शंकाके निवारणकेलिए दूसरा विशेषण 'मुमुक्षोः' दिया है, जिसका तात्पर्य यह है कि संसारका नाश न भी हुआ हो परन्तु मनमें यह चाहना हो कि मैं इस संसारसे छूट जाऊं, मेरा मोक्ष हो, वैसी चाहनावाले भी श्रवण कर सकते हैं. कारण कि ये चरित्र, संसारनाशक औषधि है. अतः संसार नाशकेलिए उनको भी अवश्य सुनने चाहिये. चरित्रोंका उत्कर्ष इसलिए है कि चरित्रका 'विषय' भगवान्में आसक्ति करानेमें 'अनिन्द्य'[३] है.

३. दूसरे विषय संसारमें आसक्ति करानेवाले हैं. अतः वे निन्द्य हैं, यह विषय भगवान्में

आसक्ति करानेसे अनिन्द्य है.

स्वरूप और फलसे उत्तम तथा अनिन्द्य विषय होनेसे संसारसे विरक्त अर्थात् भगवान्के रसमें आसक्त पुरुषोंको इसमें भगवान्के चरित्रोंके गुणगानमें निश्चय-प्रयत्न[४] करना चाहिये.

४. कारिकामें 'यतेत्' कि तरह 'पतेत्' पद भी है, जहां पतेत् हो उसका अर्थ इस प्रकार समझना चाहिए कि जो पुरुष भगवान्के चरित्रोंके गुणगानसे प्रेम नहीं करता है वह अवश्य ही गिरेगा अर्थात् उसकी बूरी गति होगी.

तृतीय कारिकामें कहते हैं कि प्रभुके चरित्रोंका गुणगान अन्तःकरणके दोषोंका नाश करनेवाला है. जो मनुष्य उस गुणगानसे प्रेम नहीं करता है अर्थात् उदासीन रहता है वह 'आत्मघाती' है.

गुणानुवाद, मोक्षका साधन है. जो इस साधनरूप गुणानुवादसे दूर रहता है वह 'कर्मजड' है. चरित्र, कर्ण तथा मनको आनन्द देनेवाला अनिन्द्य विषय है जो इस अनिन्द्य विषयमें आसक्ति नहीं करता है वह 'निन्दितार्थरत' है.

'आत्मघाती', 'कर्मजड' और 'निन्दितार्थरत' अर्थात् निन्द्य लौकिक विषयोंका स्नेही. इन तीनोंके सिवाय 'स्त्री-जीव' और 'पशु-जीव' गुणानुवादसे विरक्त रहते हैं. आत्मघाती, कर्मजड और निन्दितार्थरत ये तीन ही पशुघ्न[५] है. स्त्री-जीव[६] प्रकृतिके अधीन होनेसे और पशु-जीव[७] विवेक-शून्य होनेके कारण गुणानुवादसे विरक्त रहते हैं. इसलिए इन दोनोंको पशुघ्न नहीं कहा है.

५. पशु शब्दका अर्थ जीव है और 'घ्न'का अर्थ हत्यारा है. अर्थात् जीवकी हत्या करनेवाला.

६. 'स्त्री-जीव'से स्त्रीदेह धारण करनेवाला जीव नहीं समझना चाहिए. किन्तु, जो जीव प्रकृतिके वशमें है वह पुरुषदेहमें हो तो भी वह स्त्रीजीव है. यदि स्त्री कहने से स्त्री देहधारी जीव ही माना जाय तो स्त्रियां भक्त होनी ही नहीं चाहिए किन्तु, स्त्रियां भी भक्त होती हैं. अत: यहां स्त्रीजीव कहनेका तात्पर्य है कि जो जीव प्रकृतिके आधीन है वह 'स्त्री-जीव' है.

७. पशुजीव कहनेका भी तात्पर्य यह है कि जिस जीवको विवेक ही न हो. मनुष्यदेहमें होते हुवे भी जो विवेकहीन है वह 'पशु' है.

व्याख्यार्थ : भगवान्के चरित्र फलरूप हैं उनका वर्णन करते हैं. जिनकी तृष्णा(अन्तःकरणके सर्व प्रकारके दोष) पूर्णरूपसे नाश हो गई है, जिनमें थोड़े भी दोष नहीं रहे हैं वैसे ही निर्दोष व्यक्ति भगवान्के गुणोंका गान, उनके समीपमें कर

पाते हैं. समीप कहनेसे यह बताया है, कि वैसे भक्तोंको अन्यत्र जानेका परिश्रम भी नहीं करना पड़ता है, गुणगानसे एवं श्रवणसे ही आनन्दकी प्राप्ति हो जाती है, इसलिए जैसे अन्य विषयोंसे आनन्दकी प्राप्ति तब होती है जब विषयके अनुभवकेलिए प्रयास व परिश्रम किया जाय, यहां वह प्रयास भी नहीं करना पड़ता है. श्लोकमें 'निवृत्ततर्षैः' बहुवचन कहनेका भावार्थ यह है, कि भगवान्के गुणोंको गाते हैं, एवं बार-बार गाते ही रहते हैं, जिससे जो दोष नष्ट होने योग्य हैं, वे नष्ट हो जाते हैं. शेष जो दोष आगे फलरूप होनेवाले हैं, वे नष्ट नहीं होते हैं. भगवान्के चरित्र स्वतन्त्र फलरूप हैं, इसलिए भगवद्भक्त, जहां भी कीर्तन होता है वहां आकर स्वयं गुणगान बिना संकोचके करते हैं क्योंकि आकर सब साथमें मिलकर जब गुणगान करते हैं तब रसका अन्तःकरणमें (चारों तरफ) प्राकट्य होता है, जिससे गुणगान करनेवाले रसमहोदधिमें मग्न हो जाते हैं. इससे यह बात समझाई है कि गुणगान करनेवालोंकेलिए यह गुणगान फलरूप होता है और जो श्रवण करते हैं, उनके दोषोंका नाश करनेवाला होता है.

चरित्र, फलको सिद्ध कर देता है. इसको बतानेकेलिए 'भवौषधात्' विशेषण दिया है, जिसका अर्थ है, कि संसारको नाश करनेवाली औषधि है. यह गुणगान हमारा उपकार करनेवाला है. ऐसा समझ गुणोंका गान करते हैं. श्रोता केलिए तो कर्म, ज्ञान और भक्तिसे भी विशेष, मोक्षके वास्ते उत्तम साधन है. औषधि, रोगके नाशकेलिये केवल उसको उदरमें भेजनेका ही मनुष्यसे प्रयत्न चाहती है, शेष रोगका नाश तो स्वयं औषधि स्वतः कर देती है. लौकिक औषधि मुख द्वारा भीतर उदरमें जाती है किन्तु यह औषधि कर्ण द्वारा सुनकर अन्तःकरणमें पहुंचती है. यद्यपि यहां केवल फलत्व और साधकत्व कहने चाहिए, विशेष कहनेकी आवश्यकता नही है. फिर भी 'श्रोत्रमनोभिरामात्', कान और मनको आनन्द देनेवाला है यह क्यों कहा? इसका भावार्थ स्पष्ट करते हुए आचार्यश्री कहते हैं कि यह औषधि जघन्य(अन्तिम फलरूप होनेसे कठिन है). इसलिए जिन कानों द्वारा यह भीतर प्रवेश करेगी उनको तथा जिस मनमें प्रवेश करेगी उसको यदि अरुचिकारक होगी तो कोई भी इसको लेना पसन्द नहीं करेगा. इसलिए कहा है कि यद्यपि यह विषय जघन्य है तो भी कान और मनको आनन्द देनेवाला है और आनन्दके साथ-साथ रोगका भी नाश करनेवाली औषधि है और इस औषधिका श्रवण द्वारा मनमें प्रवेश होते ही सर्व प्रकारके दोष जो कहीं भी हों वे

अन्तःकरणके सर्व दोष नष्ट हो जाते हैं. जिनके मनमें इस औषधिका प्रवेश नहीं होता है उनके दोष आसुरी हैं, जिससे औषधिका भीतर प्रवेश नहीं होता है.

'उपगीयमानात्' इस विशेषणमें 'उप' शब्द देकर यह समझाया है कि श्रवण करनेकेलिए न कोई परिश्रम करना है और न कहीं जाना है अर्थात् किसी प्रकारसे भी श्रवण अप्राप्य नहीं है क्योंकि वहां समीपमें भी श्रवण हो रहा है. श्रवणकेलिए धनकी भी आवश्यकता नहीं है क्योंकि गुणगान करनेवाले वक्ता वे शुकदेवजी हैं, जिनकी तृष्णा नष्ट हो गई है. 'गीयमान्' गान करना कहा है – इसका तात्पर्य यह है कि गानसे शब्दोंकी मधुरता प्राप्त होती है. जन्म और मरणके समय जो दुःख होता है उसका जीवने बहुत बार अनुभव किया है अतः उसको दूर करनेकेलिए यह औषधि जो उस दुःखका निवारण करनेवाली है, उसे विशेष आदरके साथ लेना चाहिये क्योंकि यह कर्णोंको कड़वी नहीं लगती है और परिणाममें लाभ देनेवाली है. श्लोकमें 'अभिरामात्' पदमें 'अभि' देनेका तात्पर्य यह है कि परलोकमें भी आनन्द करानेवाली है. वहां परलोकमें भी भगवान्में आसक्ति होती है.

इस प्रकार, रूप, गुण तथा कर्मसे भगवान्के चरित्रोंकी उत्कृष्टता कहकर अब सम्बन्धसे भी उसकी उत्तमता कहते हैं. 'उत्तमश्लोकगुणानुवादात्' इस पदसे उसको समझाते हैं. वे गुण कैसे हैं? उन गुणोंका गान उत्तमपुरुष करते हैं. भगवान्के माहात्म्यको बताने वाले हैं जिनका वर्णन भागवतादि शास्त्रोंमें है. जिनके दोष पूर्णतया नाश हो गये हैं वैसे भक्तोंका उत्कर्ष भी भगवान्के कारण है. भगवान् महान् हैं. यह भगवान्का उत्कर्ष करनेवाले भी उनके गुण ही है. गुणोंकी उत्तमता अनुवाद करनेसे होती है. इस प्रकार सबोंका उत्कर्ष उत्तमश्लोक, गुण और अनुवाद इन तीनोंको एकत्र करनेसे सिद्ध होता है.

श्लोकमें 'पुमान्' शब्द आया है उसके देनेका जो रहस्य है वह बताते हैं कि जिन पुरुषोंका पशु अवतार है या स्त्री अवतार है वे पुरुष आकारमें होते हुए भी श्रवणके अधिकारी नहीं हैं. जो स्त्रियां श्रवणमें आसक्त है. चाहे वे किसी निमित्तसे स्त्रीदेहमें प्राप्त हुई हो वह वास्तवमें वे पुरुषजीव ही है. अतः कोई भी पुरुष इस श्रवणसे उदासीन नहीं होगा. कारण कि श्रवणके सिवाय कोई भी साधन ऐसा नहीं है जो इस प्रकारके उत्कृष्ट रस तथा वैराग्यको सिद्ध कर सके.

आत्मघाती आदि पांचो प्रकारके दैत्यपनको बतानेकेलिए दैत्योंका

लक्षण कहकर उनका दैत्यपन सिद्ध करते हैं. जैसे कि – 'पशुघ्न' उसे कहते हैं जो अपनी जिह्वाके रसकेलिए पशुओंकी हत्या करते हैं. वैसे मनुष्य, मनुष्य आकृतिमें होते हुए भी दैत्य हैं. दैत्य स्वभावसे दयाहीन होते हैं, इस बातको दितिके चरित्रमें सिद्ध किया गया है. दैत्य सदैव भगवान्के शत्रु होते हैं, इसी कारणसे उनके दोषोंकी निवृत्ति नहीं होती है. दैत्योंकी मुक्ति तब होती है जब उनके दोष पूर्णतः नष्ट हो जाते हैं.

जो सहज असुर हैं जैसे कालनेमि आदि. कंस (उस सहज असुर काल नेमीका आधाररूप) आवेशस्थान है. इसलिए आवेशी कंसकी तो मुक्ति हो सकती है किन्तु सहज दैत्यकी नहीं हो सकती क्योंकि उसकी मुक्ति तो अन्धःतम है, जहांसे वह लौटकर नहीं आते हैं. यदि अनिष्टोंकी इस प्रकारकी मुक्ति नहीं की जाय तो वे सहज दैत्य लौटकर पुनः उनमें प्रवेशकर वैसे ही उपद्रव करने लग जायेंगे. अतः आविष्टोंकी मुक्ति की जाती है. इन पांच प्रकारके पुरुषोंको श्रवणसे विमुख देखकर दूसरे भी वैसे न हो जाय, इसलिए इस श्लोकमें उनके स्वरूपोंका वर्णन किया है ।।४।।

आभास : इस प्रकार भगवान्के चरित्रोंकी स्तुति की. अब वे चरित्र स्वतः पुरुषार्थ सिद्ध करनेवाले हैं न कि पुण्योंके कारण पुरुषार्थ सिद्ध करनेवाले हैं. इस बातको समझानेकेलिए निम्न दो श्लोकोंमें भगवान्की स्तुति करते हैं. दो श्लोकोंमें इसलिए करते हैं कि वे देखे हुए और सुने हुए भेदसे दो प्रकारके हैं:

पितामहा मे समरेऽमरञ्जयैः देवव्रताद्यातिरथैस्तिमिङ्गिलैः ।
दुरत्ययं कौरवसैन्यसागरं कृत्वाऽतरन् वत्सपदं स्म यत् प्लवाः ।।५।।

श्लोकार्थ : युद्धमें देवताओंको भी जीतनेवाले, भीष्मजी आदि अतिरथि रूप तिमिङ्गिलों(अपनी जातिवाले मत्स्योंको निगलनेवालों)के होनेसे दुस्तर कौरवोंके सैन्यरूप सागरको मेरे पितामह(पाण्डव) भगवद्रूप नावके आश्रयसे बछडेके खुरके समान खड्डा मानकर तर गए।।५।।

व्याख्यार्थ: मेरे पितामह, पांडव भगवत्रूप नावके आश्रयसे युद्धमें दुस्तर, जिसको पार करना कठिन है ऐसे कौरवोंके सैन्यरूप सागरको बछड़ेके खुरके समान खड्डा बनाकर तिर गये. पांडवोंके वंशमें एक पौत्र(परीक्षित) ही बचा था. परीक्षितके पितामह पांचो पांडव थे अथवा कुन्तीके सम्बन्धसे युधिष्ठिर, भीम तथा अर्जुन तीन पितामह थे. क्योंकि दूसरेके क्षेत्रमें बीज डालनेसे

उस बीजसे उत्पन्न सन्तान क्षेत्रके पतिका होता है. कुन्तीका पति पांडु है, उसमें बीज डालनेवाले धर्म, वायु और इन्द्र थे किन्तु उनका सन्तान पर इसलिए अधिकार नहीं है क्योंकि कुन्ती उनकी पत्नी(क्षेत्र) नहीं थीं. अतः पांडु और कुन्ती दोनोंके सम्बन्ध होनेसे युधिष्ठिर, भीम तथा अर्जुन तीनों पितामह हैं. जहां फिर क्षेत्र जैसे-तैसे जिसके अधिकारमें आ गया हो तो उस समय बीज डालनेसे जो सन्तान पैदा हो तो वह सन्तान बीज डालनेवालेकी होती है. जैसे बुधको चन्द्रमाका पुत्र माना जाता है. यद्यपि यह बृहस्पतिकी स्त्रीसे पैदा हुआ था.

श्लोकमें, युद्धकेलिए 'समर' शब्द दिया है, उसका भावार्थ बताते हुए आचार्यश्री आज्ञा करते हैं कि 'मर' शब्दका अर्थ मरना है. 'स' देकर कहा कि जिसमें मरना अवश्य होता है उसको समर कहते हैं वैसा होने पर भी कोई 'पांडव' नहीं मरा. कारण कि उनके साथी भगवान् थे, यह भगवान्के सान्निध्य(साथमें) होनेका माहात्म्य कहा.

इस समरमें सामने लड़नेवाले कैसे हैं उनको बताते हैं कि वे(कौरव) देवताओंको भी जीतनेवाले थे, इस विशेषणसे यह समझाया कि यद्यपि पांडव देवताओंके पुत्र थे और उनके पास देवोंके दिये हुए शस्त्र भी थे किन्तु वे उन कौरवोंको जीत नहीं सकते थे कारण कि जो देवोंको जीतनेवाले हैं उनको देवोंके पुत्र कैसे जीत सकेंगे? उनका अमरञ्जयत्वका कभी भी नाश नहीं होता है कारण कि वह उसका व्रत सत्यसंकल्पवाला है किन्तु उसमें अपने धर्मके त्याग करनेकी सामर्थ्य भी है. क्योंकि जो विचार आवे उसको पूर्ण करना वह भी एक प्रकारका सत्यव्रत है, अतः भीष्म देवव्रत होते हुए भी कौरवोंके संसर्गसे, भगवान्की इच्छाके विरुद्ध कार्य(कौरवोंके पक्षमें जाना) करनेसे (दैत्यव्रत) कहलाये. भीष्म देवव्रत है यह प्रसिद्ध है. दूसरे द्रोणादिक भी भीष्मके मुख्य होनेसे देवव्रत हुए. समस्त योद्धा अतिरथ(एक ही योद्धा दशहजार सैनिकोंके साथ लडे वह अतिरथ होता है.) होनेसे अलौकिक एवं अत्यन्त सामर्थ्यवाले थे. समुद्रमें तिमि(एक सौ योजन लंबा) नामवाला मत्स्य रहता है, ऐसेको भी जो निगल जाय वह तिमिङ्गिल कहलाता है. वह जिस समय समुद्रमें पड़ता है तो वहांका कोई भी मत्स्य जीवित नहीं रहता है. जब वे ही नष्ट हो जाते हैं तो दूसरी जातिवालोंका नाश हो इसमें कहना ही क्या है? उस तिमिङ्गिलमें इतना बल, दैत्यावेशके कारण है कि वह अपनी ज्ञातिका नाशक होता है और क्रूर भी इसलिए है. इसी प्रकार ये देवव्रत भी

तिमिङ्गिल है क्योंकि उनमें भी दैत्यांश है जिससे वे अतिक्रूर हैं ऐसा होनेसे वे अपने सम्बन्धियों अथवा पौत्रोंको जीवित छोड़ दे वह उनके स्वभावसे विपरीत है. क्योंकि दैत्यावेश होनेसे उनमें विचार या विवेक रहा ही नहीं था. जैसे तिमिङ्गिल समुद्रमें पड़े हुए अपनी जातिवालोंका भी नाश करता है तो दूसरोंको कैसे छोड़ेगा? वैसे ये भी तिमिङ्गिलके समान दैत्यावेशी होनेसे जो भी इस समररूप समुद्रमें आवे वह चाहे कौरव पक्षका ही क्यों न हो उसको भी नष्ट कर देवे, ऐसे थे, तो दूसरोंको नष्ट करनेमें उनको कौनसी देरी लगेगी. अतः कहा है कि यह कौरवसैन्यसागर दुस्तर है. जिस प्रकार समुद्रको पार करनेके साधनोंको समुद्रके जीव मकर आदि नष्ट कर देते हैं उसी प्रकार ये कुरुवंशी भी लड़ाईमें शत्रुका नाश करनेके सिवाय कभी भी शान्त नहीं होते हैं. समुद्र अचेतन होनेसे स्वयं नौकादि साधनोंका नाश नहीं कर सकता है किन्तु उसमें रहनेवाले चेतन मकरादि जीव करते हैं, यहां तो ये कौरव लोग स्वयं चेतन होनेसे साधनोंका नाश करनेमें महा समर्थ हैं. ये चेतन हैं इसलिए स्वरूपसे भी नाशक हैं. इतना सब होते हुए भी जिसके रक्षक भगवान् हैं अर्थात् इस कौरवसैन्यसागरसे पार उतारनेवाली नौका भगवान् स्वयं हैं. उस नौकाको कौन नष्ट करनेकी सामर्थ्य रखता है? कोई नहीं. यहां प्लव शब्द इसलिए दिया है कि भगवान् केवल उनके सान्निध्यमें रहकर उनके रक्षक बने थे. आप लड़ते नहीं थे. ऐसे महान् सेनारूप सागरको गोवत्सके पदके समान छोटा बनाकर पार हो गये उसमें कारण भगवदाश्रय ही है. गीतामें भगवान्ने अर्जुनको कहा है कि हे अर्जुन ! तू इनको मारनेकेलिए केवल नाममात्र निमित्त बन. इनको तो मैने प्रथम ही मार दिया है.

इस प्रकार भगवान्के वचनोंको सुननेसे पांडवोंकेलिए कौरवसैन्य – सागर गोवत्सके खुरके सदृश खड्डेके जैसा बन गया, किन्तु तो भी पांडवोंको परिपूर्ण आश्रय न होनेसे उनको वह खड्डा भी जैसे पिपीलिकाओंको महान् देखनेमें आता है वैसे दुस्तर देखनेमें आया. कारण कि वे(मेरे पितामह) भगवान्को अपनी दृष्टिसे देखते थे, जिससे उन्होंने श्रीकृष्णको अपने समान समझ लिया था. यही कारण था कि उनको दृढ विश्वास न हुआ. यदि कृष्णमें भगवद्भाव होता तो वत्सपद समान खड्डेको पार करनेमें संशय क्यों रहे? तथा शस्त्र ग्रहण करनेकी भी कौनसी जरुरत पड़ी थी? किन्तु ये सब आश्रयके अभावसे हुए हैं. यदि श्रीकृष्णको अपने समान न समझ भगवान् समझते तो

उत्तराके समान भगवान्के शरण जाते और शस्त्र ग्रहणकर हम शस्त्रों द्वारा शत्रुओंका वध करेंगे वैसा अहंकार मेरे पितामहोंको न होता. इतना होने पर भी कृपानिधि श्रीकृष्णने अपने चक्रसे उनकी रक्षाकर अपनापन बताया. जो भगवान् इस प्रकार रक्षा नहीं करते तो, उनकी सामर्थ्य शत्रुनाशमें किसी प्रकार प्रयोजक नहीं थी. उनका (मेरे पितामहोंका) अवश्य नाश हो जाता. उस छोटे गड्ढेमें डूबना ही यहां नाश था. भगवान्ने पहले भी इनकी रक्षा की थी, वह उपकार भी भूल गये और भगवान्का माहात्म्य भी भूल गये, यही इन्होंमें(पांडवोंमें) क्षुद्रपन था अर्थात् चींटीपन था. युद्धमें अन्य सर्ववीर नष्ट हो गये. शेष अश्वत्थामा, कृपाचार्य और कृतवर्मा ये तीन बचे, इस कारणसे कौरवसैन्यसागर तुच्छ जैसी हो गई, तो भी अश्वत्थामाने पांडवों पर ब्रह्मास्त्र छोडे. उनसे भी सुदर्शनचक्र द्वारा भगवान्ने रक्षा की. तथा इस कौरवसैन्यसागरको पार किया ये दोनों कार्य अलौकिक साथमें हुए हैं. मेरे तीनों पितामह मरे नहीं यही कौरवसैन्यसागरका वत्सपदके समान होना है.

अश्वत्थामा अग्रभागके समान है, उसने दो बार अपकार किया. एक बार पांडवोंके पुत्रोंका नाश किया, दूसरी बार उत्तरा तथा पांडवों पर ब्रह्मास्त्र फेंककर अपकार किया था. उनका दोनों ही बार निवारण भगवान्ने किया. पांडव भगवद्रूप नावका आश्रयकर इस समुद्रको तरते-तरते पार कर गये. ज्यों-ज्यों आगे बढ़ते जाते थे त्यों-त्यों पार किये सागरको शुष्क करते जाते थे. अन्तमें पांडव कुछ शेष छोड़कर सैन्यसागरको पार कर गये और यश प्राप्त किया. यह अत्यन्त अलौकिक है. कारण कि कौरवोंका नाश तो कालरूपसे भगवान्ने कर ही रखा था किन्तु विजयकी माला पांडव पहनकर यशके भागी बने यही भगवान्का अलौकिक प्रभाव तथा कृपा है.

भगवान्के आश्रित भक्त भी इसी प्रकार अपने अहन्ता ममतारूप संसारसे प्राप्त धनादि पदार्थोंका त्यागकर संसार शोषण करते हैं, और केवल भगवत्सेवाके कार्यमें आनेवाली दैवी द्रव्यका ही कुछ संग्रहकर भगवत्सेवा द्वारा संसारके परलीपार स्थित भगवान्को प्राप्त करते हैं ।।५।।

आभास : उपरोक्त श्लोकमें श्रुत माहात्म्यका वर्णनकर अब स्वयं देखे हुए भगवान्के माहात्म्यका वर्णन करते हैं:

द्रौण्यस्त्रविप्लुष्टमिदं मदङ्गं सन्तानबीजं कुरुपांडवानाम् ।
जुगोप कुक्षिं गत आत्तचक्रो मातुश्च मे यः शरणं गतायाः ।।६।।

श्लोकार्थ: कौरव तथा पाण्डवोंकी सन्ततिका बीजरूप यह मेरा शरीर, जब अश्वत्थामाके ब्रह्मास्त्रसे जल गया था. तब शरण गई हुई मेरी माताके उदरमें स्थित होकर, जिस चक्रधारी भगवान्ने मेरी रक्षा की उनके चरित्र कहो।।६।।

व्याख्यार्थ: जिस कार्यको पांडव नहीं कर सकते थे उन कार्योंको स्वयं भगवान्ने किया. यह भगवान्की मेरे ऊपर अतिशय कृपा है, यह बताते हैं. पहली बात तो यह है कि अश्वत्थामाने मुझ पर ब्रह्मास्त्रका प्रयोग क्यों किया? अश्वत्थामाके पिता द्रौणाचार्यको मेरे पितामहोंने मारा था, पिताके वैरीसे बदला लेना पुत्रका कर्त्तव्य है अतः उसने मुझ पर ब्रह्मास्त्र चलाया था. इसलिए अश्वत्थामा न कहकर 'द्रौणि' द्रोणाचार्यका पुत्र कहा है. 'द्रौणि' कहनेसे इनका (द्रोणाचार्यका) मरण और महत्त्व दोनों (द्रोणाचार्य अस्त्र विद्याके अद्वितीय जानकार थे, अतः सर्व योद्धाओंके शिक्षक-आचार्य थे) बताये हैं. उसका (अश्वत्थामाका) ब्रह्मास्त्र कोई भी लौटा नहीं सके अथवा वह जिस पर फेंका हो उसका नाश करनेमें असफल न हो वैसा था, जिससे मेरा शरीर तो जल गया किन्तु अर्जुन वैष्णव थे क्योंकि नर के अवतार थे उनके वंशका बीजरूपमें (लिङ्गशरीर) नष्ट नहीं हुवा, अतः कुरु(पांडवों)का सन्तान बीज मेरा वह शरीर बच गया. यद्यपि परीक्षित पांडवोंका वंश है किन्तु कौरवोंको भी पिण्डदानादिसे मुक्ति दिलानेवाला परीक्षित ही है क्योंकि कौरवोंके वंशमें कोई नहीं बचा है इसलिए यह परीक्षित कुरु और पांडवोंके वंशका शेष बीज कहा गया है.

देहके जल जानेके पश्चात् उसकी रक्षा करना अशक्य है. इस पर कहते हैं कि ऊपरसे देह जल तो गई थी किन्तु भीतरसे बीजरूपसे नष्ट नहीं हुई थी अतः जले हुए हिस्से भी बिना जले हुए जैसे प्रतीत होते थे. ऐसे मेरे शरीरकी भगवान्ने रक्षा की. भगवान्ने शरीरके जल जानेके पहिले ही ब्रह्मास्त्रको रोककर रक्षा क्यों नहीं की? इस शंकाके निवारणकेलिए आचार्यश्री आज्ञा करते हैं कि (दाहो धर्मरक्षार्थः), स्थूलशरीरको जलाने जितना ब्रह्मास्त्रका कार्य था वह धर्मरक्षार्थ, करने दिया कारण कि (ब्रह्मास्त्र)में वेद मन्त्रोंसे ब्रह्मरूप देवताकी स्थापना की जाती है. अतः यदि भगवान् ऐसे ब्रह्मास्त्रको रोक दें तो वेदमार्गकी रक्षा करनेवाले भगवान् हैं, अतः उनका यह धर्म नष्ट हो जाता है, इसलिए भगवान्ने इस अपने धर्मकी रक्षार्थ ब्रह्मास्त्रको बीचमें न रोककर स्थूलशरीरको जलने दिया, जिससे मोक्षमें भी प्रतिबन्ध न हो और केवल स्थूलशरीर ही जला. यह भी भगवान्का

प्रताप है. इस प्रकार सूक्ष्म शरीर बचाकर उसको पुनः पूर्ववत् बनाकर इसीलिए भी रक्षा की कि कुरु पांडव वंशके मोक्षमें किसी प्रकारका प्रतिबन्ध न होवे. परीक्षितने (इदम्) शब्द कहकर अपने शरीरका अंगुलीसे निर्देश किया है कि यह मेरा शरीर है, जिसको ब्रह्मास्त्रने जलाया था, भगवान्ने उसको कृपया बचाया है. श्रीकृष्ण द्वारा रक्षा होनेसे शरीरमें किसी प्रकारकी कमी नहीं रह गई है. (मदङ्ग) मेरा अंग, यों कहनेसे यह बताया कि यह मेरा प्रत्यक्ष अनुभव है.

भगवान्ने गर्भमें तो रक्षा की अब ब्राह्मणके शापसे आपकी रक्षा क्यों नहीं की? इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि उस समय यदि रक्षा नहीं करते तो कुरु (पांडवों)के सन्तानका बीज नष्ट हो जाता हैं. भगवान्को इस वंशके सन्तान बीजकी रक्षा करनेकी आवश्यकता इसीलिए थी कि कुरु भक्त थे. उनके वंशमें पांडव हुए थे वे भी भक्त थे. परम्परासे यह कुल भक्त है. भक्तोंकी रक्षा करना भगवान् अपना प्रथम कर्त्तव्य समझते हैं इसीलिए रक्षा की है. अब मेरे सन्तान हो गई है, वंश चालू रहेगा, अतः रक्षाकी कोई आवश्यकता नहीं है. उस समय मेरी रक्षाका यही प्रकार था कि जो भगवान्ने मेरी माताके गर्भमें प्रकट हो, चक्र धारणकर, तेजस् तत्त्व सहित, अपने स्वरूपको दिखानेकी कृपा की. यह कृपा इसीलिए भी की है कि उस स्वरूपका पीछे ध्यान किया जा सके. उस समय न तो चक्रसे रक्षा की और न उससे ब्रह्मास्त्रके तेजको दूर किया था. अस्त्रके तेजको तो अपनी गदासे नष्ट किया था इसलिए कोई विरोध नहीं है. भगवान्ने कालको रोकनेकेलिए कालरूप चक्रको हस्तमें धारण किया था जिससे काल अपना कार्य (मारना) इस समय न कर सके. इस प्रकार भगवान्ने गदासे ब्रह्मास्त्रके तेजको दूर किया और कालरूप सुदर्शनचक्रको अपने हस्तमें पकडकर कालकी गति रोक ली, जिससे मेरी रक्षा पूर्णरूपसे हो गई. तदनन्तर उत्तराके गर्भमें विराजमान होनेकी आवश्यकता न होनेसे आप तिरोहित हो गये.

भगवान्के तिरोहित हो जानेके अनन्तर कालचक्र सर्वत्र परिभ्रमण करने लगा है. अब मैं भी इस समय कालचक्र द्वारा बन्धा हुआ हूं.

जो प्रभु मेरी माताके अनुभवमें आये थे उन्होंने मुझे भी अनुभव कराया था. मेरी माता उनके शरणमें गई थीं, अतः उनको प्रभुने दर्शन दिये और उनकी कुक्षि(कोख)में प्रवेश किया.

भगवान्के माहात्म्यका मुझे प्रत्यक्ष अनुभव है अतः आप भगवान्के

जिन चरित्रोंको सुनाओगे उनमें मेरा विश्वास होगा कारण कि आपकी उक्तिमें भी मेरी श्रद्धा है ।।६।।

आभास: इस प्रकार राजा परीक्षित भगवान्के चरित्रोंके श्रवणमें अपना अधिकार बताकर, प्रथम पूछे हुए भगवच्चरित्रोंको, पुनः दूसरे प्रकारसे, अर्थात् जिस समय भगवान्का प्राकट्य नहीं है, उस समयके जीवोंका भी, ये चरित्र साधन रूपसे उद्धारक हैं. जिसका निम्न श्लोकमें वर्णन करते हैं:

वीर्याणि तस्याखिलदेहभाजाम् अन्तर्बहिः पूरुषकालरूपैः ।
प्रयच्छतो मृत्युमुतामृतं च मायामनुष्यस्य वदस्व विद्वन् ।।७।।

श्लोकार्थ: हे विद्वन् ! समग्र देहाधारियोंके भीतर और बाहर पुरुषरूप तथा कालरूपसे जो अमृत और मृत्यु देते हैं जिनको अज्ञानसे, मनुष्य समझा जाता है उन मनुष्याकृतिधारी पुरुषोत्तमके पराक्रमोंका वर्णन करो।।७।।

व्याख्यार्थ: कितनेक इस प्रश्नको प्रथम पूछे हुए प्रश्नसे पृथक् मानते हैं. वे कहते हैं कि जो चरित्र मनुष्यरूपसे किये जाते हैं वे चरित्र तो ऐसे हैं जो मनुष्योंकी समझमें आ जाते हैं. इस प्रकारके प्रश्न पूर्व ही पूछे गये हैं. अतः अब दूसरे प्रकारके प्रश्न पूछते हैं जिनका अवतारसे सम्बन्ध नहीं है जैसे कि वरुण लोकमें जाकर नन्दादिको छुड़ाना, वैकुण्ठ आदिका दिखाना. ये चरित्र मनुष्योंकी समझसे पर है, अतः इस प्रकारके प्रश्न अब पूछते हैं. इसी भांति विश्लेषण करने (हर एक भागको भिन्न-भिन्नकर उसके भाव बताने)से इस चरित्रका जो फल कहा जानेवाला है उसका अमृत पान सिद्ध होगा, दूसरोंका नहीं होगा. इस अभिप्राय पर विचार करना चाहिए.

किन्तु यहां तो समग्र देहधारियोंके अन्दर पुरुषरूपसे तथा बाहर कालरूपसे विराजमान होकर अमृत और मृत्यु देनेवाले उस पुरुषोत्तम श्रीकृष्णके चरित्रोंको कहो, इस प्रकार दो श्लोकका अन्वय है. श्लोकमें 'तस्य' पद देकर यह बताया है कि यह वही मूलरूप है, जिसका वेदोंमें भूमा तथा रस स्वरूपसे वर्णन किया गया है. यदि वही है तो मनुष्य जैसे क्यों दिखते हैं? इस शंकाको मिटानेकेलिए कहा है कि 'माया-मनुष्यस्य' अर्थात् वही पूर्ण रस स्वरूप है किन्तु मायासे हम उसको मनुष्य समझते हैं. आपने अपनी इच्छासे भक्तोंको दर्शन देनेकेलिए यह रसमयी मनुष्याकृति धारण की है. आपने(भगवान्ने) अपनी मायासे मनुष्योंकी बुद्धि पर मायाका पर्दा डाल दिया है जिससे लोग उस परम

तत्त्वको मायिक वा कल्पित मनुष्याकृति समझते हैं तथा भगवान्‌की इच्छानुकूल प्रत्येक जीव अपने अधिकारके अनुसार उसी स्वरूपमें विविध प्रकारसे दर्शन करते हैं. इससे यह समझना चाहिए कि इस अवतारमें भगवान्‌ने मूलरूप और अवताररूप दोनोंको प्रकट किया है. इस श्लोकमें यही (श्रीकृष्ण)रूप मूलरूप कहा है और उसके ही माहात्म्यका वर्णन किया गया है.

भगवान्‌का अनन्त माहात्म्य है इसको प्रकट करनेकेलिए 'वीर्याणि' बहुवचन दिया है.

'अखिलदेहभाजां' पदमें 'अखिल' पदसे सब कहे हैं इसका भाव यह है कि भगवान्‌के सिवाय कोई भी अन्य(देवादि) किसीको मृत्यु वा अमृत फलदान करनेमें समर्थ नहीं हैं. दोनों ही फल सबको भगवान् ही देते हैं, भिन्न-भिन्न दाता नहीं है. कारण कि आप ही प्रत्येक प्राणीके देहमें अन्तर्यामीरूपसे वा व्यापकरूपसे विराजमान् हैं. समस्त देहधारी जीव भगवान्‌के ही आत्मरूप हैं उन्होंको कारणवश (लीला[१] करनेके लिए) अलग-अलग देह आदि दिये हैं. इसीलिए हर एकको पृथक्-पृथक् मृत्यु वा अमृतकी प्राप्ति होती है.

१.भगवान् अपने आत्मरूप जीवोंको लीलाके कारण मृत्यु भी देते हैं इसको स्पष्ट इस प्रकार समझना है ''एकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत्''. अकेले रमण नहीं हो सकता है. अतः भगवान्‌ने दूसरे होनेकी इच्छा की. उस इच्छासे आप ''एकोऽहं बहुस्याम्'' मैं जो एक हूं वह बहुत हो जाऊं इस विचारसे आप बहुत हुए - जिसका साक्षात् प्रत्यक्ष स्वरूप सृष्टि है. अग्निसे चिनगारियोंकी भांति आपने अपनेमेंसे अंशरूप जीव प्रकट किये. ''पराभिध्यानात् तु तिरोहितं ततोह्यस्य बन्धविपर्ययौ'', इस व्याससूत्रके अनुसार भगवान्‌की इच्छासे जीवरूपमेंसे ऐश्वर्यादि छः गुण तिरोहित हो गये, जिससे जीवका बन्ध तथा विपर्यय (उलट फेर-एकका दूसरा हो जाना) हुवा. उसका परिणाम यह हुआ कि, १.ऐश्वर्यके छिप जानेसे जीव अपनेको पराधीन समझने लगा. २.वीर्यके छिप जानेसे दुःख भोक्ता हुआ. ३.यशके छिपनेसे अपनेको हीन समझने लगा. ४.श्रीके छिप जानेसे जन्मादि भोगने पडे. ५.ज्ञान छिप जानेसे, देहादिमें अध्याससे अहं-मम बुद्धि हो विपरीत बुद्धि हो गई. ६.वैराग्य छिप जानेसे विषयासक्ति हुई. इस प्रकार भगवान्‌ने जैसे स्व-इच्छासे लीलाकर अपने आत्मरूप जीवसे षड् ऐश्वर्यादि धर्म तिरोहित किये वैसे मृत्यु आदि भी दिये. यह सर्व रमणके प्रकार हैं. इसमें सन्देह व शंका व्यर्थ है.

आचार्यश्री कहते हैं कि इस पुरुषरूप और कालरूपका स्वरूप कितनेक

नीचे दिये हुए प्रकारसे बताते हैं:

१.भगवान्ने जो मत्स्य आदि अवतार लिये हैं, वे भगवान्के पुरुषरूप हैं और शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये विषय भगवान्के 'काल-रूप' हैं.

२.भगवान्के जिन रूपोंका ध्यान किया जाता है वे भगवान्के 'पुरुष-रूप' हैं और ब्रह्मासे लेकर तृण पर्यन्तरूप भगवान्के 'काल-रूप' हैं. इस प्रकार अन्य मत कहकर आपश्री कहते हैं कि सबरूप भगवान्के ही हैं तो भी अन्तर और बाहर इस प्रकार अन्य मत कहकर भी आपश्री कहते हैं कि भेदके कारण उनमें इस प्रकार (पुरुषरूप और कालरूपसे) विशेषता रहती है. जैसे कि किसी प्रकार भी साधनोंसे जो बहिर्मुख होते हैं वे मृत्युको पाते हैं तथा जो अन्तर्मुख होते हैं वे अमृतको ही प्राप्त करते हैं.

बहिर्मुख जीवोंको मत्स्यादिरूप मृत्यु देते हैं, अतः वे भी तब 'काल-रूप' बन जाते हैं और अन्तर्मुखोंको विषय भी अमृत देते हैं, वे विषय भी पुरुषरूप होते हैं. श्लोकमें 'उत' शब्दका भाव यह है कि भगवान् अन्तर्मुखोंको पुरुषरूप तथा कालरूप दोनों रूपोंसे अमृतका ही दान करते हैं, उनमें अन्तर्मुखोंकेलिए कालरूप भी पुरुषरूप हो जाते हैं यही भेद है. इससे मृत्यु और अमृतके तारतम्य (भेद)को समझना चाहिये. यों करनेका भगवान्में किस प्रकारकी अपनी सामर्थ्य है. क्या इसी भांति भगवान् श्रीकृष्ण खेल खेलते हैं? वह आपकी स्वाभाविक सामर्थ्य है, या अन्तर्भावका बहिर्भावका फल है? अथवा मर्यादाकी रक्षाकेलिए वैसी भगवान्की इच्छा है. इन सब सन्देहोंका निवारण तब होगा जब हम उस श्रीकृष्णके पराक्रमोंका ज्ञान प्राप्त करेंगे. वह ज्ञान तब प्राप्त होगा जब उनके चरित्रोंका श्रवण किया जायगा. अतः भगवान्के चरित्र अवश्य श्रवण करने चाहिये. इस सन्देहका निर्णय गोकुलवासियोंके वैकुण्ठ गमन[२] प्रसङ्ग सुनने पर हो जायगा.

२.इस प्रसङ्गमें भगवान्ने बहिर्मुखोंको भी अमृत दान दिया है जिससे दूसरा पक्ष ही सिद्धान्त(निर्णय) होगा.

मनुष्यरूपसे वैसा होना असम्भव है. इस शंकाका निवारण करनेकेलिए भगवान्को(माया मनुष्य) कहा है. अर्थात् वह पूर्ण पुरुषोत्तम प्रभु है. हम अज्ञानसे उनको मनुष्य समझते हैं. अतः वह मनुष्य न होनेसे किन्तु कर्तुं, अकर्तुं, अन्यथाकर्तुं प्रभु होनेके कारण सर्व करणमें सामर्थ्यवान् हैं जिससे उसके किये हुए

कार्यमें असम्भवता समझनी हमारी अज्ञानता है.

हे विद्वन् ! इस सम्बोधनसे यह बताया कि आप जानकार ज्ञानी हो. भगवान्के वीर्योंका कीर्तन जो आप करोगे उससे हमारा तो उपकार होगा ही किन्तु साथमें कीर्तन करनेका फल आपको भी प्राप्त होगा और 'विद्वन्' विशेषणका यह भी आशय है कि आपको भगवान्के सर्व चरित्रोंका ज्ञान है ।।७।।

आभास : राजा परीक्षित इस प्रकार भगवान्के चरित्रोंको पूछकर अब ५ श्लोकोंसे जिन चरित्रोंका वर्णन युक्तिके विरुद्ध देखनेमें आता है, तथा जिसमें संशय होता है वे पूछते हैं:

रोहिण्यास्तनयः प्रोक्तो रामः संकर्षणस्त्वया ।
देवक्या गर्भसम्बन्धः कुतो देहान्तरं विना ।।८।।

श्लोकार्थ : आपने रोहिणीके पुत्र सङ्कर्षण 'राम'को देवकीका पुत्र कहा किन्तु उनका देवकीके गर्भसे सम्बन्ध, दूसरी देहके बिना कैसे हो सकता है।।८।।

व्याख्यार्थ : नवम स्कन्धके २४ वे अध्यायके 'बलं गदं' इस ४६ वें श्लोकमें बलरामजीको रोहिणीका पुत्र कहा है और वहीं पर ''वसुदेवस्तु देवक्यां...संकर्षणम् अजीजनत्'', ५४वें श्लोकमें संकर्षण(बलराम)को वसुदेवने देवकीसे उत्पन्न किया ऐसा कहा है. यह परस्पर विरुद्ध वर्णन है. लोकमें दूसरी देहके सिवाय दो स्थान पर प्रकट होना बन नहीं सकता है. इसका राजाने प्रश्न किया है अन्यथा ईश्वरके प्रभावसे सर्व कुछ हो सकता है. अतः यों होनेमें भी भगवान्का प्रभाव ही कारण है ।।८।।

आभास : भगवान्का मथुरा छोडनेका क्या कारण था ?

कस्मान्मुकुन्दो भगवान् पितुर्गेहात् व्रजं गतः ।
क्व वासं ज्ञातिभिः साकं कृतवान् सात्वतां पतिः ।।९।।

श्लोकार्थ : मुकुन्द भगवान् अपने पिताके घरसे व्रजमें किसलिए पधारे ? शुद्ध सतोगुणवालोंके पति उन भगवान्ने वहां बान्धवोंके साथ कहां निवास किया ?।।९।।

व्याख्यार्थ : जो भगवान् अन्योंके(कालादिके) भयको दूर करनेवाले हैं और सबको मुक्ति देनेवाले हैं वे अभयस्वरूप स्वयं, वैसा कौनसा कारण था जिसकेलिए पिताका घर त्यागकर व्रजमें गये ? महावन तथा वृन्दावनमें नन्दादिक गोपोंको अपना कुटुम्बी बनाकर उनके साथ कहां निवास किया ? अथवा जिनसे

अन्य वर्णके कारण कोई सम्बन्ध[१] नहीं, पहचान नहीं उनके साथ सहकारकर व्रजमें कहां और कैसे निवास करने लगे? जब आप शुद्ध सतोगुणमें स्थित सत्पुरुषोंके ही पति हैं और आपका अवतार भी वैसे सत्पुरुषोंकेलिए ही है तब आप भगवद्भाव रहित तथा अन्य ज्ञातिवाले तामसोंके वहां जाकर कैसे निवास करने लगे? ।।९।।

१.परीक्षितने जो इस प्रकार कहा कि नन्दके साथ कोई सम्बन्ध नहीं यह इसलिए कहा कि उसने अभी तक दशमस्कन्धकी कथा नहीं सुनी थी, इसलिए अज्ञानके कारण यह प्रश्न किया. भगवान्का तो नन्दादिके साथ वैसा ही सम्बन्ध है जैसा वसुदेवके साथ, इसीलिए श्रीकृष्णने कहा है कि 'वयं गोवृत्तयोऽनिशम्', हम सदैव गौ चरानेवाले हैं और 'श्रूयतां मे पितः' हे पिता! मेरा कहना सुनो, इन वचनोंके न सुननेसे राजा भगवान्को केवल यदुकुलमें प्रकट हुआ ही समझते थे. इसलिए नन्दादिकोंको अन्य समझ, इस प्रकार कहा.

आभास : श्रीकृष्णने व्रजमें रहते हुए क्या किया?

व्रजे वसन् किमकरोत् मधुपुर्यां च केशवः।
भ्रातरं चावधीत् कंसं मातुरद्धाऽतदर्हणम्।।१०।।

श्लोकार्थ : भगवान्ने व्रजमें और मथुरामें रहते हुए कौन-कौनसे कार्य किये? मामा कंसको मारने जैसा निन्दित कार्य कैसे किया?।।१०।।

व्याख्यार्थ : इस श्लोकमें दो प्रश्न हैं एक व्रजमें रहकर क्या किया और दूसरा मथुरामें रहकर क्या किया? इनमें व्रजमें रहकर क्या किया, यह प्रथम प्रश्न स्पष्ट नहीं है, अतः आचार्यश्री उसको स्पष्ट करते हुए कहते हैं, कि क्या व्रजमें रहकर उन व्रजवासियोंके समान सब प्रकारके वस्त्र आदि धारण, सम्भाषण और गौपालन आदि कार्य करते थे? दूसरा प्रश्न तो स्पष्ट है, जो उसने(कंसने) वसुदेव देवकीको अनेक कष्ट दिये थे. किन्तु अपने हाथसे मामाको मारनेका काम लोकमें निन्दित गिना जाता है, क्योंकि मामा मान देने योग्य अर्थात् पूजनीय है, अतः वह मारने योग्य नहीं है. यों होते हुए भी वैसा निन्दित कार्य किसलिए किया? यह पहले किये हुए प्रश्नोंका अनुवाद ही है. श्लोकके उत्तरार्धमें कंसको क्यों मारा? ऐसा प्रश्न बतानेवाला कोई शब्द नहीं है, इसलिए आचार्यश्री कहते हैं कि ऊपरके श्लोकमें दिये हुए 'कस्मात्' शब्दसे इनका सम्बन्ध समझकर अर्थ करें 'कस्मात् अवधीत्', किस कारणसे मारा? इन प्रश्नोंका सार यह है कि व्रजमें और मथुरामें रहकर किन-

किनका उद्धार किया? तथा कंसकी भी क्या व्यवस्था की गई ।।१०।।

आभास : द्वारकामें भगवान्ने कितना समय निवास किया? यह प्रश्न निम्न श्लोकमें करते हैं:

देहं मानुषम् आश्रित्य कति वर्षाणि वृष्णिभिः।
यदुपुर्यां सहावात्सीत् पत्न्यः कत्यभवन् प्रभोः ।।११।।

श्लोकार्थ : मनुष्य आकृति स्वीकारकर यादवोंके साथ द्वारकामें कितने वर्ष पर्यन्त रहे और प्रभुकी पत्नियां कितनी थी?।।११।।

व्याख्यार्थ : राजाने प्रथम, समयका प्रश्न किया है, साधारण नट तो थोड़े समयके लिए ही रूप बदल सकता है. किन्तु विशेष कुशल नट एक प्रहर तक भी रूप बदलकर रह सकता है, तो बतलावे कि भगवान्ने जो नटवत्(दिखावेकेलिए) मानुष देह धारण की वह कितने समय तक धारण कर रखी थी? द्वारकामें रहनेका भगवान्का कोई विशेष प्रयोजन भी नहीं था तो भी मानुष देह धारणकर वहां कब तक रहे? और जो व्यक्ति किसी प्रकार भी भगवान्के समान नहीं थे उनके साथ विशेष समय तक क्यों एवं किस प्रकार रहे, जो रहना योग्य भी नहीं था. भगवान्का वहां विशेष समय तक रहनेका कारण यह है, कि आप पृथ्वी पर जो दुष्ट राजाओं द्वारा किये हुए पापोंका भार बढ़ गया था, उसको यादवों द्वारा उतारना चाहते थे. अतः कोई भी लीला छिपाकर, अन्य प्रकारसे न कहें. आप दुष्ट राजाओंको नाश करनेके वास्ते सामर्थ्यका दान करनेकेलिए यादवोंमें प्रविष्ट होकर वहां उस समय तक रहे जब तक आपने दुष्ट राजाओंका नाश यादवों द्वारा नहीं कराया. यही (मानुषदेहम्ं आश्रित्य) का भाव है. इसीलिए ही भगवान्ने कहा है कि 'नैवान्यतः परिभवोऽस्य भवेत् कथञ्चित्' इस यादव वंशका कैसे भी किसी दूसरेसे पराभव (तिरस्कार) नहीं हो सकेगा. इसका कारण यह हैं, कि वे आपके आश्रित हुवे हैं, आपने उनमें प्रविष्ट होकर उनको आश्रय दे दिया है. 'अवात्सीत्' पदसे वहां आप रहे, यह तो निश्चय ही है, और रहे भी दूसरोंके स्थानमें, यह 'यदुपुरी' शब्द कहनेसे सिद्ध होता है. वहां जब तक रहे, तब तक कितनी पत्नियोंको लक्ष्मीके समान भोगद्वारा भाग्यशाली बनाया गया? यहां भगवान्का नाम (प्रभु) कहकर यह बता दिया कि वह सर्व सामर्थ्यवान् है अतः उनकेलिए कोई छोटा-मोटा, पराया-अपना नहीं है, सब समान है. आप तो यह सब लीलाएँ कर रहे हैं ।।११।।

१.''मानुषदेहम् आश्रित्य'' यादवोंके देहमें सामर्थ्यरूपसे प्रवेशकर, राजाओंका नाश किया. यही मनुष्य देहका आश्रय करना कहा है.

आभास : दूसरा कोई भी चरित्र युक्तिसे विरुद्ध देखनेमें आवे तो (युक्तिसे उस विरोधको मिटाकर)उपपत्ति पूर्वक, उसका वर्णन करें. इस प्रकारका प्रश्न निम्न श्लोकमें करते हैं:

एतद् अन्यच्च सर्वं मे मुने कृष्णविचेष्टितम् ।
वक्तुम् अर्हसि सर्वज्ञ श्रद्दधानाय विस्तृतम् ।।१२।।

श्लोकार्थ: हे मुने ! आप प्रभुकी सर्व लीलाओंको जाननेवाले हो, अतः मुझ श्रद्धालुको, जो लीलाएं मैंने पूछी हैं. तथा अन्य जो कोई भी हो वे सर्व भगवान्की लीलाएं विस्तारसे कहनेकेलिए आप योग्य (समर्थ) हो।।१२।।

व्याख्यार्थ : राजा परीक्षितने शुकदेवजीको (मुने) यह सम्बोधन देकर यह बताया है, कि आप ज्ञानवान् हो अर्थात् आपको भगवान्की लीलाओंका पूर्ण ज्ञान है, अतः मैंने जो लीलाएं पूछी हैं वे, और जो न जाननेसे, नहीं पूछी है वे भी कहिये, कारणकि मैं भगवान्का हूं इसलिए, भगवान्के चरित्र सुनने, यही मेरा कर्त्तव्य है. श्लोकमें 'कृष्ण विचेष्टितम्' पदका भावार्थ बताते हैं, कि कृष्ण सदानन्द स्वरूप होनेसे 'स्वतन्त्र'[१] फलरूप है. वे स्वयं तथा उनकी लीलाएं भी फलरूप हैं जैसा कि श्रुति भगवती कहती है.''**कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृत्ति वाचकः, तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते**'' 'कृष्ण' शब्दमें जो 'कृष्'धातु है, उसका अर्थ है सदा ही मौजूद रहना और 'ण' का अर्थ है 'आनन्द', दोनोंके मिलानेसे हो जाता है 'सदानन्द', जिसका भाव यह है, कि जो स्वरूप सदा ही आनन्दरूप है, वही 'कृष्ण' परब्रह्म है, यों वेदोंमें कहा गया है. इसी कारणसे उनकी लीलाएँ भी सदानन्दरूप ही हैं, जिससे वे भी फलरूप ही है, अतः सब चरित्र कहिये. आपसे इस प्रकार इसलिए पूछता हूं कि आप ही चरित्रोंके मर्मको जाननेवाले हो. मैं तो भगवान्के चरित्रमात्रमें श्रद्धा रखनेवाला हूं. वह चरित्र वीर्य आदिसे रहित हो तो भी उसके सुननेमें मेरी पूर्ण श्रद्धा है. अतः भगवान् कृष्णका जो चरित्र वीर्य रहित हो वह भी विस्तारके साथ कहिये. वीर्य[२], सर्वगेय[३], अलौकिक वीर्य[४], और अगेय[५], ये श्रीकृष्णके चार प्रकारके चरित्र हैं, वे सब विस्तारसे कहिये ।।१२।।

१.श्रीकृष्णके सिवाय अन्य फल परतन्त्र हैं कारण कि वे साधनों द्वारा प्राप्त होते हैं,

श्रीकृष्ण तो बिना साधनसे स्वयं (स्व-कृपासे) अपनी प्राप्ति कराते हैं. जैसे कि ''यमे वैषवृणुते तेन लभ्यः'' इस श्रुतिमें कहा है, यह परमात्मा जिस जीवका स्वीकार करते हैं वह जीव ही भगवान्को पा सकता है. अतः श्रीकृष्णको स्वतन्त्र फलरूप कहा गया है. (अनुवादक)

२. 'तत्रांशेनावतीर्णस्य' इस श्लोकमें श्रीकृष्णके वीर्यों का प्रश्न है.

३. 'अवतीर्य यदोर्वंशे' इस श्लोकमें श्रीकृष्णके सर्वगेय चरित्रोंका प्रश्न है.

४. 'वीर्याणि तस्य' इस श्लोकमें श्रीकृष्णके अलौकिक वीर्योंके चरित्रोंका प्रश्न है.

५. ''रोहिण्यास्तनयः प्रोक्तः'' इस श्लोकमें श्रीकृष्णके अज्ञेय चरित्रोंका प्रश्न है.

आभास : इस प्रकार १२ श्लोकोंमें भगवान्के चरित्र विषयक प्रश्न किये, जिससे यह बताया कि आपको वे चरित्र मुझे सुनाने चाहिए, यदि नहीं सुनाओगे तो प्राणोंमें बाधा पहुंचेगी. इसका वर्णन करते हैं:

नैषाऽतिदुःसहा क्षुन्मां त्यक्तोदमपि बाधते ।।
पिबन्तं त्वन्मुखाम्भोजच्युतं हरिकथामृतम् ।।१३।।

श्लोकार्थ : यद्यपि क्षुधा और तृष्णा सही नहीं जाती है, किन्तु जलका भी त्याग करनेवाले मुझे वह क्षुधा कुछ दुःख नहीं दे सकती है, कारण कि मैं आपके मुखरूप कमलसे द्रवित हुए कथारूप अमृतका पान कर रहा हूं।।१३।।

व्याख्यार्थ : राजा परीक्षितने इस श्लोकमें यह जो कहा है कि मुझे जो सर्वथा सहन नहीं की जा सकती है, ऐसी क्षुधा भी नहीं सताती है, यह कहनेका भावार्थ यह है कि राजाको भगवान्के चरित्र सुननेकी अन्तःकरणमें अत्यन्त आर्ति थी, जिससे यह बताया कि मुझे देह रक्षाका विचार नहीं है, इसलिये अन्नके अभावमें, जल, क्षुधा और प्यास दोनोंको शान्त करता है, तथा देहकी भी रक्षा कर सकता है. मैंने तो वह जल भी छोड़ दिया है. यह कहना सूचित करता है कि राजा परम उत्तम अधिकारी है.

प्यास न कहकर केवल क्षुधा कहनेका यह आशय है कि क्षुधा शत्रु है, क्योंकि शत्रुके समान अवश्य दुःख देनेवाली है, अतः शीघ्र बाधा करती है. इसलिए 'बाधते' यह वर्तमान कालका प्रयोग किया है. शुकदेवजीके मुखको अम्भोज(कमल) कहनेका आशय यह है कि उस(मुख)से अमृत बह रहा है. कथा कहनेवाले शुकदेवजी आप उस अमृतको समझकर नहीं बहाते हैं किन्तु भगवान्के चरित्र ही ऐसे हैं जो कहनेवालेको परवश कर देते हैं. जिससे कथा कहनेके समय कथारसमें मग्न होनेसे क्या हो रहा है? या क्या कर रहा हूं? यह

ज्ञान उस(वक्ता)को नहीं रहता है, अतः श्लोकमें 'च्युत' शब्द दिया है, जिसका भाव है कि वह कथारूप अमृतरस, मुखसे स्वयं बहा जा रहा है. जैसे परिपक्व फल पेड़से स्वयं गिर पड़ता है, ऐसा रस मैं पान कर रहा हूं, अर्थात् केवल श्रवण नहीं करता हूं किन्तु पानकर अन्तःकरणमें धारण कर रहा हूं, जिससे सदैव स्मरण रहे. यहां भी 'पिबन्तं' वर्तमान कालके प्रयोग करनेका आशय यह है कि मैंने जो चरित्र पहिले सुने हैं वे भी मुझे पूर्ण रीतिसे अब स्मरण है. अन्य टीका करनेवालोंकी यह सम्मति है कि यह वर्तमानकालकी क्रिया परीक्षितने इस आशासे दी है कि शुकदेवजी शीघ्र भगवान्के चरित्र सुनाएंगे. यद्यपि बहुत करके भगवान्का 'हरि' नाम दुःखहर्ता अर्थमें प्रसिद्ध है तो भी यहां हरि शब्द आनन्दरूप और चेतनरूपके प्रकाशक है, इसलिए दिया है. अर्थात् भगवान् एवं उनके चरित्रोंमें आनन्द और चेतन, दोनों गुण मौजूद है. विशेषता यह है कि हरिकथा अमृत ही है. किञ्च यहां अमृतसे रुढि अर्थवाला अमृत जो देव पीकर अमर बने हैं, वह अमृत नहीं समझना चाहिए किन्तु उसका यौगिक अर्थ समझना, अर्थात् जिसके पान करनेसे मोक्ष प्राप्त होता है, उस मोक्षसे जन्म मरण सदा के लिए नष्ट हो जाते हैं. अतः आप ही सच्चिदानन्दात्मक कथा सुनानेसे हमारे मोक्ष दाता हो. इस प्रकार कथाके वक्ता(श्रीशुकदेवजी)की स्तुति की है ।।१३।।

आभास : सूतजी, शौनक आदि ऋषियोंको कथा सुनानेकेलिए निम्न श्लोकसे सावधान करते हैं:

सूत उवाच

एतं निशम्य भृगुनन्दन साधुवादं वैयासकिः स भगवानथ विष्णुरातम् ।
प्रत्यर्च्य कृष्णचरितं कलिकल्मषघ्नं व्याहर्तुमारभत भागवतप्रधानः ।।१४।।

श्लोकार्थ : हे भृगुको आनन्द देनेवाले शौनकजी ! इस सुन्दर भगवान्के सम्बन्धवाले चरित्रोंके प्रश्नोंको सुनकर भगवद्भक्तोंमें श्रेष्ठ एवं प्रशंसित श्रीशुकदेवजीने भगवान्से रक्षा पाए हुए परीक्षितका अभिनन्दनकर कलिके मलको नाश करनेवाले श्रीकृष्णके चरित्र कहने प्रारम्भ किये।।१४।।

व्याख्यार्थ : श्रोता तथा वक्ता आपसमें जो अभिनन्दन करते हैं उससे हृदयमें अर्थकी होती है, कारण कि श्रोताको वक्ताकी योग्यता मालूम होनेसे उसको निश्चय होता है कि यह जो कहेंगे वह सत्य ही कहेंगे. इस प्रकार वक्ता भी श्रोताकी योग्यता देखकर समझता है कि मैं जो कुछ कहूंगा वह पूर्णरूपसे

समझकर यह धारण करेगा. जिससे वक्ता गुह्य भी कहनेमें संकोच नहीं करता है और श्रोता ध्यान देकर श्रवण करता है. श्रीशुकदेवजी जो चरित्र वर्णन करने लगे उनका मूल कारण परीक्षितका प्रश्न है. इसलिए श्लोकमें 'एतम्', इस प्रश्नको, शब्द कहा है. बार-बार पूछनेसे वक्ताके चित्तमें उद्वेग होता है, यदि वह प्रश्न आक्षेपसे किया जाय तो वक्ताको क्रोध भी आता है. 'निशम्य' शब्द देकर इन दोनों(व्याकुलता एवं क्रोध)को मिटाया है. 'निशम्य' पदमें दो शब्द है एक 'नि', दूसरा 'शम्य'. जिनके कहनेका भावार्थ यह है कि श्रीशुकदेवजीने परीक्षितके प्रश्नको शान्तिसे सुना और प्रश्नोंके अर्थ तथा अभिप्रायको समीचीन समझा. और यह भी जाना कि परीक्षित ये प्रश्न चालाकीसे नहीं करता है किन्तु चरित्र श्रवणकी उत्कट इच्छासे भाव एवं श्रद्धापूर्वक करता है. शौनकको भृगुनन्दन कहा, उसका भाव यह है कि उससे शौनकको सूचित किया कि मैं जो कहता हूं उसमें विश्वास रखना, क्योंकि भृगु विश्वास रखते थे. आप भी उसके पुत्र हो अतः आपको भी विश्वास रखना चाहिए.

श्रीशुकदेवजीने परीक्षितके प्रश्न प्रेमसे शान्तिपूर्वक सुनें. उसका कारण 'साधुवादं' विशेषणसे बताते हैं कि परीक्षितके जो प्रश्न थे उनमें भगवच्चरित्ररूप सुन्दरवाद था. जिन महानुभावोंके हृदयसे संसारका प्रेम निकल गया है, वैसे लोग जब परस्पर मिलते हैं तो, सिवाय भगवान्के चरित्रोंके कहनेके अन्य किसी प्रकारकी बातचीत नहीं करते हैं. परीक्षितने भी जो प्रश्न किये हैं वे भी भगवच्चरित्रसे सम्बन्ध रखनेवाले होनेसे 'साधुवाद' ही है. भगवद्भक्त जब भी मिलें तब उनको ऐसे ही प्रश्न पूछने चाहिये. व्यासजीने भी महान् कष्टसे भगवान्के गुणोंको प्रतिपादन करनेवाला यह शास्त्र बनाया है और ऐसे शास्त्रके प्रचार करनेकेलिए श्रीशुकदेवजी प्रवृत्त हुए हैं. इस प्रकार महान् कष्टसे जिन भगवान्के गुणों और चरित्रोंका प्रतिपादन हुआ है और जिनके प्रचारकेलिए शुकदेवजी जैसे वीतराग, निरपेक्ष मुनि सन्नद्ध हुए हैं, उन चरित्रोंको 'साधुवाद'की अपेक्षा होती ही है अर्थात् उनका 'साधुवाद' करना ही चाहिये.

शुकदेवजीकेलिए यहां दो विशेषण दिये है, एक 'वैयासकिः', दूसरा 'स भगवान्'. उनके देनेका भाव बताते हैं कि जब भगवान्के चरित्र सहज समझमें आ जावें वैसे नहीं हैं, तब उनका उत्तर किस प्रकार दिया जायेगा? ऐसी शंका करना व्यर्थ है क्योंकि उनका उत्तर देनेवाले व्यासजी, (जिन्होंने समाधिमें अनुभवकर

चरित्रोंका प्रतिपादन किया है) उनके पुत्र हैं. इस कारणसे श्रीशुकदेवजी उत्तर दे सकते हैं और आपके साथ भगवान्[1] भी हैं, वे ही अन्तःकरणमें स्थित होकर उत्तर दे रहे हैं. स्वयं भगवान् शुकदेवजीके हृदयमें विराजमान होकर उत्तर देते हैं, उसका क्या कारण है? इस शंका निवारणकेलिए श्लोकमें प्रश्नकर्त्ता परीक्षितकेलिए 'विष्णुरातं' विशेषण दिया है, जिसका भाव है कि जिसको भगवान्ने गर्भमें इसलिए रक्षा की थी कि इसको मैं अपने चरित्रोंको सुनाकर अपना पूर्णज्ञानी भक्त बनाकर मुक्त करूंगा. तात्पर्य यह है कि गर्भमें शत्रुसे जैसे रक्षाकर परीक्षितको बचाया वैसे ही अब भगवान्ने संसाररूप शत्रुसे बचाकर सदाकेलिए उसको अमर बनाते हुए अपना ब्रह्मानन्द दिया.

१. श्रीलालू भट्टजीने योजनामें कहा है कि नवम स्कन्ध तक तो श्रीशुकने चरित्र कहे. अब जो चरित्र कहे जायेंगे वे भगवान् स्वयं कहेंगे. कारण कि लीला पुरुषोत्तमकी लीलाओंको आप (पुरुषोत्तम) ही जान सकते हैं. जैसे कि गीतामें कहा है. ''न मे विदुःसुरगणा प्रभवं न महर्षयः'', मेरी महिमाको देवगण और महर्षि भी नहीं जान सकते हैं. दशम स्कन्धमें तो उस पूर्णपुरुषोत्तम स्वरूपकी लीलाओंका वर्णन है उसका वर्णन शुक भी नहीं कर सकेंगे. अतः भगवान्ने स्वयं शुकके अन्तःकरणमें विराजमान् होकर अपने चरित्र कहें. शुकदेवजी शंकरका रूप है. शंकर भगवद्भक्त वैष्णव है, इसलिए वैसेके हृदयमें भगवान् बिराजे हैं. यह योग्य ही है.

श्लोकमें 'अर्थ' पद देकर यह बताया है कि अब तक तो श्रीशुकदेवजी कह रहे थे. इसके बाद जो चरित्रोंका वर्णन होगा वह भगवान् करेंगे. यदि भगवान् वैसे स्वयं चरित्र कहकर परीक्षितकी रक्षा नहीं करते तो पुरुषार्थकी सिद्धि नहीं होती, जिससे रक्षा करनी व्यर्थ सी हो जाती. परीक्षितके प्रश्नोंके भावको विचारते हुए शुकदेवजी उसमें मग्न हो गये, जिससे प्रश्नोंकी उत्कृष्टता समझ राजाकी प्रशंसा करनेसे उसका अभ्यर्चन किया. परीक्षितने तो प्रथम ही शुकदेवजीका अभ्यर्च किया है. इस प्रकार श्रोता तथा वक्ताका परस्पर अभ्यर्चन शास्त्रोंसे सिद्ध है. भगवान्के गुण तथा भगवान्, दोनों पूजाके योग्य हैं. वे भगवान्के गुण दोनों, राजा तथा श्रीशुकदेवजीमें प्रविष्ट हुए हैं. अतः दोनोंने परस्पर पूजा की. यों करनेकी 'योऽन्योऽन्यतो भागवता' इस वाक्यमें आज्ञा है. इस उद्योगका फल 'कृष्ण' ही है. इसलिए फलरूप श्रीकृष्णके चरित्र जो भी फलरूप होनेसे अलौकिक हैं, उनको ही राजाने पूछा है. राजाने पूछा वह तो अच्छा किया. किन्तु उसके सुननेमें यदि पाप प्रतिबन्धक होंगे जिससे श्रवणमें श्रद्धा नहीं होगी. इस

शंकाके समाधानकेलिए 'कलिकल्मषघ्नं' पद श्लोकमें दिया है, जिसका तात्पर्य यह है कि कलियुगके दोष जो भगवत् गुणके श्रवणमें प्रतिबन्धक होते हैं उनको भगवान्के चरित्र नष्ट करनेवाले हैं. अन्य उपाय तो इस युगमें प्रतिबन्धोंको नष्ट करनेमें असमर्थ हैं, केवल भगवच्चरित्र उनका नाश कर सकते हैं. यदि वे भी असमर्थ होते तो इस युगमें धर्ममें प्रवृत्ति तथा मोक्षकी प्राप्ति सर्वथा न हो सकती. यह कहनेका सारांश यह है कि भगवच्चरित्र, कलिके सर्व प्रकारके मल नष्ट करनेवाले हैं, जिससे भगवच्छ्रवणमें पापादि प्रतिबन्धक नहीं होते हैं और श्रद्धा बनी रहती है. शुकदेवजीने महान् उत्साहसे एवं उत्तम ढंगसे जो चरित्र वर्णनका प्रारम्भ किया उसका कारण यह है कि कथाके श्रोताओंमें भगवद्भक्त ही प्रधान थे. शुकदेवजीने भी उनसे विशेष रस पानेकी इच्छासे उत्साहपूर्वक विशेषरूपसे चरित्र वर्णन करनेका प्रारम्भ किया. इस कथारसमें मग्न श्रीशुकदेवजी मननका त्यागकर केवल कथा(भगवान्के चरित्रोंका वर्णन) ही करने लगे. कथा (भगवद् गुणानुवाद)को ही प्रधानता दी, ज्ञानादिकको प्रधानता नहीं दी ।।१४।।

आभास : श्रीशुकदेवजी राजाको अपने समान शील तथा व्यसनवाला देखकर दो श्लोकोंसे राजा और उसके प्रश्नोंका अभिनन्दन करते हैं:

श्रीशुक उवाच

सम्यग्व्यवसिता बुद्धिः तव राजर्षिसत्तम ।
वासुदेवकथायां ते यज्जाता नैष्ठिकी रतिः ।।१५।।

श्लोकार्थ : श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि हे राजर्षियोंमें भी अत्यन्त श्रेष्ठ ! वासुदेवकी कथा श्रवणमें आपकी निश्चयात्मक प्रीति हुई है, आपकी बुद्धिने यह अच्छा निश्चय किया है।।१५।।

व्याख्यार्थ : भगवान्में लय हो जानेसे पहिले ही यदि बुद्धि स्थिर हो जाय उसकी चञ्चलता मिट जावे तो यह सबसे उत्तम है. आपकी बुद्धिने जो यह दृढ़ निश्चय कर लिया है कि, भगवान्की कथाके सिवाय दूसरा कुछ भी नहीं सुनना वह उत्तम है. आपको बुद्धिके दृढ़ निश्चय जैसा निश्चय ब्रह्मर्षियोंको भी दुर्लभ है. अतः आप राजर्षिसत्तम हो. अपनी प्रजाके पालनरूप धर्ममें निष्ठावाला लौकिक रीतिसे केवल राजा कहलाता है, प्रजापालनके साथ वैदिकधर्ममें निष्ठावालेको 'राजर्षि' कहते हैं, इन दोनों गुणोंके साथ यदि वह भगवत्धर्ममें निष्ठावाला होता है तो उसको 'राजर्षिसत्तम' कहते हैं. आपका तो उससे भी उत्कर्ष है क्योंकि

भगवान्ने आपका अङ्गीकार भी किया है. इस कारणसे भगवान्में लय होनेसे प्रथम आपकी ऐसी दृढ़ बुद्धि होनी योग्य ही है. बुद्धिके दृढ़ हुए बिना भगवान्की प्राप्ति नहीं होती है. स्थिरबुद्धिसे भगवत्प्राप्ति होती है, तब इस बुद्धिका लय भगवान्में हो जाता है और भगवद्भक्तको अलौकिक देहकी प्राप्ति होती है. इसलिए आचार्यश्रीने कहा है कि भगवान्में लय होनेसे पूर्व ही स्थिर बुद्धि होनी चाहिये. निश्चय दो प्रकारसे होता है, एक, शास्त्रमें कहे हुए जीवको, भगवान्की भक्ति करनी चाहिये, ऐसे उपदेशको सुनकर और दूसरा अपनी सहज रुचिसे निश्चय करना. इन दोनोंमें पहिला शास्त्र सुननेसे निश्चय होना 'मध्यम' मर्यादा निश्चय है और सहज रुचिसे दृढ़ बुद्धि होना(उत्तम) पुष्टिमार्गीय निश्चय है. आप तो उत्तम हो कारण कि आपकी भगवान्के कथाके श्रवणमें दृढ़ बुद्धिवाली रति स्वभाव सिद्ध है. जिसको कोई बदल नहीं सकता है, क्योंकि प्रेम उस निश्चयको अच्छे प्रकारसे स्थिर करनेवाला है. उस स्थिर निश्चयसे कथा श्रवणमें रति बढ़ती रहती है. श्लोकके पूर्वार्द्धमें कहे हुए दोनों कारण राजाके अभिनन्दनकेलिए कहे गये हैं. भगवान्के चरित्रोंके श्रवणमें रति अर्थात् प्रेमका होना दुर्लभ है. दुर्लभ होते हुए भी आपका जो श्रवणमें प्रेम हुआ है उसका कारण बुद्धिकी स्थिरता है. सभामें यद्यपि देवर्षि, ब्रह्मर्षि और राजर्षि ये सब उपस्थित हैं तो भी आपको ही वैसा प्रेम कथा श्रवणमें हुआ है और साधन तथा फल भी आपको सिद्ध हो गये हैं अतः आप सत्कार करने योग्य हैं. आप(राजा परीक्षित)का स्वरूप क्या है? इसका ज्ञान आपके किये हुए प्रश्नसे हो जाता है. आपको धन्यवाद करनेसे प्रश्नकी स्तुति होती है अर्थात् प्रश्नकी ही प्रशंसा की है ।।१५।।

आभास : श्रीशुकदेवजी निम्न श्लोकसे दूसरे प्रकारसे प्रत्यक्ष प्रश्नकी स्तुति करते हैं:

वासुदेवकथाप्रश्नः पुरुषान् त्रीन् पुनाति हि।
वक्तारं पृच्छकं श्रोतन् तत्पादसलिलं यथा ।।१६।।

श्लोकार्थ : वासुदेवकी कथाका प्रश्न करनेवाले, उत्तर देनेवाले तथा सुननेवाले इन तीन प्रकारके पुरुषोंको वैसे ही पवित्र करता है, जैसे श्रीगंगाजी, ब्रह्मा, महादेव और भगीरथ इन तीनोंको पवित्र कर रही हैं।।१६।।

व्याख्यार्थ : वासुदेव शब्दका अर्थ मोक्ष है, अतः उनसे सम्बन्धवाले जो भी पदार्थ हैं वे सब, पवित्र करनेवाले ही होते हैं. उसमें भी वासुदेवकी कथा तो

उससे सम्बन्ध रखनेवाले गुण तथा दोषोंवाली होते हुए भी, भगवान्में आग्रह पूर्वक विश्वास उत्पन्न करती है. जैसे कि लोकदृष्टिमें पूतना वध आदि गुण हैं, और मामाका वध दोष है. इन चरित्रोंकी श्रवणजिज्ञासा भी उस श्रद्धाको दृढ़ करनेमें कारण होती है. क्योंकि उन चरित्रोंके श्रवणसे, यथार्थ ज्ञान होता है, जिससे भगवान्में श्रद्धायुक्त और आग्रही मन होता है. जहां कथाका प्रसङ्ग होता है वहां एक प्रश्नकर्ता, कोई श्रोता और कोई वक्ता(उत्तरदाता), इस प्रकार तीन पुरुष होते ही हैं. यदि वक्ता भगवान्के गुणोंका ज्ञाता होकर भी जब तक मौन धारण करता है, समझना चाहिये कि यह मौन पापोंके कारण है, पाप उसको बोलने नहीं देते हैं. भगवान्की कथासे सम्बन्धवाला प्रश्न, पापोंका नाश करता है, तथा गुणोंका उद्भव करता है किन्तु यह प्रश्न वह कर सकता है जिसके पाप नाश हो गये हैं. श्रोताओंमें जब तक पाप विद्यमान् हैं तब तक उनके मनकी भगवान्में आसक्ति नहीं होती है. जब कथा सम्बन्धी प्रश्न होते हैं, तब उनके सुननेसे श्रोताओंके पाप नाश हो जाते हैं और कथामें मन लगता है. मनमें प्रश्न करनेकी इच्छा हो किन्तु जब तक मुखसे वह प्रश्न नहीं निकलता है समझना चाहिये कि तब तक पाप विद्यमान् है. जब प्रश्न मुखसे बाहिर निकलता है तब उसके पापोंको भी नष्ट करता है. अतः तीन पुरुषोंको पवित्र करता है. यह कहना योग्य है. तीन पुरुष कहनेका तात्पर्य १.प्रश्नकर्ता, २.वक्ता और ३.श्रोतासे है, न कि पिता, पितामह और प्रपितामह इन तीन पुरुषोंसे हैं.

वक्ता एवं प्रश्नकर्ता भी श्रवण करनेसे श्रोता ही हैं, किन्तु निमित्तकारण सबके भिन्न-भिन्न हैं. निमित्त ही प्रयोजक कहा गया है. कथा तीन पुरुषोंको पवित्र करती है. 'पुरुष' शब्दका अर्थ यहां भी वह लेना चाहिये जो 'निवृत्ततर्षैः' श्लोकमें कहा है. उस श्लोकमें पुरुष उसको कहा है कि जो पशु तथा स्त्रीजीव नहीं होवे, शेष सर्व, पुरुष हैं. इस प्रकारके पुरुष ही श्रवण करनेसे पवित्र होते हैं, असुर पवित्र नहीं होते. अन्य किसी कार्य करनेकेलिए आते हैं, वे भी पवित्र नहीं होते हैं. पवित्रता अनेक प्रकारकी होती है, यहां कथाश्रवणसे जिस प्रकारकी पवित्रता होती है, वह गंगाजीका दृष्टान्त देकर समझाते हैं. १.जैसे गंगाजल पवित्र करता है, वैसे ही प्रश्न भी पवित्र करता है. किस स्थल पर प्रश्न उत्पन्न हुआ हो, किसी वक्ताको प्रेरणा हुई हो अथवा कोई सुननेकी इच्छासे सन्मुख आया हो, केवल इतना ही करनेसे फलकी सिद्धि नहीं होती है. किन्तु फलकी सिद्धि तब

होती है, जब वह कथा सबके चित्तको एकनिष्ठ करती है, तब ही सफलता मिलती है. गंगाजी पहिलेके सम्बन्धी पापोंको तथा उनके कार्योंका नाशकर साक्षात् भगवान्की सेवाके योग्य शरीरको बनाती है. अर्थात् जिस शुद्धिसे भगवान्की सेवाकेलिए उपयोगी चित्त बने, वैसी उतनी शुद्धि करती है. कथाकी भांति गंगाजी भी तीन पुरुषोंको पवित्र करती हैं अर्थात् १.तीन लोकोंमें स्थित जीवोंको पवित्र करती हैं अथवा सात्त्विक आदि भेद करके भिन्न-भिन्न पुरुषोंको पवित्र करती हैं, २.दोनों तीरों पर स्थित तथा ३.जलमध्यमें स्नानार्थ एवं पानार्थ स्थित तीनको पवित्र करती हैं. एवं ब्रह्मा, महादेव और भगीरथ तीनोंको पवित्र करती हैं. इसी प्रकार कथा भी त्रिविध दैवीजीवोंको शुद्धकर उनकी देहको भगवान्की सेवामें उपयोगी बनाती है ।।१६।।

आभास : भगवान्से इस सम्बन्ध होनेके कारण प्रश्नकी प्रशंसाकर भगवान्के अवतारधारणके प्रयोजनका ज्ञान हो इसलिए कथाका प्रारम्भ करते हैं:

भूमिर्दृप्तनृपव्याज-दैत्यानीकशतायुतैः।
आक्रान्ता भूरिभारेण ब्रह्माणं शरणं ययौ ।।१७।।

श्लोकार्थ : छलसे, अभिमानी राजाओंके रूपमें उत्पन्न असंख्य दैत्योंकी सेनाके दश-सहस्र सेनाओंके विशेष बोझसे आक्रान्त भूमि ब्रह्माके शरणमें गई।।१७।।

भक्तानां दुःख नाशाय कृष्णावतरणं मतम्।
भूमिर्माता तथा चान्ये भक्ता वै त्रिविधा मताः ।।कारि.१।।
सर्वेषां महद्दुःखं नान्येन विनिवार्यते।
यदा तदा हरिः कृष्णः प्रादुरासीद् इति स्थितिः ।।कारि.२।।

कारिकार्थ : श्रीकृष्ण स्वरूपसे प्राकट्य भक्तोंके दुःखका नाश करने केलिए होता है. वे भक्त तीन प्रकारके माने गए हैं. १.भूमि, २.माता और ३.अन्य. ये तीन प्रकारके भक्त हैं।।१।।

समस्त भक्तोंको जो महान् दुःख था वह दूसरे साधनादि नहीं मिटा सके, तब दुःख हरण करनेवाले हरि, श्रीकृष्णस्वरूपसे प्रकट हुए. यही प्रादुर्भावकी मर्यादा है।।२।।

व्याख्यार्थ : श्रीकृष्णके सिवाय किसी भी साधनादिसे भक्तोंके सम्पूर्ण दुःखोंकी निवृत्ति नहीं होना ही श्रीकृष्णके प्राकट्यका कारण है. अर्थात् जब सर्व

साधनादि भक्तोंके दुःखका निवारण करनेमें असमर्थ हो जाते हैं, तब आप (श्रीकृष्णचन्द्र)को भक्त दुःख निवारणकेलिए प्रकट होना पड़ता है. आप ही लीलाओं द्वारा भक्तोंके दोषोंकी निवृत्ति कर, उनके सर्व दुःख मिटाते हैं. तृतीय स्कन्धमें भगवान्के प्राकट्यका कारण–

''स्वशान्तरूपेष्वितरैः स्वरूपैर् अभ्यर्द्य–मानेष्वनुकम्पितात्मा।
परावरेशोमहदंशयुक्तो ह्यजोऽपि जातो भगवान् यथाऽग्निः''।।

इस श्लोकमें कहा है कि पर तथा अवरके ईश भगवान् अशान्तरूपोंसे जब अपने शान्त रूपोंको पीड़ित देखते हैं, तब दयायुक्त अन्तःकरणवाले प्रभु अजन्मा होते हुए भी महदंशोंसे युक्त होकर जिस भांति काष्ठसे अग्नि प्रकट होती है, वैसे ही आप प्रकट होते हैं. इस प्रकार भक्तके दुःख निवारणकेलिए भगवान् प्रकट होते हैं. परीक्षितने इसको सुनकर भी यहां पुनः प्रश्न क्यों किया? यह शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि यहां उद्धारके विषयका निर्द्धार कराना है, इसलिए पुनः प्रश्न किया है.

भगवान्के प्राकट्यके कारण अनेक होते हुए भी दो कारण मुख्य कहे जाते हैं. १.मर्यादा और २.पुष्टि. जब भक्त दुःखी होते हैं और उनके दुःख साधनोंसे अथवा अन्य देवोंसे नहीं मिट सकते हैं, तब स्वयं श्रीकृष्ण प्रकट होते हैं. यह प्राकट्य शास्त्रीय प्रमाणानुसार है. अतः यह मर्यादाका प्राकट्य है और जहां अन्य प्रकारसे भक्त दर्शनार्थ प्राकट्य होता है, वह पुष्टि है. जैसे कि जब भक्त दर्शनार्थ प्रार्थना करते हैं, तब शीघ्र वहां प्रकट हो भक्तोंको दर्शन देकर उनको आनन्दित करते हैं, जैसे प्रह्लादजी तथा नारदजीको. इसलिए नारदजीने कहा है कि ''आहूत इव मे शीघ्रं दर्शनं याति चेतसि''. अर्थ – मैं जब भगवान्को बुलाता हूं तब मुझे चित्तमें दर्शन हो जाते हैं और प्रह्लादको सर्वदा ही दर्शन होते हैं. यह तृतीय स्कन्धमें कहा है ।।१–२।।

ये भक्ताः शास्त्ररहिताः स्त्री–शूद्र–द्विजबन्धवः।
तेषाम् उद्धारकः कृष्णः स्त्रीणाम् अत्र विशेषतः ।।कारि.३।।

कारिकार्थ : जो भक्त शास्त्रोंमें लिखे हुए साधनोंको नहीं कर सकते हैं उनका, तथा स्त्री, शूद्र और द्विज बन्धुओंका उद्धार करनेवाले तो श्रीकृष्ण ही हैं और इस श्रीकृष्ण अवतारमें स्त्रियोंका उद्धार विशेषतासे किया है।।३।।

व्याख्यार्थ : प्रथम कारिकामें 'अन्ये' शब्दसे भूमि और माताके सिवाय

जो तीसरे प्रकारके भक्त कहे हैं, उनका स्पष्टीकरण यहां करते हैं. जैसे कि आरम्भमें भूमिने गौरूप धारण किया, अन्य जो शास्त्रीय साधनोंसे रहित हैं, मध्यमें उनका कथन है, तथा अन्तमें 'माधव्योलोके' श्लोकमें माधविआ परमगतिको प्राप्त हुई का वर्णन है. इस वर्णनसे सिद्ध होता है, कि यह स्वरूप स्वयं भगवान् थे. अतः इस स्वरूपमें सदैव सर्व सम्पूर्ण शक्तियोंका समावेश रहता है, जिससे आपने सर्व प्रकारके जीवोंका अर्थात् स्त्री, शूद्र तथा द्विजबन्धु, आदिका उद्धार किया है, उसमें भी स्त्रियोंका विशेषतः उद्धार किया है. स्त्रियोंका विशेष करके उद्धार करनेसे, यह बताया है, कि स्त्रियां सबसे विशेष साधन करनेमें असमर्थ होती हैं. ऐसी स्त्रियोंका भी उद्धारकर आपने अपने निःसाधनोद्धारकत्वकी पराकाष्ठा सिद्ध की है. अन्य अवतारोंमें जो शबर, किरात् आदिका उद्धार हुआ है वह भी कृष्ण स्वरूपसे ही हुआ है. क्योंकि जो उद्धारके योग्य नहीं तथा साधनहीन हैं, उनका उद्धार प्रमेयबलसे ही होता है. वह प्रमेयबल पुरुषोत्तम स्वरूप श्रीकृष्णमें ही विद्यमान् है ।।३।।

येषां निरोधकं शास्त्रं योगादिविनिरूपितम्।
शेषभावस्तत्र हरेर्न कदाचिद् गमिष्यति ।।कारि.४।।

कारिकार्थ : जिन(जीवों)का निरोध करनेवाले योगादि साधन हैं, उन साधनोंमें भी हरि साधनरूप होते हैं, उनसे वह साधनपन कभी भी नष्ट नहीं होगा।।४।।

व्याख्यार्थ : साधन करनेवाले जीवोंके आप उद्धारक किसलिए नहीं होते हैं? इस शंकाका समाधान इस कारिकामें किया गया है.

जो जीव योग आदि शास्त्रीय साधनोंसे 'निरोध' सिद्ध करना चाहते हैं, उनसे साधन करनेवालोंका केवल चित्तकी वृत्तियोंका निरोध होता है, उस साधनमें ध्यान करते समय भगवान्के स्वरूपका ध्यान करना पड़ता है, अर्थात् वे साधन करनेवाले चित्तकी वृत्तियोंका निरोध करनेकेलिए भगवान्को साधन बनाते हैं और चित्तकी वृत्तियोंके निरोधको साध्य(फलरूप) समझते हैं. अतः ऐसे ससाधन(साधन सहित) जीवोंको भगवान् अनुपम, पुष्टिमार्गीय निरोधका दान, निःसाधन जीवोंके समान नहीं देते हैं. यह फल तो, जो जीव सर्व साधनोंका बल त्यागकर, भगवदाश्रय लेते हैं, उनको ही कृपानिधि, अपने प्रमेयबलसे दान करते हैं. ससाधन तो अपने साधनबलसे चित्तवृत्ति 'निरोधरूप' फलको जैसे-तैसे प्राप्त

करते हैं. इस निरोधसे संसार विस्मृतिपूर्वक भगवदासक्तिरूप निरोध विशेष है. वह निरोध योगियोंको प्राप्त नहीं होता है. योग आदि साधन करनेवाले पुरुषोंमें हरिको साधन बनानेके कारण उनकी गौणता बनी रहती है ।।४।।

संसारदुःखव्यावृत्यै निरोधोऽत्र निरूप्यते ।
अतो निरोधो ज्ञानात्मा दुःखरूपा च संसृतिः ।।कारि.५।।
एवम् एकं फलं प्रोक्तं द्वयं वा न विरुद्ध्यते ।
साङ्गस्य प्रक्रिया युक्ता ततः स्कन्धोऽपि युज्यते ।।कारि.६।।

कारिकार्थ : साधन द्वारा निरोध चाहनेवालोंके मतमें, संसारके दुःखोंके नाशकेलिए, निरोध कहा गया है. अहंता–ममतात्मक संसार अविद्याके कारण उत्पन्न होता है. अतः उस अविद्याके नाशार्थ ज्ञानकी आवश्यकता है, क्योंकि अज्ञानका नाश ज्ञानसे ही होता है. इसलिए इस मतमें 'निरोध' ज्ञानरूप है. किञ्च भक्तिमार्गमें संसार भी लीलारूप होनेसे सुखरूप है. इस कारणसे भी इनमें वैलक्षण्य है. इस प्रकार भिन्नताके कारण निःसाधन ही भगवान्केलिए उद्धारके विषय हैं. निःसाधन फलात्मा पुरुषोत्तमका प्राकट्य निःसाधन भक्तोंकेलिए ही है।।५।।

इस प्रकार एक फल कहा अथवा दो फल हो तो भी विरोध नहीं है. अंग सहित जो क्रिया कही गई है वह योग्य ही है. इससे दशम स्कन्धकी योजना पूर्ण हो सकती है।।६।।

व्याख्यार्थ : निःसाधन भक्तोंका एक ही फल अहन्ता ममतात्मक संसारकी विस्मृतिपूर्वक भगवान्की प्राप्तिरूप, जो कि भगवान्का प्राकट्य खास निःसाधनोंकेलिए ही हुआ है, तो भी सर्वोद्धारक होनेसे ससाधनोंको भी संसारके दुःखोंकी निवृत्तिरूप फल आप ही देते हैं. इसलिए कारिकामें ''द्वयं वा न विरुद्ध्यते'' कहा है. कारण कि भगवान्ने ससाधनोंका केवल दुःखरूप संसार ही नाश कराकर निरोध किया है और किसीको(निःसाधनोंको) जगत्में लीलारूप दृष्टि देकर संसारको सुखरूप बनाते हुए अपनेमें आसक्ति कराई है. यह निरोध निःसाधनोंका विलक्षण है. इस भांति अधिकारी भेदसे, पृथक् फल देनेसे, कोई विरोध नहीं है. आपका प्राकट्य 'निरोध' करानेकेलिए ही हुआ है. अतः दशम स्कन्धमें सांगलीला(समग्र अंग सहित लीला अर्थात् पूर्ण निरोध लीला) का वर्णन हुआ है, यह योग्य ही है. इसलिए दशम स्कन्धका अर्थ 'निरोध लीला' है ।।६।।

अवतारो निरोधाङ्गं तदङ्गं दुःखमेव च ।

धैर्य्यार्थं सान्त्वनं प्रोक्तं भूमिमात्रोर्न चान्यथा ।।कारि.७।।

कारिकार्थ : अवतार होना निरोधका अंग है और उसका अंग दुःख ही है. पृथ्वी तथा माताको धीरज देनेकेलिए ही सान्त्वना दी गई है अन्यथा नहीं।।७।।

व्याख्यार्थ : हस्त पाद आदिसे शरीर बनता है, मृत्तिकासे घड़ा बनता है. हस्त पादादि शरीरके अंग है, मृत्तिका घड़ेका अंग है. इसी भांति 'निरोध'का अंग भगवदवतार है, क्योंकि यदि भगवान् प्रकट न होते तो 'निरोध' हो नहीं सकता. इस प्रकार भगवान्के प्रकट होनेमें अंगरूप भक्तका दुःख कारण है. यदि भक्त दुःखी न होते तो भगवान्का प्राकट्य नहीं होता, माता और भूमिको यदि धैर्यकेलिए सान्त्वना न दी जाती तो दुःखसे उनका जीवन नष्ट हो जाता तो भगवान्ने प्रकट होकर जो लीलाएं कर 'निरोध' सिद्ध किया है, वह बन नहीं सकता था. अतः धैर्यकेलिए सान्त्वना देनी आवश्यक समझी गई है ।।७।।

अन्ते दुःखं भक्तकृतं प्रादुर्भावाय वै हरेः ।
आकाशवाणी वाग्देवः सर्वमुक्त्यर्थम् उद्गतः ।।कारि.८।।
अशक्तः संस्तथा चक्रे तथा नारद एव हि ।।कारि.८. १/२।।

कारिकार्थ : भगवान्के शीघ्र प्राकट्यकेलिए भक्त नारदजीने कंसको कहा कि व्रजमें 'नन्दादिक', सब देव प्रकट हुए हैं, जिन वचनोंको सुनकर कंस भुलावेमें पड गया और पुनः दुःख देने लगा, तथा आकाशवाणी भी इसलिए ही हुई, वाणीने समझा कि मैं तो भगवान्के प्राकट्य करानेमें अशक्त हूं और सर्वकी मुक्तिकेलिए भगवत्प्राकट्यकी आवश्यकता है. अतः मैं जब इस प्रकार कंसको कहूंगी तब वह भक्तोंको दुःख देगा, जिससे भगवान् शीघ्र प्रकट होंगे ।।८।।

व्याख्यार्थ : आकाशवाणीसे भगवत्प्राकट्यका निश्चय हो गया, और नारदजीके इन वचनोंसे पता नहीं पड़ा कि देवकीका कौनसा बालक हरि होगा जो मुझे मारेगा. इससे कंस सबको दुःख देने लगा. दुःख प्रतिदिन बढ़ते ही गये. भक्तगण उन दुःखोंको मिटानेकेलिए सर्वथा असमर्थ थे, जहां दुःख मिटानेमें देव भी अशक्त हो गये और जब निःसाधन भक्तोंका दुःख मिटानेवाले प्रभुके सिवाय कोई नहीं रहा, तब निःसाधन जनोद्धारक प्रभु, निःसाधनोंके उद्धारार्थ स्वयं प्रकट होकर उनके उद्धारका साधन स्वयं बन गये ।।८. १/२।।

दशभिः सान्त्वनं भूमेः पञ्चत्रिंशत्तमैस्तथा ।।कारि.९।।

अष्टभिर्नारदोक्त्यैव सर्वेषां दुःखमञ्जसा ।।

कारिकार्थ : दश श्लोकोंसे भूमिको और ३५ श्लोकोंसे माताको आश्वासन दिया है, तथा आठ श्लोकोंमें नारदजीके कहनेसे प्राप्त दुःखका वर्णन है।।

व्याख्यार्थ : इस प्रकरणमें दश श्लोकोंसे भूमिको आश्वासन, वाणी द्वारा दिया गया है, पैंतीस श्लोकोंसे देवकीजीकी सान्त्वना उपाय द्वारा दी गई है, पश्चात् आठ श्लोकोंसे भगवान्के प्राकट्यका कारण, जो सर्वका दुःख है, वह कहा जायगा. प्रथम १० श्लोकोंमें (गौका) उद्यम, १८ श्लोकोंमें अपने दुःखका वर्णन करते हुए गौने दीनता दिखाई है. १९ श्लोकोंमें भक्त भगवान्के पास गये थे उसका वर्णन है. तथा २० श्लोकोंमें निवेदन पूर्वक उन्होंने भगवत्स्तुति की है. २१ श्लोकोंमें भगवान्ने जो आज्ञा की थी वह ब्रह्माजीने देवताओं तथा अन्य भक्तोंको सुनाई. २२ से २५ तक इन चार श्लोकोंमें उन(भगवान्)के शब्दोंका भावार्थ कहा है. जैसे कि उनमें १.क्रिया(देवता, यादवोंमें प्रकट होवे वैसी क्रिया), २.जन्म (भगवान्का प्राकट्य), ३.संकर्षण तथा ४.माया. इन चारोंके विषयका विवरण है. इसके बादमें उपसंहार है.

उपरोक्त वर्णनसे ज्ञात होता है, कि पहिले भूमिने उद्यम, ब्रह्माके पास जानेका प्रयत्न किया. प्रभु सर्वत्र गुप्त हैं. केवल व्यापिवैकुण्ठमें साक्षात् विराजते हैं. भूमिने सोचा कि वराहावतारमें भी मेरे उद्धारकेलिए ब्रह्माजीने उपाय किया था. अब भी उनके द्वारा ही मेरे दुःखकी निवृत्ति होगी. अतः मुझे ब्रह्माजीके पास ही चलना चाहिये. इस विचारसे वह ब्रह्माजीके पास गईं. भूमि, वास्तविक दैत्योंकी है, देवताओंकी भूमि तो केवल इतनी ही है, कि मनुष्य बैठकर पीछे देखे तो उसके देखनेमें जितनी आवे, उतनी भूमि देवताओंकी है, शेष असुरोंकी है. अतः भूमि देवताओंके उपयोगमें आनेवाला छोटारूप (गौका) धारणकर ब्रह्माजीके पास गईं. जो गौरूप धारण न कर यदि अपने ही विशालरूपसे जाती तो दैत्य बाधा करते. इसलिए उस बाधाके न होनेकेलिए गौरूपसे शीघ्र गईं. अपने और दूसरेके दुःख मिटानेकी तुलनामें अन्य कोई कार्य आवश्यक नहीं है. अतः इस आवश्यक कार्यको पूर्ण करानेकेलिए पृथ्वी ब्रह्माजीकी शरणमें गईं. मायाके उपासक सर्व दैत्य, पृथ्वीको रसातलमें ले जानेके वास्ते राजाओंके रूपमें जन्में हैं. ये राजा दैत्य हैं. इसका प्रमाण यह है कि ये अभिमानी तथा शास्त्रविरुद्ध आचरण करनेवाले हैं.

इसलिए शुकदेवजीने इनको 'दृप्त' विशेषण दिया है. असुरोंको यह शास्त्रविरुद्ध आचरण एवम् अभिमान ही सर्वत्र कहा गया है.

१. प्रकाशकार श्रीपुरुषोत्तमजी इस विषयको स्पष्ट समझानेकेलिए श्रुतिका प्रमाण देते हैं: यह पृथ्वी पहिले असुरोंकी थी. केवल उतना भाग देवोंका था जितनेको बैठकर मनुष्य पीछे देख सके. किसी समय इस पृथ्वीको देवताओंकी करनेकेलिए इन्द्रने कुत्तीका रूप धारणकर दैत्योंसे पृथ्वीको मांगा. तब दैत्योंने कहा कि, कितनी पृथ्वी तुझे चाहिए? कुत्ती रूपधारी इन्द्रने कहा कि मैं जितनी पृथ्वीको तीन बारमें परिक्रमा कर आऊं उतनी पृथ्वी दीजिये. दैत्योंने उस कुत्तीका कहना मान लिया. कुत्तीका रूप धारण करनेवाला इन्द्र समग्र भूमिकी प्रदक्षिणा कर आया. तब से पृथ्वी देवताओंकी हुई.

जिन दैत्योंका वध तो हुआ किन्तु मुक्ति नहीं हुई, वे दैत्य, देवताओंमें घुस गये हैं. इस प्रकार देव भी वैसे बन गये हैं. अतः उन देवोंमें मिले हुए दैत्यों (भीष्मादिकों)का निराकरण किया गया है. मूल श्लोकमें 'व्याज' शब्द देकर यह बताया है कि ये दैत्य यद्यपि राजाओंके रूपमें उत्पन्न हुए हैं तो भी उनमें प्रजा पालनरूप राजधर्म तो नहीं है, किन्तु प्रजाका घात करना, यह दैत्यधर्म है. अतः यह राजाओंका रूप उन दैत्योंने छलसे धारण किया है.

ये दैत्य, राजाका रूप धारणकर प्रजाको सुख देने और स्वयं सुख भोगनेकेलिए नहीं जन्मे हैं किन्तु प्रजाका घात करनेकेलिए आये हैं. इसलिए कहा गया है कि असङ्ख्य सेनारूपमें इकट्ठे हो गये हैं, जिसके भारसे भूमि इतनी आक्रान्त होकर दब गई है कि चारों तरफसे शीघ्र निमग्न(डुबी) हुई दिखती है. अत्यन्त भारसे इसलिए दुःखी हुई है कि जो दैत्यपन भारको पैदा करता है, वह पाप भार डुबानेवाला है. जैसे एक ही उन्मत्त, नौकाको डुबा देता है. यहां तो असङ्ख्य उच्छृङ्खल सेनानियोंकी सेनाके आक्रमणका भार पृथ्वी पर था. वह क्या नहीं कर सकता है? अतः पृथ्वी यह सोचकर ब्रह्माजीके पास गईं क्योंकि पहले भी ब्रह्माजीने उद्धारका उपाय किया था और अब भी वे ही करेंगे ।।१७।।

आभास: भूमि, हविर्द्धानी (हविके पदार्थ दूध, दहीं, घृत देनेवाली) का रूप धारणकर ब्रह्माजीके पास गईं. इसका आशय यह है कि सब जीवों(पशु आदि)में गौ रूप ही दीनतावाला है. जिसको देखकर सबको दया आ जाती है. अतः इस रूपसे ही देवताओंका हित होगा. दूसरे रूप(भूमिरूप)से जानेमें देवताओंके हितमें बाधा होनेकी आशंका रहती है. इसका वर्णन करते हैं:

गौर्भूत्वाश्रुमुखी खिन्ना रुदन्ती करुणं विभोः ।
उपस्थितान्तिके तस्मै व्यसनं समवोचत ।।१८।।

श्लोकार्थ : खेदयुक्त, दया उत्पन्न हो इस प्रकार अश्रु पूर्णमुखवाली, रुदन करती हुई गौरूपधारी भूमि, ब्रह्माजीके समीप उपस्थित होकर उन अपने दुःखोंका वर्णन करने लगी।।१८।।

व्याख्यार्थ : भूमि, गौका रूप धारणकर ब्रह्माजीके समीप स्थित होकर अपना दुःख उनको बताने लगीं. जिस समय भूमि, गौरूपसे ब्रह्माजीके पास उपस्थित हुईं, उस वक्त गौके अन्तःकरणमें जो दुःख था उस दुःखके तापसे उत्पन्न पसीना अश्रुरूपसे आंखोंमेंसे निरन्तर बहता हुआ मुखमें आ रहा था.

ज्ञानसे जो अन्तःकरणमें खेद होता है, उस दुःखसे उत्पन्न पसीना आंखोंसे निकल आता है. उस पसीनेको 'अश्रु' कहते हैं. भूमिको भी दैत्योंके अभिप्रायका ज्ञान होनेसे खेद हुआ था. वाक्य वह प्रमाण माना जाता है कि जिसके भावका अन्तःकरणके धर्मके साथ मिलन होवे, यदि वाक्यके भावका अन्तःकरणके धर्मके साथ मिलाप न हुआ तो वह वाक्य प्रमाण नहीं है.

भूमिके अन्तःकरणमें दैत्योंके अभिप्राय जाननेसे जो दुःख हुआ था, वह दुःख अन्तःकरणके धर्मसे मिल गया था. अतः भूमिने उस धर्मको अश्रु द्वारा प्रकट करके दिखाया. किन्तु एक धर्मको तो केवल अश्रु द्वारा भी समझाया जा सकता है, किन्तु जहां बहुतसे दुःख हों वहां अश्रुओंसे ही न समझानेमें आनेके कारण मुखसे कहनेकी भी आवश्यकता होती है. इसलिए गौ रूपधारी पृथ्वी अपने दुःख मुखसे कहने लगीं. ब्रह्माजी, सर्वज्ञ होनेसे बिना कहे हुए भी दुःखको जान सकते हैं, तो फिर कहनेकी क्या आवश्यकता है? इस पर कहते हैं कि यों तो ब्रह्माजी ब्रह्मरूप होनेसे सर्वज्ञ हैं किन्तु अब यहां ब्रह्माजीकी अधिकारी दशा है अर्थात् अधिकारी हैं, इस कारणसे इस समय वे सर्वज्ञ नहीं हैं. इसलिए भूमिको अपने दुःखका मुखसे वर्णन करना पड़ा जो योग्य ही है. 'खिन्ना' शब्दसे यह बताया कि भूमिको एक ढंगसे दुःख नहीं था किन्तु अनेक प्रकारसे दुःख थे अर्थात् खेद पूर्ण अन्तःकरणवाली थीं. खेदपूर्ण थीं इसका प्रमाण क्या है? वहां कहते हैं कि खेदके कारण शरीरमें एक तरफ दुर्बलता आ गई है और दूसरी तरफ उसका तेज नष्ट हो गया है. यह दोनों प्रकट चिह्न उसके दुःखके साक्षी हैं. पुत्रीका दुःख, जैसे पिता शीघ्र दूर कर सकता है वैसे अन्य नहीं कर सकता है, अतः भूमिने अपने दुःखकी

निवृत्तिकेलिए पिताके पास जाना ही उचित समझा. भूमि उस समय करुणायुक्त रोदन करती हुई, ब्रह्माजीके समीप गई. इस प्रकारके रोदनका कारण यह था कि भूमि ब्रह्माजीको बताना चाहती थी कि मुझे आपके वियोगका वैसा कष्ट नहीं है जैसा दैत्योंके दुःखका है. आपके वियोगमें इस प्रकार करुण रोदन हो नहीं सकता है. यह रोदन तो दैत्योंके दुःखोंके कारण मुझे आ रहा है, अतः आप पिता हो, शीघ्र मेरे दुःख निवृत्तिका उपाय करो. इस प्रकारके रोदनका गौण कारण यह भी था कि पिताजी अधिकारी हैं. उनको अनेक अन्य कार्य करने पड़ते हैं, इसलिए कहीं मेरे दुःख निवृत्तिके उपायमें विलम्ब न कर देवें यह सोचकर कि दूसरोंका काम पहले करलूं, पुत्रीका काम है पीछे ही कर लूंगा, कही यों न हो जाय इसलिये भी करुण क्रन्दन किया गया था.

भूमिने सोचा कि पिताजी कदाचित् कह न देवे कि मुझसे यह तेरे दुःखकी निवृत्ति नहीं होगी, इसलिए पिताको 'विभो' विशेषण देकर सावधान करती हैं कि मुझे मालूम है कि आप सब कुछ करनेमें समर्थ हो, अतः मैं आपकी शरणमें आई हूं.

मूल श्लोकमें 'उपस्थिता', इस पदमें 'उप' उपसर्ग देनेका आशय बताते हैं कि 'उप' कहनेसे समझना चाहिये कि 'भूमि' ब्रह्माजीके अन्तःकरणमें अन्तर्यामीरूपसे विराजमान् प्रभुके समीप आकर अपने दुःख सुनाती हैं. कारण कि भूमि भक्त है. वह अपने दुःख भगवान्को ही सुनाना चाहती हैं. समीप होनेके सिवाय तो अपने दुःख सुनाये नहीं जा सकते हैं, अतः भूमि भक्तिमार्गीय ध्यान द्वारा भगवान्की समीपता प्राप्तकर अपने क्लेश भगवान्को ही सुनाती हैं. श्लोकमें 'उप' शब्द देकर उपरोक्त आशयको सिद्ध किया है कि भीतर तो भगवान्के समीप प्रार्थना है और बाहिर केवल ब्रह्माजीके समीप खड़ी रही इसलिए 'अन्तिके' शब्द दिया है. दुःख शब्द न देकर मूलमें 'व्यसन' शब्द दिया है, उसका आशय यह है कि यह दुःख ऐसा है, जिसको आपके(प्रभुके) सिवाय कोई नहीं मिटा सकता है. अतः अपने दुःख प्रभुके समीप स्पष्ट प्रकारसे वर्णन करने लगीं ।।१८।।

आभास : जब गौ रूपवाली पृथ्वी ब्रह्माजीके सामने खडी होकर अपने दुःख प्रकट करने लगीं, तब ब्रह्माजीके हृदयमें शंका[१] हुई कि क्या यह अपने दुःखोंको मिटानेकेलिए मुझे बुला रही है? इस शंकाको ब्रह्माजीने विचार पूर्वक

ज्ञानसे मिटाया और उस ज्ञानसे गौके वचनोंका भाव समझकर उपाय करने लगी. उसका वर्णन निम्न श्लोकमें करते हैं:

१. योजनाकारलालूभट्टजी इस शंकाको स्पष्ट करनेकेलिये कहते हैं कि, भूमिके वचन सुनकर, ब्रह्माजीके मनमें दो प्रकार की शंकाएं पैदा हुई. एक तो भूमि भगवद्भक्त है, अतः यह केवल अपने दुखका निवारण ही नहीं किन्तु दुष्ट राजाओंके भार उतारनेकेलिये भगवान् प्रकट हो, यह चाहती होंगीं. दूसरी शंका यह भी हुई होगी कि, भूमिकी दैत्योंके सम्बन्ध होनेके कारण स्वार्थबुद्धि हो गई होगी, जिससे वह अपना दुःख ही मिटाना चाहती होंगीं. भगवान्के प्राकट्यकी आवश्यकता नहीं चाहती होगीं. इस दोनों शंकाओं पर ब्रह्माजीने पूर्णरीतिसे विचार किया, जिससे ब्रह्माजीको निश्चय हुआ कि भूमि परमभक्त है, अतः दैत्यसङ्ग होने पर भी इसमें स्वार्थ नहीं आया है. इससे यह भगवान्का प्राकट्य ही चाहती हैं, जिस प्रादुर्भावसे दोनों कार्य सिद्ध होंगे. इस प्रकार ब्रह्माजी निश्चयकर सबको साथ ले के भगवान्के पास पहुँचनेकेलिये क्षीरसागरके तीर पर गये.

ब्रह्मा तदुपधार्यार्थं सह देवैस्तया सह।
जगाम सत्रिनयनस्तीरं क्षीरपयोनिधेः ।।१९।।

श्लोकार्थ : गौ रूपधारी भूमिके वचनोंके भावार्थका निश्चयकर ब्रह्माजी अपने साथ महादेव, अन्य देव तथा भूमिको साथ लेकर क्षीरसागरके तीर पर गए।।१९।।

व्याख्यार्थ : ब्रह्माजी ब्रह्म हैं, इसलिए ज्ञानस्वरूप भी हैं. भूमिके वचन सुनकर जो शंकाएं उत्पन्न हुई थी, उनको भूमिके वचनोंसे नहीं किन्तु अपने ज्ञानसे मिटाकर भूमिके अन्तःकरणके भावका निश्चय किया. तदनन्तर सबको(देव,गौ आदिको) साथमें लेकर क्षीरसागरके तीर पर गये. देवताओंको साथमें इसलिए ले गये थे कि जो कुछ भगवान् आज्ञा करेंगे वह इनको वहां ही बता देंगे. ब्रह्माजीने जब मनमें शंकाओंके समाधानकेलिए आलोचना की, तो उस आलोचनासे उपाय तथा उसके साधनोंको भी जान लिया. महादेवजीको साथ ले जानेका कारण यह था कि यदि महादेवजी साथमें नहीं होंगे तो दैत्योंको कहीं कोई दूसरा उपाय बता देंगे तो कार्यमें विघ्न पड जायगा. इसीलिए यह हमारे साथ होगे तो दैत्योंको दूसरा उपाय नहीं बता सकेंगे. पृथ्वीको साथमें ले जानेका कारण यह था कि भगवान्को प्राकट्यकेलिए निमित्तकारण चाहिये, तो उस निमित्तकारणको प्रत्यक्ष दिखानेके वास्ते भूमिको भी ले गये. यहां मूल श्लोकमें महादेवजीका नाम 'त्रिनयन' दिया

है. उसका भाव बताते हैं कि देव, दैत्य और मनुष्य इन तीनों पर महादेवजीकी दयादृष्टि रहती है. इस कारणसे भी महादेवजीको साथमें ले जाना आवश्यक था. श्वेतद्वीप भगवान्का प्रिय धाम है, एवं व्यापिवैकुण्ठका द्वार इस द्वीपके क्षीर सागरके समीप ही है. इसलिए क्षीरसागरके तीर पर गये. भूमि भगवान्की भक्त हैं. अतः भक्तोंमें आसक्त चित्तवाले भगवान् भूमिमें भी आसक्त होकर ही उसका उपकार करेंगे, इसको जतानेकेलिए तीर पर ठहर गये ।।१९।।

आभास : वहां जाकर स्तुति करने की क्या आवश्यकता थी? इस पर कहते हैं कि जब ब्रह्माजी वहां गए तब भगवान् वहां भी तिरोहित थे, उनका आविर्भाव कर, प्रार्थना करनेकेलिए स्तुति की है. उसका वर्णन 'तत्र गत्वा' इस निम्न श्लोकमें करते हैं:

तत्र गत्वा जगन्नाथं देवदेवं वृषाकपिम्।
पुरुषं पुरुषसूक्तेन उपतस्थे समाहितः ।।२०।।

श्लोकार्थ : वहां जाकर समाधिमें स्थित ब्रह्माजीने देवोंके देव, जगत्के नाथ, सर्व यज्ञोंके फलके भोक्ता पुरुषकी पुरुषसूक्तसे स्तुति की।।२०।।

व्याख्यार्थ : उपरोक्त १९वें श्लोकमें 'जगाम'(गये) यह क्रिया दी है. पुनः इस श्लोकमें 'गत्वा' कहनेका भाव यह है कि जाते ही बिना विलम्बके ब्रह्माजी स्तुति करने लगे. इसलिए यहां 'गत्वा' पद दिया है. ब्रह्माजीने वहां जाते ही समाधि लगाकर पुरुषसूक्तसे भगवान्की स्तुति की. इस प्रकार श्लोकके पदोंका सम्बन्ध लगाना चाहिये. अर्थात् अन्वय(पदोंका आपसमें योग्य सम्बन्ध कराना) करना चाहिये. ब्रह्माजीने स्वयं दुःखका प्रतीकार(उपाय) नहीं किया. इसका कारण बताते हुए श्लोकमें कहा है कि 'जगन्नाथं', भगवान् जगत्के स्वामी हैं. उनको ही यह अधिकार है, ब्रह्माजीको नहीं है. यदि ऐसा है कि भगवान् जगत्के नाथ हैं, इसलिए उनको यह अधिकार है तो जगत्के नाथ होनेसे दैत्योंके भी तो नाथ हुए तो फिर केवल देवोंका ही हित क्यों करते हैं? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि भगवान् स्वतन्त्ररूपसे खिलाड़ी हैं. अतः आपका नाम 'देवदेव' हुआ है.(वह क्रीडा देवोंसे ही करते हैं न कि दैत्योंसे). दैत्योंके भी स्वामी हैं किन्तु वह स्वामित्व मर्यादानुरूप है. इस समय दैत्य मर्यादाका भी उल्लङ्घन कर चुके हैं. अतः वे मर्यादासे भी हित करने योग्य नहीं रहे हैं. इसके सिवाय भगवान् देवोंके आधिदैविक[१] स्वरूप हैं. इसलिए भी भगवान्को देवोंका हित करना आवश्यक है.

१.''प्रजापतेः प्रजापतिः, अग्नेरग्निः, सूर्यस्य सूर्य इति'', भगवान् प्रजापतिके प्रजापति हैं, अग्निके अग्नि हैं, सूर्यके सूर्य हैं. इस प्रमाणानुसार भगवान् देवोंके आधिदैविक स्वरूप हैं.

यदि दैत्य भूमिको रसातलमें ले जावे तो कोई चिन्ता नहीं है क्योंकि भगवान् स्वर्गमें देवोंसे क्रीडा कर सकते हैं, और देवोंका हित भी कर सकते हैं. इसलिए दैत्योंके अपकार और देवोंके उपकारकेलिए स्तुतिकर बुलाना योग्य नहीं है. इस शंकाको मिटानेकेलिए श्लोकमें 'वृषाकपि' भगवान्का विशेषण दिया है. यदि भगवान् प्रकट होकर देवताओंकी रक्षा न करें और दैत्योंका नाश न करें तो यह नाम निरर्थक हो जाय. 'वृषाकपि' पदका अर्थ है यज्ञादिरूप धर्मके सम्पूर्ण फलका भोक्ता भगवान् है. यदि भूमि रसातलमें चली जावे, तो यज्ञ कैसे होंगे. यज्ञ न होनेसे देवोंका देवत्व चला जायेगा, क्योंकि देवोंका देवत्व यज्ञके फलके भोगसे ही है. जो देखनेमें नहीं आता है एवं जो समीपमें नहीं है, उसकी स्तुति कैसे की जाती है? इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि वह 'पुरुष' है, अतः वह सदैव ब्रह्माजीके हृदयमें भी विराजते हैं, और भगवान् नारायण ब्रह्माजीके पिता भी हैं. पिताके नातेसे ब्रह्माजीका कार्य अवश्य करेंगे. पुरुषसूक्तसे स्तुति इसलिए की है कि वह एक तो वैदिक स्तोत्र है. दूसरे भगवान्के प्रेरणासे प्राप्त हुवा है, जिससे भगवान्को अतिप्रिय है. और 'पुरुषसूक्त' तेजोमय है, भगवान् भी तेजोमय हैं, जो सूर्यके भीतर नारायणरूपसे स्थित हैं, वह इस उपस्थान विद्याके द्वारा स्तोत्र होनेसे प्रसन्न होंगे. अतः अन्तर्यामीपनेके धर्मको धारण करनेवाले भगवान् पुरुषोत्तमकी इस पुरुषसूक्तसे ही स्तुति करना योग्य है ।।२०।।

आभास : पुरुषसूक्तसे पुरुष रूपकी स्तुति की है, अतः पुरुषने ही अवतार लिया होगा न कि पुरुषोत्तम प्रकट हुवे होंगे. इस शंकाका उत्तर जो भगवान्ने सूक्ष्ममें कहा उसको अन्तःकरणमें ब्रह्माजीने जान लिया, वह बहुत सूक्ष्म होनेसे देवोंकी समझमें नहीं आया, इसीलिए ब्रह्मा निम्न श्लोकमें देवोंको कहने लगे:

गिरं समाधौ गगने समीरितां निशम्य वेधास्त्रिदशानुवाच ह ।
गां पौरुषीं मे श्रृणुतामराः पुनर्विधीयतामाशु तथैव मा चिरम् ।।२१।।

श्लोकार्थ : आकाशमें कहे हुए भगवान्के वाक्यको समाधिमें सुनकर ब्रह्माजी कहने लगे कि हे देवों ! भगवान्के कहे हुए वाक्योंको सुनो और उसके

अनुसार शीघ्र बर्ताव करो, देरी मत करो।।२१।।

व्याख्यार्थ : ब्रह्माजीने समाधिमें लोक सहित भगवान्‌के स्वरूपकी भावना की थी. उस समय समाधिमें ही उस स्थानके आकाशमें जो भगवान्‌ने वाक्य कहे, वे ब्रह्माजीने सुने, कारण कि ब्रह्माजी 'वेधाः' हैं, अर्थात् जगत्‌के रचनेवाले तथा धारण करनेवाले भी हैं. इसलिए उनकी भावना सत्यस्वरूप है, जिससे वह भगवद्‌वाणी सुनकर समझ सके. यदि वैसे नहीं होते तो भगवान्‌की आज्ञाके बिना देवोंको आज्ञा कैसे करते? इससे जाना जाता है कि वे गुण ब्रह्माजीमें हैं, जिनसे भगवान्‌की वाणी सुन सके. देवगण भी ब्रह्माजीके समान ही हैं, उन्होंने क्यों नहीं सुनी? इसके उत्तरमें श्लोकमें देवताओंका स्वरूप प्रकट करते हुए कहा गया है कि वे 'त्रिदश' हैं, अर्थात् उनकी मनुष्योंके समान तीन दशाएँ (बाल, कुमार, तथा यौवन) होती हैं. ब्रह्माजीकी नहीं होती हैं. अतः देव ब्रह्माजीके समान नहीं हैं. जब देवोंकी ये तीन दशाएँ होती हैं तब ही तो उनको जन्म लेनेकी आज्ञा करनी योग्य हुई है.

ब्रह्माजी अचानक क्षणमात्रकेलिए चुप हो गए. फिर कुछ विचार करने लगे. विचार करनेके अनन्तर कहने लगे. उस समय सब देवता अचम्भेमें पड़ गये कि ब्रह्माजी अचानक चुप क्यों हुए? यह आशय, श्लोकमें जो 'च' अक्षर दिया है, उसका है. ब्रह्माजीने अपनी तरफसे कुछ नहीं कहा, इसलिए ब्रह्माजीने स्पष्ट शब्दोमें कहा है कि हे देवों! भगवान्‌ने जो वाणी कही है वह सुनो. वह वाणी सत्य है तथा खण्डन करने योग्य नहीं है. जैसे गौ दोहनकर, साररूप दूध निकाला जाता है वैसे यह वाणी भी साररूप, फलरूप तथा सबका हित करनेवाली है, और यह वाणी आपको सुनानेवाला मैं ब्रह्मा हूं. मेरी वाणी अन्यथा(झूठी) कभी नहीं होती है. अथवा यह वाणी भगवान्‌के सम्बन्धवाली है, मैं तो केवल सुनानेवाला हूं, अतः यह वाणी सर्वथा सत्य है यों समझो.

भगवान्‌ने जिस प्रकार आज्ञा की उस प्रकार ब्रह्माजी अब देवोंको कहते हैं. हे अमर! (देवों!) पहिले सुनकर फिर जल्दी तदनुसार आचरण करो, उसमें देरी नहीं करनी चाहिये. पहले सामग्री तैयार करनेकेलिए कहकर पश्चात् तदनुकूल कार्य करो. अंशसे आप जन्म लो, उसके करनेमें देरी नहीं करें. यह सब समझाकर पश्चात् जो करना है वह बताएंगे.

दूसरी देह धारण तो मरनेके अनन्तर होती है तो क्या हम इस देवयोनिको

छोड़कर मनुष्य योनिमें जावें? इस देवताओंकी शंकाको मिटानेकेलिए, हे देवाः ! न कहकर 'अमराः!' कहा, कि आप अमर ही हो, इसलिए आपकी यह देवयोनि नष्ट न होगी. आपको अंशरूपसे मनुष्यमें प्रकट होना है. श्लोकमें 'शृणुत', सुनो, यह क्रिया सावधान होकर सुननेकेलिए दी गई है. मूल श्लोकमें 'पुनः' पद इसीलिए दिया है कि पहिले भी रामावतारमें भी रावणसे डरे हुए देवोंको अंशरूपसे अवतार लेनेकी आज्ञा की थी, वैसे ही फिर इस अवतारमें आपको आज्ञा दी जाती है. किन्तु उस आज्ञाको पालनेमें तब देरी की थी. उसी तरह अब भी कहीं देरी न कर दो तो इसलिए श्लोकमें 'आशु' पद देकर सावचेत(सावधान) किया है कि अब देरी नहीं करना जल्दी ही आज्ञाका पालन करना. जिस प्रकार जो देव जितने अंशसे आगे पीछे उत्पन्न हुवे थे, उसी प्रकार अब भी होवें, यह 'तथैव' शब्द कहनेका आशय है. पहिले दशरथजीने अवतार नहीं लिया था, जिससे पुनः आज्ञा देकर दशरथजीको अवतार धारण करवाया था, जिस कारणसे सांठ हजार वर्षका विलम्ब हो गया था. अब भी वैसा न हो जाय इसीलिए श्लोकमें 'आशु', जल्दी, कहा है. फिर भी उसको दृढ़ करनेकेलिए एवं आगेकी भांति देरी न होवे अतः 'मा चिरम्' देरी मत करना, यह स्पष्ट आज्ञा दे दी है।।२१।।

आभास : देवताओंने रामावतारमें प्रकट होकर महान् खेद पाया था. इसलिए वे देव ब्रह्माजीको कहते हैं कि हमको बताओ कि आपने भगवान्को कौनसी प्रार्थना की है और उसके उत्तरमें भगवान्ने क्या कहा? इस प्रकारकी देवताओंकी शंकाके परिहारकेलिए ब्रह्माजी इस श्लोकको कहते हैं:

पुरैव पुंसावधृतो धराज्वरो भवद्भिरंशैर्यदुषूपजन्यताम् ।
स यावदुर्व्या भरमीश्वरेश्वरः स्वकालशक्त्या क्षपयंश्चरेद् भुवि ।।२२।।

श्लोकार्थ : पृथ्वीका दुःख भगवान्ने हमारे कहनेसे पहले ही जान लिया है और उनने स्वयं आज्ञा की है कि आप देवों, यादवोंमें अंश द्वारा प्रकट होकर पृथ्वी पर तब तक रहो, जब तक ईश्वरोंके ईश्वर अपनी कालशक्तिसे पृथ्वीका भार नाश करते हुए विराजमान् रहें।।२२।।

व्याख्यार्थ : भूमिके पीड़ाकी कथा कहकर, सुनानेसे पहिले ही भगवान्ने पृथ्वीका कष्ट निश्चितरूपसे जान लिया था, कारण कि आप पृथ्वीके पति हैं. पुरुष(पति) ही स्त्रीको स्पर्श करता है. स्पर्श करनेसे ज्वरका पता पड़ जाता है. अतः हम लोगोंके द्वारा उसके क्लेशको बतानेकी कोई आवश्यकता नहीं थी,

जिससे मैंने केवल पुरुषसूक्तसे भगवान्‌की स्तुति ही की है. इसलिए मेरे, पृथ्वीके दुःखको कहनेसे पूर्व ही भगवान्‌ने स्वयं ही आज्ञा की है. ब्रह्माजी वह आज्ञा देवताओंको कहते हैं, भगवान् भी प्रकट होंगे, उससे पूर्व भगवान्‌के प्रकट होनेके समयके लगभग आप भी यादवोंमें प्रकट हो जाओ. आपकी भी आवश्यकता है, कारण कि आप देवता लोग भगवान्‌का अंश होनेसे वैसे ही सेवक हो, जैसे हाथ पैर आदि शरीरके होते हैं. स्वामी सदा ही सब जगह सेवकोंके साथ ही जाते हैं. रामावतारसे विलक्षणता(भिन्नता) दिखानेकेलिए यही कहा है कि 'यादवोंमें' जन्म लेना. उस अवतारमें भगवान्‌ने मनुष्ययोनिमें और आप लोगोंने वानरयोनिमें जन्म लिया था, परन्तु अब भगवान् और आप लोग यादवोंमें ही प्रकट होंगे. यह ही रामावतार और इस अवतारमें आपके प्राकट्यकी विलक्षणता है. अंग तथा सेवक पासमें ही रखे जाते हैं. वैसे तो आप लोकमें कहीं अन्य स्थानमें भी प्रकट हो तो, इसलिए पासमें ही प्रकट होनेकेलिए स्पष्ट आज्ञा की है कि जहां मैं प्रकट होऊंगा, वहां ही यादवोंमें आप भी प्रकट होवें. कारण कि आपसे इस प्रकारकी सेवा लेनी है. इसलिए उसमें थोड़ी भी रुकावट न पड़े. देवता रामावतारमें बहुत समय तक रहनेसे दुःखी हुए थे. इसलिए उनकी इस शंकाको मिटानेकेलिए कहते हैं कि जब तक भगवान् यादवोंमें विचरण करें तब तक आप भी भगवान्‌के समीप ही रहना. आप प्रभुके साथ स्थिति करोगे, तब यदुकूलमें पुत्र पौत्रादिरूपसे भी स्थिति होगी. इसलिये मूलमें 'उपजन्यताम्' पद दिया है. यों करनेसे स्थिति तो स्वतः होगी ही, अतः 'स्थिति' न कहकर 'जनन' शब्द कहा है. भगवान् स्वयं कितने समयतक बिराजेंगे, इस शंकाके निवारणकेलिए कहते हैं कि वे ईश्वरोंके भी ईश्वर हैं. जब ईश्वर ही स्वतन्त्र होते हैं, तो ईश्वरोंके(कालादिक सबके) ईश्वर कितने समयतक रहेंगे, वह कौन जान सकता है, और उसका नियमन(शासन, व्यवस्था) कौन कर सकता है?

भगवान् ईश्वरोंके ईश्वर होनेसे जो-जो कार्य जब तक करेंगे तब तक ये देव, कार्य कर सकेंगे वा नहीं, यह शंका भी इससे ही मिटा दी. यद्यपि देवता लोग ईश्वर द्वारा नियमित स्वर्गीय सुख भोगनेवाले हैं तो भी हस्तपादादिके समान सेवक होनेसे ईश्वरके आज्ञानुसार सर्व कार्य कर सकेंगे.

हे देवों ! दैत्य हमको मारेंगे, इस प्रकारकी शंका भी आपको मनमें नहीं लानी चाहिये, क्योंकि भगवान् अपनी कालशक्तिसे ही भूमिका भार दूर करेंगे.

भगवान् एक जगह न रहकर तब तक घूमते ही रहेंगे जब तक सब दैत्योंका नाश नहीं करेंगे. दैत्य एक स्थान पर नहीं हैं, इसलिए भगवान् घूमकर जहां भी दैत्य होंगे वहां जाकर उनका नाश करेंगे. प्रभु पृथ्वी पर कब प्रकट होंगे, और कब तक विचरण करेंगे, यह तो मैं भी नहीं जान सकता हूं, तो भी भगवान्का प्राकट्य तथा उनकी लीला अलौकिक होनेसे छिपी नहीं रहेगी. पृथ्वी पर जन्मा हुआ साधारण जीव तो लौकिक कार्य ही कर सकता है. अलौकिक कार्य तो सर्वेश्वर प्रभु ही कर सकते हैं ।।२२।।

आभास : यद्यपि ब्रह्माजीने भगवान्के प्राकट्यकालका अपनेलिए अज्ञान प्रकट किया, तो भी कहां प्रकट होंगे? वैसी देवोंकी आकांड्क्षा देखकर भगवान् जहां प्रकट होंगे, उस स्थानका वर्णन नीचेके श्लोकमें किया है:

वसुदेवगृहे साक्षाद् भगवान् पुरुषः परः ।
जनिष्यते तत्प्रियार्थं सम्भवन्तु सुरस्त्रियः ।।२३।।

श्लोकार्थ : वसुदेवजीके घरमें साक्षात् भगवान् पुरुषोत्तम प्रकट होंगे. देवताओंकी स्त्रियां उनकी सेवाकेलिए प्रकट होवें।।२३।।

व्याख्यार्थ : मूल श्लोकमें 'साक्षात्' तथा 'भगवान्' इन दो पदोंके कहनेका भाव यह है कि भगवान् वसुदेवजीके घरमें अंशसे, चक्रादिरूपसे अथवा सत्यगुणके व्यवधानसे अर्थात् सत्त्वगुणमें अपनेको छिपाकर प्रकट नहीं होंगे, किन्तु प्रत्यक्षरूपसे प्रकटेंगे. यदि यह शंका हो कि भगवान् तो नारदादि ऋषियोंको भी कहते हैं, इसलिए यहां भी वह शब्द गौण है, ऐसे क्यों न समझा जाय? इस शंकाको मिटानेकेलिए मूलमें 'पुरुषः','परः' ये दो विशेषण दिये हैं. जिनका भावार्थ है कि यहां भगवान् शब्द, गौणअर्थमें नहीं है किन्तु पुरुषोत्तम समझना चाहिये, न कि 'अक्षरब्रह्म' समझें. कारण कि 'पर' 'पुरुष' ये दोनों ही 'भगवान्के' विशेषण हैं. ''नारायणे तुरीयाख्ये 'भगवच्'छब्द शब्दितः'', इस प्रमाणानुसार 'भगवान्' शब्द चतुर्थ नारायणकेलिए ही प्रसिद्ध है. और उसकी पुष्टि 'परः, पुरुषः' विशेषणोंसे की गई है. गीतामें जो व्यक्त(ब्रह्माण्ड)से परे अक्षरब्रह्मको कहा गया है, वह भावरूपसे कहा गया है, पुरुषरूपसे नहीं कहा गया है. पुरुषरूपसे तो, ब्रह्माण्डसे परे पुरुषोत्तम ही है, जिनको ब्रह्माजी भी नहीं देख सकते हैं. वे ही प्रकृति प्रवर्तकरूप हैं. उनका ही यहां वर्णन है. समग्र कहनेका भावार्थ यह है कि वसुदेवजीके गृहमें प्रकट स्वरूप, अक्षरातीत पूर्णपुरुषोत्तम ही है, अतः

उनकी सेवाकेलिए सुरस्त्रियां जो कि लक्ष्मीके साथ समुद्रसे उत्पन्न हुई थीं, जिनका भोग भगवान्ने नहीं किया था, वे अपना जन्म सफल करनेकेलिए प्रकट होवें. किस प्रकार और कहां प्रकट होवें? वह बताते हुए कहते हैं कि सर्व प्रकारकी मनोहर सुन्दरतासे अपनेको विभूषितकर, अपने योग्य स्थानमें प्रकट होवें. श्लोकमें जो 'तत् प्रियार्थं' कहा है, उसका भीतरी भाव यह है कि देवता लोग स्त्रीरूप धारण न करें ।।२३।।

आभास : अब इस श्लोकमें, भगवान्के प्राकट्यसे प्रथम ही, सेवामें पूर्ण प्रबन्ध(बन्दोबस्त) करनेकेलिए, संकर्षणके साथ भगवान्के शय्यारूप शेषजीके प्रकट होनेका वर्णन करते हैं:

वासुदेवकलानन्तः सहस्रवदनः स्वराट् ।
अग्रतो भविता देवो हरेः प्रियचिकीर्षया ।।२४।।

श्लोकार्थ : प्रभुको प्रिय हो, इस प्रकारकी सेवा करनेकी इच्छासे, वासुदेवकी कलाके रूप, सहस्रवदन(हजार मुखवाले) स्वयं प्रकाशमान् अनन्त (बलरामजी) भगवान्से प्रथम प्रकट होंगे।।२४।।

व्याख्यार्थ : भगवान्के प्रकट होनेसे पहिले, लीलाके सम्पादन कार्यमें यथायोग्य सावधानी हो, इसलिए संकर्षणके साथ शय्यारूप शेषजीका प्राकट्य होगा. उनके स्वरूपका स्पष्ट एवं पूर्ण परिचय आचार्यश्रीने नीचेकी इन कारिकाओंमें कराया है.

सात्त्विकेषु तु कल्पेषु यः शेते सलिले हरिः ।
वासुदेवः स विज्ञेयस्तस्यांशोऽनन्त उच्यते ।।कारि.१।।

कारिकार्थ : जो हरि सात्त्विक कल्पोंमें, जलमें शयन(स्थिति) करते हैं, वह वासुदेव कहलाते हैं, उनका अंश 'अनन्त'में है।।१।।

व्याख्यार्थ : २३वें मूल श्लोकमें पुरुषोत्तम स्वरूपका वर्णन करनेके अनन्तर इस २४वें श्लोकमें 'तत्कला', उसकी कला प्रकट होगी. इतना कहनेसे विषय समझमें आ जाता था. यों न कहकर 'वासुदेवकला' कहनेका क्या आशय है? वह इस कारिकामें समझाते हैं. 'यः' 'जो', शब्दको कहकर बताया है कि व्यूहोंमें मुख्य जो अवताराधिकारी है, वह वासुदेव है. उस वासुदेव हरिका अंश 'अनन्त'में है. इससे समझना चाहिये कि जिस अंशीरूप हरिका अंश अनन्तमें है, वह पुरुषोत्तमका दूसरा रूप है. अर्थात् वह मूलरूप पुरुषोत्तम नहीं है. इसको

समझानेकेलिए मूल श्लोकमें 'तत्कला', 'उसकी कला', न कहकर 'वासुदेव–कला', 'वासुदेवकी कला'(अंश) अनन्तमें, यों कहा है. अर्थात् बलदाऊजीमें उस पुरुषोत्तमके रूपान्तर वासुदेवका अंश है. न कि ''कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'' इस मूल स्वरूपका अंश है ।।१।।

कालात्मा स विज्ञेयो भूभारहरणे प्रभुः ।
तत्र सुप्तो हरिश्चापि तदाविष्टो भविष्यति ।।कारि. २।।

कारिकार्थ : वह कालात्मा है, एवं भूमिके भारहरणमें भी समर्थ है. शेष पर सोया हुआ हरि भी उस अनन्तमें आविष्ट है.

व्याख्यार्थ : मूलमें 'वासुदेवकला' और 'अनन्त' दोनों पद साथमें क्यों कहे हैं? उसके उत्तरमें कहते हैं दोनोंका रूप एक है, तथा कार्य भी एक है. इसीलिए साथमें कहे हैं, तथा कालात्मा भी होनेसे, उनका साथमें कहना आवश्यक था. जब अनन्तमें स्वतः सामर्थ्य है तो वासुदेवके आवेशके बतानेकी क्या आवश्यकता थी? इस पर कहते हैं कि उस समय वासुदेवकी कला अनन्तमें प्रवेश होती है. इसके ज्ञात करानेकेलिए यह उक्ति है. अनन्तरूप शेषमें संकर्षणका आवेश है. संकर्षणमें वासुदेवकी कलाका आवेश है. यह ही बलरामजीका स्वरूप सर्वदा है. बलरामजीमें तो पूर्णपुरुषोत्तमका आवेश तो कभी–कभी विशेष लीला समयमें होता है. उस स्वरूपसे की हुई लीला भी मूलरूपसे की हुई लीला समझनी चाहिये, कारण कि अंश और अंशीका परस्पर भेद नहीं है, वे एक ही हैं ।।२।।

अतोऽनुशयनं विष्णोर्बलभद्रेण नात्मनः ।
एकवत् प्रोच्यते कृष्णो द्विवल्लोकैः प्रतीयते ।।कारि. ३।।

कारिकार्थ : इस कारणसे बलराममें वासुदेव कलाका ही आवेश है न कि श्रीपुरुषोत्तम प्रभुका आवेश है. कृष्ण और बलराम एक ही कहे जाते हैं किन्तु लोकमें दोकी प्रतीति होती है.

व्याख्यार्थ : जब संकर्षणाविष्ट[१] अनन्त(शेष) अवतार लेते हैं, तब उस स्वरूपमें सात्त्विककल्पमें जलमें स्थिति करनेवाले वासुदेव ही अपनी कलासे उनमें प्रविष्ट होते हैं. अतः इससे यह नहीं समझना चाहिये कि दशम स्कन्धका अर्थ बलदेवजीमें आविष्ट, वासुदेवकलाकी ही लीला है. ऐसी शंकाके निवारणकेलिए ही आचार्यश्रीने इस कारिकामें 'न आत्मनः' कहकर बताया है कि

अनन्तमें पुरुषोत्तमका आवेश न होनेसे वह(वासुदेवकी लीला), दशम स्कन्धका अर्थ(निरोधलीला) नहीं है. तब बलरामजीकी लीला, निरोधलीला कैसे कही जाती है? इस शंकाको कारिकाके उत्तरार्धसे मिटाया गया है. जैसे कि उसमें कहा है कि बलरामजीमें वासुदेवका अंश सदैव रहता है और कृष्ण अंशी है. अंश अंशीका सदा ही अभेद है. अतः दोनो एक ही रूप हैं. इसलिए वहां भी एकत्वका ही निरूपण है, जिससे जैसे रूप एक है, वैसे सर्व चरित्र भी उसी मूल स्वरूपके ही किये हुए समझने. इस प्रकार समझनेसे दशम स्कन्धका अर्थ पुरुषोत्तमकी निरोधलीला ही सिद्ध है. लोकमें तो इस प्रकार देखनेमें नहीं आता है, इसको समझाकर कहते हैं कि एक रूप होते हुए भी लोकमें कृष्ण-बलराम जैसे दो प्रतीत होते हैं, वैसे ही चरित्र भी पृथक् प्रतीत होते हैं, किन्तु है एक ही. जिस भांति आनन्दमय विद्या, सद्विद्या तथा शाण्डिल्यविद्याओंमें ब्रह्मके रूप भिन्न-भिन्न वर्णन किये गये हैं, किन्तु शास्त्रदृष्टिसे वे सब एक ही ब्रह्मके रूप हैं, वैसे ही यहां भी जुदे-जुदे होते हुए भी वास्तवमें अंशांशीभेदसे उनका चरित्र, एवं रूप एक ही है ।।३।।

१. संकर्षण शेषका आधिदैविक स्वरूप है और वह व्यूहरूप है. योजना.

देवक्यां शयनस्यैव सम्भवो न हरेः स्मृतः ।
रोहिण्यामपरस्येति कर्षणान्नैव हीनता ।।कारि. ४।।

कारिकार्थ : देवकीजीके गर्भमेंसे शय्यारूप संकर्षणका प्राकट्य हुआ है, न कि वासुदेवका. वासुदेवांशका रोहिणीमेंसे प्राकट्य है. अतः मायाके कर्षण (खींच ले जाने)से उसकी कोई हीनता नहीं हुई है।।४।।

व्याख्यार्थ : इस कारिकामें देवकीजीके गर्भको मायाने खींचकर रोहिणीजीमें स्थापन किया है, जिससे वासुदेव, जो मोक्षदाता हैं, उनकी हीनता प्रकट होती है. इस शंकाका निवारण करते हुए कहते हैं कि देवकीजीके गर्भमें वासुदेवांश नहीं था. केवल संकर्षणाविष्ट शेषजी थे. वासुदेवांश तो रोहिणीजीके गर्भमें पहिले ही था. रोहिणीजी इस गर्भकी स्थितिके अनन्तर नन्दरायजीके घरमें रही थीं, जिससे रोहिणीजीमें अचानक गर्भ होनेकी शंकाको भी मिटा दी है और मायाने देवकीजीके गर्भसे शेषजीको ही लेके रोहिणीजीके गर्भमें स्थित वासुदेवांशमें स्थापित किया था. इससे वासुदेवजीकी हीनताकी शंकाका प्रश्न ही निरर्थक है ।।४।।

व्याख्यार्थ : उस संकर्षणको अन्य(वासुदेव)से पृथक् बतानेकेलिए मूल श्लोकमें 'वासुदेव' शब्द दिया है. संकर्षण, वासुदेवकी कलाका रूप तथा धर्मरूप है न कि स्वयं वासुदेव है. वह(संकर्षण)का रूप भी शैयारूप अनन्त(शेष) होनेके कारण कालात्मक है. वह(वासुदेव भगवान्) अपने आश्रयरूप शय्या पर ही शयन (स्थिति) करते हैं. अतः वह शय्या उनकी कलारूप है. वहां उसका(कलारूप शेषका) आधिदैविक संकर्षण स्वरूप भी विराजमान् है. इसलिए मूलमें उसको 'सहस्रवदन'(हजार मुखवाला) कहा है. सहस्रवदन संकर्षण, वेदात्मा(वेदरूप) भी है. संकर्षणके सिवाय केवल शेष भी उसके समान होगा. उसका विरोध करते हुए कहते हैं कि संकर्षण श्रेष्ठ है. कारण कि स्वर्गमें भी वे प्रकाश करते हैं. संकर्षणका जो ''सितकृष्ण केशरूप'' है, वह प्रथम व्रजमें प्रकट होगा. यदि वह प्रथम प्रकट होगा तो अनन्तर भगवान्के अवतारकी क्या आवश्यकता है? इस शंकाको मिटानेकेलिए मूलमें संकर्षणका विशेषण 'देव' शब्द दिया है, जिसका भाव यह है कि संकर्षण साक्षीरूपसे वहां कार्य करेंगे. विशेष कार्य नहीं करेंगे. अतः प्रभुके प्राकट्यकी आवश्यकता है. यदि केवल साक्षीरूपसे प्रकट होते हैं तो उनसे कौनसा लाभ होगा? वा क्या कार्य सिद्ध होगा? इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि भगवान्का प्रिय(सेवा) करनेकी इच्छासे प्रकट हुआ है. सर्व प्रकारके कार्यका प्रबन्ध करेंगे. समय पर युद्धादिमें भी सहायता करेंगे. संकर्षणभगवान् सबका दुःख हरनेवाले हैं. दैत्योंके सुखकेलिए (अर्थत् भगवान्ने दैत्योंको भी मोक्ष दिया है.) तथा भूमिके भारके हरणके वास्ते जो कार्य श्रीकष्णचन्द्र करेंगे, उसमें सहायता देकर, उनकी प्रिय,सेवा करेंगे ।।२४।।

आभास : यदि सर्वसामग्रीसहित[ं] प्रभु प्रकट होंगे तो सबकी मुक्ति हो जाएगी. सबकी मुक्ति होनेसे सृष्टि क्रम बन्द हो जाएगा? इस शंकाका नीचेके श्लोकसे निवारण करते हैं:

विष्णोर्माया भगवती यया सम्मोहितं जगत्।
आदिष्टा प्रभुणांशेन कार्यार्थे सा भविष्यति ।।२५।।

श्लोकार्थ : विष्णुकी माया, कि जिससे सर्व जगत् मोहित है, वह भगवती भी प्रभुसे आज्ञा पाकर, उनके कार्य सिद्ध करनेकेलिए अंशसे प्रकट होगी।।२५।।

व्याख्यार्थ : विष्णु, जो सर्व व्यापक हैं, तो भी जहां प्रकट होंगे, वहांकी

ही मायाका अपसरण(दूर) करेंगे. और जो माया, कार्य सिद्धकरनेकेलिए प्रकट होगी, वह इसी मायाका अंश है, जिसको आपने अपने प्राकट्य स्थानसे हटाया है. यह माया अंशरूप होते हुए भी भगवान्‌की कृपासे भगवती, ऐश्वर्य आदि छः गुणोंवाली हैं. अतः वह अपने स्थानको छोड़नेसे दोषवाली नहीं होती है. वह (माया) व्यापिवैकुण्ठमें रहते हुए भी यहांका कार्य सिद्ध करेगी. उस मायाने सम्पूर्ण जगत्‌को मोहमें डाल दिया है, जिससे सबकी मुक्ति नहीं होगी. यह भी शंका मनमें नहीं लानी कि कदाचित् वह माया प्रकट न होवे तो? वह अवश्य प्रकट होगी, कारण कि प्रभुने उसको आज्ञा दे दी है. जब सारे जगत्‌को मोहित करनेवाली माया भी आज्ञा मानती है, तो आपको(देवोंको) गर्व नहीं करना चाहिये. मायासे आप बड़े नहीं हो. माया जो कार्य करेगी उसका वर्णन आचार्यश्री करते हैं. १. यशोदामें दूध उत्पन्न करना, २. सप्तम गर्भको देवकीजीसे खींचकर, रोहिणीजीमें स्थापना करना, कंसको भुलावेमें डालना, वसुदेवजी तथा देवकीजीका कारागृहसे छुटकारा कराना ।।२५।।

१.सर्व सामग्री सहितका भावार्थ है कि यदि प्रभु सम्पूर्ण मायाको तिरोहित कर, आप सर्वत्र प्रकट सर्शन देनें लगे जायं, तो सबकी मुक्ति हो जायगी.

आभास : ब्रह्माजी इस प्रकार देवोंको समझाकर वहांसे चले गए. उसका वर्णन करते हैं:

श्रीशुक उवाच

इत्यादिश्यामरगणान् प्रजापतिपतिर्विभुः ।
आश्वास्य च महीं गीर्भिः स्वधाम परमं ययौ ।।२६।।

श्लोकार्थ : श्रीशुकदेवजी कहने लगे, ब्रह्माजी, जैसे भगवान्‌ने कहा था वैसे ही देवताओंको आज्ञा देकर तथा भूमिको वचनोंसे आश्वासन देकर अपने परमधामको चले गए।।२६।।

व्याख्यार्थ : देव अनेक प्रकारके हैं. अतः उनके पृथक्-पृथक् गण थे. हर एक गण अपने नेताकी आज्ञा मानता था. अतः ब्रह्माजीको प्रत्येक गणके सरपंचको सर्व विषय समझाना पड़ता था. श्लोकमें 'अमरगणान्' पदमें गण शब्द दिया है और बहुवचन भी दिया है. अतः ब्रह्माजीने सब आगेवानोंको सर्व विषय पृथक् पृथक् समझाये. ब्रह्माजी भी देव हैं, तो उनने क्यों नहीं अवतार लेनेकी आज्ञा मानी? इस शंकाका निवारण करनेकेलिए श्रीशुकदेवजीने ब्रह्माजीको

'प्रजापतिपतिः' कहा है, कि ब्रह्माजी साधारण देवता नहीं है, किन्तु सृष्टि करनेवालोंके भी स्वामी हैं. अतः भगवान्ने ब्रह्माजीको अवतार लेनेकी आज्ञा नहीं दी, यदि देते तो सृष्टिकार्यमें विघ्न पड़ जाता.

देवताओंको भगवान्ने साक्षात् आज्ञा नहीं की है किन्तु ब्रह्माजीने आज्ञा की है. ब्रह्माजीकी आज्ञा देवलोग नहीं मानेंगे यह भी शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि ब्रह्माजी 'विभुः' हैं अर्थात् देवताओंको कार्य करनेकी आज्ञा देनेका अधिकार ब्रह्माजीको है. यद्यपि देवताओंको दी हुई आज्ञाको सुनकर भूमि सन्तुष्ट हो गई थीं, तो भी ब्रह्माजीने पृथ्वीको विशेष प्रसन्न करनेकेलिए अनेक प्रशंसा वचन कहकर आश्वासन दिया. भूमिको यह निश्चय नहीं हुआ था कि भगवान् स्वयं प्रकट होंगे. किन्तु अब ब्रह्माजीके आश्वासनके वचनोंसे निश्चय हो गया. अतः भूमिके भाग्यका अभिनन्दन करना युक्त था।।२६।।

आभास : इस प्रकार भूमिकी सान्त्वना हुई, अनन्तर देवकीजीकी सान्त्वना करनी है, किन्तु प्रथम देवकीजीको दुःख हुआ, उसके उपायका प्रकार बताते हैं. अर्थात् देवकीजीको किस कारणके और कैसा दुःख हुआ उसका दश श्लोकोंसे वर्णन करते हैं:

शूरसेनो यदुपतिर्मथुरामावसन् पुरीम्।
माथुरान् शूरसेनांश्च विषयान् बुभुजे पुरा ।।२७।।

श्लोकार्थ : पूर्व समयमें यादवोंके अधिपति राजा शूरसेन मथुरापुरीमें रहता हुआ, माथुर तथा शूरसेन देशोंको भोगता था अर्थात् राज्य करता था।।२७।।

व्याख्यार्थ : सहस्रार्जुनसे उत्पन्न हुए पुत्रोंमेंसे पांच पुत्र बचे थे, उनमेंसे शूरसेन द्वितीय थे. यादवोंका राज्य ययातिने शाप द्वारा निवृत्त कर दिया था. तदनन्तर वह राजा राज्य कर सके तो भगवदंश हो. इससे भगवान्के अनुग्रहसे ही राज्य चलता था अर्थात् जिस व्यक्ति वा वंश पर भगवान्की कृपा होती वह राज्य करता था. सहस्रार्जुनमें भगवान्का अंश था, अतः भगवान्के अनुग्रहसे वह राजा हुआ. उसने जीते ही अपने द्वितीय पुत्र शूरसेनको माथुर और शूरसेन देश, ये दो मण्डल, राज्य करनेकेलिए दे दिये, बड़ा पुत्र तो माहिष्मतीमें ही राज्य करता था.

सर्वोत्कर्षे तु यद्दुःखं तद्दुःखं स्वल्पके स्मृतम्।
देशतः कालतश्चैव अवस्थातः स्वतोन्यतः ।।कारि.१।।

द्रव्यतो मानतश्चेति सप्तैव सुखदाः स्मृताः ।
तथाभूता शब्दवशात् प्राप्ता दुःखं तदा पतिः ।।कारि. २।।
प्रतिक्रियां समारेभे नवभिश्च प्रतिक्रिया ।।

कारिकार्थ : देवकीजीको सर्व प्रकारसे उत्कर्ष होने पर जो दुःख जरासे कारण होनेसे हुआ वह स्वल्प था. देवकीजीको देश, काल, अवस्था, अपने दूसरे द्रव्य, और मान, इन सातोंसे उत्कर्ष हो रहा था किन्तु जब शब्द सुननेसे दुःखको प्राप्त हुई, तब उनके पति वसुदेवजी दुःखके निवारणका उपाय करने लगे।।२।।

व्याख्यार्थ : भगवद्भक्तिमार्गमें भगवत्प्राकट्य तब होता है, जब भक्त दुःखी होता है. देवकीजीका सातों प्रकारसे उत्कर्ष सिद्ध हो गया था. जिसमें उन देवकीजीको अल्प दुःख भी बहुत देखनेमें आया है. पूर्ण प्रसन्न तथा सुखसम्पन्न देवकीजी आकाशवाणी सुनते ही घबरा गयी थीं, स्वल्प कारणसे प्राप्त दुःखको भी भगवान् शीघ्र तथा अनायास ही नाश करेंगे. क्योंकि भगवन्मार्गीय शास्त्रोमें इस प्रकारका वर्णन है. अतः इस विषयकी किसी प्रकारसे भी चिन्ता नहीं करनी चाहिये. यहां तो माताजीके दुःख प्राप्तिके उपायका ही केवल वर्णन करना चाहिये. वह विवाहकर ससुराल जाते समय आकाशवाणी होनेसे हो गया. शेष दोषादिसे उत्कर्षका वर्णन करना व्यर्थ है? इस शंकाका निवारण (सर्वोत्कर्षेतु) ये कारिकायें कहकर किया गया है. देवकीजीके उत्कर्षका वर्णन करते हैं. प्रथम तो जैसे वसुदेवके जन्म समय आनक तथा दुदुंभी घोष होने से उत्कर्ष हुआ. वैसे देवकीजी विवाहकर जब श्वसुरगृह जाती थीं, उस समय जो सम्मान हुआ, उससे उसका भी उत्कर्ष प्रकट देखनेमें आया था. अब सात प्रकारके उत्कर्षका वर्णन करते हैं.

१.''शूरसेनो यदुपतिः'' इस श्लोकसे उत्तम देशमें निवास करनेके कारण 'देश'से उत्कर्ष बताया.

२.राजधानी 'ततः' इस श्लोकसे वह नगर उस समय राजधानी था. इसलिए 'कालसे' भी उत्कर्ष बताया.

३.'तस्यां तु' इस आधे श्लोकद्वारा विवाह होनेसे अवस्थाका उत्कर्ष बताया.

४.''देवक्या सूर्यया'' इस पीछेके आधे श्लोकसे स्वतः ही अपना उत्कर्ष बताया.

५.''उग्रसेन सुतः कंसः'' इस श्लोकमें कंस रथका सारथी बनकर पहुंचाने चला. जिससे भी देवकीजीका अन्यसे उत्कर्ष हुआ है.

६. 'चतुःशतं' तथा 'दासीनां' इन दो श्लोकोंसे द्रव्यका उत्कर्ष देखनेमें आया है.
७. 'शङ्खतूर्य' इस श्लोकसे मानका उत्कर्ष दिखाया है. इसी भांती सात प्रकारके सुखोंसे सम्पन्नको आकाशवाणीसे प्राप्त थोडा भी दुःख असह्य होने लगा. इसको बतानेकेलिए ही सात प्रकारके उत्कर्षका वर्णन करना आवश्यक था.

वसुदेवजी इस प्रकार आकाशवाणीसे घबराई हुई दुःखित देवकीजीके दुःखका प्रतिकार करने लगे. जिसका वर्णन नव श्लोकोंसे किया गया है.

व्याख्यार्थ: सातों उत्कर्षोंमेंसे इस श्लोकमें प्रथम देशके उत्कर्षका वर्णन करते हैं. शत्रुघ्नकी बनाई गई मथुरा नगरीमें शूरसेन रहकर सर्व प्रकारके सुख भोगने लगे. वह शूरसेन यादवोंके स्वामी थे और यद्यपि शूरसेनके नामसे वह देश 'शूरसेन देश' कहलाता था तो भी उसको त्यागकर अपना निवास स्थान उन्होंने मथुराको बनाया. वहां रहकर शूरसेन तथा माथुर दोनों मण्डलोंके राज्यको भोगते थे. इससे यादवोंका स्वदेश मथुरा नगर हुआ ।।२७।।

आभास: कालभेदसे भी वह(मथुरा) बडी नगरी बन गई :

राजधानी ततः साभूत् सर्वयादवभूभुजाम् ।
मथुरा भगवान् यत्र नित्यं सन्निहितो हरिः ।।२८।।

श्लोकार्थ: तदनन्तर वह समस्त यादव वंशज राजाओंकी राजधानी बन गई, जिसमें सदैव भगवान् हरि विराजमान हैं।।२८।।

व्याख्यार्थ: उससे (शूरसेनसे) लेकर कंस पर्यन्त जितने भी राजा हुए, वे अपनी शक्तिसे ही राजा बने थे. किन्तु वे अपनी वीरतासे खण्ड मण्डलके अधिपति बने थे, समग्र मण्डलके नहीं बन सके थे उनको वहां ही अत्यन्त सुखकी प्राप्ति हुई थी. जिससे उनकी मथुरा ही राजधानी हो गई. वे सब राजा यादव ही थे. जहां राजा आनन्दसे रहते हैं, वह नगरी राजधानी कही जाती है. अथवा जिस नगरीमें राजाका राज्याभिषेक होता है वह नगरी राजधानी मानी जाती है. इससे उस नगरीमें राज्य लक्ष्मी नित्य बिराजती है. जिससे वहां रहनेवाले आनन्दमें रहते हैं. उस आनन्दमें रहनेका कारण भगवान् हैं. क्योंकि भगवान् नित्य 'मथुरा'में विराजते हैं ।।२८।।

सर्वतत्त्वेषु यो विष्टः स भूमावपि सङ्गतः ।
स नित्यं क्वचिदेवास्ति तत्स्थानं मथुरा स्मृता ।।कारि.१।।
तत्रस्थित्वा द्वयं चक्रे सर्वेषां सकलं हितम् ।

सर्वदुःखनिवृत्तिं च तत्र चेद्दुःखसम्भवः ।।कारि.२।।
प्रतीकाराः सर्व एव मर्यादामार्गसम्भवाः ।
व्यर्था जाताः सर्वथेति ज्ञापनार्थं निरूपितम् ।।कारि.३।।
देशकालादिमध्यस्थः षडङ्गत्वं य आगतः ।
सोन्यत्र सर्वदेशेषु शालग्रामादिषु स्थितः ।।कारि.४।। ।।२८।।

कारिकार्थः भगवान् हरि नित्य मथुरामें किस प्रकार बिराजते हैं. जबकि सृष्टिके आरम्भसे ''**तदेवानुप्राविशत्**'' ''**त्रयो विंशति तत्त्वानां युगपद् आविशत्**'' इन श्रुति तथा पुराण के वाक्योंसे निर्विवाद सिद्ध है, कि परमात्मा सर्व तत्त्वोंमें प्रविष्ट हुए जिससे उनकी मध्यपाती पृथ्वीमें भी प्रविष्ट हुए. वह स्वरूप अन्तर्यामी स्वरूप है, अर्थात् सबसे व्याप्त होकर विराजते हैं. तो भी जैसे ''गुहां प्रविष्टौ'' इस श्रुतिके अनुसार देहके एक देश 'अन्तःकरण'में विशेष रूपसे व्यक्त हैं, वैसे सर्वत्र भूमिमें व्याप्त होते हुए भी भूमिके एक देश मथुरामें नित्य विशेष रूपसे अभिव्यक्त होकर विराजते हैं. मथुरामें विराजमान होकर उन्होंने दो कार्य किये १.सबका सम्पूर्ण हित तथा २.सर्व दुःखोंकी निवृत्ति.

शंकाः जब भगवान्ने वहां विशेष रूपसे विराजमान होकर ये दो कार्य किये तब देवकीजीको दुःख क्यों हुआ? इस शंकाका समाधान यह है, कि भगवान्को शीघ्र अवतार लेकर प्रकट होना था तथा यह भी दिखाना था, कि मर्यादामार्गके सर्व साधन तब व्यर्थ हो जाते हैं, जब मेरी इच्छा वा कृपा न हो अथवा मेरी सन्निधि न हो. इसलिए भगवान्ने उस समय अपना नित्य सन्निहित स्वरूप भी तिरोहित कर दिया था.

श्रीरंग आदि धामोंमें भी भगवान्का सान्निध्य है, किन्तु वहां नारायणका सान्निध्य है. तात्पर्य यह है कि श्रीरंग आदि धामोंमें अंगरूपसे अनुप्रविष्ट हैं और मथुरामें अंगी रूपसे अनुप्रविष्ट हैं. अंगसे अंगी अधिक है. उन अंगीसे ही जब सुख प्राप्ति नहीं है, तो अंगभूतसे कैसे होगी? इससे यह भी बता दिया है कि तापनीय श्रुतिमें जो द्वादश स्वरूप कहे हैं, उनसे भी सुख प्राप्त नहीं हो सकता है.

क्या मथुरादिके सिवाय दूसरे स्थान पर भगवत्पूजा आदि नहीं करनी चाहिए? इसका समाधान चौथी कारिकामें करते हैंः देश, काल, द्रव्य, कर्त्ता, मन्त्र और कर्म इन धर्मके छः अंगोमें भी भगवान् विराजमान हैं. वह भगवान् तीर्थसे अन्य देश, शालग्राम, तुलसी, एकादशी व्रतोंमें भी अंग रूपसे विराजते हैं.

अतः समयानुसार वहां पूजादि की जा सकती है. किन्तु मथुरामें नित्य अंगी रूपसे विराजते हैं.

आभास : इस प्रकार देश तथा कालसे उत्कर्ष सिद्ध कर अब श्लोकसे उन देवकीजीकी अवस्था (उत्कर्ष) बताते हैं:

तस्यां तु कर्हिचिच्छौरिर्वसुदेवः कृतोद्वहः ।
देवक्या सूर्यया सार्धं प्रयाणे रथमारुहत् ।।२९।।

श्लोकार्थ : शूरसेनके पुत्र वसुदेवजी किसी दिन इस मथुरा नगरीमें विवाह कर नवविवाहिता देवकीजीके साथ अपने घर जानेकेलिए रथमें बैठे।।२९।।

व्याख्यार्थ : मूल श्लोकमें कहे हुए 'तु' शब्दका भावयह है, कि अबतक देवकीजीको सुख था पर अब वह सुख, दुःखमें पलटता है, जिससे सिद्ध होता है कि यह 'सुख' भगवान्ने नहीं दिया है. 'तु' शब्दका भाव दूसरे प्रकारसे बताते हैं कि 'तु' कहनेका यह भी आशय है, कि भगवान् जो सुखरूप है उनके अंश भी जहां प्रकट विराजते हैं, वहां सुख ही होता है. किन्तु अब स्वयं भगवान्को अवतार लेकर पूर्ण आनन्द दान करना है और भगवान्का प्राकट्य तब होता है, जब भक्त आदि सब दुःखी होते हैं. अतः अपने अंशोंको उन्होंने खेंच लिया. जिससे सुख तिरोहित हो गया और दुःखका आविर्भाव हुआ. मूलमें 'कर्हिचित्' शब्द देनेका आशय यह है, कि जिस समय जा रहे थे, उस समय कोई सुन्दर मुहूर्त देखकर तैयारी नहीं की थी. अचानक विवाह हुआ और जानेकी तैयारी कर ली. वासुदेव नामवाले बहुत हैं और वसुदेवके भाई अन्य भी हैं, इसलिए वसुदेवके साथ 'शौरि' विशेषण दिया है, जिससे किसी प्रकार भ्रान्ति न होवे. केवल 'वसुदेव' नाम देनेसे, यह शंका रह जाती कि कौनसा वसुदेव है? और यदि केवल 'शौरि' कहते तो शूरका कौनसा पुत्र विवाह करके जा रहा है 'दोनों' (शौरि, वसुदेव) पद देनेसे भ्रान्तिको अवकाश नहीं रहा है. नवविवाहिता भार्या देवकीजीके साथ, अपने गृह जानेको, श्वसुर द्वारा दिये हुए रथमें बैठे. स्त्रीकी उत्तम अवस्था वह है, जब विवाहका समय हो और अपने पतिका साथ हो. इसलिए इस समय देवकीजीको ये दोनों प्राप्त थे, अतः देवकीजीका अवस्थासे भी उत्कर्ष है. तथा 'सूर्यया',(नवविवाहिता) थीं, इसलिए 'स्वतः' भी उत्कर्ष हुआ. पतिकी प्रधानता भी पतिव्रता स्त्रियोंके उत्कर्ष होनेमें कारण है. यद्यपि देवकीजीका पिता देवक बड़ा था, तो भी वह ऐसा समय था, जिसमें मर्यादाके

अनुकूल राज्य प्राप्ति नहीं होती थी. जो बलिष्ठ होता था, वह राजा बन बैठता था. निर्बल शान्तिसे रहकर व्यवहार चलाता था. इसी कारणसे इस विवाह प्रसंगमें देवकका नाम नहीं आता है. उस समय उग्रसेन अथवा कंस राज्यकी कार्यवाही करते थे ।।२९।।

आभास : लोकमें यह प्रथा प्रसिद्ध है कि कोई भी व्यवहारका कार्य होता है तो यह बडा व्यक्ति ही करता है. अतः उग्रसेनका पुत्र कंस इस समय मुख्य होनेसे देवकीके भ्रातापनका सर्व कार्य करने लगा. जिसका वर्णन करते हैं:

उग्रसेनसुतः कंसः स्वसुः प्रियचिकीर्षया।
रश्मीन् हयानां जग्राह रौक्मै रथशतैर्वृतः ।।३०।।

श्लोकार्थ : भगिनीके सम्मान करनेकी इच्छासे, उग्रसेनके पुत्र कंसने, सोनेसे मंडित सैकडों रथोंके बीचमें स्थित रथके घोडोंकी बाग्डोरोंको अपने हाथमें ले ली।।३०।।

व्याख्यार्थ : बहिन देवकीजीके सम्मान पूर्वक प्रिय कार्य करनेकी इच्छासे कंस, राजा होते हुए भी स्वयं घोड़ोंकी लगामोंको लेकर सूत बन गया. यदि कंस अकेला ही घोड़ोंकी लगाम ले रथको चलाकर वसुदेवको अपने घर पहुंचाने जाते, तो न शोभा होती और न उनका, वसुदेव–देवकीका मान होता, जिससे वे प्रसन्न न होते, तथा कंस राजा होकर इस साधारणरीतिसे बहिनको अकेला छोड़ने गया. यह कंसकेलिए भी शोभास्पद नहीं था. अतः कहते हैं कि ''रौक्मैः रथशतैः वृतः'', सुवर्णमण्डित सैकड़ो रथ चारों तरफ थे, जिनके मध्यमें वसुदेवजी जिस रथमें बैठे थे, वह 'रथ' था. कंसने उसी रथका सूत बनकर घोड़ोकी बागडोरें पकड़ रखी थीं. इस दृश्यसे सिद्ध होता था कि 'वसुदेव' ही मुख्य राजा बन गये हैं, और कंस जो राजा थे वे दास हो के बैठे थे. इस प्रकार यह अधिक सम्मान है. इस श्लोकसे देवकीजीका दूसरोंसे अधिक उत्कर्ष बताया गया है ।।३०।।

आभास : नीचेके दो श्लोकोंसे पिता और द्रव्यसे देवकीका उत्कर्ष वर्णन करते हैं:

चतुःशतं पारिबर्हं गजानां हेममालिनाम्।
अश्वानामयुतं सार्धं रथानां च त्रिषट्शतम् ।।३१।।
दासीनां सुकुमारीणां द्वे शते समलङ्कृतेः।
दुहित्रे देवकः प्रादात् यानैर्दुहितृवत्सलः ।।३२।।

श्लोकार्थ : पुत्री पर प्यार करनेवाले देवकजीने अपनी पुत्री देवकीको विदाके समय दहेजमें सुवर्ण मालाओंसे सजे हुए ४०० हाथी, पन्द्रह हजार घोडे, अठारहसौ रथ, श्रृंगार सहित सुन्दर सुकुमार दोसौ दासियां, पालकियों समेत दी।।३१-३२।।

व्याख्यार्थ : क्षत्रिय लोग विवाहमें वर तथा वधुके सन्तोषकेलिए चतुरंगिणी सेना(पैदल सिपाही, घोड़े, रथ और हाथी इनकी सेनाको चतुरंगिणी कहते हैं.) दहेजमें देते हैं. किन्तु देवकने पैदल सिपाहियोंके स्थानमें कन्याकी प्रसन्नताकेलिए दासियां दी थी. सुवर्ण मालासे सुशोभित चारसौ हाथी, पन्द्रह हजार घोड़े अठारहसौ रथ दिये ।।३१।।

दासियां जो देवकने दी थीं, उसका कारण यह था कि ससुरालमें देवकीको मन बहलावकेलिए सखियां अवश्य चाहिये, नहीं तो वहां उदास रहेगी. अतः उसके समान सुकुमार एवं अलंकृत दासियां भी दी. वे दासियां, कन्या देवकीको दी थी, उनमें वसुदेवका कोई अधिकार नहीं था, जिससे वसुदेव उन दासियोंसे कोई भी सेवा न ले सके. देवकने देवकीके विवाहमें ही इतना दहेज क्यों दिया? इस शंकाका निवारण उनके 'देवक' नामसे हो जाता है. देवकका अर्थ है 'ज्ञानवान्'. ज्ञानवान् होनेसे इसको पता था कि देवकीके गर्भसे भगवान्का प्राकट्य होगा, इसलिए विशेष दहेज दिया था. कन्याको जो दासियां दी थीं, उनके आने जानेको चढ़नेके वास्ते पालकियां भी दी थी. उनकेलिए भी पालकियां क्यों दी? इस शंका निवारणकेलिए कहते हैं देवक 'दुहितृवत्सलः', कन्याओंमें प्रेमवाले थे, वे दासियां भी कन्याएं ही थीं, अथवा देवकीके कहनेसे उनको पालकियां दी थी ।।३२।।

आभास : इस निम्न श्लोकमें प्रयाण समयमें जो सम्मानसे विदा किया उसका वर्णन करते हैं:

शङ्खतूर्यमृदङ्गानि नेदुर्दुन्दुभयः समम्।
प्रयाणप्रक्रमे तावद्वरवध्वोः सुमङ्गलम्।।३३।।

श्लोकार्थ : वर-बहुके प्रयाणके समय, मंगल होनेकेलिए, शंख, तूर्य मृदंग और दुन्दुभि, ये चारों साथमें बजने लगे।।३३।।

व्याख्यार्थ : शंख मुखसे बजाया जाता है. तुरही और मृदंग हाथके बाजे हैं, दुन्दुभि डण्डोंसे बजाई जाती है. ये सब साथमें ही बजने लगे. ये क्यों और कब

साथमें बजने लगे? जब वर और वधूके जानेका प्रारम्भ हुआ तब बजने प्रारम्भ हुए, और मङ्गल सूचना देनेकेलिए बजने लगे. इनके बजनेसे यह मालूम हुआ कि शकुन अच्छे हैं, इसका फल उत्तम होगा ।।३३।।

आभास : आनन्दयुक्त प्रयाणके समय कालने आनन्दमें रुकावट डाली. कैसे रुकावट डाली? वहां कहते हैं कि कालके आधिभौतिक स्वरूप कालनेमीने कंसमें आकर निवास किया. वह काल, देवकीके उत्कर्षको सहन नहीं कर सका. अतः कालके अनुरूप देवता कालको प्रकट करनेकेलिए, अचानक रास्तेमें आकाशवाणी हुई, जिससे कालनेमीके आवेशके प्रकट होनेसे कंसकी बुद्धि विकारवाली होने लगी. उसका वर्णन निम्न श्लोकोंमें कहते हैं:

पथि प्रग्रहिणं कंसमाभाष्याहाशरीरवाक् ।
अस्यास्त्वामष्टमो गर्भो हन्ता यां नयसेऽबुध! ।।३४।।

श्लोकार्थ : घोडोंकी लगामको पकडकर जानेवाले कंसको रास्तेमें आकाशवाणीने कहा कि हे मूर्ख ! जिसको तूं पहुंचाने जा रहा है, उसका आठवां गर्भ तुझे नष्ट करेगा।।३४।।

व्याख्यार्थ : मार्गमें अतिशय शोभा हो रही थी, जिससे देवकीका भी उत्कर्ष प्रकट देखनेमें आ रहा था. घरमें वा पहुंच जानेके बाद होता तो ये दो तो उस समय नहीं होते. परन्तु आकाशवाणीको तो रंगमें भंग और हर्षमें दुःख पैदा करना था, अतः वह आकाशवाणी मार्गमें ही हुई. इससे यह बताया कि आधिभौतिक काल इस मार्ग[1] में बाधक होता है. आकाशवाणी बागडोर पकड़े हुए कंसको, सावधान करनेकेलिए प्रथम, रे मूर्ख ! कंस ! संबोधन करती है. जब वह सावधान हो जाता है तब आवाज आती है. वह आवाज तालु, होठ आदिके मिलापसे नहीं निकल रही थी, यों ही वायुमें मिश्रित होकर आ रही थी. इसलिए श्लोकमें 'अशरीर वाक्' पद दिया है, जिसका अर्थ है वह वाणी जो शरीरसे न निकली हो. उस वाणीसे सुननेमें आया कि जिसको तूं प्यारसे पहुंचाने ले जा रहा है, उस देवकीका आठवां गर्भ तुझे नष्ट करेगा. इस प्रकार स्पष्ट कहनेसे वह बता दिया कि दासी आदिका गर्भ तुझे नष्ट नहीं करेगा. सङ्ख्या तो निश्चय बता दी किन्तु पुत्र व पुत्री यह स्पष्ट नहीं कहा. यों भी न समझना, कि यह मेरी बहिन है, और इसकी सन्तान भानेज मुझे कैसे मारेगा, यदि यों समझ लिया तो तूं मूर्ख है. मैं ऐसा स्पष्ट तुझे मूर्ख इसलिए कहती हूं कि मैं तेरा हित चाहती हूं ।।३४।।

१. भक्तिमार्ग तथा विवाहोत्सव दोनोंके मार्गमें आधिभौतिक काल प्रतिबन्धक होता है.

आभास : आकाशवाणी होनेके अनन्तर जो कुछ हुआ, उसका वर्णन करते हैं:

इत्युक्तः स खलः पापो भोजानां कुलपांसनः।
भगिनीं हन्तुमारब्धः खड्गपाणिः कचेऽग्रहीत् ।।३५।।

श्लोकार्थ : आकाशवाणीका इतना कहना सुनते ही भोजकुलके कलंक रूप पापी कंसने बहिनको मारनेकेलिए एक हाथमें तलवार ली, और दूसरे हाथमें देवकीके केशोंको पकड लिया।।३५।।

व्याख्यार्थ : आकाशवाणीका इस प्रकार कहनेका तो आशय यह था कि देवकीजीको घरमें रख लेंगे अथवा और कोई समुचित उपाय करेगा, किन्तु यह कंस दिग्विजयी, तथा स्वभावसे खल तो पूर्व था ही और विशेषमें उसके साथ आधिभौतिक कालस्वरूप कालनेमि शामिल हो गया, इससे वाणी सुनते ही हाथमें तलवार लेकर भगिनीको मारनेकेलिए उसके बालोंको पकड़ लिया. केवल वाणी सुननेसे इतना बड़ा भारी पाप करनेकेलिए कैसे उद्यत हुआ? वहां कहते हैं कि वह निरन्तर पाप कर्म करता ही रहता था, जिससे पापात्मा बन गया था. इसीसे शास्त्रवचनोंकी भी उसने परवाह नहीं की है और उसको लोक भी नहीं रोक सके क्योंकि वे खल हैं. इसी प्रकार बान्धव भी रोकनेमें असमर्थ थे, कारण कि वह कुलकलंक था. अतः उसको अपने कुलकी मानमर्यादा भी इस घृणित कार्यसे नहीं हटा सकी. बालोंको कुछ भी करना नहीं था इसलिए 'कच' शब्द सप्तमी विभक्तिमें दिया है. यदि बालोंको कुछ करना होता तो सप्तमी विभक्ति न देकर दूसरी देते. उस कंसको तो बहिनको ही मारनेकेलिए कालने तैयार किया था. देवकीजी भाग न जावे, केवल इसलिये बाल पकड़ रखे थे ।।३५।।

आभास : यद्यपि वसुदेव शूरवीर थे और साथमें कंसका पराक्रम भी जानते थे, इसके सिवाय स्वयं उस समय शस्त्र तथा सेना आदि नहीं होनेसे, असहाय थे. एवं यह भी समझते थे कि कंसका स्वतः दोष नहीं है. यह निश्चयकर कंसको शान्त करनेका उपाय करने लगे. इस श्लोकमें उसका वर्णन करते हैं:

तं जुगुप्सितकर्माणं नृशंसं निरपत्रपम्।
वसुदेवो महाभाग उवाच परिसान्त्वयन् ।।३६।।

श्लोकार्थ : निंदाके योग्य कर्म करनेवाले, निर्दयी और निर्लज्ज कंसको, महाभाग्यवान् वसुदेवजी शान्ति कराते हुए कहने लगे।।३६।।

व्याख्यार्थ : वसुदेवजी, कंसकी सान्त्वना इस लोभसे नहीं करते हैं कि मेरी स्त्री मर जायगी, तो मैं दुःखी हो जाऊंगा वा मेरी हानि होगी, किन्तु यह कंसका कर्त्तव्य अयोग्य है. इससे वसुदेवजीके हृदयमें दया उत्पन्न हुई कि कंस ऐसा पाप कर्म करेगा तो उसका अनिष्ट होगा और देवकी भी बिना दोष मारी जाती है. इसी दयाके कारण वसुदेवजीने कंसको शान्त करानेकेलिए निश्चय किया. भगिनीकी हत्यासे मेरी लोकमें अपकीर्ति होगी तो मैं समाजमें मुख ऊपरकर कैसे चलूंगा, इस प्रकार लज्जा आनेसे स्वयं यह कार्य न करेगा, यों समझकर वसुदेवजीको चुप रहना चाहिये था. इस पर कहते हैं, कि लज्जा उसको आती है, जिसने कभी भी निन्दित कार्य न किया हो, यह कंस तो सदैव निन्दित कर्म करनेवाला है. उसको कैसे लज्जा आवेगी? यदि लज्जासे नहीं तो 'भगिनी दयामूर्तिः' बहिन दया पात्र है, यों समझकर छोड़ देगा. इस पर कहा गया है कि वह कंस निर्दय है. अतः उसको कभी दया आती नहीं है इसलिए यह छोड़ेगा नहीं. इसके सिवाय वसुदेवजी यह भी जानते थे कि कंस, दैत्योंमें भी अधम दैत्य होनेसे निर्लज्ज है, इन सब विषयोंका विचारकर वसुदेवजीने सोचा कि इसकी उपेक्षा करनी अयोग्य है. अतः किसी भी प्रकार सान्त्वना कराके देवकीको छुड़ाना चाहिये, यों करनेकी वसुदेवजीमें शक्ति थी क्योंकि उनके जन्मके समय देवोंने बड़े नगाड़े इसलिए बजाये थे कि यह महाभाग्यवान् है ।।३६।।

आभास : वसुदेवने आकाशवाणी सुनकर मनमें निश्चय पूर्वक समझ लिया, कि यह देवकी तो मरेगी नहीं. तो भी व्यवहारानुसार इसका प्रतीकार करना चाहिए. सामासामी शस्त्रोंसे लडाई न करके कंसको पूरी तरह शान्त करने तथा आकाशवाणीके वचनोंके समाधान करनेके वास्ते कहने लगे कि, ठहरो ! ठहरो ! मेरी प्रार्थनाको पहले सुनलो. वसुदेवजीने समझ लिया था कि कंसको निश्चय हो गया है, कि आकाशवाणीने जो कहा है, वह मिथ्या नहीं है अतः उसका प्रतिकार करनेका वह प्रयत्न कर रहा है. अब शस्त्र क्रिया से मेरा कार्य सिद्ध नहीं होगा अतः इस कार्यकी सिद्धि ज्ञानरूप प्रतिकारसे ही होंगी यों निश्चयकर नौ श्लोकोंसे कंसको सर्वज्ञानका तत्त्व समझाकर शान्त करते हैं. नौ श्लोकोंसे उपदेश करनेका भाव यह है, कि 'प्राण' नौ हैं, जिनकी रक्षा करनी है:

वसुदेव उवाच

श्लाघनीयगुणः शूरैर्भवान् भोजयशस्करः ।

स कथं भगिनीं हन्यात् स्त्रियमुद्वाहपर्वणि ।।३७।।

श्लोकार्थ : वसुदेवजी कहने लगे, कि आपके गुण शूरवीर भी गा रहे हैं तथा आप भोज भूपतिके वंशका यश बढा रहे हो. वैसे आप, इस विवाहोत्सव जैसे शुभ कार्यमें स्त्रीको, वह भी बहनको कैसे मारते हो ?।।३७।।

व्याख्यार्थ : आकाशवाणी सुनकर कंसको निश्चय हो गया कि इसके आठवें गर्भसे मेरी मृत्यु होगी. अतः देवकीका ही नाश कर दूंगा तो मेरी मौत नहीं होगी. इस प्रकारके मृत्युका निश्चय कंसके हृदयसे निकालनेकेलिए वसुदेवजी प्रयत्न करने लगे. जो, वसुदेवजीके उपदेशसे कंसके हृदयसे मृत्युका अभिमान, जिसका मूल कारण देहाध्यास है, वह निकल जाता तो अक्लिष्टकर्मा भगवान् कंसको मारते नहीं. किन्तु यह वसुदेवजीका उपदेश, देवगुह्य, श्रीकृष्ण करके गुह्य है, जिससे कंस समझ न सका. न समझनेके कारण उसका मृत्युमें वही अभिमान रहा, अतः उपदेश भी प्रतिबन्धक हो गया. वसुदेवजीका उपदेश देवगुह्य था. उसका आशय यह भी था कि यदि देवकी मारी जायगी तो आकाशवाणीका कहना मिथ्या हो जायगा, अतः देवकीकी मृत्यु भी न हो और आकाशवाणी भी सत्य हो इसकेलिए कोई दूसरा उपायका विचार करना चाहिये. वसुदेवजी भी भगवान्की प्रेरणासे, उपदेशका समय तथा अपने अधिकारी न होने पर भी उपदेश देने लगे. कंसके कृत्योंको देखते हुए उस पर दया करनेका अवसर नहीं था तो भी उसके हितकेलिये वसुदेवजी दयाके कारण उसको उपदेश देने लगे.

हे कंस ! यह जो आप भगिनी–वधका कार्य कर रहे हो, वह नौ प्रकारके विचारसे सिद्ध होता है कि नहीं करना चाहिये.

१. भगिनी वध जैसा निन्दित कर्म महापुरुषोंके योग्य नहीं है, और यह दुष्कर्म मृत्युसे बचनेका उपाय भी नहीं है.

२. यदि वह (भगिनीका वध) मृत्युसे बच जानेका उपाय भी हो तो भी नहीं करना चाहिये, कारण कि, मृत्युके अनन्तर, देहसे जीवके चले जानेके पश्चात् यह देह मलरूप गिनी जाती है. जिसका कोई भी स्पर्श करना नहीं चाहता.

३. दूसरी देहकी प्राप्तिमें किसी प्रकारकी दुर्लभता नहीं है.

४. पूर्व देहके त्यागमें किसी प्रकारका प्रयास नहीं है.

५. वास्तविकरीतिसे विचारा जाय तो जीवका जन्म वा मृत्यु ही नहीं होता है. केवल देहके अध्याससे जीव समझता है कि मेरा जन्म हुआ है.

६. देहमें जो अध्यास हुआ है वह अज्ञानसे हुआ है. वह अज्ञान, ज्ञानसे मिटाया जा सकता है.

७. कोई भी जबतक दूसरेसे द्रोह नहीं करता है तबतक उसको कोई भय नहीं है.

८. यदि आकाशवाणी सत्य ही समझते हो तो इस प्रकारके द्रोह करने पर भी मुझसे वा मेरे भीतर विराजमान् प्रभुके द्वारा तेरी मृत्यु निश्चय होगी ही.

९. आपने अपने आपको बचानेकेलिये जो उपाय सोचा है, वह लोक तथा स्वभावके विरुद्ध है.

इन उपदेश वाक्योंमें पहला और अन्तमें ८वें व ९वें लौकिकदृष्टिसे दिये गये हैं. शेष बीचवाले ६ उपदेश पारमार्थिक हैं.

अब उस प्रथम प्रारम्भ किये निन्दितकर्म(भगिनी-वध)को छोड़नेकेलिए कंसको उपदेश देते हैं.

हे कंस ! आप थोड़ा विचार करो कि जरासन्ध जैसे शूरवीर भी आपका यश गाते हैं कि आप महाशूर हैं. शूर तो युद्ध ही चाहते हैं. वे मृत्युसे नहीं डरते हैं. कायर ही मृत्युका विचार करते हैं. अतः शूरवीर होनेसे आपको तो इसका पुत्र मुझे मारेगा. यह सुनकर शूरवीरता आनी चाहिए. शूरवीर तो लड़ाई सुनकर उत्साहित होते हैं पर आप तो डरपोक बन गये हो. यह आपको उचित नहीं है और बहिनका वधकर अपनी वीरताका नाश करना भी योग्य नहीं है. युद्धमें 'मरनेवाले तथा मारनेवाले'का मृत्यु दोनोंके इच्छानुकूल है, किन्तु वैसी मृत्यु क्षत्रियोंकेलिए दुराप अर्थात् कष्टसे कभी मिलती है. आप तो क्षात्रधर्मको अच्छी तरह जाननेवाले हो. इस प्रकार आपकी प्रशंसा करते हैं और कहते हैं कि आप भोजके यशको फैलानेवाले हो तथा भोजवंशमें आप जैसा शूर दूसरा कोई नहीं हुआ है. अतः आकाशवाणी सुनने मात्रसे बहिनका वध उचित नहीं है. इसको छोड़नेसे आपका धर्म तथा यश बढेगा. ऐसे धर्म तथा यशवाले आप, दयापात्र भगिनीको कैसे मारोगे? जिस बहिनकेलिए मनुष्य अपना शरीर भी दे देते हैं. बहिनका विचार छोड़ा जाय तो भी 'स्त्री' जाति तो है. शूरवीरोंको स्त्रीका वध करना अनुचित है. यदि आप समझो कि यह मेरी बहिन भी क्षत्रिय होनेके कारण शूरता आनेसे मुझसे लड़े वा मुझे मार डाले? इस शंकाको मिटानेकेलिए कहते हैं कि यह वैसी नहीं है,

जो वैसी होती है वे पुरुष प्रकृतिकी होती है, यह स्त्री प्रकृतिवाली है. यदि आपको इसको मारना ही है तो भी अब विवाहोत्सवके समयमें तो मत मारो पीछे मार देना. लौकिक राजालोग जिसको मारना चाहते हैं, उसको विषादिसे मरवा देते हैं. इन कारणोंसे शौर्य आदि धर्मवाले आपको इसका वध करना योग्य नहीं है ।।३७।।

आभास : आप जब इस भागिनीको इसलिए मारते हो, कि मैं मरनेसे बच जाउं, परन्तु बहिनसे तो किसी प्रकारका वैर है नहीं, जिसकेलिए उसको मारते हो. तब आपको सोचना चाहिए कि इसको मारनेसे क्या मेरी मृत्यु टल जाएंगी? यह तो कदापि नहीं होगा, कारण कि मौत तो जन्मके साथ जन्म लेती है.

वसुदेवजी इस नीचेके श्लोकमें इसी प्रकार कंसको समझाते हैं:

मृत्युर्जन्मवतां वीर देहेन सह जायते।
अद्य वाब्दशतान्ते वा मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवः ।।३८।।

श्लोकार्थ : हे वीर! जन्म लेनेवालोंकी मृत्यु, उनकी देहके साथ ही उत्पन्न होती है, अतः प्राणी मात्रकी मृत्यु होनी निश्चित है. वह मृत्यु कब होगी उसका किसीको पता नहीं है. आज हो अथवा सौ वर्षके बाद हो, जब आवेगी उसको कोई रोक नहीं सकता है।।३८।।

व्याख्यार्थ : हे कंस ! इसको मारनेसे तेरी मृत्यु जो अवश्य होनेवाली है, वह टलेगी नहीं. इसका गर्भ या किसी दूसरेका गर्भ तुझे मारेगा तो अवश्य ही. यदि कहो कि मृत्यु टलेगी नहीं, किन्तु कुछ समय रुकनेसे उसमें विलम्ब तो होगी. इस पर कहते हैं कि विलम्ब तो यों भी है ही. यह देवकी तो तुझे नहीं मारती है तथा न मारेगी और मारनेवाला इसका आठवां गर्भ भी अब जन्म नहीं लेता है. इसलिए विलम्बके कारण मारना भी व्यर्थ है. अतः इसका वध करना तो तेरे बच जानेका उपाय नहीं.

मृत्यु तो प्राणियोंके जन्मके साथ जन्म लेती है, ''मृत्युना एव इदम् आवृतं'', बृहदारण्यकके प्रथमाध्यायकी इस श्रुतिमें कहा गया है कि यह सब मृत्युसे घिरा हुआ था. भगवान्ने प्राणियोंको उस मृत्युसे बाहिर निकाला और मृत्युको प्राणियोंके भीतर स्थापन किया. वह भीतर स्थित मृत्युका रूप अशना भूख है. यह भूखरूप मृत्यु देहके साथ पैदा होती है, इसलिए ''अशना या मृत्युरेव'', इस श्रुतिमें कहा है कि मृत्युका रूप भूख है. अतः प्राणियोंकी वह मृत्यु नित्य होती है. इसका प्रत्येक प्राणीको अनुभव है. जब भोजन नहीं मिलता है,

भूख सताती है, तो प्राणीके मुखसे ये शब्द निकलते हैं कि मैं भूखे मरता हूं, जल्दी भोजन दो नहीं तो मेरे प्राण निकलते हैं. इससे निश्चय है कि आज वा सौ वर्षके अनन्तर मृत्यु तो होनेवाली ही है. वसुदेवजीने कंसको हे वीर! सम्बोधन देकर यह बताया कि तूं शूरवीर है, तुझे भय नहीं करना चाहिये. सौ वर्षके बाद भी तो मृत्यु सब मानते ही हैं. तब ही आकाशवाणी सत्य होगी. अतः इस प्रकार विचारपूर्वक समझ लेनेसे आपको इसका वध करना उचित नहीं है ।।३८।।

आभास : हे कंस ! आप यों भी नहीं समझना कि देहके त्याग करनेमें जो दुःख होगा वह इसके वधसे निवृत्त हो जाएगा, इसकेलिए इसका वध मेरे दुःख निवृत्तिकी औषधि जानकर यह कर्म करता हूं. निम्न श्लोकसे कंसको समझाते हैं कि देहत्यागमें कोई क्लेश नहीं होता है:

देहे पञ्चत्वम् आपन्ने देही कर्मानुगोवशः ।
देहांतरमनुप्राप्य प्राक्तनं त्यजते वपुः ।।३९।।

श्लोकार्थ : जब परवश जीवको कर्मके अनुसार इस देहको छोडना पडता है, तब दूसरी देहको प्राप्त करनेके पश्चात् पहिले देहका त्याग करना पडता है।।३९।।

व्याख्यार्थ : जब जीव इस देहके त्यागकी तैयारी करता है, तब देहके पांचों तत्त्व पृथ्वी आदि पञ्चमहाभूतोंमें क्रमशः लीन होने लगते हैं. उसके पश्चात् देहाभिमानी जीव, कल्याणकारी नवीन दूसरी देहको पाकर पहिली मलरूप बनी हुई देहको छोड़ देता है. पहिली देहके त्याग तथा नयी देहके ग्रहण करनेमें जीवको परिश्रम नहीं करना पड़ता है. कारण कि जीव कर्मके आधीन है. कर्म जहां जीवको ले जाते हैं, वहां उसको जाना ही पड़ता है. कर्म ही उसको पहिली देह छुड़ाता है और नवीन देह दिलाता है. जीवको परिश्रम करनेकी भी अपेक्षा नहीं है, क्योंकि वह कर्मके आधीन है. 'अनुप्राप्य' शब्दसे यह बताया है कि इस एक देहको छोड़कर दूसरी लेनेमें कालको कुछ भी विलम्ब नहीं होता है. देहके त्याग तथा ग्रहण करनेमें परिश्रम न होनेसे, औषध लेनेकी तरह भी इसका वध करना अयोग्य है ।।३९।।

आभास : पहिली देह छोडकर, दूसरी देहकी प्राप्तिमें विलम्ब होगा, यह भी शंका मनमें नहीं लानी चाहिए, यह निम्न श्लोकमें कहते हैं:

व्रजंस्तिष्ठन् पदैकेन यथैवैकेन गच्छति ।
यथा तृणजलौकैवं देही कर्मगतिं गतः ।।४०।।

श्लोकार्थ : जैसे चलता हुआ मनुष्य पृथ्वी पर आगेके पैरसे देहको टिका कर पीछे दूसरा पांव उठाता है, तथा जैसे तृणकीट अन्य तृणको पकडकर प्रथम तृणका त्याग करता है, वैसे जीव भी कर्मके अनुसार नवीन देहको प्राप्त करनेके पश्चात् पहिली देहको छोडता है।।४०।।

व्याख्यार्थ : जैसे पैदल जानेवाला मनुष्य प्रथम एक पैरसे अगली भूमि पर स्थित होनेके बाद पीछेकी भूमिसे दूसरा पैर उठाता है, इससे यह सिद्ध हुआ कि पहले ठहरनेका स्थान स्थिरकर पीछे आगेवाला स्थान छोड़ा जा सकता है, यों करनेसे ही चलनेवाला मनुष्य चलनेमें सफल हो सकता है, अन्यथा नहीं. विशेष समझानेकेलिए दूसरा दृष्टान्त देते हैं जैसे तृणकीट (तिनकेका कीड़ा), दूसरे तिनके पर ठहरनेके पश्चात् पहिले तृणका त्याग करता है यह प्रत्यक्ष सिद्ध है.

जिस प्रकार इस लौकिककार्यमें प्रयत्न तथा बुद्धिकी आवश्यकता है, वैसे ही देहधारण करनेमें कर्मकी गतिकी आवश्यकता है. अर्थात् जीव कुछ नहीं कर सकता है. वह कर्मके वश है. कर्म अनुसार देहका त्याग तथा देव तिर्यग् आदि देहकी प्राप्ति होती है ।।४०।।

आभास : यदि कंस कहे, कि अधिक प्रयास नहीं होगा किन्तु दृष्टांतके अनुसार थोडा प्रयास तो होगा, वह भी जल्दी न हो इसलिए इसका वध करता हूं. तो इसका उत्तर निम्न श्लोकसे देते हैं:

स्वप्ने यथा पश्यति देहम् ईदृशं मनोरथेनाभिनिविष्टचेतनः ।
दृष्टश्रुताभ्यां मनसानुचिन्तयन् प्रपद्यते तत् किमपि ह्यपस्मृतिः ।।४१।।

श्लोकार्थ : जीव जो कुछ देखता है अथवा शास्त्रोंसे सुनता है, उन विषयोंका मनसे चिन्तन करता रहता है और उसी प्रकारके पदार्थों अथवा देहोंकी प्राप्तिकी इच्छा करता है, जिससे उसके मनमें वे संस्कार दृढ हो जाते हैं. इसी कारणसे जीव स्वप्नमें वैसी देह मुझे मिली है, ऐसा देखता है. यहां तककी अपनी देहको भूल जाता है. जैसे स्वप्नमें होता है वैसे ही जाग्रतमें भी यों ही होता है, इसमें किसी प्रकारका प्रयास नहीं करना पडता है।।४१।।

व्याख्यार्थ : स्वप्नके समय देहके ग्रहण तथा परित्यागमें थोड़ा सा भी परिश्रम नहीं होता है और विलक्षणता भी कभी-कभी ही प्रतीत होती है, सदा नहीं होती है. स्वप्नकी देहमें इसलिए प्रयास नहीं होता है क्योंकि वह कर्म द्वारा प्राप्त नहीं की जाती है, बिना कर्मके ही मिलती है. इस पर कहते हैं कि वह भी यों ही

नहीं देखनेमें आती है, किन्तु उसकेलिए एक प्रकारका कर्म करना पड़ता है. वह कर्म है 'मनोरथ'. जीव मनोरथसे जब जिस-जिस देह वा वस्तुकी भावना करता है, तब उस जीवकी बुद्धि, उस देह अथवा उससे भोग्य विषयका रूप बन जाती है. उस ज्ञान और कर्मसे ही 'स्वप्न' आते हैं. जैसे दूसरे लोक, देहकी गतिमें विद्या, ज्ञान तथा कर्म सहायक होते हैं. उनके द्वारा ही उसका प्रारम्भ होता है. वैसे ही स्वप्नमें देहादिका आरम्भ भी ज्ञान एवं कर्मसे युक्त मनोरथसे ही होता है. इस प्रकार दोनों देहोंकी समानता है और इसलिए दोनोंके ग्रहण तथा परित्यागमें कोई प्रयास वा परिश्रम नहीं है. यों भी आप नहीं कह सकते हो कि स्वप्नकी देहमें मनोरथ कारण नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष अथवा शास्त्रश्रवण द्वारा जो कुछ विषय मनमें स्थित होते हैं, उनका चिन्तन होता रहता है. जो दिनका चिन्तन किया जाता है, वही प्रायः स्वप्नमें देखनेमें आता है, यह प्रत्येकका अनुभव है ही. कभी-कभी पूर्व जन्मोंके संस्कारोंका भी मनमें स्मरण हो आता है कि मैं राजा था वा इन्द्र था अथवा युद्धमें सिर कट गया वा किसी कर्मसे फांसी हुई. वे संस्कार भी जागृत हो जाते हैं और उनका अनुभव भी स्वप्नमें होता है. अतः स्वप्नमें मनोरथरूप कर्म ही कारण है. यदि आप कहो कि पूर्वदेह(जन्म)की स्मृति ही नहीं है तो ग्रहण और त्यागकी सम्भावना कैसी होगी? इस पर कहते हैं 'अपगता स्मृतिः'. जीवको देह सम्बन्धी स्मृति नहीं रहती है. 'स्वप्न' तो वह है जो पूर्वकालमें कभी भी अनुभव किया गया है. अतः इसको अनिर्वचनीय(जिसका पूरा वर्णन नहीं किया जा सकता है) कहा जाता है. मनमें पहिले मनोरथ पैदा होता है, उससे स्वप्न उत्पन्न होता है, इससे स्वप्नका कारण मनोरथ है. उस मनोरथका कारण केवल दृष्ट या श्रुत है और वह स्वप्न निद्राके समय आनेसे, मनोरथ किये हुए विषय पूरी तरहसे दिखनेमें नहीं आते हैं, कारण कि निद्रा भी मायाका रूप है, उसमें आनेसे स्वप्नको भी मायिक कहते हैं ।।४१।।

आभास : 'यतो यतः' इस निम्न श्लोकमें कुछ और भी समझाते हैं. जैसा कि जीव न उत्पन्न होता है और न नाश होता है, उत्पत्ति तथा नाश, देहका होता है, जीव तो देहमें अध्यास(देह ही मैं हूं) समझनेसे अपना जन्म और मरण होना मान लेता है:

यतो यतो धावति दैवनोदितं मनो विकारात्मकमाप पञ्चसु ।
गुणेषु मायारचितेषु देह्यसौ प्रपद्यमानः सह तेन जायते ।।४२।।

श्लोकार्थ : दैवके द्वारा प्रेरित, अनेक विकारोंसे भरा हुआ मन, मायासे उत्पन्न जिन-जिन पञ्चभूतात्मक देहादिकोंमेंसे दौडकर आता है अर्थात् जिनको छोडकर आता है और जिन देहोंको प्राप्त करता है अर्थात् ग्रहण करना चाहता है, उनमें अभिनिवेश होनेसे जीव भी मनके साथ उसमें जन्म लेता है।।४२।।

व्याख्यार्थ : इस सिद्धान्तमें[१] (असुरोंके मतमें) मन ही देहके ग्रहण तथा त्यागका कारण है. संकल्प तथा विकल्परूप, अनेक प्रकारके विकाररूप आत्मावाला मन है. उस मनको प्रेरणा करनेवाला दैव है. काल, कर्म और भगवदिच्छा, प्रत्येकको दैव कहा जाता है. तीनोंमेंसे अधिकारानुसार किसी एकसे प्रेरित होकर मन, मायासे रचित विषयोंमें, मोहसे जिन-जिन विषयोंको उत्तम समझता है, उन-उन विषयोंमेंसे किसीका त्यागकर, जिनको ग्रहण करना चाहता है, उनमें आसक्त हो जानेसे उनमें ही मनके साथ जीव जन्म लेता है, अपने आप जन्म नहीं लेता है. मन जैसी भावना करता है, वैसी देह बनती है और जिस भावको छोड़ देता है, वह देह नष्ट हो जाती है अर्थात् छूट जाती है. यद्यपि सब विषय समान हैं, तो भी मन जिसको उत्तम समझता है, वह उसकेलिए उत्तम है वही विषय उस(मन)को प्राप्त होता है वा वह(मन), उस विषयको ग्रहण करता है. आपके मनको यह देह उत्तम जची, इसलिए उसने यह ग्रहण की है. अतः इस उत्तमदेहकी रक्षाकेलिए इस देवकीका वध नहीं करना चाहिये ।।४२।।

१. कंस असुर प्रकृतिका है, अतः वसुदेवजी उसको असुरसिद्धान्तसे समझाना योग्य समझकर इस श्लोकमें असुरोंका सिद्धान्त कहते हैं.

आभास : जीव जैसे मनके पीछे चलता है, वैसे ही देहका भी अनुसरण मोहसे करता है. वह अनुसरण आत्माका नहीं है किन्तु वह प्रतिबिम्ब या परछाईके समान है. अर्थात् जैसे बिम्बके चलनेसे ही प्रतिबिम्ब चलता है, अपने आप नहीं चलता है, वैसे ही जीव अपने आप जन्म आदि ग्रहण नहीं करता है, मनके पीछे घसीटता जाता है. जीवका वास्तविकरीतिसे देहादिमें कोई सम्बन्ध नहीं है. इस प्रकार उसका जन्म आदि होता है, उसका प्रतिपादन निम्न श्लोकसे करते हैं:

ज्योतिर्यथैवोदकपार्थिवेष्वदः समीरवेगानुगतं विभाव्यते ।
एवं स्वमायारचितेष्वसौ पुमान् गुणेषु रागानुगतो विमुह्यति ।।४३।।

श्लोकार्थ : जैसे जलसे भरे हए मिट्टीके पात्रोंमें प्रतिबिम्बरूपसे रहे हुए

सूर्य तथा चन्द्र, वायुके वेगसे कम्पायमान् दीखते हैं, इसी प्रकार मायासे रचित अन्तःकरणयुक्त देहोंमें रागके कारण आत्मा अर्थात् जीव अपनेको कृश और स्थूल समझकर मोहित होता है।।४३।।

व्याख्यार्थ : जैसे आकाशमें स्थित सूर्य वा चन्द्रमाका प्रतिबिम्ब नदीके जलमें अथवा जलसे भरे हुए मिट्टीके बर्तनोंमें पड़ता है, तब वायुसे जलको हिलते देखकर अज्ञजन समझते हैं कि सूर्य या चन्द्र हिलता है और न कि प्रतिबिम्ब हिलता है, यों समझना अज्ञजनोंकी अज्ञता है. केवल जल हिल रहा है, पर उसके द्वारा भ्रमसे समझा जाता है कि वे हिलते हैं. वैसे ही यहां अन्तःकरण जल है, और मृत्तिकाका बर्तन देह है, मोह वायु है, उस मोहरूप वायुसे अन्तःकरण चलायमान् होकर देहादि द्वारा अनेक कार्योंमें मनको आसक्त कराता है. यों तो जीव भगवद्रूप है किन्तु मोहके कारण मनका अनुगामी होनेसे देहादिकोंमें एकत्वको प्राप्त होता है अर्थात् मोहके तथा अज्ञान अथवा अध्यासके कारण अपनेको देह-इन्द्रियादि समझकर भ्रममें पड़ जाता है. अतः इससे समझना चाहिये कि देहका सम्बन्ध भ्रमसे है, अतः उस भ्रमके वश होकर आत्माकी हानि नहीं करनी चाहिये ।।४३।।

आभास : वसुदेवजी कंसको इस प्रकार तत्त्व समझाकर निम्न श्लोकमें कहते हैं कि देहमें प्रेम होनेसे आत्माकी बुराई नहीं करनी चाहिए. लोकमें भी इस देहके कारण आत्मा(जीव)की बुराई करनेको अच्छा नहीं कहते हैं. यों कहते हुए वसुदेवजी अब देवकीके वधसे भेदात्मक भय होना दिखाते हैं. अर्थात् वध तब किया जाता है, जब जिसका वध किया जाता हो, उसको अपनेसे पृथक् दूसरा समझा जावे. यह भेद दृष्टि भयावह है तथा अपकार करनेवाली है:

तस्मान्न कस्यचिद् द्रोहमाचरेत् स तथाविधः ।
आत्मनः क्षेममन्विच्छन् द्रोग्धुर्वै परतो भयम् ।।४४।।

श्लोकार्थ : जिसको आत्माके कल्याणकी इच्छा हो वह किसीसे द्रोह न करे. क्योंकि द्रोह करनेवालेको, जिसका वह द्रोह करता है उससे सदैव भय बना रहता है. और उसको यह भी समझना चाहिए कि देह नाशवान् है, वह तो नष्ट होगी ही, फिर उसकी रक्षाके भ्रममें दूसरेका द्रोह क्यों करूं ?।।४४।।

व्याख्यार्थ : जब यह देह आत्मा नहीं है तब उस देहकी रक्षाकेलिए किसीका भी द्रोह नहीं करना चाहिये. अपनी देह भी वैसी ही है, जैसी अन्यकी

नाश की जानेवाली देह है. अतः उस देहको अपनी देहके समान समझकर उस पर दया ही करनी चाहिये. यों उपदेश करनेका फल यह है, कि जैसे अपनी रक्षाका विचार किया जाता है कि मेरा कोई भी वध न करे किसी प्रकार भी मैं वधसे बच जाऊं तो अच्छा है, इसी प्रकार दूसरोंकी रक्षाकेलिए भी विचार करना चाहिये. जो मनुष्य दूसरेकी रक्षाका विचार नहीं करता है, तो उसमें जो बाधक आते हैं, वे बताते हैं. जब मनुष्य अपने क्षेम(कल्याण-सुख)को चाहता हुआ दूसरेकी रक्षाका विचार करता है, तो वह अपना भी क्षेम होगा यों विचार करता है, अर्थात् दूसरेकी रक्षासे मेरी भी रक्षा होगी. नहीं तो द्रोह करनेवालेको दूसरेसे(जिसको वह मारता है उससे) भय होगा. अर्थात् वह भी इसका(घातकका) द्रोह करेगा अर्थात् इसको मारेगा. इसलिए यदि तुम इसका वध करोगे तो वह मेरा ही वध है कारण कि यह मेरी पत्नी होनेसे मेरा आधाभाग है, अतः मुझसे तुझे भय होगा अर्थात् कभी भी मैं तुझे मार दूं ।।४४।।

आभास: लोकके व्यवहारसे इसका वध करना योग्य नहीं है. इसका वर्णन निम्न श्लोकसे कहते हैं:

एषा तवानुजा बाला कृपणा पुत्रिकोपमा।
हन्तुं नार्हसि कल्याणीमिमां त्वं दीनवत्सलः ।।४५।।

श्लोकार्थ : यह आपकी छोटी बहिन अभी ८ वर्षकी ही है और दुःखी तथा उदास है, एवं आपकी तो यह पुत्रीके समान है. आपको, जो दीनों पर प्रेम करनेवाले हो, इस कल्याण रूपवाली जिसके शरीर पर अभी विवाहके आभूषण हैं, दया तथा स्नेह करने योग्य बहिनका वध करना योग्य नहीं है।।४५।।

व्याख्यार्थ : लोकमें छोटी बहन तो स्नेह करनेके योग्य है, उसमें भी वह आठ वर्षकी होनेके कारण दुलार करने योग्य है, तथा यह भयसे व्याकुल है और इसमें चतुराई भी अभी तक नहीं आई है. अतः काष्ठकी पुतली जैसी अबोध है. अतः अपनेको वधसे छुड़ानेकेलिए कुछ प्रार्थना भी नहीं कर सकती है. इसके सिवाय आपसे छुड़ाके भाग जाय वह भी शक्ति वा युक्ति इसमें नहीं है और अभी तक विवाहके आभूषण शरीर पर होनेसे मङ्गल स्वरूपा है इसलिए ऐसीका वध करना योग्य नहीं है. इसको तो अब श्वसुरगृह ही लेजाकर छोड़ आना योग्य है, कारण कि आप दीनों पर दया करनेवाले हो. वसुदेवजी इस समय कालनेमीका आवेश कंसमें न समझकर कहते हैं, कि आप दीनों पर दया करनेवाले हो ।।४५।।

आभास : वसुदेवजीने कंसको शास्त्रोंका तत्त्व बताया और दया भय आदि भी उस कंसमें पैदा किया, किन्तु कंसने मारनेका निश्चय छोडा नहीं. उसका वर्णन निम्न श्लोकसे करते हैं:

श्रीशुक उवाच

एवं स सामभिर्भेदैर्बोध्यमानोपि दारुणः ।

न न्यवर्तत कौरव्यपुरुषादाननुव्रतः ।।४६।।

श्लोकार्थ : श्रीशुकदेवजी कहने लगे कि हे परीक्षित ! इस प्रकार वसुदेवजीने साम और भेदसे समझाया तो भी राक्षसोंका अनुसरण करनेवाला वह क्रूर कंस देवकीके वधसे निवृत्त नहीं हुआ।।४६।।

व्याख्यार्थ : वसुदेवजी नीतिके ज्ञाता थे इसलिए उन्होंने साम और भेदसे कंसको समझाया. प्रथम भेदसे नीति समझाई जिसमें उसको कहा कि आत्मा (जीव)का स्वरूप यह है और अनात्मा, (देहादि)का स्वरूप यह है और पाप कर्मसे परलोक नरकादिकी प्राप्ति तथा लोकमें अपकीर्ति होती है इत्यादि भय बताये. उसके पश्चात् साम नीतिसे समझाया जिसमें ज्ञान, समानता तथा दयाका उपदेश दिया. ऐसे अनेक प्रकारसे भेद और साम नीति द्वारा समझाने पर भी वह कठोर चित्त दैत्यात्मा इस वधके कार्य करनेसे रुका नहीं. कारण कि उसने राक्षसोंके समान वधका व्रत धारणकर रखा था. कंसमें कालनेमि आविष्ट थे अतः उसके तुल्य यह भी करेंगे ही ।।४६।।

इस प्रकार उपदेशरूप प्रथम प्रयास जब सफल न हुआ तब भगवान्की इच्छासे वसुदेवजी फिर अन्य प्रकारसे समाधान करनेकेलिये प्रयत्न करने लगे. उसका वर्णन 'निर्बंधं तस्य' श्लोकसे आठ श्लोकोंमें करते हैं.

यह कार्य लौकिक है इसलिये पारमार्थिक एवं अलौकिक युक्तियोंसे इस कार्यको कंस छोडेगा नहीं, अत: अब लौकिक युक्ति ही करनी चाहिये. वह युक्ति जिसकी मनमें स्वत: स्फूर्ति हो आई प्रथम वह कहते हैं. वह युक्ति यह थी, कि जो पुत्र उत्पन्न होगा वह तुझे उसी समय दे दूंगा. पुत्र दे देना अयोग्य देखनेमें आता है,किन्तु उसका समर्थन युक्तिसे करते हैं, कि पुत्र देना योग्य है, फिर जो उपाय ध्यानमें आया उसकी उपपत्ति पूर्वक अनुवाद करेंगे. उसके बादके श्लोकमें प्रतिकूल तर्क देकर उसका खण्डन करते हुए प्रथम दी हुई युक्तिका समर्थन करेंगे. पांचवे श्लोकमें अशक्त होने पर अदृष्ट(प्रारब्ध) बलवान है, उसके ऊपर भरोसा

रखना चाहिये यों कहकर समझाया है. उस प्रारब्धके उपायको ग्रहण करनेकेलिये साधन छठे श्लोकमें बताए गए हैं. सातवें श्लोकमें उद्योग कहे हैं. आठवें श्लोकमें वसुदेवजीके मनमें अलौकिक शक्तिकी स्फुरणासे आये हुए वचनोंकी अङ्गीकृतिका वर्णन है. तात्पर्य यह है, कि वसुदेवजीका यह प्रयत्न भगवान्‌की प्रेरणासे होने के कारण सफल हो गया.

आभास: इस श्लोकमें प्रथम किए हुए उपायकी विफलता बताते हैं:

निर्बन्धं तस्य तं ज्ञात्वा विचिन्त्यानकदुन्दुभिः ।
प्राप्तं कालं प्रतिव्योढुमिदं तत्रान्वपद्यत ।।४७।।

श्लोकार्थ: वसुदेवजी उस(कंस) का इस देवकीके वध करनेका आग्रह देखकर विचार करने लगे कि इस अवसरको युक्तिसे टालना चाहिए, इसके टालनेकेलिए वसुदेवजीके मनमें निम्न विचार उत्पन्न हुए।।४७।।

व्याख्यार्थ : वसुदेवजीने, कंसकी आवश्यक क्रिया, साधन और प्रयत्नरूप चेष्टासे जान लिया कि यह देवकीका वध अवश्य करेगा ऐसा इसका आग्रह है, अब मुझे इसको बचानेकेलिए क्या उपाय करना चाहिये. यह जो आगे कहा जायेगा उसकी मनमें स्फूर्ति हुई. इस कंसके साथ लौकिक व अलौकिक प्रकारसे विरोध करना मेरी शक्तिसे बाहर है. दूसरे उपाय कर चुका हूं जो विफल हुए हैं. अब शेष दो उपाय हैं. १.एक तो देवकी इसे दे दूं अथवा २.इसको जो पुत्र होंगे वे इसे दे दूंगा. इस देवकीको दे दूंगा तो कंस अवश्य इसका वध करेगा. क्योंकि आकाशवाणीके जो शब्द सुने गये हैं, उनमें यों तो नहीं कहा गया है कि वसुदेवसे उत्पन्न हुआ, आठवां गर्भ तुझे मारेगा. किन्तु देवकीका वह गर्भ, देव द्वारा होनेवाला समझकर, कंस इसको अवश्य मारेगा. अब तो वह स्वतः मारता है, पीछे मारनेमें मैं भी दोषी ठहरुंगा. पुत्र देना भी योग्य नहीं, कारण कि वह आठवां पुत्र तो भगवद्रूप होगा. यह ज्ञान इन वसुदेवजीको इसलिए हुआ कि इनके जन्मके समय इसीलिए आनक और दुन्दुभि बजने लगे थे कि इनके यहां भगवान्‌का प्राकट्य अवश्य होगा और वह भी देवकीजीसे, न कि दूसरी स्त्रीसे. देवकीजीसे ही होगा उसमें आकाशवाणी प्रमाण है. इस प्रकार विचार करते हुए वसुदेवजी संकटमें थे कि क्या करना चाहिये? वसुदेवजीको यह निश्चय हो गया कि, मेरे द्वारा इस देवकीसे ही आठवां गर्भ भगवान् होगा. वह दूंगा ऐसा कहनेसे मैं भगवद्विमुख होता हूं, जिससे भगवान् अवतार ही न लेवें तो विशेष आपदा होंगी,

यों विचार करते हुए अचानक मनमें यह युक्ति, जो पीछे कही जायेगी, स्फुरित हुई कि अभी तो इस अवसरको टालनेकेलिए कह दूं कि पुत्र होंगे वे आपको दे दूंगा. जब उनसे ही आपको भय है, तो देवकीका वध क्यों करते हो. यद्यपि पुत्र दे दूंगा यह कहना भी योग्य नहीं है तो भी इस समय अयोग्य भी बोलकर मृत्युको तो टाल ही देना चाहिये.

आभास : ''कीचडमें पैर डालकर पीछे उसको धोना'' यों करनेसे पहले ही शान्ति क्यों नहीं की, इस पर कहते हैं कि बुद्धिमान्को मृत्यु किसी भी प्रकार टालनी चाहिए, यह वर्णन निम्न श्लोकमें करते हैं:

मृत्युर्बुद्धिमतापोह्यो यावद्बुद्धिबलोदयम् ।
यद्यसौ न निवर्तेत नापराधोस्ति देहिनः ।।४८।।

श्लोकार्थ : बुद्धिमान् पुरुषको चाहिए कि जहां तक अपनी बुद्धि पहुंचे वहां तक तो मृत्युको टाल ही देनेका प्रयत्न करें. इस प्रकार यत्न करते हुए भी मृत्यु नहीं टली तो यत्न करनेवालेको कोई भी अपराधी नहीं कहेगा।।४८।।

व्याख्यार्थ : यदि मनुष्य होकर भी मृत्युको टालनेका प्रयत्न हम नहीं करते हैं, तो भगवान्ने हम मनुष्योंको पशु आदिकोंसे जो विशेष बुद्धिमान् बनाया है, वह किसलिये बनाया है. अतः बुद्धिमान्को अर्थात्, मनुष्यको चाहिये कि अपनी अथवा दूसरेकी मृत्युको टाल दे. एक बार यत्न करने पर मृत्यु नहीं टली, तो फिर हम क्या करें? इस पर कहते हैं कि नहीं. एक बार प्रयत्नकर, रुक न जाओ, किन्तु जहां तक बुद्धिका बल चले, वहां तक प्रयत्न करते रहो. बुद्धिमान्को क्रियासे तथा बुद्धिसे प्रयत्न करते रहना ही योग्य है. जैसे पहला प्रयत्न विफल हुआ, वैसे आगेके प्रयत्न भी विफल होंगे तो बार-बार उद्यम करनेसे क्या लाभ? इस पर कहते हैं कि यदि बार-बार उद्यम करने पर भी मृत्यु नहीं टली तो लोग उस मनुष्यकेलिए यों नहीं कहेंगे कि उसने उपेक्षाकर इसको मृत्युसे नहीं बचाया, परन्तु यही कहेंगे कि इसने तो भरसक प्रयत्न किया, इसका कोई दोष नहीं है. शास्त्र तो कहते हैं कि जितना बन सके उतना प्रयत्न करो. फल तो दैवके आधीन है. देहाभिमानी तो कालके दण्डके योग्य होता ही है. वसुदेवजीने इस प्रकार विचारकर, यह उपाय करना चाहिये, ऐसा निर्णय किया ।।४८।।

आभास : इस श्लोकमें यह उपाय बताते हैं:

प्रत्यर्प्य मृत्यवे पुत्रान् मोचये कृपणामिमाम् ।

सुता मे यदि जायेरन् मृत्युर्वा न म्रियेत चेत् ।।४९।।

श्लोकार्थ : अभी तो पुत्रोंको कंसके अर्पणका कहकर इस दीन देवकीको छुडादूं. यदि मुझे बालक हो तो वे जीवित रहेंगे या मर जाएंगे अथवा देवकीकी मृत्यु मर जाए अर्थात् मृत्यु टल जाए, क्या होगा? उसका पता नहीं, इसको तो अब छुडा लूं।।४९।।

व्याख्यार्थ : विश्वास किया जाता है कि मृत्यु कंसमें प्रविष्ट हो गयी है, मृत्यु तो सबको खा जायगी, और वह मृत्यु टाली नहीं जा सकती है, वह तो कभी न कभी पुत्रोंको खायेगी ही. इसने मुझे अब देवकी दी, तो मैं समझूंगा कि पुत्र भी दे दिये. अतः जो देता है उसको फिर लौटा देनेमें कोई दोष नहीं है. यों करनेसे पुत्र दूंगा, ऐसा कहने मात्रसे इस दीन देवकीको अब छुडालूं. इस तरहका कार्य करनेमें ही विशेष लाभ है. यदि इसको नहीं छुड़ाता हूं तो, न यह रहेगी और न पुत्र होंगे. इस प्रकार करना भी अनुचित है, क्योंकि यदि इसको छुड़ाऊंगा तो यह एक बचेगी और पुत्र बहुत देने पड़ेंगे तथा वे मेरे अपने अन्तरंग अंग है, उनको देना विशेष दोष है. और पुत्रोंका अर्पण करना भी कठिन है तथा अब तो पुत्र नहीं है. विद्यमान् और अविद्यमान् दोनोंको समान समझकर विषयका निर्णय कर लेना भी असंगत है, अर्थात् जो पदार्थ मौजूद नहीं है उसका अस्तित्व मानकर वह दूंगा यह कहना भी योग्य नहीं है. ऐसा करनेसे धर्मकी हानिका प्रसंग उपस्थित होगा, तथा लोकमें अपकीर्ति भी होगी. कारण कि यदि पुत्र हुए उस समय मोहके कारण न दे सका तो प्रतिज्ञा लोप होनेसे अधर्म लगेगा अथवा पुत्र नहीं हुए तो देनेकी प्रतिज्ञाकी पूर्ति न होनेसे भी अधर्म होगा, जिससे लोकमें अपकीर्ति होगी. अतः यह भी उपाय ठीक नहीं है. इसके उत्तरमें दो प्रकारकी युक्ति, १.लौकिकी, २.अलौकिकी, देकर कहते हैं कि १.लौकिकी – जो मुझे बहुत 'सुत' पैदा होवें तो अर्पण कर दूं कारण कि वे सुत तो केवल पैदा होते हैं और पिताके जीवित होते ही मर जाते हैं, अतः वें पिंडादि दान न देनेसे नरकसे नहीं बचाते हैं, जिससे वें पुत्र नहीं कहें जातें हैं. केवल उत्पन्न होनेसे 'सुत' कहे जाते हैं, उनको देनेमें मन भी निषेध नहीं करेगा. अथवा पुत्र पैदा करना तो अपने अधीन है, कैसे कि, इस देवकीको अपनेसे अलग रख लूंगा. यों करनेसे कोई दोष नहीं लगेगा. दोष तो लगेगा क्योंकि शास्त्र कहता है कि ऋतुके समय पतिको स्त्रीके पास जाना चाहिये. यह शास्त्राज्ञाका न मानना भी दोष है. इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि ऋतुकालमें जानेसे प्राणरक्षा करना

विशेषधर्म है. कह तो देते हो किन्तु यह भी करना कठिन है, कारण कि एक तो शास्त्रकी आज्ञा न मानना और दूसरा कामको रोकना, दोनोंको मनुष्य कर नहीं सकता है. एक पुत्र हो तो वह पिता पुत्रवान् नहीं. अतः जब दो पुत्र हो जावें तब पिता पुत्रवान् माना जाता है. उसके पश्चात् यदि स्त्रीके पास न जावे तो दोष नहीं है. इस प्रकार लौकिक युक्ति कही, अब अलौकिक युक्ति देते हैं.

भगवान्की इच्छासे और आकाशवाणीकी प्रामाणिकतासे, जो मेरे यहां बहुत सुत होंगे तो भी उसमें विशेष समय लगेगा. इतने समयमें यदि भगवान्की इच्छा होगी तो मृत्युरूप कंस ही मर जावे. ''अत्रात्र वै मृत्युर्जायत'' श्रुतिमें कहा है कि प्राणीमात्रको नित्य, मृत्यु लेने आती है, उसको टालना प्राणीमात्रका कर्त्तव्य है. जहां-जहांसे भी मृत्यु आवे वहां-वहांसे उसको रोकनेका प्रयत्न करना चाहिये. प्रकृतिका नियम है कि जो उत्पन्न होता है उसका नाश भी होता है. प्रकृतिके इस नियमानुसार उत्पन्न होनेवाली मृत्यु भी उपाय करनेसे नष्ट होती है. अब आयी हुई मृत्युका प्रतीकार(उपाय)से नाश किया जाय. फिर दूसरी बार आयेगी तो दूसरा उपाय किया जायगा. एक पक्ष है कि मृत्यु एक है, वह मृत्यु एकबार आती है और नियत समय पर आती है, कारण कि वह अपने आनेके कालके सिवाय दूसरे कालमें नहीं आती है, अतः फिर कालके अभावमें नहीं आवेगी. तात्पर्य यह है कि जिस कालमें मृत्यु होनेवाली हो उस समयमें वह न मरे, मृत्युसे छूट जाय तो समझना चाहिये कि उसकेलिए मृत्युकी मृत्यु हो गई अर्थात् मृत्यु टल गई. इस कारणसे जैसे शब्द नित्य है तो भी वह प्रकट करनेवाले वायुके समय निकल जानेसे सुनाई नहीं देता है वैसे ही देवकीकी मृत्यु भी समय निकल जाने पर अपना कार्य नहीं कर सकेगी अर्थात् देवकीको नहीं मार सकेगी.

(मृत्यु एक है), उसकी मृत्यु होती है ऐसा कहीं भी सुननेमें नहीं आया है. श्रुति कहती हैं कि, मनुष्य जहांसे भी मृत्यु[२] आती है, वहांसे वह उसको हटा देता है, अतः मृत्यु मनुष्यके पास सब स्थानोंमें पहुंच नहीं सकती है. इस श्लोकमें कहा है कि ''मृत्युः वा न म्रियेत चेत्'', जो मृत्यु न मरे तो, अर्थात् देवकीकी मृत्यु न टल सके तो पुत्र देने ही योग्य है, क्योंकि मृत्यु तो निश्चित ही है. (कंस) मृत्यु है वह मर जाय, ऐसा अर्थ करना ''अत्रात्र वै मृत्युर्जायत''[२] इस श्रुतिके विरुद्ध है. आचार्यश्री कहते हैं कि कंस तो मृत्युका अधिकरण(रहनेका स्थान) है. यदि लक्षणासे कंसको मृत्यु माना जाय तो भी मृत्यु मरती नहीं है, इसलिए वैसा

अनुवाद करना व्यर्थ है. वैसा अनुवाद 'कंस मृत्यु है, वह मर जाय', मान भी लिया जाय तो भी आकाशवाणीके वचन, प्रमाण होनेसे कंस मरेगा नहीं, क्योंकि उसको देवकीका आठवां गर्भ मारेगा. अतः मृत्युका अर्थ 'कंस' करना सर्व प्रकार विरुद्ध है. जब यों है तो मैं पुत्र दूंगा ।।४९।।

२. ''लोकाल्लोका देव मृत्यु भव यजते नैनं लोके लोके मृत्युर्विन्दती''ति श्रुतिः.

३. देवकीके वधसे विपरीत कंसकी मृत्यु क्यों न हो.

आभास : पुत्रदान, पुत्रको मारनेकेलिए कंसको देने जैसा अयोग्य कार्य वसुदेवजी कैसे करते हैं? इसके उत्तरमें निम्न श्लोक कहते हैं कि:

विपर्ययो वा किं न स्याद् गतिर्धातुर्दुरत्यया।
उपस्थितो निवर्तेत निवृत्तः पुनरापतेत् ।।५०।।

श्लोकार्थ : अथवा जिस प्रकार हम सोच रहे हैं उससे विपरीत क्यों न हो जावे? कारण कि भगवान्की गतिको कोई नहीं जान सकता है. उपस्थित मौत टल जाती है. टली हुई फिर आ जाती है।।५०।।

व्याख्यार्थ : आकाशवाणीके कहनेके अनुसार कंसका तो जब तक इसका मारनेवाला आठवां गर्भ उत्पन्न न हो तब तक मरण होगा नहीं, अतः इससे विपरीत कार्य ही क्यों न हो जाय? अर्थात् मेरे पुत्रसे कंसका वध क्यों न हो जाय. यह वसुदेवजीका कहना युक्तिविरुद्ध है, कारण कि कंस जैसे शूरको उनका पुत्र बालक होनेसे कैसे मार सकेगा? इस पर कहते हैं भगवान्की गतिको कोई नहीं जान सकता है. किस प्रकार उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करता है, उसका ज्ञान किसीको नहीं है, कितने भी प्रयत्न करने पर उसका पता लगाना कठिन है. किसी भी लौकिक युक्तिसे यह नहीं जाना जा सकता है कि भगवान् किसको मरवाना चाहता है और किसको उसका मारनेवाला बनाना चाहता है. अतः शास्त्रोंमें कहा है कि ''अलौकिकास्तु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्'', अलौकिक भावोंको तर्कोंकी सहायतासे समझनेका प्रयत्न नहीं करना चाहिये. क्योंकि वे तर्कसे नहीं समझे जा सकते हैं. इस कारणसे पुत्र दूंगा, यों कहकर अब इस देवकीकी रक्षा की जाय. पीछे इसके पुत्रों द्वारा यह मारा जायगा. इसलिए यों करना योग्य है. इससे आयी हुई इसकी मृत्यु टल जायगी. इसके मारनेसे छूटी हुई मृत्यु फिर इसकी रक्षा करनेवाली हो जाय और कंसकी घातक बन जाय. इस विचारसे भी यह देवकी रक्षाके योग्य है.

श्रीधरस्वामीका कहना है कि श्लोकके पूर्वार्द्धमें 'गतिर्धातुर्दुरत्यया' जो कहा है, उस वाक्यका विवरण उत्तरार्धमें किया गया है. आचार्यश्री इस विचारसे सम्मत नहीं है.

आचार्यश्री इस उत्तरार्द्धका सम्बन्ध ''नापराधोऽस्ति देहिनः'' इस ४८वें श्लोकसे बताते हुए कहते हैं कि जो पुत्र देनेका विचार छोड़ा जाय तो जो देवकीकी मृत्यु थोड़े समयकेलिए भी टाली जाती है, वह नहीं टलेगी, अतः पुत्र देनेका कहकर इसकी मृत्यु अब टाली जाय. यदि पुनः आ जायगी तो ४८वें श्लोकमें कहे हुए के अनुसार देहीका कोई अपराध नहीं है अर्थात् फिर मैं अपराधी नहीं बनूंगा ।।५०।।

आभास : जो कि यह विचार (पुत्र देनेका कहकर देवकीको बचा लेना) उत्तम है, तो भी लोकके विरुद्ध है और पुत्र देना भी उचित नहीं है, अतः यह नहीं करना चाहिए. इसके उत्तरमें निम्न श्लोक कहते हैं:

अग्नेर्यथा दारुवियोगयोगयोरदृष्टतोऽन्यन्न निमित्तमस्ति ।
एवं हि जन्तोरपि दुर्विभाव्यः शरीरसंयोगवियोगहेतुः ।।५१।।

श्लोकार्थ : वनके अग्नि(दावाग्नि)से जैसे समीपवाले वृक्ष नहीं जलते हैं, दूरवाले जल जाते हैं, इसमें अदृष्ट(प्रारब्ध)के सिवाय कोई कारण नहीं है, वैसे ही मनुष्यके शरीरका जन्म तथा मरण कब होगा, किससे होगा और कैसे होगा, यह भी समझमें नहीं आता हैं, क्योंकि जिसका जैसा भाग्य होगा वैसा ही होगा।।५१।।

व्याख्यार्थ : मैं कंसको पुत्र दूंगा, इससे ही वह मरेगा, यों नहीं है, क्योंकि यदि पुत्रके भाग्यमें कंसके हाथसे मरना लिखा होगा तो मरेगा, नहीं लिखा होगा तो वह इसको मार नहीं सकेगा. इस कथनका दृष्टान्त देकर समर्थन करते हैं कि, जैसे दावाग्नि(जंगलमें स्वतः लगी हुई अग्नि) पासके पेड़ोंको तो नहीं जलाती है किन्तु दूर खड़े हुए वृक्षोंको भस्म कर देती है, कारण कि जिनके भाग्यमें जलना लिखा था वे जल गये, जिनके भाग्यमें जलना नहीं लिखा था वे बच गये. यह सब अदृष्टका खेल है. जिसका जैसा अदृष्ट हो उसको वैसा ही फल मिलता है. इसी प्रकार पुत्र आदिके जन्म तथा मरणमें अदृष्ट ही कारण है. श्लोकमें 'हि' शब्दसे बताया है कि (अदृष्ट ही कारण है) ऐसा कहना योग्य ही है. अदृष्ट ही कारण है, इसका प्रत्यक्ष अनुभव भरतादिकोंके चरित्रसे किया हुआ है. जैसा कि भरतने हरिक्षेत्रमें मरण समयमें पाले हुए हरिणको देख(उसका ही ध्यान रहनेसे) शरीर

त्यागा था, जिससे वह कालिञ्जरमें हरिण हुआ. कालिञ्जरमें जन्म और हरिण देह प्राप्ति, ये दोनों क्या दृष्ट कारणसे प्राप्त हुए? नहीं, इन दोनोंका कारण पूर्व जन्ममें किया हुआ कर्म, जिसको भाग्य, अदृष्ट वा प्रारब्ध कहते हैं, वह है. जीवका जन्म सर्वत्र होता है. वहां जन्म क्यों हुआ? इसका कोई प्रत्यक्षप्रमाण दिखनेमें नहीं आता है. अतः उसके जन्म तथा मरणका क्या कारण है? उसका पता लगाना कठिन है. इसलिए प्रारब्धके वश, पीछे जो होनेवाला होगा, वह भले हो, अब तो इसको छुड़ाना ही योग्य है ।।५१।।

आभास : वसुदेवजीने यह विचारकर, जो कुछ करनेका निर्णय किया, उसको श्रीशुकदेवजी निम्न श्लोकमें कहते हैं कि:

श्रीशुक उवाच

एवं विमृश्य तं पापं यावदात्मनिदर्शनम्।
पूजयामास वै शौरिः बहुमानपुरस्सरम् ।।५२।।

श्लोकार्थ : श्रीशुकदेवजीने कहा कि, वसुदेवजी इस प्रकार विचारकर, उस प्रसिद्ध तथा पापी कंसकी बहुत आदरसे जितनी बुद्धि थी, उतनी बुद्धिके अनुसार पूजा करने लगे।।५२।।

व्याख्यार्थ : वसुदेवजीने यही विचार स्थिर किया कि इसको(देवकीको) बचाना मेरा कर्त्तव्य है. किन्तु यह तब सफल होगा जब कंस मेरी प्रार्थना स्वीकार करे. इसकी सफलता होनी तो कठिन दिखनेमें आती है. क्योंकि एक तो यह प्रसिद्ध दिग्विजयी है, जिससे इसमें अहंकार भी है और दूसरा पापी भी है, जो बहिनको मारनेसे नहीं डरता है. अतः इसको शान्तकर अपनी प्रार्थना स्वीकार करानेकेलिए वसुदेवजी विशेष प्रयत्न करने लगे. वह प्रयत्न कहते हैं कि, उसकी पूजा करने लगे. पूजा करना यह अलौकिक उपाय है. कारण कि पूजामें अपने हृदयमें स्थित भावको, जिसका पूजन किया जाता है, उसमें स्थापित करना पड़ता है. तब उस पूजासे कार्य सफल होता है. इतना बड़ा प्रयत्न क्यों किया? इस पर कहते हैं कि कार्यकी सिद्धि करानेकेलिए, मनुष्यको चाहिये कि जहां तक अपनी बुद्धिसे उपाय हो सके वहां तक उपाय करते रहना चाहिये. वह उपाय दृष्ट तथा अदृष्ट कारणको जाननेमें समर्थ हो तब तक करना ही चाहिये. प्रथम अदृष्टका अलौकिक उपाय पूजन किया. पूजनसे कार्य सिद्धि अवश्य होगी, ऐसा समझकर पूजन किया, इसलिए श्लोकमें 'वै' शब्द दिया है, जिसका अर्थ है 'निश्चयसे'.

वह पूजा भी साधारणरीतिसे नहीं की थी किन्तु अत्यन्त मानके साथ पूजन किया. जैसे कि अपने देवताको कंसमें स्थापित करनेके पश्चात् देववत् उसका पूजन किया. यह पूजा, स्तोत्र तथा नमस्कार एवं नम्रतासे भावपूर्वक की गई थी. इसी प्रकारकी पूजाका ज्ञान वसुदेवजीने कहांसे प्राप्त किया था? इसके उत्तरमें कहते हैं कि 'शौरिः', वसुदेवजी शूरसेनके पुत्र हैं, अतः यह ज्ञान उनको पितासे प्राप्त हुआ ।।५२।।

आभास : पूजा करनेके अनन्तर प्रार्थना करने लगे, उसका वर्णन निम्न श्लोकमें करते हैं:

प्रसार्य वदनाम्भोजं नृशंसं निरपत्रपम्।
मनसा दूयमानेन प्रहसन्निदमब्रवीत्।।५३।।

श्लोकार्थ : वसुदेवजी अपने मुखरूप कमलको विकसितकर, मनमें अप्रसन्न थे, तो भी हंसते-हंसते, निर्लज्ज तथा निर्दयी कंसको यों कहने लगे।।५३।।

व्याख्यार्थ : वसुदेवजीने अपने मुखकमलको इसलिए प्रफुल्लित किया कि जिससे कंस समझ जावे कि वसुदेवजी मुझे धोखा नहीं देते हैं और मेरा हित ही करते हैं. वसुदेवजीने अपने इष्टदेवताको कंसमें स्थापित तो कर दिया परन्तु मनमें सन्देह रह गया था कि इस दुष्टमें मेरे देवता विराजेंगे वा निकल आवेंगे. इस कारणसे वे वसुदेवजी दुःखित मनवाले थे, तो भी उस दुःखको छिपानेकेलिए अच्छे प्रकारसे हंसते हुवे यह वक्ष्यमाण(जो आगे कहा जायगा) वचन कहने लगे. वसुदेवजीने अपने देवताको जिस अधिष्ठान(कंस)में स्थापित किया था, उसमें मुख्य दो दोष थे, जिससे उसमें देवताका विराजना जचता नहीं. वे दो दोष क्रोध तथा कामके कारणरूप 'निर्दयता' और 'निर्लज्जता' है. जो कामके सेवक अर्थात् कामी होते हैं वे निर्लज्ज होते हैं और निर्भय भी होते हैं. तथा जो निर्दयी होते हैं वे क्रूर एवं तामस(क्रोधवाले) भी होते हैं ।।५३।।

आभास : कंसको अपनापन दिखाते हुए मानों उसको हितकी बात कह रहे हों, इस प्रकार वसुदेवजी निम्न श्लोकमें कहते हैं:

न चास्यास्ते भयं सौम्य यद्धि त्वाहाशरीरवाक्।
पुत्रान् समर्पयिष्येस्या यतस्ते भयमुत्थितम्।।५४।।

श्लोकार्थ : वसुदेवजी कहने लगे कि हे सौम्य ! जो कुछ आकाशवाणीने

कहा है, तदनुसार देवकीसे तो आपको भय है ही नहीं।।५४।।

तो इसको क्यों मारते हो ? यदि कहो कि इसके पुत्र होंगे वे मुझे मारेंगे इसलिये इसको मारता हूं, तो जिनसे आपको भय है, वे पुत्र आपको ला दूंगा. अत: इसको छोड दो.

व्याख्यार्थ : इससे अथवा मुझसे भी आपको भय नहीं है. क्योंकि आकाशवाणीने स्पष्ट कहा है कि इसका आठवां गर्भ तुझे मारेगा. जब वाणीने यों कहा है, तब इस बिना अपराधवालीका वध क्यों करते हो, ऐसा नहीं करना चाहिये. आप सौम्य बनो और मेरी प्रार्थना स्वीकार करो. जिनसे आपको भय है, मैं वे पुत्र आपको समर्पण करुंगा. वे आपके पुत्र हो जायेंगे. आपके होने पर आपको नहीं मारेंगे. मैं कपटसे नहीं कहता हूं किन्तु आपके हितकेलिए कह रहा हूं और वाणीने तो आपकी मृत्यु केवल आठवें गर्भसे कही है. मैं तो इतना निष्कपट होकर आपका भला चाहता हूं कि जो भी पुत्र होंगे वे आपको दूंगा. क्योंकि आप मेरे सम्बन्धी हो, सम्बन्धीका हित करना सम्बन्धीका कर्त्तव्य है ।।५४।।

आभास : इस प्रकार दृष्ट एवं अदृष्ट उपाय करनेसे कंसने वसुदेवजीका कहना स्वीकार किया, जिसका वर्णन निम्न श्लोकमें श्रीशुकदेवजी करते हैं:

सुहृद्वधान्निववृते कंसः तद्वाक्यसारवित्।
वसुदेवोपि तं प्रीतः प्रशस्य प्राविशद् गृहम्।।५५।।

श्लोकार्थ : श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि, वसुदेवजीके वचनोंके सारको समझ, कंस बहनके वधसे निवृत्त हुआ. वसुदेवजी भी प्रसन्न हुए, कंसकी प्रशंसा कर घरको गए।।५५।

व्याख्यार्थ : वसुदेवजीके उपदेशोंको सुनकर कंसके मनमें विवेक (विचारशक्ति, जिससे क्या करना और क्या नहीं करना इसके तत्त्वको जान लेना) उत्पन्न हुआ, जिससे उस कंसको यह ज्ञान हुआ कि यह बहिन है, इसका वध कैसे किया जाय. यों समझकर बहिनके वधसे हट गया.

कंसके मनमें इस प्रकारकी शंका ही उत्पन्न न हुई कि वसुदेवजी मुझे धोखा देते हैं, क्योंकि उसने वसुदेवजीके वचनोंका सार समझ लिया, जिससे उसने जाना कि यह जो कहते हैं वह सत्य है और उसको यह भी पता था कि वसुदेवजी सत्यवक्ता है. सत्यवक्ता होनेके कारण ही वसुदेवजीके यहां भगवान् प्रकट हुए.

तदनन्तर कंसने दोनों बहिन तथा बहिनोईको घर पहुंचानेकेलिए रथको चलाया. रथको चलाते देखकर वसुदेवजीने भी समझ लिया कि कंसके मनसे अब वह कालास निकल गया है, जिससे प्रसन्न होकर मार्गमें तब तक कंसकी प्रशंसा करने लगे, जब तक घरमें प्रवेश किया. इस प्रकार वसुदेवजीने अनर्थको कैसे भी शान्त करा दिया ।।५५।।

आभास : यह कार्य(वसुदेवजीके कहनेसे कंसका देवकीके वधसे हट जाना) भगवान्ने ही किया. यों कहनेकेलिए कहते हैं कि आगेका कार्य बिना विघ्नके श्रेष्ठ प्रकारसे होगा, इसका वर्णन छः श्लोकोंसे करते हैं:

अथ काल उपावृत्ते देवकी सर्वदेवता।
पुत्रान् प्रसुषुवे चाष्टौ कन्यां चैवानुवत्सरम् ।।५६।।

श्लोकार्थ : अनन्तर गर्भधारणके योग्य कालके आने पर सर्व देवरूप देवकीने प्रतिवर्षमें एक-एक बालकको निर्विघ्न प्रकट किया. इस प्रकार आठ वर्षोमें आठ पुत्र और एक कन्या उत्पन्न हुई।।५६।।

व्याख्यार्थ : इसके अनन्तर शीघ्र ही ऋतुकाल आया, जिससे देवकीजी गर्भको धारण करनेके योग्य हो गईं. ऐसे समय होने पर उनने आठ ही वर्षोमें आठ पुत्र उत्पन्न किये तथा उनको कन्या होनेकी आसक्ति(पूर्ण चाह) थी. अतः एक कन्याको भी जन्म दिया. प्रति वर्ष एक-एक पुत्र हुए. वे सब पूर्ण गर्भ थे अर्थात् पूरे दिन होने पर जन्मे थे. किसी बालकके उत्पन्न होनेमें किसी प्रकारका विघ्न नहीं हुआ. कारण कि देवकीजीमें सर्व देवता विराजमान् थे. वे जहां रक्षक होवें वहां विघ्न कैसे आवेंगे. आठ पुत्र हो गये अनन्तर आसक्तिके कारण नवमी कन्या भी हुई, श्लोकमें आये हुए 'च'[१] शब्दका यह आशय है और प्रसवमें (बालकके उत्पन्न होनेमें) कोई वर्ष खाली नहीं रहा. यह 'अनु' उपसर्गसे जाना जाता है ।।५६।।

१.श्रीपुरुषोत्तमजी प्रकाशमें कहते हैं कि श्लोकमें आये हुए पहले 'च'का आशय है कि देवकीको कन्या उत्पन्न हो, एसी इच्छा हुई. दूसरे 'च'का आशय है कि नवमी कया हुई. 'तज्ज्ञापकत्व'का आशय है कि वह कन्या सुभद्रा थीं.

आभास : ज्यों-ज्यों देवकीजीने पुत्र उत्पन्न किये, त्यों-त्यों वसुदेवजी भी अपनी प्रतिज्ञानुसार कंसको पुत्र अर्पण करनेका कार्य करने लगे. उसका निम्न श्लोकमें वर्णन करते हैं:

कीर्तिमन्तं प्रथमजं कंसायानकदुन्दुभिः ।
अर्पयामास कृच्छ्रेण सोनृताद् अतिविह्वलः ।।५७।।

श्लोकार्थ : असत्यके भयसे अत्यन्त व्याकुल वसुदेवजीने, प्रथम ही उत्पन्न हुआ कीर्तिमान् पुत्र कष्टसे कंसको समर्पित किया।।५७।।

व्याख्यार्थ : वसुदेवजीने अपने धर्ममें श्रद्धा तथा स्थिरता बताते हुए पहला उत्पन्न हुआ कीर्तिमान् पुत्र, जो ज्येष्ठ और महान् होनेके कारण, कोई भी नहीं दे सकता है, उसको भी दे दिया. श्लोकमें कंस नाम देनेका आशय यह है कि वह क्रूर स्वभाववाला है और आनकदुन्दुभि नाम देकर यह बताया गया है कि यह नाम प्रतिज्ञापालनरूप सत्यधर्मका कारण है. पुत्रको दूसरेके द्वारा कंसके पास न भेजकर स्वयं वसुदेवजीने ले जाकर अर्पण किया. उस समय वसुदेवजीके मनमें स्वाभाविक कष्ट तो हुआ किन्तु कष्टसे उस शोकको मनमें ही दबा दिया. यह श्लोकमें आये हुए 'कृच्छ्रेण' पदका भाव है.

जैसे असत्य बोलना अधर्म है. अतः वैसे ही मृत्युकेलिए पुत्रका देना भी अधर्म है. ऐसी अवस्थामें प्राणों पर जब संकट आता हो तो झूठ बोल देना निन्दित नहीं है, इस विचारसे पुत्रको न देना ही ठीक था. इसके उत्तरमें कहा गया है कि ''अनृतात् अतिविह्वलः'', मैं असत्यवादी न बन जाऊं, इस भयसे वसुदेवजी बहुत व्याकुल थे. कारण कि उन वसुदेवजीके जन्मके समय देवोंने इसलिए बड़े नगारे और नौबत बजाई थी कि वे सत्यवादी हैं. अतः इनके यहां भगवान् प्रकट होंगे. वसुदेवजीको तो पुत्रसे भी सत्यकी ही रक्षा विशेष अच्छी लगी क्योंकि वह सत्य भगवत्प्राकट्य करानेवाला है. पुत्रोंका तो केवल देहसे सम्बन्ध[१] है और सत्यका भगवान्से सम्बन्ध है. जब वैसा है तो सत्यकी ही रक्षा करनी योग्य है. यदि अनृत(असत्य) करूंगा तो भगवान्का प्राकट्य हमारे यहां नहीं होगा. इससे विह्वल थे ।।५७।।

१.देह सम्बन्ध अनित्य है और भगवत्सम्बन्ध नित्य है. अतः वसुदेवजीने नित्य भगवत्सम्बन्धको मुख्य मानकर सत्यकी ही रक्षा की है.(अनुवादक)

आभास : पुत्रका समर्पण दृष्ट है अर्थात् इस समर्पणसे जो फल (पुत्रकी मृत्यु) होनेवाला है, वह तो प्रत्यक्ष देखनेमें आता है और सत्य अदृष्ट है अर्थात् सत्यकी रक्षाकेलिए पुत्र दे देनेसे जो उस सत्यका फल होगा वह अदृष्ट अर्थात् देखनेमें नहीं आता है कि क्या होगा ? इस शंकाके निवारणकेलिए कहते है:

किं दुस्सहं तु साधूनां ? विदुषां किमपेक्षितम् ? ।
किमकार्यं कदर्याणां ? दुस्त्यजं किं धृतात्मनाम् ? ।।५८।।

श्लोकार्थ : साधु पुरुष, सबको सहन कर सकते हैं, ऐसी कोई क्रिया नहीं है, जिसको वे सहन न कर सकें. जो ज्ञानी है. उनको किसी वस्तुकी आकांक्षा नहीं रहती है. जो कदर्य(सबको सब प्रकारकी पीडा देनेवाला) है ,वह किसी भी कुकृत्य करनेसे नहीं हिचकता है. जिनने अपने मनको वश कर लिया है और भगवान्को हृदयमें धारण कर लिया है, वे सब कुछ त्याग कर सकते हैं।।५८।।

व्याख्यार्थ : पुत्र कंसको न दिया जाय. इस विचारके करनेमें लौकिक मोह कारण है अथवा शास्त्र कारण है. पहला कारण जो मोह है, उसमें जो दूषण आते हैं, उनका वर्णन करते हैं. साधु पुरुषोंकेलिए शत्रु, मित्र तथा उदासीन सब समान हैं. अतः उनको सब कुछ सहन करनेमें किसी प्रकारका कष्ट नहीं होता है. वे जैसे लौकिकमनुष्य शत्रुका त्याग कर सकते हैं, उसकेलिए उनको कोई कष्ट नहीं होता है. वैसे ही सत्पुरुषोंको पुत्र आदिके त्यागमें भी कोई कष्ट नहीं होता है. कारण कि वे समदृष्टिवाले होते हैं, उनमें मोहका अभाव हो जाता है. इसलिए सत्पुरुष होनेके कारण वसुदेवजीने पुत्रका त्याग कर दिया. वसुदेवजीकेलिए जैसा पुत्र है वैसा ही कंस है. अतः कंसका घात करनेवाला पुत्र नहीं बचाना चाहिए. इसलिए पुत्र दे देना योग्य है.

यदि पुत्र दोगे तो जो शास्त्रानुसार पिताको पुत्रकी अपेक्षा होती है वह रह जायगी. जैसा कि कहा है ''पिता पुत्रके द्वारा लोगोंको जीतता है, पुत्रसे धनकी प्राप्ति की जाती है, पुत्र 'पुम्' नाम नरकसे बचाता है और पुत्र यज्ञ है''. पुत्रके अभावमें उस अपेक्षाकी पूर्ति न होगी, अपेक्षा रह जायगी. इसका उत्तर देते हैं कि ज्ञानी पुरुषोंको वैसे बाह्य पदार्थोंकी अपेक्षा नहीं रहती है. वे न तो साधनकी तथा न ही फलकी अपेक्षावाले होते हैं. यदि अपेक्षा नहीं भी हो तो भी मरवानेकेलिए अपने आप अज्ञबालकको देना तो योग्य नहीं है. इस तर्कके उपस्थित करने पर उत्तर देते हैं कि मैं यदि बालकको न देकर मिथ्यावादी भी बन जाऊं, तो भी यह निश्चय नहीं है कि बालक आदिको वह नहीं मारेगा, क्योंकि वह मुझे मिथ्यावादी समझ न केवल बालकोंको किन्तु स्त्री देवकीको तथा मुझे भी मार डालेगा. कारण कि कंस कदर्य है. कदर्यका स्वभाव ही है, सबको सर्व प्रकारसे पीड़ा देना और लोभके कारण वे लोग सर्व प्रकारकी धार्मिक तथा नैतिक मर्यादाका उल्लङ्घन

कर सकते हैं. क्योंकि उनकी(कदर्योंकी) हृदयरूप गुफामें ऐसे ही विचार भरे रहते हैं. तथा कंसकी उत्पत्ति ही वैसे दुष्ट हृदयसे हुई है. अतः "**त्यजेत् एकं कुलस्यार्थे**", कुलका नाश होनेवाला हो तो उसकी रक्षाकेलिए यदि एककी बलि देनी पड़े तो दे देनी चाहिए. इस शास्त्राज्ञाके अनुसार पुत्रका दे देना ही योग्य है. यदि आप कंसको ऐसा समझते हो तो वसुदेवजीको भाग जाना ही उचित है. न कि निरपराध अज्ञबालकको मरवाना योग्य है. इसका उत्तर देते हैं कि जिन्होंने हृदयमें भगवान्को पधरा रखा है, उनको भगवान्के सिवाय सब कुछ त्याग देना सरल है. कारण कि दूसरे पदार्थ पुत्र आदि उनकेलिए बाधक हैं. पुत्र न देना, यह सर्वका नाश करनेवाला होनेसे भगवद्बाधक(भगवान्के प्राकट्यमें रुकावट करनेवाला) है. अतः जो भगवदीय(भगवान्के भक्त) हैं, उनको किसी भी वस्तुके त्याग करनेमें गुण अथवा दोषके विचार करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है. इससे प्रथम की हुई प्रतिज्ञाके अनुसार प्रतिज्ञात पुत्रको देना ही उचित है ।।५८।।

आभास : वसुदेवजीने यह सर्व कार्य भगवदिच्छासे ही किया. अतः आगे होने वाले कार्यमें कोई विघ्न न आया. यह निम्न श्लोकमें कहते हैं:

दृष्ट्वा समत्वं तच्छौरेः सत्ये चैव व्यवस्थितिम् ।
कंसस्तुष्टमना राजन् प्रहसन्निदमब्रवीत् ।।५९।।

श्लोकार्थ : हे राजन् ! कंस वसुदेवजीकी समता तथा सत्य पर स्थिति देखकर प्रसन्न हुआ, अत: हंसते हुए यों नीचेके श्लोकमें कहने लगा।।५९।।

व्याख्यार्थ : कंसने विचारपूर्वक देखा कि वसुदेवकी दृष्टि समान है, जैसा पुत्रको वैसा ही मुझे समझता है. वसुदेव यह भी जानते हैं कि मैं इसके पुत्रका घातक हूं और इसका पुत्र मेरा घातक होगा. ऐसा जानते हुए भी समता तथा सत्य पर इनकी दृढ़ स्थिति है, अर्थात् वसुदेवका मन डिगा नहीं, जिससे मेरे पास पुत्रको ले आया है. इनको देखकर प्रसन्न हुआ. उपरोक्त श्लोकमें परीक्षितको 'राजन्' सम्बोधन करके यह बताया कि राजाका धर्म ऐसा ही है. कंस अपना भोलापन दिखानेकेलिए जोरसे अच्छे प्रकारसे हंसने लगा और निम्न वाक्य कहे ।।५९।।

प्रतियातु कुमारोयं न ह्यस्मादस्ति मे भयम् ।
अष्टमाद्युवयोर्गर्भान्मृत्युर्मे विहितः किल ।।६०।।

श्लोकार्थ : यह कुमार घर लौट जावे, कारण कि इससे मुझे कोई भय नहीं है. आप दोनोंके आठवें गर्भसे निश्चय मेरी मृत्यु विहित है।।६०।।

व्याख्यार्थ : श्लोकके 'प्रतियातु'(लौट जावे) शब्दका आशय स्पष्ट करते हुए आचार्यश्री कहते हैं कि यह कीर्तिमान् पुत्र जब वसुदेवजी ले आये थे तब पांच वर्षका था, पांच पुत्र हो चुके थे छठा गर्भमें था, यदि वसुदेवजी छोटा ही बालक ले आते तो कंस कहता 'नय', इसको ले जा. किन्तु छोटा न होनेसे कंसने 'प्रतियातु' लौट जावे कहा. वसुदेवजीने ५४वें श्लोकमें कहा था कि ''पुत्रान् समर्पयिष्ये''. यहां इस बहुवचनके कारण जब पांच पुत्र हुए तब ले आये, तब तक नहीं लाये थे, अपने पास ही रखे. इस प्रथम बार एक ही पुत्र इसलिए लाये कि कंस क्या करता है? पश्चात् दूसरे लाऊंगा. इसके लाने पर कंस प्रसन्न होकर कहने लगा कि यह बालक लौटकर घर चला जावे. यह आपका कुमार मेरा घातक नहीं है. इसको नहीं मारा. उसका कारण बताया कि इससे मुझे भय नहीं है. यों कहनेसे यह भी शंका नहीं करनी कि आपने जो प्रतिज्ञा की है, उसके बन्धनसे आप छूट गये हैं. नहीं, वह तो ज्योंकी त्यों ही है, कारण कि आप दोनोंका आठवां बालक मेरा घातक कहा गया है, उससे मुझे भय है, अतः कंसका इस प्रकार कहनेका अभिप्राय है कि उसको लाकर देना. कंसने जो इस प्रकार कहा वह नारदजी आदिको सम्मत नहीं था अर्थात् अच्छा नहीं लगा. कारण कि भगवान्के भक्तोंको भगवान्के सिवाय दूसरेमें(सत्यमें) निष्ठा(विश्वास) करना योग्य नहीं है. अतः नारदजीने कंसके विचारको बदलनेकेलिए जो कुछ किया वह योग्य ही था. श्लोकमें आया हुआ 'किल' शब्द आकाशवाणीके अभिप्रायको सोचना चाहिये, यह जताता है ।।६०।।

आभास : यदि कंस किसी अन्य प्रकारसे (पुत्र देनेके सिवाय) प्रसन्न हो सकता तो पुत्र देना उचित नहीं था किन्तु ऐसा होना असम्भव समझकर ही वसुदेवजी कंसको प्रसन्न करनेकेलिए पुत्रको कंसके पास ले गए. पुनः कंसका वाक्य मानकर घर ले आए. इसका वर्णन निम्न श्लोकमें करते हैं:

तथेति सुतमादाय ययावानकदुन्दुभिः ।
नाभ्यनन्दत तद्वाक्यमसतोविजितात्मनः ।।६१।।

श्लोकार्थ : वसुदेवजी, जो आपकी आज्ञा, यों कहकर पुत्रको लेकर घर आए, किन्तु झूठे और अनिश्चित विचारवाले कंसके इन वचनोंको बखाना नहीं अर्थात् विश्वास नहीं किया।।६१।।

व्याख्यार्थ : वसुदेवजी आप ही पुत्रको अपने साथ घर ले गये. कंसके

वचनों पर विश्वास क्यों नहीं आया? इसके समाधानकेलिए वसुदेवजीको यहां आनकदुन्दुभि कहा है. जिससे वह जान गये कि भगवान्का प्राकट्य तो तब होता है जब बहुत क्लेश प्राप्त होता है, सुखकी अवस्थामें भगवान्का प्रादुर्भाव नहीं होता है. मेरे जन्मके समय बड़े नगारे इसीलिए बजे थे कि मेरे यहां भगवान् प्रकटेंगे. देवताओं और कंस दोनोंका कहना परस्पर विरुद्ध है. देवताओंके वचन सत्य हैं. कंसने जो अब कहा है वह असत्य है. यों समझकर कंसके वाक्योंका अभिनन्दन नहीं किया. कारण कि कंस असत्यवादी है तथा स्थिर बुद्धिवाला नहीं है. इसलिए जो कहा कि 'इसको मैं नहीं मारुंगा' इस पर मुझे विश्वास नहीं है. झूठा मनुष्य सदा एक जैसा नहीं होता है और जिसकी बुद्धि स्थिर नहीं है वह घातक एवं अपनी युक्ति अथवा कहने पर पक्का नहीं रहता है. अतः किसीने कह दिया कि यह पहला ही आठवां है तो इसको मार देगा. इसी कारणसे झूठे पर विश्वास नहीं करना चाहिये. जिस समय इससे राक्षस खानेकेलिये पुरुष मागेंगे, उस वक्त किसी दूसरेके वचनकी अपेक्षा न कर इनका घात करेंगे. ऐसे लोगोंमें क्रोधकी उत्पत्ति अनेक प्रकारसे हो सकती है क्योंकि उन्होंने अन्तःकरणको अपने वशमें नहीं किया है अतः क्रोध आते ही मारनेमें क्षणमात्र भी विलम्ब नहीं करेगा ।।६१।।

आभास : महान् पुरुषोंका अन्तःकरण ही प्रमाण है. जैसे वसुदेवजीने समझा वैसा ही हुआ, उसका वर्णन निम्न आठ श्लोकोंसे करते हैं:

उन आठोंमेंसे प्रथमके तीन श्लोकोंमें नारदजीने आकर कंसको समझाया है कि तूं ने बालकको छोडकर भूल की है, व्रजमें सर्वत्र देव, दैत्यवधार्थ उत्पन्न हुवे है. वसुदेवादि सब देव हैं इत्यादि:

नन्दाद्या ये व्रजे गोपा याश्चामीषां च योषितः।
वृष्णयो वसुदेवाद्या देवक्याद्या यदुस्त्रियः ।।६२।।
सर्वे वै देवताप्राया उभयोरपि भारत।
ज्ञातयो बन्धुसुहृदो ये च कंसमनुव्रताः ।।६३।।
एतत् कंसाय भगवान् शशंसाभ्येत्य नारदः।
भूमेर्भारायमाणानां दैत्यानां च वधोद्यमम् ।।६४।।

श्लोकार्थ : व्रजमें नन्दादिक जो ग्वाल और उनकी स्त्रियां, तथा यदुकुलमें वसुदेवजी आदि यादव और उनकी देवकी आदि स्त्रियां एवं इन दोनोंके

ज्ञाति, बान्धव तथा स्नेही जो कि तेरा अनुसरण करते रहते हैं, वे सब ही प्रायः देवतारूप हैं. इन देवोंने पृथ्वीके भाररूप दैत्योंके नाशका उद्यम प्रारम्भ किया है।।६२-६४।।

व्याख्यार्थ : कंसने वसुदेवसे जो शिष्टाचार किया अर्थात् उसको कहा कि इस तेरे पुत्रसे मुझे भय नहीं है, यह घर जावे. उसके(कंसके) कहने पर वसुदेवजी पुत्रको मनमें अप्रसन्न होते हुए ले गये. किन्तु नारदजीको यह कंसका कृत्य अच्छा न लगा. कारण कि नारदजीने जाना कि यह कार्य देवताओंकेलिए हितकर नहीं हुवा क्योंकि देवता चाहते हैं कि भगवान् शीघ्र प्रकट होवें. भगवान् शीघ्र तब प्रकट होंगे जब वसुदेव-देवकी आदि भक्तों पर विशेष संकट होगा. अतः देवताओंके गुह्य(गुप्त) मनोरथकी पूर्तिकेलिए नारदजी कंसके पास आये. वसुदेवजीका प्रसन्न रहना अनिष्टकारक(भगवान्के प्राकट्यमें विलम्ब करनेवाला) है, अतः मैं ऐसी युक्ति करूं, जिससे वसुदेवादि सर्वसाधारण भी पीड़ित होंवे, जिससे भगवान् शीघ्र प्रकट हों. यह विचारकर नारदजीने कंसको बहकानेकेलिये तीन वाक्य कहे.

यमुनाजीके परले पार जो व्रजमें नन्दादि गोप हैं, और उनकी यशोदा प्रभृति स्त्रियां हैं, तथा और भी कुमारिकाएं हैं, तथा इस किनारे पर यादववंशमें उत्पन्न वसुदेवादि तथा यदुवंशमें जन्मी हुई देवकी आदि स्त्रियां हैं. यों प्रथम श्लोकमें सबकी पहचान कराके अब दूसरे श्लोकमें उनका देवत्व बताते हैं. ये सब स्त्रियां तथा पुरुष आदि सर्व, बहुत करके सब देवता तुल्य अर्थात् देव जैसे हैं. देखनेमें मनुष्य हैं किन्तु इनमें देवत्व छिपा हुआ है, अतः जो बर्ताव आप देवताओंसे करते हो वैसा ही इनसे भी करो. अर्थात् आप देवताओंको सदैव पीड़ा देते हो, वैसा ही व्यवहार इनसे करो. आप असावधान मत रहो. न केवल मनुष्य देवांश है, किन्तु दोनों तीरों पर रहनेवाले पशु आदि भी देवांश है, यह आशय श्लोकमें आये हुए 'च'से निकलता है. इस श्लोकमें जो परीक्षितको भारत ! यह सम्बोधन दिया है, उसका सम्बन्ध ६४वें श्लोकके 'एतत्....शशंस'से है. नारदजीने विचारा कि मेरा यह कहना, कंस न माने तो उसका विश्वास करानेकेलिए देवोंकी गुह्य बात एकान्तमें ही युक्तिपूर्वक कही जाती है, इसलिए एकान्तमें कंसको समझाया गया है. नारदजीने कंसको कहा कि आप यों भी मत समझो कि जो मुझसे उदासीन हैं, वे केवल देव हैं. नहीं, आपके निकट रहनेवाले

अक्रूर आदि, जो ज्ञातिवाले तथा गोत्रवाले हैं, एवं जो आपके बान्धव सम्बन्धी तथा मित्र हैं और सेवक हैं. विशेष क्या कहें? 'च' से यह भी बताया है कि आपके पितादि भी देवांश हैं. इस तीसरे श्लोकमें नारदजीने कंसको आदरपूर्वक उपाख्यानके समान सब बात समझा दी है.

कंसको मनमें यह शंका हो कि नारदजी दुष्ट हैं इसलिए मुझे बहकाकर दुष्कर्म कराते हैं तो इस शंकाको दूर करनेकेलिए श्लोकमें नारदजीको 'भगवान्' विशेषण दिया है, जिसका भाव यह है कि नारदजी दुष्ट तो नहीं है, किन्तु ऐश्वर्य आदि छः गुणोंवाले हैं, अतः वह जो कुछ कहते हैं वह हितकर ही है. अतः कंसने जो कुछ एकान्तमें नारदजीसे सुना, उसका सार यह हुआ कि कंसको मालूम हो गया कि स्वर्गमें देवोंने मन्त्रणाकर हम दैत्योंका नाश करनेकेलिए पृथ्वी पर जन्म लिया है और हमारे वधकेलिए उद्यम कर रहे हैं. और निश्चययें मनुष्यरूपमें देवांश ही है ।।६२-६४।।

आभास : इस प्रकार तीन श्लोक कहकर नारदजी पधार गए. अनन्तर जो कुछ कंसने मंत्रणाकर कार्य प्रारम्भ किया, उसका वर्णन पांच श्लोकोंसे करते हैं:

ऋषेर्विनिर्गमे कंसो यदून् मत्वा सुरान् इति ।
देवक्या गर्भसम्भूतिं विष्णुं च स्ववधं प्रति ।।६५।।
देवकीं वसुदेवं च निगृह्य निगडैर्गृहे ।
जातञ्जातम् अहन् पुत्रं तयोरजनशंकया ।।६६।।

श्लोकार्थ : नारदजीके चले जानेके अनन्तर, कंसने यादवोंको देवता समझा और अपने वधकेलिए देवकीके गर्भसे विष्णुके प्राकट्यका निश्चय कर लिया, अतः वसुदेव तथा देवकीके पैरोंमें बेडी डाल, घरमें ही बंद कर दिया. और ज्यों-ज्यों बालक उत्पन्न हुवे उनको विष्णु समझकर मार डाला।।६५-६६।।

व्याख्यार्थ : अनुवादमें[१] भी जो अर्थ कहे गये हैं वे प्रथम नारदजीके कहे हुए हैं, यों समझना चाहिये. ऋषिकी उपस्थितिमें कंसने कुछ नहीं किया, उनके जानेके अनन्तर किया, उसका कारण आचार्यश्री कहते हैं कि नारदजीने कंसको अपने सामने कुछ भी करनेका निषेध कर दिया था. अतः उस समय कुछ न कर, ऋषिके जानेके अनन्तर कार्य करना प्रारम्भ किया. ऋषिके समझानेसे कंसने जो सार निकाला, उससे दो बात जाननेकी थी और चार करनेकी थी.

दो बातें जानीं वे ये हैं, १.यादवादि सर्व देव हैं. २.देवकीके आठवें

गर्भसे मेरी मृत्यु होगी. शेष चार जो करनी हैं वे ६६वें श्लोकमें कही है.

प्रथम तो देवकीजी और वसुदेवजीको तथा उनके सम्बन्धी यादवोंको अपने घरमें ही बेड़ी डालकर कैदमें रखा. जिस क्रमसे उनके बालक जन्मे थे, उस क्रमसे उन छ:को इसीलिए मार डाला कि इनमें कौन विष्णु है, इसका निश्चय नहीं है. कारण कि गणनाका कोई नियम नहीं है. 'जातं जातं' कहनेका भाव मारनेके कालका ज्ञान कराना नहीं था किन्तु देवकीसे उत्पन्न होना ही मारनेका कारण था. यह बताना था. अतः जन्म होते ही नहीं मारे गये थे, किन्तु पीछे कुछ बड़े हो जाने पर ५ वर्षके बादमें वे मारे गये थे. जन्मते ही न मारे गये, उसका प्रमाण यह है कि क्षत्रियोंका नामकरण संस्कार १३वें दिन होता है. अतः जन्मे हुवे बालकोंके 'कीर्तिमान्' और 'सुषेण' आदि जो प्रथम स्कन्धमें लिखे कहे गये हैं, वे युक्तियुक्त न होते।।६६।।

१. 'नंदाद्या ये' श्लोकोमें जो विषय शुकदेवजी ने कहा है वे नारदजी के कहे हुए शब्दोंका अनुवाद (पुन: कथन) हैं. –अनुवादक.

आभास : कंसने वैसा दुष्कर्म कैसे किया? इस शंकाकी निवृत्तिकेलिए 'मातरं' यह श्लोक कहते हैं:

मातरं पितरं भ्रातन् सर्वांश्च सुहृदः सखीन्।
घ्नन्ति ह्यसुतृपो लुब्धा राजानः प्रायशो भुवि ।।६७।।

श्लोकार्थ : पृथ्वी पर अपने प्राणोंका ही पोषण करनेवाले लोभी भूपति, माता, पिता, भ्राता सर्व प्रकारके मित्र तथा स्नेहीओंको भी मार डालते हैं।।६७।।

व्याख्यार्थ : यह कंस तो दैत्य ही है, किन्तु जो भूपति दैत्य नहीं है, वे भी लोभसे अपने प्राणोंके पोषणकर्त्ता होते हैं. लोभ सर्व प्रकारके गुणोंका नाश करनेवाला है. अतः प्राणपोषक लोभी राजा ही जब, माता–पिता, भ्राता, सर्व प्रकारके बान्धव तथा मित्रोंका घात करते हैं तो कंस तो दैत्य और प्राणपोषक लोभी होकर बहिनके पुत्रोंका वध करे तो उसमें क्या आश्चर्य है? श्लोकमें 'प्रायशः' पद देनेका आशय यह है कि कोई–कोई अम्बरीष आदि धर्मात्मा राजा लोग वैसे नहीं होते हैं. किञ्च पृथ्वी पर यह ही व्यवस्था देखनेमें आती है, अतः युधिष्ठिर आदिने भी पितामह आदिको मार डाला. राजाओंकी जहां कहीं भी किसीसे मारे जानेकी शंका होती है तो चाहे वे माता और भ्राता आदि ही क्यों न हो उन सबको मारनेमें नहीं हिचकते हैं।।६७।।

आभास : इस कंसको अपने देवत्व होनेकी सम्भावना थी, तो क्यों नहीं अच्छे कर्म किये ? इस शंकाको मिटानेकेलिए कहते हैं कि:

आत्मानमिह सञ्जातं जानन् प्राग् विष्णुना हतम् ।
महासुरं कालनेमिं यदुभिः स व्यरुध्यत ।।६८।।

श्लोकार्थ : कंसको यह ज्ञान था कि जिस महान् असुर कालनेमीको विष्णुने आगे मारा था, वह कालनेमी मैं हूं, यों जानकर भी कंसने यादवोंसे विरोध किया।।६८।।

व्याख्यार्थ : पूर्वकालमें अमृतमन्थनके समय, देवताओंकी सेनाके पृष्ठ भागके रक्षक भगवान्ने महान् असुर कालनेमिको मारा था, वह ही यह कंस है, यों अपनेको कंस जानता हुआ भी तथा भगवान् देवताओंकी प्रेरणासे ही दैत्योंके वधकेलिए आते हैं और ये सब यादव देव हैं, इसलिए इन सर्व यादवोंसे वैर करने लगा।।६८।।

आभास : इसके सिवाय दूसरा कार्य जो किया, वह भी अत्यन्त अयोग्य है, यह निम्न श्लोकमें कहते हैं:

उग्रसेनं च पितरं यदुभोजान्धकाधिपम् ।
स्वयं निगृह्य बुभुजे शूरसेनान् महाबलः ।।६९।।

श्लोकार्थ : यदु, भोज और अन्धकके अधिपति पिता उग्रसेनको, महाबली कंसने बांधकर घरमें बन्द कर दिया और शूरसेन देशका राज्य स्वयं भोगने लगा।।६९।।

व्याख्यार्थ : 'उग्रसेन' नाम ही से महत्त्व प्रकट हो रहा है. विशेष महत्त्व उसके विशेषण 'यदुभोजान्धकाधिपम्' कहनेसे जाना गया है. विशेषणमें यदु, भोज और अन्धक, ये तीन नाम उपलक्षणरूपमें दिये गए हैं. वास्तवमें वह छः प्रकारके यादवोंका अधिपति हैं. इसकी आज्ञासे ये सब मेरे विपरीत कार्य करेंगे, अतः वैसा होनेसे पहले ही इनको बन्धनमें डालना चाहिये, यह विचारकर स्वयं कंसने अपने हाथसे पिताको बन्धनमें डाल दिया. अनन्तर शूरसेन देशका राज्य करने लगा और सर्व प्रकारसे राज्यके सुख भोगने लगा. इतना बड़ा भारी साहसका कार्य अकेलेने कैसे किया? वैसी शंका नहीं करनी चाहिये? क्योंकि वह कंस 'महाबल' महान् बलवान् है. प्रत्येक बड़ा कार्य अपनी शक्तिसे कर सकता है.

इस प्रकार सब उत्पन्न देवांश भक्तोंका महान् उपद्रवका निरूपण हुआ, जो उपद्रव भगवान्के प्राकट्यका हेतुभूत है ।।६९।।

इति श्रीमद्भागवत पुराण, दशम स्कन्ध, (पूर्वार्ध) प्रथम अध्यायकी श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण विरचित सुबोधिनी टीकाका हिन्दी अनुवाद समाप्त ।

अध्याय २

प्राकट्यकेलिए प्रभुके चतुर्विध उद्यम तथा संकर्षण व्युहका प्राकट्य

एवं हेतुं निरूप्याथ कृष्णोद्यम उदीर्यते ।
महत्त्वज्ञापनार्थाय द्वितीये सविशेषणः ।।कारि.१।।
दुःखं हेतुरिहागन्तुमितिबोधाय तत्कथा ।
पुनर्निरूप्यते स्पष्टा शीघ्रागमनहेतुका ।।कारि.२।।
सर्वेषां ज्ञापनार्थाय कंसवाक्यं तथा स्तुतिः ।
अन्यथा भगवानेव प्रादुर्भूतः कथं भवेत् ।।कारि.३।।

कारिकार्थ : द्वितीयाध्यायका अर्थ, उद्यम है. प्रथमाध्यायमें यह सूचित किया है कि पृथ्वी पर भगवान्‌के प्राकट्यका कारण भक्तोंका दुःख है अर्थात् पृथ्वी पर भगवान् तब प्रकट होते हैं, जब देखते हैं कि मेरे भक्त दुःखी हैं. इस प्रकार प्रथमाध्यायमें प्राकट्यका हेतु ''भक्तका दुःख'' है. यह निरूपणकर, अब द्वितीय अध्यायमें प्रभुका महत्त्व प्रकट करनेकेलिए भगवान्‌का असाधारण[१] धर्मरूप उद्यम कहते हैं।।१।।

भगवान्‌के प्रकट होनेका कारण भक्तका दुःख ही है, इसको स्पष्ट समझानेकेलिए वह कथा, जो भगवान्‌को शीघ्र प्रकट करनेका हेतु है. उसका प्रलम्ब, चाणूर आदि साढे तीन श्लोकोंमें वर्णन करते हैं।।२।।

इस अध्यायमें कंसके वाक्य और ब्रह्माजीकी स्तुति भी है. जिससे ही सबको यह ज्ञान हुआ कि भगवान् प्रकट हुए हैं, यदि ये दोनों(कंसके वाक्य और ब्रह्माकृत स्तुति) नहीं होती, तो भगवान्‌के प्राकट्यका ज्ञान कैसे होता ? अर्थात् नहीं होता ।३।।

१.जिस धर्मको दूसरा धर्म हटा न सके, उसको असाधारणधर्म कहते हैं.

व्याख्यार्थ : श्रीगुसांईजीप्रभुचरण कारिकाओंके आशयको प्रकट करते हुए आज्ञा करते हैं कि भगवान् भक्तोंके दुःखनिवृत्तिमें इतना भी विलम्ब, जो सप्तम बालकके पूरे समयमें प्राकट्य होनेसे होनेवाला था, सहन नहीं कर सके. अतः अपने शीघ्र प्रकट होनेकेलिए मायाको देवकीजीके उदरसे सप्तम गर्भको ले जाकर, रोहिणीजीमें स्थापन करनेकी आज्ञा दी. मायाको इस प्रकारकी आज्ञा किसी अवतारमें नहीं हुई है. जो माया ब्रह्मादिकोंको भी मोहमें डाल सकती है, उस मायाको कोई दूसरा आज्ञा नहीं दे सकता है, तथा वह माया अन्यके आधीन

भी नहीं हो सकती है. वैसी मायाको आज्ञा देकर भगवान्ने अपना अन्य अवतारोंसे एक महत्त्व बताया है. भगवान्ने अपना दूसरा महत्त्व वसुदेवजीके मन द्वारा देवकीके हृदयमें विराजमान् होकर बताया है, जैसे कि मामा कंस देवकीके प्रफुल्लित मुखारविन्दको देखकर जान गया कि इसके भीतर मेरे प्राणोंको हरनेवाला हरि आ गया है. इतना जानकर भी अपने आसुरभावको त्याग, देवकीको मारा नहीं. तीसरा महत्त्व ब्रह्मादिकृत स्तुतिसे अपना पुरुषोत्तमत्व प्रकट जताया है. इस प्रकार प्रभुचरणश्रीगुसांईजीने तीन प्रकारसे प्रभुके प्राकट्यका महत्त्व बताया है.

आभास : प्रथम अध्यायमें यादवोंके साथ सामान्य विरोध कहा है, तदनन्तर भगवान्के शीघ्र प्राकट्यकेलिए कंसने लोकमें जो अत्यन्त उपद्रव किये, वे साढे तीन श्लोकोंमें वर्णन करते हैं:

प्रलम्बबकचाणूरतृणावर्तमहाशनैः ।
मुष्टिकारिष्टद्विविदपूतनाकेशिधेनुकैः ।।१।।
अन्यैश्चासुरभूपालैर्बाणभौमादिभिर्युतः ।
यदूनां कदनं चक्रे बली मागधसंश्रयः ।।२।।

श्लोकार्थ : बहुत भोजन करनेवाले, प्रलम्बासुर, बकासुर, चाणूरमल्ल और तृणावर्तदैत्य, मुष्टिकमल्ल, अरिष्टासुर, द्विविदवानर, पूतना, केशीदैत्य, धेनुकासुर, और अन्य भी बाणासुर, तथा नरकासुर, प्रभृति दैत्यरूप राजाओंकी सहायतासे बलवान् कंस यादवोंका नाश करने लगा. इस कंसको जरासन्धका बडा आश्रय था।।१- २।।

व्याख्यार्थ : प्रलम्ब आदि दैत्योंके रूपका वर्णन करते हुए आचार्यश्री कहते हैं कि प्रलम्ब दैत्यरूपमें, बक पक्षीरूपमें, चाणूर मनुष्यरूपमें, तृणावर्त वायुरूपमें था. ये बहुभोजी थे, इसलिए श्लोकमें इनको 'महाशन' कहा है. बहुभक्षी होनेसे इन्होंने बहुत यादवोंका भक्षण किया था. कितनेक टीकाकार 'महाशन'का अर्थ 'अघासुर' करते हैं. नामोंका यौगिक अर्थ करना विचारणीय है. मुष्टिकदैत्य चाणूरके समान था. जैसे प्रथम बताये हुए प्रलम्बको बलरामजीने मारा वैसे ही मुष्टिकको भी बलरामजीने ही मारा है. अरिष्ट वृक्षरूप था, बक पक्षीरूप था. द्विविद नामक दैत्य, वानररूप था. पूतना राक्षसी थी. केशीदैत्यका रूप घोड़ेका सा था. धेनुकका रूप गर्दभका था. और दूसरे भी इसी प्रकारके

सैकड़ों असुर थे, जो राजाओंके रूपमें भी थे. जैसे कि बलिका पुत्र बाणासुर था और भौमासुर था, जिसको नरकासुर भी कहते हैं. श्लोकमें दिये हुए आदि शब्दसे जरासन्ध इत्यादि असुर भूप भी समझ लेने चाहिये. जो यादव गुप्त होकर रहते थे, उनको प्रलम्ब आदि असुर तथा जो यादव प्रकट रहते थे, उनको बाणासुरादि राजा दुःख देते थे. इसी प्रकार कंस इन राक्षसों द्वारा यादवोंका अन्यायसे नाश कराता था. ये राक्षस, राजा थे, तो भी कंसकी आज्ञाको इसलिए मानते थे कि कंस बलवान् था और उसका श्वसुर जरासन्ध भी उसकी सहायता करनेवाला था. जरासन्धने अपनी दो कन्याएं कंसको तब दी थी, जब दिग्विजयमें कंससे पराजित हुआ था. इन असुर राजाओंमेंसे कोई भी यदि कंसकी आज्ञाका उल्लङ्घन करता था, तो जरासन्ध उस समय कंसकी सहायता करता था, जिससे वे राजादि दब जाते थे. इस प्रकार कंसको जरासन्धका आश्रय तथा सहायता थी ।।१-२।।

आभास : इस प्रकार जो यादव दुःखी हुए उन्होंने क्या किया? उसका वर्णन निम्न डेढ श्लोकमें करते हैं कि:

ते पीडिता निविविशुः कुरुपाञ्चालकैकयान्।
शाल्वान् विदर्भान् निषधान् विदेहान् कोशलानपि ।।३।।
एके तमनुरुन्धाना ज्ञातयः पर्युपासते ।।३।।

श्लोकार्थ : कंससे पीडित वे यादव, कुरु, पांचाल, कैकय, शाल्व, विदर्भ, निषध, विदेह, काशी, और कोशलदेशोंमें चले गए और कितने ही कंसके आज्ञाकारी होकर उसकी सेवा करने लगे।।३।।

व्याख्यार्थ : कंसके अनुचरोंसे पीड़ित हुए यादवोंने जो किया, उसका वर्णन करते हुवे कहते हैं कि ये राजा धर्मात्मा थे, अतः स्वदेश छोड़कर सकुटुम्ब पृथक् पृथक् प्रदेशोंमें चले गये. जैसे कि कितने ही कुरुदेशमें, अन्य पाञ्चाल, कैकय, शाल्व, कोशल आदि देशोंमें जाकर अत्यन्त गुप्तरीतिसे वहां पर ही रहने लगे. जो राजा मथुरासे निकल न सके, वे कंसके अनुयायी होकर वहां ही रहने लगे, तथा कितने ही अक्रूरादि एवं ज्ञातिवाले और सगोत्री भी उसके चारों तरफ सेवकके समान रहते हुए उसकी आज्ञाका पालन करते थे. इस प्रकार प्रभुके प्राकट्यकेलिए सबको उद्यम करना पड़ा. इन्होंने दुःखसहनरूप उद्यम किया ।।३।।

आभास : भगवान्के उद्यमका वर्णन करनेकेलिए देवकीके बन्धन तक, जो चरित्र हुवे, उनका वर्णन करते हैं:

हतेषु षट्सु बालेषु देवक्या औग्रसेनिना ।।४।।
सप्तमो वैष्णवं धाम यमनन्तं प्रचक्षते ।
गर्भो बभूव देवक्या हर्षशोकविवर्धनः ।।५।।

श्लोकार्थ : कंसने देवकीके छः पुत्र मार डाले, तब विष्णुके धामरूप, कि जिनको अनन्त कहते हैं, वे देवकीके हर्ष और शोकको बढानेवाले होकर उसके गर्भमें पधारे।।४-५।।

व्याख्यार्थ : श्लोकमें कंसका नाम न देकर, उग्रसेनके पुत्रने देवकीके छः[१] पुत्रोंको मारा. यों कहनेका भावार्थ यह है कि देवकी, कंसकी भगिनी है, तो भी उसने उसके पुत्रोंको मार डाला. लोकमें भगिनीके पुत्र भानजे, अतीव मान देने योग्य होते हैं. इससे यह सिद्ध हुआ कि कंस दुष्ट है, जो बहिनके पुत्रोंको भी मार डालता है, तो उसको दूसरोंको मारनेमें तो कुछ भी संकोच नहीं होता होगा. वह अर्थ सिद्ध ही है ।।४।।

१. प्रभुचरण आज्ञा करते हैं कि देवकीको सप्तम गर्भ हुआ तब नारदजीने कंसको कहा कि व्रजमें नन्दादि और उनकी स्त्रियां, तथा वसुदेवादि यादव, स्त्री समेत सब देवता हैं. इस प्रकार नारदजीके कहनेके अनन्तर कंसने देवकीके छः पुत्र मारे और वसुदेव और देवकीको बन्धनमें डाला. यह गर्भ, देवकीको हर्ष और शोक देनेवाले हुए. इस आधे श्लोकमें यह हेतु इसलिए बताया है कि भगवान् प्रकट होनेका शीघ्र उद्यम करें. षट् बाल, असुरवध और गर्भविषयक दुःख, भगवान्का चरित्र ही है.

कंसने देवकीके जो छः पुत्र मारे थे, ये भगवान्के ऐश्वर्य, वीर्यादि छः गुणरूप थे. किन्तु कंसने उनको भगवद्रूप समझकर मारे थे. देवकीके गर्भमें सातवें बालक धर्मी, अर्थात् गुणोंके स्थानभूत् आश्रय, अक्षरस्वरूप पधारे थे. उनको भी कंस मारेगा, इस शंकाको मिटानेकेलिए श्लोकमें कहा है कि 'वैष्णवं', यह सातवां गर्भ व्यापक विष्णुका स्वरूप है. वह सबकी रक्षा करता है, जो सबकी रक्षा कर सकता है, वह अपनी रक्षा करे, इसमें किसी प्रकारकी शंका नहीं है. यह सप्तम गर्भ अक्षरात्मा होनेसे यहां तक ही आनन्दकी गणनाकी सीमा हुई है. तैत्तिरीय उपनिषद्में आनन्दकी गणना की गई है. वहां मनुष्यके आनन्दसे लेकर गन्धर्वादि देवों तकका आनन्द बताते हुवे अन्तमें कहा है कि प्रजापतिके शत आनन्दके समान अक्षरब्रह्मका आनन्द है. यहां तक ही आनन्दकी गणना हो सकी है. छः बालक गुणरूप धर्म हैं. उन छः धर्मोंका आश्रयस्थान सातवां बालक अक्षर

स्वरूप होनेसे धर्मी है. पुरुषोत्तमस्वरूप तो उससे महान् हैं. अतः यह सातवां गर्भ पुरुषोत्तमस्वरूप नहीं है. इसका ज्ञान करानेकेलिए श्लोकमें सातवें गर्भकेलिए 'धाम' शब्द लिया है, जिसका अर्थ है पुरुषोत्तमका 'निवासस्थान' वा 'चरणरूप', जिसको लोक अनन्त, कालात्मा भी कहते हैं. वह अनन्त सातवें गर्भमें प्रकट हुआ. उस अनन्तस्वरूपमें आनन्दको पूर्णरूपसे प्रकट न करके, उसमें आधा ही आनन्द प्रकट किया है. अतः देवकीको हर्ष भी हुआ और शोक भी हुआ. हर्ष इसलिए हुआ कि वह धर्मीस्वरूप अनन्त महान् हैं और शोक इसलिए हुआ कि छः बालकोंके मरनेसे यह मनमें भ्रम हुआ कि कदाचित् कंस दुष्ट है, इसको भी न मार डाले. यह भ्रम इसलिए हुआ कि देवकीने इस स्वरूपका प्रभाव अब तक देखा नहीं था।।५।।

४–५ श्लोकार्धका साहित्यका सारांश :

१. देवकीको शोक होनेके साथ आनन्दवृद्धि कहना उपयुक्त(योग्य) नहीं. इस शंकाकी निवृत्तिकेलिए कहा है कि सातवें गर्भमें पूर्ण आनन्दका प्राकट्य न होनेसे शोक हुआ, किन्तु सातवां गर्भ गणित आनन्दमय है, इसलिए आनन्द भी हुआ.

२. देवकीके छः पुत्र कौन थे? जिनको कंसने मारा. देवकीके छः पुत्र भगवान्के ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य थे. क्योंकि कृष्णोपनिषद्में कहा है कि जब श्रीकृष्णका भूतल पर प्राकट्य हुआ, तब श्रीकृष्णका सर्व परिकर भी प्रकट हुआ है. अतः प्रथम श्रीकृष्णके छः गुण, देवकीके यहां पुत्ररूपसे प्रकट हुए. अनन्तर श्रीकृष्णका धाम, 'अक्षर', बलरामके स्वरूपसे देवकीके सप्तम गर्भमें आया. अन्तमें श्रीकृष्ण स्वयं प्रकट हुए .

अब शंका होती है कि कंसने भगवान्के ऐश्वर्यादि छः गुणोंका नाश किया? इसके उत्तरमें कहा जाता है कि नहीं. कारण कि भगवान्के छः गुण भी भगवद्रूप हैं. अतः उनको कंस मारता तो क्या, स्पर्श भी नहीं कर सकता है. यदि यों है तो कंसने किनको मारा? इसका समाधान यह है कि देवकीके गर्भमें साधारण जीवोंका प्रवेश नहीं हो सकता है, कारण कि देवकी सर्व देवतारूप है. अतः देवकीके गर्भमें गुणोंके साथ मरीचि ऋषिके पुत्र, जो वैकुण्ठस्थ दैवी जीव थे, उनका प्राकट्य हुआ था. किन्तु इन मरीचि ऋषिके पुत्रोंको पूर्वजन्ममें ब्रह्माजीने शाप दिया था कि तुम असुर होवोगे, क्योंकि जब ब्रह्माजी अपनी पुत्रीके

पीछे कामातुर होकर दौड़े थे, उस समय यह क्रिया देखकर ये मरीचिके पुत्र हंसे थे. उस शापसे इनका जन्म, हिरण्यकशिपके यहां हुआ था. अनन्तर वे अब गुणोंके साथ देवकजीके यहां प्रकट हुवे.

कंसने, उन मरीचि ऋषिके पुत्रोंमे, जो शापसे आसुर भाव उत्पन्न हुआ था, उस आसुर भावका नाश किया. वे देवरूप दैवीजीव तो भगवत्प्रसादी, दुग्धपान करनेसे मुक्त हुए और गुण तो धर्मरूप होनेसे अपने धर्मीरूप सप्तम गर्भ अक्षरमें स्थित रहे.

आभास : इस प्रकार देवकीजीको हर्ष तथा शोक एवं यादवोंको दुःखका होना देखकर, भगवान्‌को भक्तों पर दया उत्पन्न हुई, अतः दयासे पूर्ण भगवान्‌ने अपने शीघ्र प्राकट्य होनेकेलिए उपाय किया, उसका वर्णन करते हैं:

भगवानपि विश्वात्मा विदित्वा कंसजं भयम्।
यदूनां निजनाथानां योगमायां समादिशत्।।६।।

श्लोकार्थ : विश्वात्मा भगवान्, जिन यादवोंके आप नाथ हैं, उनका कंसजन्य भय देखकर, योगमायाको आज्ञा देने लगे।।६।।

व्याख्यार्थ : षड्गुणैश्वर्य सम्पन्न भगवान्‌की यह इच्छा थी कि कंसने जो पहले अपराध किये हैं, उनका प्रतिकार(बदला) कंससे मैं स्वयं लूं, इसलिए अपने शीघ्र प्राकट्यार्थ, उस सप्तमगर्भको अन्यत्र स्थापनार्थ ले जानेकेलिए योग मायाको आज्ञा दी. यदि भगवान् योगमायाको वैसी आज्ञा नहीं देते तो ''सप्तम गर्भका प्राकट्य कारागृहमें देवकीके यहां ही होता और कंस अवश्य उनको भी अन्य पुत्रवत् मारनेकेलिए हाथसे स्पर्श करता, तो स्पर्शमात्रसे ही कंसका नाश हो जाता. वैसा होगा तो मैं प्रतिकार ले न सकूंगा और शीघ्र प्रकट भी नहीं हो सकूंगा. अतः योगमायाको आपने आज्ञा दी, जो कि भगवान्‌की शक्ति है और जगत्‌को उत्पन्न करनेमें कारण हैं और उस शक्तिका ही नाम 'योगमाया' है. आप भगवान् 'विश्वात्मा' समग्र विश्वकी आत्मा है. अतः सकल लोकोंके दुःखोंको जानते हैं. जब सर्वके दुःखोंको तथा स्वरूपोंको जानते हैं, तो कंससे प्राप्त यादवोंके दुःखोंको जाने, इसमें कोई संशय नहीं है. उनके दुःखोंका प्रतीकार आप करने लगे. उसका कारण यह है कि आप यादवोंके नाथ हैं. यद्यपि भगवान् सर्वसमर्थ होनेसे केवल इच्छासे भी सभी कार्य कर सकते हैं. सप्तम गर्भको भी इच्छामात्रसे अन्यत्र पहुंचा सकते हैं, किन्तु कार्य करनेमें प्रत्यक्षकारण, अन्य होना चाहिए,

अतः 'योगमाया'को आज्ञा देकर प्रत्यक्ष कारण दिखाया ।।६।।

श्लोक ६ पर प्रकाश तथा लेखका सारांश :

प्रभु, शरणागत भक्तों पर ही विशेष दया करते हैं, यह तृतीय स्कन्धमें २१वें अध्यायके ३८वें श्लोकसे सिद्ध है. यादव शरणागत अनन्य हैं, आप ही उनके नाथ हैं. अतः आप उन पर दया करके उनके दुःखोंको दूर करें, इसमें किसी प्रकारका आश्चर्य नहीं है. दुःखोंकी पूर्ण निवृत्ति परमानन्दस्वरूप पुरुषोत्तमके प्राकट्यके सिवाय नहीं हो सकती है. इसलिए भगवान् दयावश होकर अपने शीघ्र प्राकट्यकेलिए उद्यम करने लगे. भगवान्को जब रमणकी इच्छा हुई, तब भी सृष्टिको आपने इच्छामात्रसे स्वयं प्रकट नहीं किया. उसकेलिए प्रत्यक्षमें अन्य कारण अर्थात् तपस्याको दिखाया. ब्रह्मारूपसे तपस्याकर सृष्टि उत्पन्न की. वैसे ही यहां पर सप्तमगर्भको अन्यत्र स्थापन करनेकेलिए जगत्की कारणभूत योगमायाको आज्ञा दी.

कंसने देवकीके छः पुत्रोंको मारा और यादवोंको दुःख दिया, उसका प्रतीकार यही है कि कंसका तथा उसको इस कार्यमें सहायता करनेवाले असुर राजाओंका वध करना. दुःखोंका मूल कारण कंस था. अतः भगवान्ने प्रथम कंसका वध किया.

भगवान्की दस प्रकारकी शक्तियां हैं, उनमेंसे एकका नाम 'माया' है. वह माया तीन प्रकारकी हैं. १.जगत्की कारणरूपा, जिसको योगमाया कहते हैं. २.व्यामोहिका, वह चित्रूपा है. ३.क्रियारूपा, वह सत्रूपा है. अभी यहां पर योगमायाका प्राकट्य हुआ है, जिसकी आज्ञा हुई है. अन्य दोनों शक्तियोंसे दूसरे समयमें कार्य लिया है.

गच्छ देवि व्रजं भद्रे गोपगोभिरलङ्कृतम् ।।६।।

श्लोकार्थ : हे कल्याणी देवि ! गोप(गोपी) और गौओंसे अलंकृत व्रजमें जा।।६।।

व्याख्यार्थ : भगवान्ने योगमायाको आज्ञा दी, कि मथुरामें दैत्यका आवेश है. इसलिए प्रथम तू व्रजमें जा. वहां तू सुख प्राप्त करेगी. दैत्योंका भगवान् मायारूप है. जो माया वहां(मथुरामें) रहेगी तो दैत्योंका कार्य सिद्ध कर दे. इसलिए मायाको कहा कि तू देवाश्रित गोकुलमें जा. कारण कि तू देवतारूप होनेसे दैत्योंकी हितकारिणी नहीं है. इसलिए श्लोकमें योगमायाको हे देवि ! कहा

है. 'गोकुल'को व्रज कहकर यह बताया है कि गोकुल जड़ नहीं है किन्तु चेतनरूप है. इसलिए स्थावरनगरसे[१] इसकी उत्तमता दिखलाई है. यदि 'माया' व्रजमें आएगी, तो वहांके रहनेवाले देवोंको मोहित करेगी, इस शंकाकी निवृत्तिकेलिए श्लोकमें 'माया'को 'भद्रे' विशेषण दिया है, जिसका भाव है कि वह माया देवोंकी भी देवता होनेसे कल्याणरूपा है. इस लोकके सुखोंको देनेवाली है. इस मायाका सीधे सादे जीव बहुत सम्मान करते हैं. व्रजमें गोप, गोपी और गौ रहते हैं, वे सीधे सादे हैं, इसलिए मायाका वहां सम्मान विशेष होगा. अतः भगवान्ने मायाको व्रजमें जानेकी आज्ञा दी. ये गोपादि व्रजके अलंकार हैं. इन्हींसे व्रज सुशोभित[२] हो रहा है. इनके सिवाय जो अन्य रहते हैं, उन पर भी इनका प्रभाव पड़ता है, जिससे उन अन्योंसे शोभामें किसी प्रकारका प्रतिबन्ध नहीं है. अतः व्रजके दर्शन मात्रसे ही वहां सुख प्राप्ति होती है, यह निरूपण किया है ।।६।।

१. टिप्पणीमें प्रभुचरण आज्ञा करते हैं कि 'नगर' अभिमानी होनेसे 'स्तब्ध' होते हैं, अतः वे 'स्थावर'(जड़) हैं.

२. योजनाकार लालूभट्टजी कहते हैं कि भगवान्ने मायाको व्रजमें जानेकी आज्ञा की, जिसका गूढाशय यह है कि जैसे गोप और गौ तो व्रजको प्रकटरूपसे सुशोभित कर रहे हैं, किन्तु गोपियां जो साक्षात् श्रुतिरूपा हैं, वे प्रभुसे रासोत्सवमें संगमकर, रस प्राप्तिकी आशासे व्रजमें स्थिति करती हैं, और परस्पर प्रभुका गुणगान, करती हुईं व्रजकी शोभा बढ़ाती हैं, अतः वे ही मुख्यतः व्रजकी शोभारूप हैं. प्रभु अपनेलिए उनको प्रकटकर आप आविर्भूत हुवे हैं. गोपी व्रजकी गुप्तरूपसे भूषण हैं. कारण कि शृंगाररसकी पद्धतिके अनुसार उनके साथ गुप्तरीतिसे ही रमण प्रभुको इष्ट है. अतः श्रीशुकदेवजीने श्लोकमें ''गोपगोभिः अलङ्कृतम्'' कहा है. इसमें गोपी शब्द व्याकरणके नियमानुसार गुप्त रखा है. अतः जिस प्रकार गोपिएं गुप्तप्रकारसे शृंगारादिकर, तथा गुणगानकर, व्रजकी शोभा बढ़ाती हैं, वैसे तू भी वैसी ही होकर व्रजकी शोभाकी वृद्धिमें सहयोग दे. मुग्ध गोपाल तुम्हारा सन्मान भी करेंगे.

रोहिणी वसुदेवस्य भार्यास्ते नन्दगोकुले ।
अन्याश्च कंससंविग्ना विवरेषु वसन्ति हि ।।७।।

श्लोकार्थ : वसुदेवजीकी स्त्री रोहिणी, नन्दजीके गोकुलमें है और कंसके उद्वेग(दुःख)से पीडित दूसरी वसुदेवजीकी स्त्रियां तथा अन्य स्त्रियां भी गुप्तस्थानोंमें रहती हैं।।७।।

व्याख्यार्थ : मायाका व्रजमें जानेका क्या प्रयोजन था? उसका कारण इस श्लोकमें बताते हैं. वसुदेवजीकी स्त्री रोहिणी, व्रजमें(गोकुलमें) रहती हैं, कारण कि वह(गोकुल), नन्दका है. इससे यह बताया कि वसुदेव और नन्दका परस्पर भ्रातृत्व सम्बन्ध है, इस सम्बन्धसे ही रोहिणी वहां रहती[१] हैं. अन्य स्त्रियां वसुदेवकी तथा अन्य यादवोंकी, जो कंससे पीड़ित हुई थीं, वे भी गुप्त स्थानोंमें रहती हैं. भयकी दशामें गुप्तस्थानोंमें रहना ही योग्य है, यह भाव 'हि' शब्द सूचित करता है।।७।।

१. नव श्लोकोंमें दो पाद अधिक इसी दिखानेकेलिए दिये हैं कि रोहिणी यहां रहती हैं. सु.

देवक्या जठरे गर्भं शेषाख्यं धाम मामकम्।
तत् सन्निकृष्य रोहिण्या उदरे सन्निवेशय ।।८।।

श्लोकार्थ : देवकीके जठरमें मेरे 'शेष' संज्ञा(नाम)वाले धाम आए हैं, उनको वहांसे खींचके रोहिणीके उदरमें स्थापित कर।।८।।

व्याख्यार्थ : तदनन्तर क्या हुआ, उसका वर्णन करते हैं. सब गर्भ, माताके गर्भाशयमें स्थिति करते हैं, किन्तु यह सातवां गर्भ माताके अन्दर रहे हुए आकाशमें अर्थात् जठरमें स्थित हुआ है, कारण कि अन्यगर्भ(बालकों)से यह विलक्षण(विशेष लक्षणवाला), अद्भुत, भगवान्का(धामस्वरूप) गर्भ है. श्लोकमें 'तत्' शब्दसे सूचित किया है, कि यह गर्भ मेरा धाम होनेसे प्रसिद्ध ही है. देवकीके जठरसे इनको खींचकर रोहिणीके उदरमें स्थापित कर. यहांसे रोहिणीके उदरमें स्थापन करनेका कारण कंससे इनकी रक्षा करना है. यदि कंस इनका नाश[१] कर दे, तो भूमि किसके आधार पर ठहरेगी? इसीलिए यों करना आवश्यक है. यह मेरा तेजस्वरूप तथा धामरूप है, अतः खींचनेसे इनका नाश न होगा. इसलिए नाशकी शंका करना व्यर्थ है।।८।।

१. यह कहना केवल लौकिकदृष्टिसे है, वास्तवमें तो इसके स्पर्शमात्रसे कंस स्वयं नष्ट हो सकता है. (अनुवादक)

अथाहम् अंशभागेन देवक्याः पुत्रतां शुभे।
प्राप्स्यामि त्वं यशोदायां नन्दपत्न्यां भविष्यसि ।।९।।

श्लोकार्थ : हे शुभ स्वरूपे! अनन्तर मैं, अंशोंके भागसे(परिपूर्णरूपसे) देवकीके पुत्रत्वको प्राप्त करूंगा और तू नन्दकी स्त्री यशोदामें उत्पन्न होगी।।९।।

व्याख्यार्थ : यदि वह(सातवां गर्भ) आपका तेजरूप है, तो इनको वास्तवमें कंस नष्ट नहीं कर सकता है, यहां ही स्थित हो, तो क्या है? इसके उत्तरमें कहते हैं कि इस श्लोकमें जो मायाको आज्ञा देते हैं, वे ये पुरुषोत्तम हैं, कारण भक्तिमार्गमें वे ही सेव्य हैं. आरम्भसे ही कहा है कि ''यदूनां निजनाथानाम्''. वे पुरुषोत्तम यहां चार प्रकारसे(चार व्यूहात्मक स्वरूपों सहित) पधारेंगे. इसलिए कहते हैं कि 'अथ' शीघ्र वा आप इस सप्तमगर्भको ले जाओगी. इसके अनन्तर ही, मैं पुरुषोत्तम, चार प्रकारके कार्योंको पूर्ण करनेकेलिए, अंशों(वासुदेव,संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध)के विभागसे देवकीजीके पुत्रत्वको प्राप्त करुंगा, अर्थात् पुत्ररूपसे प्रकट होऊंगा. यहां श्लोकमें 'अंशभागेन', एकवचनका आशय यह है कि भगवान्ने देवकीजीके यहां 'प्रद्युम्न' व्यूहरूपसे पुत्रत्व अंगीकार किया है. श्लोकमें 'अथ अहम्' कहनेका भावार्थ यह है कि भगवान् मायाको कहते हैं कि जैसे तू एक स्थान पर, यशोदाके यहां प्रकट होकर अन्य स्थान पर देवकीके यहां जायेगी, उसी प्रकार मैं भी एक स्थान पर देवकीजीके यहां प्रद्युम्नांशसे प्रकट होकर, अन्य स्थान पर यशोदाजीके पास जाऊंगा. श्लोकमें 'पुत्रतां' पद कहनेका तात्पर्य यह है कि मैं लोकदृष्टिसे अपनेमें पुत्रपनेको दिखाता हूं, वास्तवमें तो मैं किसीका पुत्र नहीं हूं और नहीं होऊंगा. मायाका विशेषण 'शुभे' शब्द श्लोकमें दिया है, उसका आशय यह है कि तेरे गोकुलमें जानेसे मेरा रमणस्थान गोकुल, शोभायुक्त होगा. पहले जानेका यही हेतु है कि गोकुलको शोभायुक्त करना और यह माया वह है, जिसका केवल भगवान् ही एक शरण है, वैसी मायाको वैकुण्ठमें अकेली छोड़ना भी अयोग्य है. इसलिए मायाको कहा, तू नन्दपत्नी यशोदामें उत्पन्न होगी. यशोदाके यहां क्यों उत्पन्न होगी, उसका कारण बताते हैं कि मायाको वहां १.स्तन्य उत्पन्न करना है, २.मोहको प्रकट करना है(मोहित करना है) और मारनेका कार्य करना है।।९।।[१]

(१. इस ९वृ श्लोक पर प्रकाशकार गो.पुरुषोत्तमजीके प्रकाशका सारांश :

मायाका प्राकट्य केवल कंसके भयके निवारणकेलिए नहीं है, किन्तु भगवान्की सेवाकेलिए भी है. माया, अनेक प्रकारकी एवं अंशसम्बन्धिनी है, अतः सर्वफलदात्री नहीं है. इसलिए स्वयं भगवान्का प्राकट्य आवश्यक है. भगवान् चतुर्विध कार्य करनेकेलिए चतुर्व्यूह स्वरूप सहित प्रकटे हैं. प्रत्येक व्यूहका कार्य भिन्न है और प्रकट होनेका कारण भी भिन्न है. जैसे कि 'प्रद्युम्न', पुत्ररूपसे प्रकट हुए

और उसका कारण पृश्नि और सुतपाको दिया हुआ वरदान था. 'संकर्षण', धर्मरक्षण कार्यकेलिए प्रकटे और उसका कारण भूमि और देवताओंकी प्रार्थना है. 'अनिरुद्ध', सर्व प्रकारके भक्तोंके मोक्षदानरूप कार्यकेलिए प्रकटे, जिसका कारण भक्तोंको मुक्ति देनेकी भगवान्‌की इच्छा है. 'वासुदेव', ज्ञानोपदेश कार्य तथा देवकीकी रक्षाकेलिए प्रकटे. यहां भगवदिच्छा ही कारण है. भगवान् और चार व्यूहस्वरूपोंके एक ही स्वरूपमें दर्शन होनेसे लोक, भगवान्‌को ही पुत्र समझते हैं, किन्तु भगवान् किसीके पुत्र नहीं हैं. 'पुत्रत्व' तो प्रद्युम्नव्यूहमें है, अतः प्रद्युम्नव्यूह ही पुत्ररूपसे देवकीके यहां प्रकटे हैं. जैसे परशुराममें ब्राह्मणत्व और क्षत्रियत्व दोनों धर्म थे, किन्तु ब्राह्मणत्वके कारण ही भार्गवत्व और पुत्रत्व है, न कि क्षत्रियत्वमें पुत्रत्वका भार्गवत्व है, क्षत्रियत्व तो युद्धमें प्रकट होता है, क्योंकि वह युद्धकेलिए है.)

अर्चिष्यन्ति मनुष्यास्त्वां सर्वकामवरेश्वरीम्।
धूपोपहारबलिभिः सर्वकामवरप्रदाम्॥१०॥

श्लोकार्थ : तू सकाम पुरुषोंको वर देनेमें समर्थ है और सर्व प्रकारके कामनाओंकी पूर्तिका वर देनेवाली है, अतः मनुष्य धूप, उपहार और बलिसे तेरी पूजा करेंगे॥१०॥

व्याख्यार्थ : स्तन्योत्पादन, मोह उत्पन्न करना और मारना, ये कार्य मायाको करने हैं, किन्तु ये कार्य मायाको इष्ट न होवे और इससे वह उत्पन्न होना नहीं भी चाहे, तो इसलिए भगवान् मायाको कहते हैं कि तू जाकर ये कार्य करेगी, तो सर्व मनुष्य तेरी पूजा करेंगे, जिसका वर्णन इस श्लोकमें करते हैं. जगत्‌में जो देवांश हैं, वे तो भगवान्‌के सेवक हैं और जो दैत्यांश हैं, वे तो भजन करते ही नहीं हैं. शेष जो मनुष्य हैं, वे तेरी पूजा करेंगे, कारण कि तू सब कामनाओंकी तथा वरोंकी ईश्वरी है. कामनाओंकी पूर्ति, उपाय करनेसे होती है और वरदान, बिना उपायके होते हैं. मायाकी पूजाका प्रकार धूप, उपहार और बलि देना, ये तीनों कार्य दूरसे ही किये जाते हैं, इसलिए बताया है. माया, स्त्री है, उसकी भगवान्‌के समान साक्षात् श्रीअंगकी सेवा नहीं हो सकती है, करनेवालेको तथा स्वयं मायाको भी बाधक है. पूजामें 'दीप'[१] नहीं कहा, इसका कारण यह है कि योगमाया, स्वयं प्रकाशरूपा है. ऊपर कहा कि सर्व कामनाओं तथा वरोंकी तू ईश्वरी है, किन्तु ईश्वरी होते हुए भी यदि फलदातृत्व न हो तो वह पूजनीया नहीं हो सकती है, अतः भगवान्‌ने उसमें फलदातृत्व भी स्थापन किया है, जिसमें कहा है कि 'सर्वकाम–

वरप्रदाम्', सर्व प्रकारके कामनाओं तथा वरोंको देनेवाली है ।।१०।।

१. **लेख सारांश :** यदि स्वरूपसेवा कहते, तो वाममार्गवत् विकार उत्पन्न होता, अतः वह न कहकर दूरसे ही धूपादिसे अर्चन आदि कहा. दीपकी अपेक्षा प्रतिमामें होती है, यह तो स्वयं प्रकाशस्वरूपा है, अतः दीपकी आवश्यकता नहीं है.

नामधेयानि कुर्वन्ति स्थानानि च नरा भुवि ।
दुर्गेति भद्रकालीति विजया वैष्णवीति च ।।११।।
कुमुदा चण्डिका कृष्णा माधवी कन्यकेति च ।
माया नारायणीशानी शारदेत्यम्बिकेति च ।।१२।।

श्लोकार्थ : पृथ्वी पर मनुष्य, आपके मन्दिर बनावेंगे और दुर्गा, भद्रकाली, विजया, वैष्णवी, कुमुदा, चण्डिका, कृष्णा, माधवी, कन्यका, माया, नारायणी, ईशानी, शारदा और अम्बिका, ऐसे नाम धरेंगे।।११-१२।।

व्याख्यार्थ : योगमायाके सान्निध्य बनानेकेलिए उसके मन्त्र, रूपनाम तथा स्थानका वर्णन, दो श्लोकोंमें करते हैं. श्लोकमें 'कुर्वन्ति', यह क्रिया वर्तमान कालकी है, किन्तु संस्कृतके व्याकरणके अनुसार यह क्रिया, जो कार्य जल्दी होनेवाला हो, उसकेलिये भी दी जाती है, अतः यहां इस क्रियाका अर्थ किया जायगा 'करेंगे'. आपके नामोंके साथ स्थान(मन्दिर) भी प्रसिद्ध होंगे. श्लोकमें दिये हुए 'च' शब्दसे अधिष्ठान(प्रतिमा)का भी निर्देश किया है. इसके साथ 'भुवि', (पृथ्वी पर), शब्द देनेका भाव यह है कि मनुष्य[१] आपकी प्रतिमाओंको पृथ्वी पर स्थापन करेंगे. नाम मन्त्रका वर्णन करते हैं. दुर्गा, भद्रकाली, विजया, वैष्णवी, कुमुदा, चण्डिका, कृष्णा, माधवी, कन्यका, माया, नारायणी, ईशानी, शारदा और अम्बिका. नामोंके साथ श्लोकमें 'इति' शब्द दिया है, जिसका तात्पर्य है कि वे, सर्वत्र मन्त्र तथा देशभेदसे प्रसिद्ध है. जैसे कि 'दुर्गा' काशीमें, 'भद्रकाली' अवन्ती(उज्जैन)में, 'विजया' उत्कल (उडिसा)में, 'वैष्णवी'(महालक्ष्मी) कोल्हापूरमें, 'चण्डिका' कामरूप (आसाम)में, 'माया' और 'शारदा' उत्तरप्रदेशमें, 'अम्बिका' अम्बिकावनमें, तथा 'कन्यका' कन्याकुमारीमें प्रसिद्ध हैं. इसी प्रकार जैसे अन्य स्थान प्रसिद्ध हैं, वैसे ही अन्य नाममन्त्र भी प्रसिद्ध समझने चाहिये।।११-१२।।

१. इस श्लोकमें दिये हुए 'नर'(मनुष्य) शब्दका भाव भी नहीं समझता, जो १०वें श्लोकमें दिया है. अर्थात् आपके मन्त्ररूप नाम तथा जिनमें आपकी प्रतिमा स्थापन

होंगी, उन मन्दिरोंकी सेवा केवल मनुष्य करेंगे, देव एवम् असुर नहीं करेंगे.

गो.वल्लभलालजी लेखमें कहते हैं कि सुबोधिनीमें 'अपि'(भी) शब्द देनेका भाव है कि शेषमें संकर्षणव्यूहके साथ वासुदेव व्यूह भी है. किन्तु वह गर्भके स्थितिके समयमें नहीं हैं, व्यवहारके समयमें है.)

गर्भसंकर्षणात् तं वै प्राहुः संकर्षणं भुवि।
रामेति लोकरमणाद् बलभद्रं बलोच्छ्रयात्।।१३।।

श्लोकार्थ : गर्भके खींचनेसे उनको पृथ्वी पर 'संकर्षण' कहेंगे. जगत्को रमण कराते, आनन्द देते हैं, इसलिए उनको 'राम' कहेंगे. विशेष बलवान् होनेसे 'बलभद्र' कहेंगे।।१३।।

व्याख्यार्थ : योगमायाके नाम कहकर, इस श्लोकमें शेषके नाम भी कहते हैं. शेषजीको अवतारदशामें पृथ्वी पर संकर्षण कहेंगे, कारण कि इनके गर्भ कालमें योगमायाने इनको खींचकर रोहिणीके उदरमें स्थापित किया था. वास्तवमें तो भगवान्के चतुर्व्यूहरूप चार स्वरूपोंमेंसे द्वितीय व्यूहस्वरूप संकर्षण भी इनमें प्रविष्ट हैं, अतः यह शेषजी संकर्षण हैं, किन्तु लोकमें गर्भ खींचनेसे इनको संकर्षण कहेंगे. लोक जिनसे आनन्द पाते हैं और जो लोगको रमण कराते हैं, अतः उनका दूसरा नाम राम है. श्लोकमें 'राम' शब्द, विभक्तिके बिना दिया गया है, इसका तात्पर्य यह है कि यह नाम भगवान्को रुचिकर नहीं है अथवा 'राम' शब्द सम्बोधनरूप होनेसे यह नाम व्यावहारिक है. शेषजीने बलके कार्य किये, इसलिए इनका नाम बलभद्र नहीं है, किन्तु विशेष बलवान् होनेसे बलभद्र कहे जाते हैं।।१३।।

सन्दिष्टैवं भगवता तथेत्योमिति तद्वचः।
प्रतिगृह्य परिक्रम्य गां गता तत् तथाकरोत्।।१४।।

श्लोकार्थ : इसी प्रकार भगवान्ने योगमायाको आज्ञा दी, आज्ञाके वचनोंको सादर स्वीकारकर, प्रभुकी प्रदक्षिणा करके वह पृथ्वी पर गई और वहां जाकर उसने आज्ञानुसार कार्य किया।१४।।

व्याख्यार्थ : भगवान्की आज्ञाके अनन्तर माया, आज्ञा अनुसार कार्य करने लगीं, जिसका वर्णन करते हैं. मूलश्लोकमें मायाको आज्ञा देनेवालेकेलिए 'भगवान्' शब्द दिया है, वह इसीलिए है कि उनकी आज्ञाका उलङ्घन कोई भी नहीं कर सकता है. और 'तथा' शब्द, जैसी भगवान्की आज्ञा, गर्भसंकर्षण तथा

अपने(मायाके) जन्म लेनेकेलिए हुई, वैसा ही करनेके वास्ते दिया है. एवं 'ओम्' शब्द पूजाकेलिए दिया है. इसीसे आज्ञा स्वीकारकर, भगवान्की प्रदक्षिणाकर, योगमाया, पृथ्वी पर गईं और आज्ञाको पालने लगीं ।।१४।।

गर्भे प्रणीते देवक्या रोहिणीं योगनिद्रया ।
अहो विस्रंसितो गर्भ इति पौरा विचुक्रुशुः।।१५।।

श्लोकार्थ : योगमायाने देवकीजीका गर्भ रोहिणीजीमें स्थापित किया, तब लोक चिल्लाने लगे कि अहो देवकीजीका गर्भ गिर गया हो गया।।१५।।

व्याख्यार्थ : भगवान्ने योगमायाको जिस कार्य करनेकी आज्ञा दी थी, वह सब कार्य लोकमें प्रसिद्ध हुवा, जिसका वर्णन करते हैं. योगनिद्राने सुष्ठु प्रकारसे गर्भको ले जाकर. रोहिणीजीके उदरमें स्थापित किया. यह कार्य योगनिद्राने किया, अतः सबको ऐसी निद्रा आ गई, जो किसीको भी इस कार्यको (यहांसे ले जाने और वहां पहुंचनेकी) सुधि न रही जिससे सबको आश्चर्य हुआ. मूलमें 'अहो' शब्द आश्चर्य प्रकट करनेकेलिए दिया है. श्लोकमें विस्रंसित[१] पद संस्कृतके 'स्रंसु' धातुसे बना है जिसका अर्थ 'गिरना' होता है. इस शब्दको देनेका भाव यह है कि जिस समय योगमाया गर्भको ले गई उस समय, 'गर्भ' पांचवे या छट्ठे मासका था. 'पौराः' शब्दसे पुरवासी चिल्लाने लगे यों कहनेसे यह बताया कि सबको यह खबर पड़ गई कि कंसके भेजे हुए राक्षसोंने देवकीजीका गर्भ गिरा दिया है ।।१५।।

१. निद्रा भी मायाका रूप है, यहां सबको नींद लानी थी इसलिए 'योगनिद्रा' कहा. अनुवादक.

भगवानपि विश्वात्मा भक्तानाम् अभयंकरः ।
आविवेशांशभागेन मन आनकदुन्दुभेः।।१६।।

श्लोकार्थ : भक्तोंको निर्भय बनानेवाले विशवात्मा, भगवान् भी वसुदेवजीके मनमें अंशोंके भागसे प्रविष्ट हुए।।१६।।

व्याख्यार्थ : लोगोंके कोलाहल तथा गर्भ गिरनेका ज्ञान सबको हुआ तदनन्तर भगवान् वसुदेवजीके द्वारा देवकीजीमें पधारे, जिसका वर्णन २.१/२ (ढाई) श्लोकोंमें करते हैं. लौकिक प्रकारसे, गर्भ धारणकी क्रिया न होते हुए भी, भगवान् प्रथम वसुदेवजीके मनमें प्रविष्ट हुए अनन्तर वहांसे देवकीजीमें आये. जब लौकिकवत् गर्भ धारण न हुआ तो वसुदेवजीके मनसे देवकीजीके जठरमें

आनेकी क्या आवश्यकता थी? इस शंकाको मिटानेकेलिए आचार्यश्री आज्ञा करते हैं, कि यहां भगवान्को नृसिंह तथा हंसके समान केवल अवतारत्व प्रकट नहीं करना था किन्तु अपना यदुवंशसे सम्बन्ध, शूरसेनजीका पौत्र बना तथा वसुदेवजीका पुत्रत्व भी प्रकट करना था अतः इस प्रकार देवकीजीके जठरमें प्रविष्ट होना आवश्यक था. जीवका वंशादि सम्बन्ध देहसे ही होता है, अतः वहां स्त्री पुरुष संयोगसे वीर्य द्वारा जो प्रवेश होता है उसको उत्पत्ति कहते हैं. ईश्वरके प्राकट्यको ही उत्पत्ति कहते हैं. इसलिए ऊपर कहे हुए प्रकारसे ही वसुदेवजी द्वारा देवकीजीमें भगवान्का आविर्भाव कहा गया है. यदि वह प्राकट्य भगवान्का न होता तो वसुदेवजीके मनमें भगवान्का प्रवेश न होकर लौकिकवत् सीधा देवकीजीमें होता वसुदेवजीके मनमें भगवान्का प्रवेश है, जैसे लोहेके गोलेमें अग्नि प्रवेश करती है वैसे हुवा है. जब वसुदेवजीका जन्म हुआ था तब देवोंने हर्षमें दुन्दुभि बजाई थी कारण कि उनको मालूम था कि इनके यहां भगवान् प्रकट होंगे, तब हमारे संकट नाश होंगे अतः वसुदेवजीका नाम 'आनकदुन्दुभि' पड़ा है. उस नामको सार्थक करनेकेलिए भी भगवान् प्रथम वसुदेवजीके मनमें पधारे. अंशों(व्यूहों) के विभागसे भगवान्ने प्रवेश किया. ऐसा कहनेका तात्पर्य यह है कि चतुर्व्यूहरूप भगवान्ने इस समय एक ही प्रद्युम्न व्यूहरूपसे वंश सम्बन्ध कार्य सिद्ध करनेकेलिए प्रवेश किया है. किसी-किसीका मत है कि 'अंशेन-भागेन' यों पदच्छेद करके उनका अर्थ 'अंशेन' नारायणरूप और 'भागेन' केशरूपके साथ स्वयं प्रद्युम्नने प्रवेश किया यों करना चाहिये.

पुरुषोत्तम तो नन्दगृहमें मायाके साथ ही प्रकट हुए हैं. यदि वहां प्रकट न हुवे होते तो, जैसे भगवान्केलिए ''देवकी जठर भूः'' देवकीके जठरसे प्रकट हुए हैं ऐसा श्रुतियोंने कहा है वैसे ही यशोदाजीको 'तव सुतः' तेरा पुत्र है इस प्रकार प्रमाण मूर्धन्य श्रुतिरूप गोपिकाएं कदापि नहीं कहती. जो भगवान्का प्राकट्य यशोदाके घरमें न हुवा होता तो शुकदेवजीका 'तन्मातरौ' (उनकी दो माताएं) यह कहना विरुद्ध हो जाता. चतुर्थाध्यायमें मायाके जन्म निरूपणसे ही नन्दालयमें 'भगवान्'की उत्पत्ति कही गई है. मायाके कारण ही भगवान्की 'मनुष्य' रूपसे प्रतीति हो रही है. उत्पत्तिं होनेके अनन्तर ही पंचमाध्यायमें ''नन्दस्त्वात्मज उत्पन्ने'' श्लोकसे भगवान्के प्राकट्यका महान् उत्सव मनाया गया है. इस प्रकार अर्थ करनेसे ही सर्व चरित्रोंका समन्वय हो सकेगा. जनन मनसे हुवा है इसलिए

मूलमें 'मन' शब्द दिया है।।१६।।[२]

१. गर्भको ले जानेके बाद लोगोंके कोलाहल(चिल्लाने)के अनन्तर.

२. इस श्लोक पर जो टिप्पणी, प्रकाश, लेख और योजनाकारने श्रीसुबोधिनीजीकी पंक्तियोंका आशय विशद् किया है, उसका सारांश यहां दिया जाता है.

श्रीप्रभुचरण टिप्पणीजीमें आज्ञा करते हैं कि आचार्यश्रीने १६वें श्लोकके आभासमें जो 'अथाक्रोशानन्तरं' कहा है, वह उपयुक्त ही है, कारण कि प्रभुके हृदयमें जो यह विचार था कि माया सप्तमगर्भको ले जायगी, तदनन्तर शीघ्र ही मैं वसुदेवजीके मन द्वारा देवकीमें प्रविष्ट होऊंगा, उसकी श्रीशुकदेवजीने 'गर्भे प्रणीते'[३] इस श्लोकमें स्पष्टता कर दी है. इस श्लोकमें चिल्लानेका भी वर्णन किया हुवा है.

३.'गर्भे प्रणीते' १५वें श्लोकमें माया गर्भको ले गईं और लोग चिल्लाने लगे. इस श्लोकको श्रीशुकदेवजीने इसीलिए कहा है कि इसके अनन्तर भगवान् पधारेंगे. इस आशयसे आचार्यश्रीने आभासमें 'अथाक्रोशानन्तरं' युक्त ही कहा है. (अनुवादक)

(टि.)आचार्यश्रीने सुबोधिनीजीमें पुरुषोत्तम तो नन्दगृहमें मायाके साथ ही प्रकट हुए हैं, यह फक्किका* कही है. पुरुषोत्तमका प्राकट्य नन्दगृहमें अवश्य मानना चाहिये. किन्तु वैसा माननेसे उलझन यह आती है कि भगवान् वसुदेवजीके यहां भी प्रकटे हैं. जब वसुदेवजी भगवान्को नन्दजीके यहां ले गये होंगे तब वहां दो स्वरूपोंके दर्शन हुवे होंगे? यदि पधराये हुए स्वरूपका नन्दजीके यहां प्रकट हुए स्वरूपमें लीन होना माना जाय तो ले जाना ही व्यर्थ हो जाता. प्रभुचरण इस प्रकारकी शंकाका निवारण करते हुए कहते हैं कि जिस समय देवकीने प्रभुको उस चतुर्भुज स्वरूपको छिपा लेनेकी प्रार्थना की थी, उस समय नन्दगृहमें प्रकट हुए स्वरूपने बाल स्वरूप(प्राकृतवत् द्विभुज स्वरूप)से देवकीको दर्शन देते हुवे उस अपने चतुर्भुज स्वरूपको अपने बालस्वरूपमें अन्तर्हित कर दिया. जिससे नन्दगृहमें पधारने पर दो स्वरूपोंके दर्शनकी शंका व उलझन नहीं रही. उस चतुर्भुज स्वरूपको अपनेमें अन्तर्हित इसलिए किया कि वहां व्रजमें भी इस स्वरूप द्वारा अनेक कार्य, पूतना वध आदि करने थे.

*.किसी विषयको साबित करनेकेलिए जो उक्ति कही जाय उसको 'फक्किका' कहते हैं.

पुरुषोत्तमजी प्रकाशमें कहते हैं कि 'अंशभागेन' इस तृतीया विभक्तिके, करणकारक होनेसे किनको यह शंका होती है, कि भूमि पर भगवान् केवल

चतुर्व्यूह स्वरूपसे ही प्रकट हुए हैं. मूल पुरुषोत्तमस्वरूपसे नहीं हुए हैं. इस शंकाको आचार्यश्री सुबोधिनीजीमें 'पुरुषोत्तमस्तु नन्दगृह एव मायया सह जातः', पुरुषोत्तम तो नन्दजीके घरमें मायाके साथ ही प्रकटे हैं, इस फक्किका द्वारा मिटाते हैं. इसकेलिए प्रमाण भी दिये हैं कि यदि पुरुषोत्तम नन्दगृहमें प्रकट न हुवे होते तो जैसे गोपीजनोंने ''**देवकीजठरः भूः**'' कहकर भगवान्को देवकीका पुत्र माना है, वैसे ही 'तव सुतः' कहकर यशोदाजीका पुत्र भी होना स्वीकार नहीं करती, किन्तु स्वीकार करनेसे सिद्ध है कि यशोदाजीके यहां प्रकट होनेसे ही उनको यशोदाजीका पुत्र कहा है. इसके सिवाय यदि भगवान् केवल देवकीजीके पुत्र होते तो श्रीशुकदेवजी 'तन्मातरौ'(उनकी दो माताएं हैं) कहनेकी भूल कैसे करते? अतः श्रीशुकदेवजीने 'तन्मातरौ' कहकर सिद्ध किया है कि उनका देवकी तथा यशोदा दोनोंके यहां प्राकट्य हुआ है, अतः उनकी दो माताएं हैं. इस प्रकार आचार्यश्रीने पृथ्वी पर मूल स्वरूपका प्राकट्य दोनों स्थानों पर होना सिद्ध करके इस शंकाको मिटाया है कि मूलरूपसे पुरुषोत्तम प्रकट नहीं हुए हैं. श्रीसुबोधिनीजीमें आचार्यश्रीने ''**मायय्रैव रूपान्तरं**'' कहा है, जिसका आशय प्रकट करते हुए प्रकाशकार कहते हैं कि मायासे कोई भगवान्का स्वरूप मायिक(झूठा-कल्पित) नहीं बन गया है, किन्तु मूलमें जो '**प्राकृतः शिशुः**' कहा है, उसका भाव आचार्यश्रीने इस पंक्तिसे बताया है कि भगवान् जो आनन्दस्वरूप हैं, उनको मायाने मनुष्योंकी दृष्टिमें प्राकृत जैसा दिखला दिया. जैसे सीपमें चांदीकी भ्रान्ति रूपान्तर है. वैसे ही रसरूप परमात्मामें प्राकृतत्वकी भ्रान्ति ही रूपान्तर है.

गो.वल्लभलालजी लेखमें कहते हैं कि श्रीसुबोधिनीजीमें ''जननं मनस इति मन उक्तम्''. इस पंक्तिका अर्थ यह है कि 'उत्पन्न' करना मनका धर्म है. इसलिए मूल श्लोकमें 'मन' शब्द दिया है. जिसका आशय स्पष्ट करते हुए लेखकार कहते हैं कि भगवान् वसुदेवजीके मन द्वारा ही देवकीजीमें प्रकटे हैं, अन्यत्र जीवके जन्म-प्राकट्यमें वैसा नहीं होता है, वहां तो मनमें प्रथम काम उत्पन्न होता है, जिससे स्त्री-पुरुषसे संसर्ग होकर वीर्य द्वारा जरायुमें गर्भ स्थिति हो, देहादि बनते हैं. तदनन्तर जीव, उस देहमें प्रवेश करता है, इत्यादि. यहां इस प्रकारसे न होकर भगवान् सीधे मन द्वारा देवकीजीके जठरमें प्रविष्ट हो गये, इतना भेद है. और भगवान् आत्मभूत् होनेसे स्वयं मन द्वारा पधारे हैं, स्वयं

देवकीजीने भगवान्‌को धारण नहीं किया है. मूलमें देवकीजीने धारण किया है, यह जो लिखा है, वह केवल अल्पज्ञ लोगोंकी प्रतीतिकेलिए कहा है.

लालूभट्टजी योजनामें कहते हैं कि जिस प्रकार वसुदेवके यहांभगवान्‌के प्राकट्यका वर्णन, ''**आविवेशांशभागेन**'',''**ततो जगन्मंगलमच्युतांश**'', ''**अथ सर्वगुणोपेतः**'', ''**आविरासीत् यथा प्राच्याम्**''. भागवतके इन उपरोक्त श्लोकोंमें किया हुआ है. इस प्रकार मूलमें नन्दरायजीके यहां प्राकट्यका वर्णन कहीं भी नहीं किया गया है. तो फिर वैष्णव नन्दरायजीके यहां पुरुषोत्तमका प्राकट्य क्यों वा कैसे कहते हैं ! इस प्रकार पूर्वपक्ष(शंका)कर, अनन्तर उसका उत्तरपक्ष कहते हैं. भागवतमें इस प्रकार वसुदेवजीके यहां प्राकट्यका वर्णन इसीलिए किया हुआ है कि वहां वंश सम्बन्धी लीला करनेकेलिए प्रद्युम्नरूपसे वसुदेवजीके मन द्वारा देवकीजीमें प्रविष्ट हुए हैं, तदनन्तर व्यूहविशिष्ट पुरुषोत्तम अकस्मात् स्वयं वसुदेव-देवकीके आगे प्रादुर्भूत् हुए हैं. नन्दजीके यहां वंश सम्बन्धी लीला न करनेके कारण वहां व्यूहरूपसे प्रवेशकी आवश्यकता नहीं थी. अतः वहां केवल रसात्मा पुरुषोत्तम, मायाके साथ अपने अधिष्ठान वासुदेवव्यूहमें स्थित हो, रसस्वरूप होनेसे गुप्तरूपसे प्रकटे हैं. जिसको आचार्यश्री सुबोधिनीजीमें ''**पुरुषोत्तमस्तु नन्दगृहे एव मायया सह जातः**''(पुरुषोत्तम तो नन्दगृहमें मायाके साथ ही जन्मे हैं.) इस फक्किकासे प्रकट करते हैं. उसकी सिद्धिमें वहां सुबोधिनीजीमें प्रमाण भी दिये हैं तथा मायाने कंसके हाथसे अपनेको छुड़ाके आकाशमें जाते हुए कहा कि ''**जातः खलु तवान्तकृत् यत्र क्वचित् पूर्वशत्रुः**''. (हे कंस ! तेरे पूर्वशत्रु जो तेरा अन्त करेंगे वे कहीं प्रकट हो गये हैं.) यदि गोकुलमें जन्म न हुआ होता और केवल मथुरामें ही हुआ होता तो माया 'जातः' शब्द न कहकर 'गतः' शब्द कहती. क्योंकि 'जातः' का अर्थ है 'जन्मा,' प्रकट हुआ और 'गतः'का अर्थ है 'गया'. मथुरामें केवल जन्म होनेसे माया कहती है कि यहांसे अन्यत्र कहीं गया है. ऐसा न कहकर उसने कहा कि कहीं प्रकट हुआ है, इससे सिद्ध होता है कि भगवान् गोकुलमें भी जन्मे हैं. अतः मायाने यों कहा है.

इस प्रकार योजनाकारने अन्य प्रमाण देकर 'पुरुषोत्तम प्राकट्य' मथुरा तथा गोकुल दोनों स्थानों पर सिद्ध किया है. मायाके साथ प्राकट्यके कारण यशोदा माताको भी उस समय ज्ञान न हुवा. भगवान्‌के प्राकट्यका ज्ञान दो

प्रकारसे कहा गया है, एक अलौकिकरूपसे अवतार, जो नन्दगृहमें निशीथ (आधीरात)में हुआ, दूसरा व्यवहारविषयक प्राकट्यका ज्ञान, नवमीको हुवा, जिससे नन्दमहोत्सव नवमीमें हुवा है.

स बिभ्रत् पौरुषं धाम भ्राजमानो यथा रविः ।
दुरासदोतिदुर्धर्षो भूतानां सम्बभूव ह ।।१७।।

श्लोकार्थ : भगवान्के तेजस्वरूपको धारण करनेसे वसुदेवजी सूर्यके समान देदीप्यमान् हो गए, जिससे उनके पास कोई भी न आ सकता था. अतः वह दुर्धर्ष(अजेय)हो गए।।१७।।

व्याख्यार्थ : जैसे देखनेमें आया वैसा वर्णन इस श्लोकमें कहते हैं. वसुदेवजी स्वतः अपनी कान्तिसे तेजवान् थे, पुनः भगवान्के तेजके प्रवेशसे उनमें तेजका विशेष प्रभाव देखनेमें आया. जैसे सूर्यके द्वादश बिम्ब हैं, उन्हींमें जब भगवान् आधिदैविक रवि प्रवेश करते हैं, तब वह १२ बिम्ब प्रकाशित होते हैं, वैसे ही वसुदेवजी भी भगवान्के प्रवेशसे विशेष प्रकाशित होने लगे, किन्तु प्रियव्रत राजाके समान तेज नहीं हुआ, जो रात्रिको दिन कर दे. इसलिए आचार्यश्रीने 'प्रतीत्यर्थम् एव' कहा. जिसका आशय है कि यह सूर्यका दृष्टान्त प्रतीतिकेलिए ही दिया गया है, जिससे वे वसुदेवजी दुरासद हो गये. इससे कंसादिका भय ही निवृत्त हो गया. कोई भी उनके पास आनेकी हिम्मत नहीं करता था, अतः सब भूतोंकी तरफसे वा राक्षसोंसे जो क्लेश होने थे, वे सब दूर चले गये. कोई परीक्षाकेलिए बलसे भी आ नहीं सकता था. जैसा तेज उस समय वसुदेवजीमें था, वैसा किसीमें भी नहीं था. यों तो भगवान्का तेज सर्वत्र है क्योंकि भगवान् सर्वव्यापक हैं, किन्तु वसुदेवजी जैसा तेज अन्यत्र नहीं है, वैसा दिखानेकेलिए मूलमें 'ह' शब्द देकर आश्चर्य प्रकट किया है।।१७।।

आभास : छः पुत्रोंके वधसे पूर्व ही संकर्षण गर्भकी स्थिति हुई थी. उस समयसे वसुदेवजी व देवकीजी कारागृहमें ही थे. अतः वसुदेवजीने अपनेमें विद्यमान्(१७वें श्लोकमें कहे हुए) भगवान्को अन्य प्रकारसे देवकीजीमें स्थापित किया, उसका वर्णन इस श्लोकमें करते हैं:

ततो जगन्मङ्गलमच्युतांशं समाहितं शूरसुतेन देवी ।
दधार सर्वात्मकलात्मभूतं काष्ठा यथानन्दकरं मनस्तः।।१८।।

श्लोकार्थ : अनन्तर, जगत्के मङ्गलकारी, सबके आत्मरूप, जिसको शूरसेनके पुत्र वसुदेवजीने श्रेष्ठ प्रकारसे स्थापित किया है, उस अच्युतांशको देवतारूप देवकीजीने, जिस प्रकार पूर्व दिशा चन्द्रमाजीको धारण करती है, उसी प्रकार मनसे धारण किया।।१८।।

व्याख्यार्थ : यद्यपि आविष्ट हुआ भगवत्तेज वसुदेवजीको अपनेमें ही स्थापित करना चाहिये था, तो भी वसुदेवजीने सर्वलोककी रक्षाकेलिए देवकीजीमें स्थापित किया. कारण कि वह भगवत्तेज लोगोंका कल्याणकारी रूप है. वह तेज पहले वसुदेवजीमें प्रविष्ट हुआ, अनन्तर देवकीजीमें आकर स्थापित हुआ. इस प्रकार वैकुण्ठसे यहां आने तथा वसुदेवजीके मनसे देवकीजीमें जाने आदिसे उसमें अन्यथाभाव(न्यूनता वा वृद्धि) आदि विकार हुवे होंगे, इस शंकाकी निवृत्तिकेलिए मूलमें उसका 'अच्युतांश' विशेषण दिया है, जिसका आशय है कि आने जाने आदि करनेसे उसके किसी भी अंशमें च्युति नहीं होती है. अर्थात् उसमें कुछ भी करनेसे विकृति नहीं होती है, वह सदैव अच्युत(च्युति रहित) है.

वैध दीक्षाके प्रकारसे देवकीजीने सम्यक् प्रकारसे उस तेजको धारण किया. वास्तविक तो वसुदेवजीने समाधिमें देवकीजीकी भावनाकर मनसे ही उन देवकीजीमें साक्षात् तेज स्थापित किया. यहां मूलमें वसुदेव नाम न देकर शूरसेन पुत्र कहकर विवेक दिखाया है. देवकीजीको भी 'देवी' इसलिए कहा है कि वह देवतारूप होनेसे अन्तःप्रवेश कर, समाधिमें भी उस तेजको ग्रहण करनेकेलिए सामर्थ्यवाली हैं. देवतामें इस प्रकारका सामर्थ्य स्वतः सिद्ध ही है. अतः समाधिके समयमें तेजको धारण कर लिया.

इस प्रकार दूसरोंके धारण करनेसे ब्रह्मत्वमें कमी हुई होगी? इस शंकाके मिटानेकेलिए श्लोकमें 'सर्वात्मक' विशेषण दिया है. जिसका आशय है कि वह तेज सबकी आत्मा है, अतः सब उसको धारण करते हैं. इसलिए धारण करनेमें कोई दोष नहीं, इससे ब्रह्मत्वमें किसी प्रकारकी कमी नहीं होती है. वैसा होने पर भी प्रकृत विषयमें चैतन्य, बीज वा मनमें प्राप्त होकर रहना दूषण ही है, यदि इस प्रकारका दूषण कोई देवे तो उसको मिटानेकेलिए दूसरा विशेषण 'आत्मभूतं' श्लोकमें दिया है. जिसका भाव है कि वह तेज देवकीजीमें आत्मरूपसे ही सीधा प्रविष्ट हुआ है, न कि बीज व चैतन्यमें प्रविष्ट होकर पीछे देवकीजीमें उसने प्रवेश

किया है. जैसे ज्ञानी, ज्ञानसे अपनी आत्माको अपनेमें धारण करता है, वैसे ही देवकीजीने भी आत्मरूप भगवान्‌को धारण किया है. इससे शुद्धस्वरूप ही वसुदेवजीसे देवकीजीमें पधारे हैं. चैतन्य, बीज वा मन्त्र द्वारा पधारना अल्पज्ञोंको समझानेकेलिए कहा गया है. उसकी वृद्धि आकाशकी भांति हुई है. जैसे घटाकाश, घट टूटनेसे मठाकाश हो जाता है, मठ टूटनेसे महाकाश हो जाता है, वैसे ही जैसे गुरु प्रथम मन्त्र देवताको स्थापनकर, अनन्तर 'मन्त्रोपदेश' समयमें उस देवताको शिष्यमें स्थापित करते हैं. ज्यों-ज्यों मायाका अपसरण होता है, वैसे ही तेज भी स्वयं बढ़ता हुआ दिखता है. वैसा ज्ञान होनेसे भगवान् और उसकी माया दोनोंको अविकृत समझा जाता है.

इतना होने पर भी देवकीजीने अपने प्रयत्नसे भगवान्‌को धारण नहीं किया है, किन्तु जैसे पूर्वदिशामें चन्द्रमा स्वतः आकर प्रकट होता है, उसको वह दिशा धारण कर लेती है, वैसे ही देवीकीजीने पधारे हुए अपनी आत्मारूप भगवान्‌को धारण किया है. वह धारण अधिकारी मनसे किया है, इसलिए श्लोकमें 'मनसः' पञ्चमी[१] विभक्ति न देकर, उसके बदलेमें 'मनस्तः' प्रत्ययान्त अव्यय पद देकर मनका अविकारीपन बताया है. लाने और धारण करनेमें मन ही हेतु है।।१८।।

१. शब्द, जब, विभक्तियोंमें दिया जाता है, तब उसके रूप बदलते रहते हैं, अतः विभक्तिमें शब्द विकारी कहा जाता है. किन्तु जब शब्द प्रत्ययान्त होनेसे 'अव्यय' होता है, तब वह अविकारी हो जाता है, कारण कि वह बदलता नहीं है. अतः यहां 'मनसः' पञ्चमी विभक्ति न देकर 'मनस्तः' अव्यय दिया है. (अनुवादक)

सा देवकी सर्वजगन्निवासनिवासभूता नितरां न रेजे ।
भोजेन्द्रगेहेग्निशिखेव रुद्धा सरस्वती ज्ञानखले यथा सती।।१९।।

श्लोकार्थ : वह देवकी, सर्वजगत्‌के निवासरूप भगवान्‌का निवासरूप हुईं, तो भी, कंसके घरमें रुकनेसे अर्थात् बन्धनमें पडनेसे वैसी पूर्णतया आनन्द देनेवाली प्रसन्न मनवाली नहीं हुईं. जैसे घडेमें बन्द दीपककी लौ और अपनी विद्या न बतानेवाले खलपुरुषका ज्ञान किसीको प्रकाशित नहीं करते हैं।।१९।।

व्याख्यार्थ : भगवान्‌के प्रवेशसे जिस प्रकार वसुदेवजी प्रफुल्लित (प्रसन्न) रूपवाले देखनेमें आये, वैसी देवकीजी नहीं हुईं, इसका वर्णन करते हैं. पुरुषका तेज स्वतन्त्र है कारण कि पुरुषमें विवेक आदि होनेसे चिन्ता कम होती है,

जिससे उसके तेजको स्वल्प चिन्ता दबा नहीं सकती है, किन्तु स्त्रीका तेज परतन्त्र है, क्योंकि स्त्रियोंमें विवेकादि अपूर्ण हैं, जिससे उनमें चिन्ताएं विशेष होती हैं, जिनसे उनका तेज दब जानेसे परतन्त्र है, अतः देवकीजी वसुदेवजीके समान प्रफुल्लित प्रसन्न चित्तवाली न हुई. यद्यपि वह देवकी, देवता रूप है और सकल जगत्के निवासभूत् भगवान्का अधिष्ठान(रहनेका स्थान) हुई है. अपने शरीरमें उत्पन्न हुई रोमावलीसे अपनेको भय नहीं होता है, वैसे ही यह सर्व भगवान्में है, अतः भगवान्को भी किसीसे भय नहीं है.

अपनेको तो भगवन्निमित्त जगत्से अथवा भगवान्से भय नहीं है. वैसी देवकी होकर भी पूर्णतया शोभायमान् न हुई. भगवान्की चिन्तासे अपनेलिये और सबकेलिये चिन्ताका कारण बनी. देवकीमें बाहिर और भीतरकी दोनों चिन्ताओंसे मालिन्य रहा. सुशोभित अथवा अप्रसन्न होनेका दूसरा कारण बताते हैं कि, देवकीजी कंसके गृहमें बन्धनमें होनेसे बाहिर आकर सबको आनन्द नहीं दे सकती थीं. जिस प्रकार कुण्डके भीतर अग्नि जलती भी रहती है तो भी ऊपर राख आ जानेसे प्रकाश नहीं दे सकती है, वैसे ही यह भीतर प्रकाशवती होते हुए भी चिन्तासे व्यग्र होनेसे सम्यक् प्रकारसे बाहिर प्रकाशयुक्त नहीं हुई. यह दृष्टान्त अपने धर्मोंसे ही प्रकाशमान् न होनेमें दिया हुआ है. अब अन्य धर्मोंके कारण अप्रकाश होनेसे दूसरा दृष्टान्त देते हैं. जिस प्रकार सन्मार्गका प्रकाश करनेवाली भागवतादि शास्त्ररूप सरस्वती, ज्ञानखल[१] पुरुषके अन्तःकरणको ही आनन्द देती है, बाहिर प्रकाशकर, दूसरोंको आनन्द नहीं देती है, वैसे ही देवकीजी भी कंसके गृहमें बन्धनमें होनेसे घरके भीतर ही प्रकाश करने लगीं, बाहिर नहीं. इससे अपनेमें प्रकट हुए भगवान्के आविर्भावको आपने अन्तरंगोसे भी छिपानेकी सूचना प्राप्त होती है।।१९।।

१. ज्ञानखल, उसे कहते हैं जो, परोपकार करनेवाली सत् विद्या आप जानता है, किन्तु दूसरे अधिकारीको भी नहीं देता है.

तां वीक्ष्य कंसः प्रभयाजितान्तरां विरोचयन्तीं भवनं शुचिस्मिताम् ।
प्राहैषमे प्राणहरो हरिर्गुहां ध्रुवं श्रितो यन् न पुरेयमीदृशी।।२०।।

श्लोकार्थ : भगवान्के अन्दर विराजमान् होनेके कारण उत्पन्न हुए प्रभा (प्रकाश)से भवनको प्रकाशित करती हुई और पवित्र स्मितवाली देवकीको देखकर कंस कहने लगा कि निश्चयसे मेरे प्राणोंको हरण करनेवाले हरिने इसकी

गुहामें आश्रय किया है, कारण कि देवकी पहले ऐसी शोभायमान् नहीं थी।।२०।।

व्याख्यार्थ : देवकीजी जिस प्रकार दूसरोंको सुख देनेवाली नहीं है वैसे ही कंसको भी सुखदा न हुई, इसका वर्णन करते हैं. प्रभासे युक्त देवकीजीको देखकर कंस कहने लगा कि इसकी प्रभासे ज्ञान होता है कि इसके अन्दर अजित(जिसको कोई न जीत सके) भगवान् विराजमान् हैं, अतः कान्तिसे घरको प्रकाशमान् कर रही है, तथा वह अजित होनेसे अधृष्य भी(उसका पराभव कोई नहीं कर सकता है) है, अतः निश्चिन्त है. ऐसे परमानन्द प्रभुके हृदयमें प्रविष्ट हो जानेसे प्राणीके सर्व दुःख निवृत्त हो जाते हैं, यह निश्चय ही है. इसका(देवकीजीका) प्रसन्न मुख देखकर भी कंसने यह निश्चय किया कि इसमें भगवान् हैं. मुखके दो विशेषण (शुचि) और (स्मित) दिये हुवे हैं. इनका आशय यह है कि (शुचि) विशेषणसे बताया है कि देवकीके भीतर आनन्द उत्पन्न हुआ है. भगवान्की कान्ति(प्रकाश), जो बाहिर निकली, उसने बाहिर-भीतर घरको प्रकाशित कर दिया है, अतः भगवान् है, ऐसा निश्चयकर भगवान्के आनेका अन्य कोई कारण नहीं है, ऐसा प्रकरणसे समझकर कंस कहने लगा कि निश्चयसे मेरे प्राणोंको हरण करनेवाले हरि इस देवकीके उदरमें प्रकाशते हैं. कारण कि यह(देवकी) आगे, इस प्रकाररूपसे अथवा सन्तोषादिसे प्रकाशित नहीं थी. यदि वहां भगवान् है तो सबको उनके दर्शन क्यों नहीं होते हैं? इस शंकाको मिटानेकेलिए कहा है कि 'गुहां श्रितः' गुफामें विराजमान् हैं. उनका उदरमें होना नहीं बन सकता है, कारण कि वह जीव नहीं है, इस कारणसे यह उदर गुहा ही है. उदरको गुहा कहना इसलिए संगत है कि शास्त्रमें 'गुहां प्रविष्टावात्मानौ' कहा है, अतः मेरे प्राणोंके हरण करनेवाले होनेसे यह हरि ही है।।२०।।

किमद्य तस्मिन् करणीयम् आशु मे यदर्थतन्त्रो न विहन्ति विक्रमम् ।
स्त्रियाः स्वसुर्गुरुमत्या वधोयं यशः श्रियं हन्त्यनुकालमायुः।।२१।।

श्लोकार्थ : कंसने विचार किया कि अब मैं शीघ्र इसकेलिए क्या उपाय करूं? यद्यपि मैं सब कुछ करनेमें स्वतन्त्र हूं तो भी मेरे जैसा पुरुष ऐसा कार्य तो नहीं करे, जिससे पराक्रमका नाश हो जाए. यदि देवकीको अब मार डालूं तो, स्त्री जाति, बहिन और गर्भवतीका यह वध यश, श्री और आयुका नाश करेगा।।२१।।

व्याख्यार्थ : उस भगवान्के पधारने पर तथा अब मेरे प्राणोंके जानेका समय आने पर और आगेके उपाय बेकार होने पर मैं क्या करुं? इस प्रकार कंस

विचार करने लगा. शान्त होकर बैठ जाऊंगा तो यह मेरे प्राणोंको हर ही लेगा, इसलिए मैं शीघ्र क्या उपाय करूं? यदि देवकीको मारना चाहिये यह निश्चयकर इसको मारूं, तो इस कार्य करनेमें भी मैं स्वतन्त्र हूं, किन्तु स्वतन्त्र होकर भी मेरे जैसा पुरुष ऐसा कार्य तो न करे, जिससे सामर्थ्य नष्ट हो जावे वा पराक्रमको कलंक लगे. स्त्रीके मारनेमें अपने पराक्रमकी हानि ही होती है. अथवा यह देवकीजीके गुहारूप उदरमें स्थित भगवान् स्वतन्त्र हैं व मेरे नाशकेलिए आये हैं. अतः अपने पराक्रमका नाश नहीं होने देंगे अर्थात् चुपचाप नहीं बैठेंगे, अवश्य मेरे प्राण ले लेंगे. फिर शंकारूपमें विचार करता है कि यदि मेरे अदृष्टमें मेरी अभी आयु होगी, तो यह नहीं मार सकेंगे, अन्यथा दूसरा भी मार डालेगा. इसलिए यद्यपि देवकीका वधरूप द्रोह करना उचित नहीं है, तो भी इसका मारना यदि जीवनका हेतु हो, तो इसको मार डालना उचित है. और यदि दूसरा कोई आगामी नाशका हेतु होगा, तो उसका भी प्रतीकार(उपाय) करनेसे, वायुसे बचाकर दीपकके समान, जीवनकी रक्षा सम्भव होनेसे भी, इस देवकीका वध करना उचित है. यदि कोई ऐसा कहे तो उसको उत्तर कंस स्वयं देता है कि प्रारब्धानुसार आयु हो तो भी अति दुष्कर्म करनेसे आयु नष्ट हो जाती है, अतः आयु होने पर भी 'रणकी सम्भावनासे वैसा दुष्कर्म नहीं करना चाहिये. स्त्री जातिका वध, यशका नाश करता है. स्त्री जातिकी रक्षा करनेसे शूरवीरोंका अपने प्राणोंका त्याग, यशका हेतु होता है. बहिनका वध, श्रीलक्ष्मीका नाशक है. सर्वपुरुष सोमात्मक होनेसे श्रीलक्ष्मी उनकी बहिन है. श्रीरूप बहिनका वध करनेसे धनादि सर्व प्रकारकी सम्पत्तिका नाश होता है. फिर यह बहिन तो गर्भवती है. गर्भवती स्त्री प्राणियोंके प्राणोंकी रक्षा कर रही है, उसका वध तो, वध करनेवालेकी आयुको नष्ट करनेवाला है, अतः देवकीके स्त्री, बहिन और गर्भवती होनेसे मारनेसे यश, श्री और आयुका क्रमसे नाश होता है ।।२१।।

आभास : भले प्रारब्धकी प्रबलतासे आयु हो वा न हो तो भी इसका वध करना चाहिए, ऐसा कोई कहे तो इसका उत्तर कंस इस श्लोकमें देता है:

स एष जीवन् खलु सम्परेतो वर्तेत योत्यन्तनृशंसितेन ।
देहेमृते तं मनुजाः शपन्ति गन्ता तमोन्धं तनुमानिनो ध्रुवम्।।२२।।

श्लोकार्थ : जो पुरुष अत्यन्त क्रूर कर्म करता है, वह जीने पर भी मृतक है. वह जीवित है तो भी मनुष्य उसको धिक्कारते रहते हैं. यह देहाभिमानी मरनेके

अनन्तर अवश्य अन्धतम नरकमें जाता है।।२२।।

व्याख्यार्थ : कंस मनमें विचार करता है कि वह भी प्रसिद्ध हो, मेरे जैसे लक्षणों वाला मनुष्य, राज्यकी लक्ष्मीसे युक्त होते हुवे भी यदि जीता है, तो भी मरे हुवेके समान है. कारण कि यश और श्रीके चले जाने पर निश्चयसे वह जीवन, मरणके समान ही है. यह कहना अत्यन्त सत्य है कि जो अत्यन्त दयाहीन, दुष्कर्म करते हुए, जीवन धारण कर रहा है वह जीता शव है. उस जीते शव(मुर्दे)को भी मनुष्य अपशब्द कहते हैं, कि यह दुष्ट मर जावे तो अच्छा हो इत्यादि. जब वह मर जाता है, तब कहते हैं कि अच्छा हुवा जो वह मर गया. इस प्रकार लोगोंकी इस धिक्कारसे वह जीते रहने पर भी जलता रहता है और मरनेके अनन्तर परलोकमें अन्धतम नरकमें जायेगा. देहाभिमानियोंको जो निकृष्ट अन्धतम नरक प्राप्त होता है, उसको भी निश्चयसे वही मिलता है. कंसको इस प्रकारका ज्ञान भगवान्के सान्निध्य होनेसे तथा उनकी इच्छासे प्राप्त हुआ है. अतः भगवदिच्छासे सबको समय पर विशेष प्रकारका ज्ञान बुद्धिमें आता है. जैसे देवकीके पुत्रोंको मारना ही चाहिये, वैसा ज्ञान कंसको प्रथम आया और वसुदेवजीकी भी बुद्धि वैसी ही हो गई. अतः सबके, सर्व प्रकारके ज्ञानका जनक भगवान् ही है, इससे 'कृष्ण' भगवान् ही हैं, इस प्रकारके वाक्योंसे ऐसा निश्चय हो जाता है. इसलिए कंसके मुखसे अब इस प्रकारके वाक्य निकले हैं।।२२।।

इति घोरतमाद् भावात् सन्निवृत्तः स्वयम्प्रभुः।
आस्ते प्रतीक्षंस्तज्जन्म हरेर्वैरानुबन्धकृत्।।२३।।

श्लोकार्थ : भगवान्के साथ वैर करनेवाला कंस यद्यपि देवकीका वध करनेमें समर्थ था, तो भी, यह वध कर्म अत्यन्त घोर है, ऐसा समझकर, इस कर्मसे निवृत्त हुआ. और भगवान्के जन्मकी प्रतीक्षा करने लगा अर्थात् बाट देखने लगा।।२३।।

व्याख्यार्थ : इस प्रकार कंसके विचार करनेके अनन्तर जो कुछ हुआ, उसका इस श्लोकमें वर्णन करते हैं. देवकीका वध करना अयोग्य है क्योंकि यह घोर कर्म है, उसमें भी बहिनका वध, विशेष घोर कर्म है. पुनः गर्भवतीका वध तो अत्यन्तमेव घोर कर्म है. इस प्रकारके विचारविमर्शसे कंसने यह कर्म करना त्याग दिया. अपने विचारसे तो छोड़ दिया किन्तु अन्य दुर्मन्त्री आदिकी प्रेरणासे क्यों न मारा? इसके उत्तरमें, श्लोकके अन्दर कंसको 'प्रभु' अर्थात् सब करनेमें स्वतन्त्र

कहा है, जिससे कंसने किसीकी भी प्रेरणाको नहीं माना. खुद स्वामी हैं, इसका कोई दूसरा प्रवर्तक आज्ञा देकर काम करानेवाला नहीं है. वधसे निवृत्त होकर भगवान्के जन्म होनेकी प्रतीक्षा करने लगा. क्या कंस भगवान्की भक्ति करेगा? जो भगवान्के जन्मकी प्रतीक्षा करता था? इस पर कहते हैं कि भक्त तो उसको नहीं बनना था किन्तु कंसको हरिसे पूर्वजन्मके अपने वधका बदला लेना था. इसीलिए प्रतीक्षा कर रहा था कि भगवान् पैदा होवे तो मैं उनका वध करूं, तबतक उनके सम्बन्धियोंका वध अपने नौकर, असुरों द्वारा कराने लगा।।२३।।

आभास : इस प्रकार कंसने अपने असुरों द्वारा भगवान्के सम्बन्धियोंका वध कराना प्रारम्भ किया, जिससे वैर दृढ होने लगा. वैर दृढ होनेसे अहर्निश कंसको सर्वत्र भगवान्का ही दर्शन होने लगा और भगवान्का ही स्मरण होने लगा. इस प्रकारका ज्ञान जो ज्ञानियोंको प्रमाणबलसे साधन द्वारा होता है, वह इसको प्रमेयबल भगवान्की इच्छासे हो गया. उसका वर्णन इस श्लोकमें करते हैं:

आसीनः संविशंस्तिष्ठन् भुञ्जानः पर्यटन् पिबन्।
चिन्तयानो हृषीकेशम् अपश्यत् तन्मयं जगत्।।२४।।

श्लोकार्थ : बैठते, सोते, उठते, भोजन करते और पृथ्वी पर फिरते, जल पीते भगवान्का ही चिन्तन करता था, जिससे कंस सर्व जगत्को ब्रह्मरूप देखने लगा।।२४।।

व्याख्यार्थ : बैठते, सोते, उठते आदि अवस्थाओंमें कंसको भगवान्का दर्शन और स्मरण होता था. भोजन, घूमने और पानी पीने आदि क्रियाओंमें भी इसी प्रकार हरिका दर्शन एवं स्मरण होता था. जिससे सर्व अवस्थाओं तथा सर्व क्रियाओंमें भगवच्चिन्तन ही करता था. वैसा क्यों हुआ इस पर कहते हैं कि सर्व इन्द्रियोंके स्वामी भगवान्ने अपने दर्शनार्थ इस प्रकारकी अन्तःकरणमें प्रेरणा की है. अतः यह जगत् कृष्णमय(कृष्णरूप) देखने लगा।।२४।।

ब्रह्मा भवश्च तत्रैत्य मुनिभिर्नारदादिभिः।
देवैः सानुचरैः साकं गीर्भिर्वृषणमीडतुः।।२५।।

श्लोकार्थ : ब्रह्मा, महादेव, नारदादि मुनिगण तथा अनुचरों सहित देवता लोग वहां आकर, सुन्दरवाणीसे भगवान्की स्तुति करने लगे।।२५।।

व्याख्यार्थ : पूर्वाध्यायमें महत् दुःखके मिससे भगवान्के चिन्तनका वर्णन

किया है. इस अध्यायमें कंसादिकके भगवच्चिन्तनका वर्णन, तथा ब्रह्मादिकोंने भगवान्‌की स्तुति द्वारा जो भगवान्‌का चिन्तन किया, उसका वर्णन इसी अध्यायमें हुआ है. इस प्रकार सबने जो भगवच्चिन्तन किया, जिससे यह दिखाया कि भगवान्‌ने सबका सामान्य निरोध किया है. ब्रह्मा आदि देवगण देवकीके गृहमें इसलिए पधारे कि सबको यह ज्ञान हो जावे कि देवकीके गर्भमें भगवान् पधारे हैं, अतः ब्रह्मादि देवोंने कंसादिककी कोई परवाह नहीं की है. भगवान् गर्भमें पधारे तब जो देवगण स्तुति करने पधारे हैं, उनके मुख्य नाम कहते हैं. १.ब्रह्मा, २.महादेव और दूसरे भी गुणाभिमानी देव, सनकादिक मुनि, नारदादिक भक्त, इन्द्रादिक देवगण, उनके अनुचर, गन्धर्वादि देव ये सब मिलकर आये थे.

कोई कहते हैं कि वामन आदि अवतार भी आये थे, आकर अपनी-अपनी अनुकूल वाणियोंसे भगवान्‌की स्तुति करने लगे. यहां मूल श्लोकमें 'ईडतुः' द्विवचन क्रिया दी गई है. उसका आशय यह है कि स्तुति करनेवालोंमें मुख्य ब्रह्मा और महादेव दो हैं. अतः द्विवचन दिया है. किन्तु किसी पुस्तकमें 'ऐडयन्' बहुवचनान्त क्रिया भी है. जहां बहुवचन हों वहां समझना चाहिये कि सबको स्तुतिकर्ता मानकर बहुवचन दिया है. भगवान्‌केलिए यहां श्लोकमें 'वृषण' शब्द दिया है, इसका अर्थ आचार्यश्रीने दो प्रकारसे किया है. एक अर्थ कामनाओंकी पूर्ति करनेवाले भगवान् हैं और दूसरा अर्थ धर्मको नियमसे चलानेवाले भगवान् हैं ।।२५।।

सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये ।
सत्यस्य सत्यमृतसत्यनेत्रं सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः।।२६।।

श्लोकार्थ : देवता कहने लगे कि आप सत्यव्रत[१], सत्यपर[२], त्रिसत्य[३] सत्यके[४] कारण, सत्यमें[५] निहित, सत्यके[६] भी सत्य, ऋत[७] और सत्यरूप नेत्रवाले और सत्य[८] स्वरूप हो, वैसे आपके हम शरण आए हैं।।२६।।

१. आपका संकल्प सत्य है. २. आपका द्वादश प्रकारका सत्य उत्कृष्ट है. ३. आपके तीन लोक और काया भी सत्य है. ४. आप ही सत्यके कारण(उत्पन्न कर्त्ता) हो. ५. आपकी सत्यमें स्थिति है. ६. आप सत्यके आधिदैविक स्वरूप हो. ७. ऋत और सत्य नेत्रोंसे आप दृश्य होते हो. ८. आपका स्वरूप भी सत्य है.)

कालात्मा भगवान् जात इति ज्ञापयितुं तथा ।
कलाभिः पञ्चदशभिः स्वपक्षख्यापकैः स्तुतिः।।कारि.१।।

पक्षपातस्तुतिर्ह्येषा देवानां हितकारिणी।

ध्रुवा तु षोडशी प्रोक्ता वृद्धौ वा तादृशो भवेत्।।कारि.२।।

कारिकार्थ : कालात्मा भगवान् प्रकट हुवे हैं, इसका ज्ञान करानेकेलिए और अपने शुक्ल पंद्रह दिनके पक्षकी प्रसिद्धिकेलिए पंद्रह श्लोकोंसे देवोंने स्तुति की है. यह देवताओंकी की हुई पक्षपातवाली स्तुति, देवताओंका हित करनेवाली है. पंद्रह श्लोकमें भगवान्की स्तुति की गई है और १६वें श्लोकोंमें देवकीजीको सान्त्वना दी है, अतः १६वीं कला ध्रुव है, अथवा तिथिवृद्धिसे सोलह दिन भी होते हैं।।१-२।।

व्याख्या : प्रश्नोपनिषद्में भगवान्को सोलह कलावाला कहा है, अतः यहां भी वही भगवान् सोलह कलावाले पधारें हैं, यह बतानेकेलिए उनकी सोलह श्लोकोंसे स्तुति की गई है. जिसमें पंद्रह श्लोकोंसे देवताओंने पक्षपातसे अपने हित करनेवाली स्तुति की है और १६वें श्लोकमें जो स्तुति की है, वह भक्तोंके हित करनेवाली होनेसे ध्रुवा(स्थिर) है. इस अध्यायमें भगवान् अपने कालरूप संकर्षणको लेकर देवकीजीमें पधारें हैं, उसका वर्णन है. कारण कि भगवान्को इस अवतारमें पृथ्वी पर जो दैत्य नृपतिओंका भार बढ गया था, वह उतारना था इसलिए कालरूप संकर्षणस्वरूपको अपने साथ लाना आवश्यक था. स्वयं भगवान्ने गीतामें "**कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्**" श्लोकसे बताया है कि मैं कालरूप(संकर्षणस्वरूप)से भी प्रकट हुवा हूं. कारण कि स्वयं भगवान् तो सबकी आत्मा है, अतः वे सर्वके हितकारी हैं, उस स्वरूपसे दैत्योंका भी नाश नहीं करते हैं. इस तत्त्वको देवताओंने समझा था, अतः यह गूढोक्ति कही कि हमारे हितकेलिए पधारे हैं. काल दो प्रकारका है. एक शुक्लपक्ष और एक कृष्णपक्ष. शुक्लपक्ष देवताओंका हितकारी है और कृष्णपक्ष दैत्योंका हितकारी है. प्रत्येकपक्षमें पंद्रह दिन होते हैं, अतः देवोने पंद्रह श्लोंकोंसे स्तुतिकर, यह बताया है कि भगवान् हमारे हितकेलिए पधारे हैं. अब हमारे शत्रुओंका नाश अवश्य होगा. इसलिए भगवान् कालस्वरूप संकर्षणको लेकर, आप स्वयं भी पधारे हैं. अतः भक्तोंका भी हित होगा ।।१-२।।

व्याख्यार्थ : यद्यपि १६वें श्लोकमें भी 'परः पुमान्' कहनेसे भगवान्की स्तुति है, किन्तु मुख्यरूपसे देवकीजीको सान्त्वना ही दी गई है और 'परः पुमान्' भी देवकीजीको पूर्ण विश्वास हो इसलिए दिया है. अतः यहां देवोंने पंद्रह

श्लोकोंसे भगवान्‌की स्तुति की है और एक श्लोकसे देवकीको सान्त्वना दी है. काल पञ्चदशात्मा है, वे काल ही अवतीर्ण हुए हैं, यों देवोंने जाना है. वह दो प्रकारका है, दैत्योंका हितकारी भी पञ्चदशात्मा(१५-दिनका) है और देवताओंका हित करनेवाला भी पञ्चदशात्मा (१५-दिनका) है. साधारणरीतिसे तो काल त्रिंशदात्मक(३० दिनका) है. अतः देवोंने अपने पक्षपाती ही प्रकटे हैं, यों समझ भगवान्‌की अर्धकालरूप(१५ दिनरूप) श्लोकोंसे स्तुति की है.

वह कालकृत पक्षपात चार प्रकारका है : १.लोककृत, २.स्मृतिकृत[१], ३.वेदकृत और ४.भगवन्मार्ग(भक्तिमार्ग)कृत है. इस प्रकारके होते हुए भी पुनः प्रत्येक प्रमाण, प्रमेय, साधन और फलसे चार प्रकारका है. जिससे काल षोडशात्मा[२] हो गया, दैत्योंका काल केवल पञ्चदशात्मक(कृष्णपक्ष) है. उससे (दैत्योंके कालसे) देवताओंके कालकी विशेषता षोडशात्मकता बताई.

१. स्मृतिकृत भी दो प्रकारका है. १.लौकिक और २.वैदिक. कारण कि स्मृति, लोक और वेदात्मक होनेसे दो प्रकारकी है.

२. देवताओंका काल इस प्रकार षोडशात्मा है.

(१) लोककृत ४.प्रमाण, प्रमेय, साधन और फल.
(२) स्मृतिकृत ४.प्रमाण, प्रमेय, साधन और फल.
(३) वेदकृत ४.प्रमाण, प्रमेय, साधन और फल.
(४) भगवन्मार्गकृत ४.प्रमाण, प्रमेय, साधन और फल.

उसमेंसे(षोडश प्रकारमेंसे) प्रथम चार श्लोकोंसे प्रमाण, प्रमेय, साधन और फल वर्णन करते हैं. उसमें लोकसिद्ध, जो देवोंके पक्षपातवाले हैं, उनका निरूपण करते हैं.

लोकमें सत्य ही प्रमाण है. परिदृश्यमान(जो जगत् देखनेमें आ रहा है) वह ही प्रमेय है. गुणोंके अभिमानी देव ही साधन है. क्षेम ही फल है. इसमें और दैत्यपक्षमें भेद समझना चाहिये.

अब बताते हैं कि देवता सत्यको प्रमाण मानते हैं और दैत्य झूठको प्रमाण मानते हैं. अतः देवता यह निरूपण करते हैं कि सत्यरूप भगवान् प्रकट हुए हैं. देवताओंका सत्य भी आठ प्रकारका है. वह सत्य पुनः अंशतः १६ प्रकारका है.

वेदमें 'सत्य' पांच प्रकारका कहा है. 'सत्यं परम्' इस श्रुतिमें और

'प्राजापत्यो हारुणिः' इस श्रुतिमें भी सत्य पांच प्रकारका कहा है. जो सत्य है, वह पर है, सबसे श्रेष्ठ है अथवा जो सबसे श्रेष्ठ है, वह सत्य है. इस प्रकार सत्यत्व और सर्वोत्कृष्टत्वका ऐक्य प्रतिपादन करना चाहिए. जो मनुष्य इस प्रकारका सत्यका स्वरूप समझकर उस पर चलता है, वह स्वर्ग(मुक्ति) लोकको प्राप्तकर, वहांसे पुनः कदापि नहीं लौटता है. सत्य पर चलनेवालेको यह आमुष्मिक उत्कृष्ट फल मिलता है. इस आमुष्मिक फलकी उत्कृष्टता यह है कि जो वहां जाता है, वह लौटकर नहीं आता है. इस लोकमें भी सत्पुरुष सत्यको ही उत्तम फल समझते हैं. अतः सत्य ही प्रमाण, प्रमेय, साधन और फल है. यों समझकर देवपक्षपाती अर्थात् जो दैवीजीव हैं, वे सत्यमें ही रमण करते हैं. सत्य पर चलनेको ही आनन्द समझते हैं और उससे ही प्रसन्न होते हैं. भगवती श्रुति भी यों कहती हैं, जैसे कि ''**सत्यं परं परं सत्यं सत्येन न सुवर्गाल्लोकाच्च्यवन्ते कदाचन सत्तां, हि सत्यं तस्मात् सत्ये रमन्ते**'', यह सत्य यहां निरूपण किया जाता है.

लोकमें व्रत(दृढसंकल्प)को उत्कृष्ट कहते हैं. जो कोई, जो कुछ व्रत करता है, वह पर(श्रेष्ठ) कहा जाता है. सत्यको भी पर(श्रेष्ठ) कहते हैं. भगवान्के तो दोनों(व्रत तथा सत्य) सत्य हैं, जिनका सत्य ही व्रत है वैसे आपके हम शरण आये हैं. इस प्रकार दोनों पर(सबसे श्रेष्ठ) होनेसे सत्य और व्रतकी एकता कही गई है.

अब जो 'पर' है वह लोक तथा वेदमें बारह प्रकारका कहा है. जैसे सत्य तप, दम, शम, दान, धर्म, उत्पन्न करना, अग्नि, अग्निहोत्र, यज्ञ, मौन और संन्यास. ये सब बारह ही भगवान्के सत्य हैं. न कि दैत्योंके समान असत्य है. इसकी सत्यता प्रथम कही हुई 'सत्यं परं' श्रुतिको विचारमें लाना. भगवान्के व्रत (दृढसंकल्प)से है. जैसे भगवान् आज्ञा करते हैं कि ''**कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति**'' हे कौन्तेय! मेरी तरफसे तू जाके प्रतिज्ञा कर, कि मेरे भक्तका नाश नहीं होता है. इसी प्रकार 'द्विशरं नाभिसन्धते', श्रीरामावतारने भी प्रतिज्ञा की है कि किसी भी लक्ष्य वेध करनेकेलिए एक ही दफा शर चढाऊंगा तथा ''**अनश्नन् अनन्यो अभिचाकशीति**'', भगवान् कर्मफलको नहीं भोगते हैं, एवं सत्यसे प्रकाशते हैं. ''**साधवो हृदयं मह्यं**'', साधुजन मेरे हृदय हैं. इत्यादि वचनोंसे भगवान्के व्रत और सत्य उत्कृष्ट(सर्वोत्तम) कहे हुए हैं. लोकके अनुसार भी देवोंके हितकारी भगवान्का नियामक सत्य ही है. यदि सत्य नियामक न होवे तो

ईश्वरका नियामक कौन होगा? जैसे कि इस सत्यके नियामकत्वके कारण ही भगवान्ने जो आनेका संकल्प किया था, उसको पूर्ण करनेकेलिए आप पधारे हैं.

भगवान्के तीन लोक(भूः,भुवःऔर स्वर्लोक) तथा तीन आत्मा (शरीर, जीव और परमात्मा) भी सत्य हैं. जिससे साधन और फलकी एकता करके निरूपण किया. जिसमें यह(उत्पत्ति रूप) प्रभु प्रमाणरूप एवं युक्तियुक्त(उपपत्ति रूप)से रूप सिद्ध कर दिखाये हैं.

अष्ट प्रकारकी उत्पत्तिका निरूपण 'सत्यस्य योनिं' शब्द(विशेषण)से करते हैं. जो प्रथम आठ प्रकारके सत्य कहे हैं. उन सब आठों प्रकारोंके सत्यका कारण भी कालात्मा भगवान् ही है. 'श्वो दास्यामि', कल दूंगा, ऐसा कहा जाता है. यदि कल ही न हो तो वाणी असत्य हो जावे. किन्तु कल होता है, जिससे वाणी सत्य हो जाती है. इसी प्रकार सर्वत्र समझ लेना चाहिए.

भगवान् केवल सत्यके उत्पादक ही नहीं है किन्तु उसके रक्षक भी आप ही हैं. इसीलिए कहा है कि 'निहितं च सत्ये', आप सत्यमें स्थितिकर, उसकी रक्षा करते हैं. इससे सत्यकी उत्पत्तिका विचार करते हुए प्रमेय और साधन दोनों कहे हैं. 'निहितं च सत्ये', इस पंक्तिके मध्यमें जो 'च' शब्द दिया है, उसका यह तात्पर्य है कि शेष, प्रमाण और फल 'ऋतसत्यनेत्रम्' तथा 'सत्यात्मकं त्वाम्' इन दो विशेषणोंसे कहा है.

जैसे सत्यकी उत्पत्ति और रक्षाका कारण भगवान् है, वैसे ही सत्यके लयका स्थान भी आप ही है. इसको 'सत्यस्य सत्यं' पद विशेषणसे कहा है. जिस प्रकार ''**पूर्णस्य पूर्णमादाय**'' श्रुतिमें सबका लय उसमें होता है, वैसे ही सत्य भी आधिदैविक सत्यमें लीन होता है. सत्यमें ही प्रतिष्ठित है और सत्य ही फल है. यह आधिदैविक सत्य भगवान् ही है. इससे जो भगवान्में प्रतिष्ठित है, वह सत्य है. जो सत्यमें है, वह सत्य द्वारा भगवान्में प्रतिष्ठित होगा. इस प्रकार उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयके प्रसंगमें 'पञ्चविध' सत्य कहा गया है. इससे तेरह प्रकारकी क्रियाशक्तिका सत्यपनेसे वर्णन किया है.

जो भगवान्की शक्ति, ज्ञान उत्पन्न करती है, वह भी सत्य है. इसका निरूपण करते हैं. जिस परमात्माके ऋत और सत्यरूप नेत्र ही उसकी प्राप्ति करानेवाले या दिखानेवाले हैं, अतः भगवान्को 'ऋतसत्यनेत्रम्' कहा गया है, जिससे भगवत्प्राप्ति दो प्रकारसे होती है. ज्ञान उत्पन्न करानेवाली शक्ति, प्रमाण

तथा प्रमेयबलके कारण दो प्रकारकी है. प्रमाणबल वेद है, जैसे कि जगत्में कोई भी कार्य किया जावे वह कार्य योग्य है वा नहीं? ऐसी शंका होने पर उसको सत्य सिद्ध करनेकेलिए वेदको ही प्रमाणमें लाया जाता है. तथा प्रमेयबल भगवद्धर्म है, जैसे कि जहां प्रमाणबलकी गति-पहुंच नहीं है अर्थात् जो कार्य प्रमाणबलसे नहीं हो सकता है, वह कार्य भगवद्धर्मसे होता है. अतः इस भगवद्धर्मको प्रमेयबल कहते हैं.

'सूनृता', सत्यको प्रतिपादन करनेवाली वाणीको 'ऋत' कहते हैं. वेद सत्यका प्रतिपादन करनेवाला है. अतः सत्यके निरूपण करनेके समय ऋतका भी निरूपण किया गया है.

इस प्रकार क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति दोनों सत्यरूप हैं. इनका निरूपण कर, अब धर्मीस्वरूप भी सत्यरूप है, उसका वर्णन करते हुए कहते हैं कि 'सत्यात्मकम्' आप भगवान्की आत्मस्वरूप सत्य ही है. जो सब धर्म(पदार्थ मात्र)में व्याप्त होकर रहती है, उसको आत्मा कहते हैं. वह(आत्मा) अबाधित (जिसको कोई भी बाध न कर सके ऐसा) सत्य है और वह भगवान्का सत्रूप है. 'सत्यात्मकं' पदमें जो अन्तिम अक्षर 'क' है, वह प्रत्यय है. 'क' प्रत्यय स्वार्थमें आता है अथवा 'क' अक्षरका आशय 'फल' भी है. यहां 'क' फल बतानेवाला है. सत्यात्माका फल सुख(आनन्द) है अर्थात् जिसकी आत्मा सुखरूप है, वह भगवान् सच्चिदानन्दरूप है. भगवान्का जैसे 'सद्रूप' सत्य है, वैसे चिद् और आनन्दरूप भी सत्य है. जीवोंको वैसे सत्यात्मक सच्चिदानन्दरूप भगवान्के ही शरण जाना चाहिये.

देवोंने श्लोकमें 'प्रपन्नाः' बहुवचन कहकर यह बताया है कि हम सब आपके शरण इसलिए आये हैं कि आप सत्यव्रत, सत्यरूप हो, अतः सत्यतासे ही हमारी रक्षा करोगे।।२६।।

व्याख्याअृका सार :

पुरुषोत्तम भगवान् पूर्णरूपसे प्रकट हुए हैं. प्रश्नोपनिषद्में षोडश कलह पदसे १६ कलाओंसे पूर्ण स्वरूपको परब्रह्म कहा है.

ब्रह्मादि देव भी श्रीकृष्णको १६ कलाओंसे पूर्ण स्वरूप समझकर, ही स्तुति करनेकेलिये पधारे हैं. 'सत्यव्रतम्' इस प्रथम श्लोकमें ही परमात्माका षोडशविध प्रतिपादन किया गया है.

भगवान्के षोडशविध स्वरूप, इस प्रकार हैं. भगवान्में मुख्य दो शक्तियां हैं. क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति. क्रियाशक्ति १३ प्रकारकी है और ज्ञानशक्ति दो प्रकारकी है, तथा एक स्वयं आप धर्मीस्वरूप हैं. इन सबको मिलाकर भगवान् को 'षोडशविध' प्रकारका कहा है.

क्रियाजनक और क्रियात्मक जो भगवान्का सामर्थ्य है, उसको भगवान्की क्रियाशक्ति कहते हैं. वह २६वें श्लोक 'सत्यव्रतं'श्लोकमें इस प्रकार त्रयोदशविध कही गई है. 'सत्यव्रतं' पदसे (सत्य और व्रत) दो भेद हैं.

सत्यपरं* पदसे नीचे टिप्पणीमें दिये हुए चार भेद हैं:

१.त्रिसत्यम्:'भूः भुवः स्वः' तीन लोक. काया, जीव और परमात्मा तीन रूप से दो भेद.

२.सत्यस्य योनिम्: सत्यको उत्पन्न करनेवाली(सत्यका कारण) एक भेद.

३.निहितं च सत्ये: सत्यमें स्थित हो, सत्यका रक्षक होनेसे प्रमेय तथा साधन भेदसे दो प्रकारकी.

४.सत्यस्य सत्यम्: प्रभु सत्यका भी सत्य होने से 'लय' भी उस सत्यस्वरूपमें क्रियाशक्ति कराती है, उसके भी प्रमाण और फलसे दो भेद हैं.

इस श्लोकमें 'सत्यस्य सत्यम्' पद तकके पदों द्वारा क्रियाशक्तिके १३ भेद बताये हैं, अब शेष 'ऋतसत्यनेत्रम्'और 'सत्यात्मकं' दो पदोंसे ज्ञानशक्तिके ३ भेद बताते हैं.

१-२.ऋतसत्यनेत्रम्: ऋत और सत्य नेत्रवाले प्रभु हैं. प्रभुकी जो शक्ति ज्ञान उत्पन्न करती है, उसको ज्ञानशक्ति कहते हैं. वह शक्ति दो प्रकार की है, प्रमाण(वेद) तथा प्रमेय(भगवद्धर्म), जिनसे ज्ञानको प्रकट करती है. इसलिये यह दो प्रकार की है.

३.सत्यात्मकम्: आप सत्यस्वरूप 'धर्मी' एक हैं.

उपरोक्त प्रकारसे भगवान्की दोनों, दशक्तियोंके भेद मिलानेसे १६ होते हैं, अतः परमात्मा जो प्रकट हुवे हैं, वे वैदिक रीतिसे तथा भागवतानुसार षोडश कलायुक्त होनेसे पूर्ण है. उस पूर्णस्वरूपके पधारनेपर ब्रह्मादि देवोंने १६ श्लोकोंसे स्तुति की है. और अन्तमें कहा है कि हे प्रभु! वैसे हम आपकी शरणमें आये हैं.

*.सत्य सबसे पर उत्तम है. कारण कि सर्व कार्य सत्यके बलसे होते हैं, जैसे कि १. सत्यसे वायु चलती है, २. सत्यसे सूर्य प्रकाश करता है, ३. वाणी सत्यमें रहती है, ४. सर्व सत्यमें रहते हैं. इस प्रकार ये चार भेद हैं.

यह विषय जटिल है. अतः जहाँ तक बन सका है वहाँ तक सुबोध करनेके लिए साहित्यका आवश्यक सार देकर समझाया है. विशेष जिज्ञासु टिप्पणी, प्रकाश, लेख और योजना स्वयं पढकर आनन्दरस पान करें. (अनुवादक)

आभास : उपरोक्त श्लोकमें सत्यात्मक परमात्मा प्रमाणरूप हैं यह वर्णन कर, अब इस 'एकायनोऽसौ' श्लोकमें उसकी 'प्रमेय' रूपताका वर्णन करते हैं:

एकायनोऽसौ द्विफलस्त्रिमूलः चतूरसः पञ्चविधः षडात्मा ।
सप्तत्वगष्टविटपो नवाक्षो दशच्छदी द्विखगो ह्यादिवृक्षः।।२७।।

श्लोकार्थ : यह ब्रह्माण्ड वृक्षरूप है, जिसका आश्रय एक भगवान् ही है. उसके सुख और दुःख दो फल हैं, तीन गुण जडें हैं. धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये रस हैं, पांच कर्म ही प्रकार हैं, छः इन्द्रियां ही आत्माएं हैं, सात प्रकारके वल्कल है, आठ प्रकारकी प्रकृतियां शाखाएं हैं, देहके नव छिद्र नेत्र हैं, दश प्राणच्छद हैं, वैसा यह ब्रह्माण्ड वृक्ष है।।२७।।

व्याख्यार्थ : इस श्लोकमें यह ब्रह्माण्डात्मक जगत् वृक्षरूपसे वर्णन किया जाता है. जगत्की वृक्षरूपता सिद्ध करनेकेलिए आचार्यश्री कहते हैं कि यह जगत् आदि वृक्षरूप भगवान्से उत्पन्न हुआ है, वृक्षसे उत्पन्न हुआ पदार्थ वृक्ष ही होता है. भगवान् वृक्षरूप हैं, इसलिए श्रुति प्रमाणरूपमें देते हैं कि "**वृक्ष इवस्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्**". अर्थः जो एक आकाशमें वृक्षवत् स्थित है उस पुरुषसे वह सर्व(जगत्) पूर्ण है, जगत्को वृक्षरूप कहनेसे भगवान्का महत्त्व निरूपण किया है. जैसे एक ही अश्वत्थ(पीपल) आदि वृक्षोंमेंसे करोड़ो फल उत्पन्न होते हैं. वैसे ही भगवद्रूप वृक्षसे असंख्य ब्रह्माण्ड उत्पन्न होते हैं अथवा प्रपंचरूप भी वैसा है, जिससे अनेक उत्पन्न होते हैं. इस प्रकार भगवद्रूप वृक्षका न आदि है और न अन्त है. वह सर्वदा ही है. अतएव इस कथनसे ही इस ब्रह्माण्डका निर्माण कभी भगवान्से होता है, और कभी भगवान्, तत्त्वों द्वारा ब्रह्माण्डका निर्माण करते हैं. इसमें 'अक्षर' फल है, उस(फल)के अंश तत्त्व हैं, बीज ब्रह्माण्ड हैं. उस वृक्षसे उत्पन्न फल जब शकुनी(पक्षी) खाता है, तब वह फल फलता है. इससे यह बताया कि ये तत्त्व चेतन है. दैत्योंके आदिकल्पमें बहुत बीजवाले फलसे भी एक वृक्ष उत्पन्न होता है. इस कारणसे ही वेदसे बाह्यशास्त्रोंमें बहुत परमाणुओंके संयोगसे एक कार्यकी उत्पत्ति कही है. पीपल आदि भी काकोंके विष्ठासे उत्पन्न हुवे थे. बहुतोंसे एक होता है, यों समझा जाता है. इस प्रकारके सिद्धान्तके निवारणकेलिए मूल श्लोकमें कहते हैं कि 'एकायनोऽसौ'. इस प्रपञ्चका एक अयन(बीज) है. 'ब्रह्माण्ड' पदमें दो शब्द हैं, एक ब्रह्म और दूसरा अण्ड. अण्ड कहते हैं प्रकृति वा अक्षरको. जिसका तात्पर्य है कि ब्रह्मके साथ

जब अक्षर वा प्रकृति(गीतोक्त अष्टधा प्रकृति) सम्मिलित होती है, तब उसको ब्रह्माण्ड कहते हैं. कितनेक 'अण्ड'का अर्थ 'काल' भी करते हैं. इससे यह सिद्ध होता है कि यह परिदृश्यमान् जगत् एकायन(एक ही ब्रह्मरूप बीजवाला) होनेसे आदिरूप सत्वृक्ष है. जिसके सुख और दुःख दो फल हैं. वे, दो फल, 'नरक और स्वर्ग' कहे जाते हैं. दैत्योंको तो दुःखरूप फल ही प्राप्त होता है. 'नरक'का अर्थ यहां है 'विषयात्मक सुख', क्योंकि मनुष्य विषयोंको ही सुख समझते हैं किन्तु वह सुख परिणाममें विषोपम होनेसे दुःख है. अतः वह 'नरक' कहा जाता है. 'स्वर्ग'का अर्थ है अपने स्वरूप (आत्मरूप)की तरफ जाना. अतः जो अपनेको अपनी आत्मामें ले जाते हैं, वे सुख भोगते हैं, वह स्वर्ग है. यहां तो ये दो प्रकार भी है, अन्य सृष्टिमें सर्व विषयी होते हैं, अर्थात् सर्व आसुरी होते होंगे. इस सृष्टिमें तो दो प्रकारके दैवी और आसुरी हैं, अतः सर्व विषयी नहीं होते हैं. 'आसुरी' विषयी और 'दैवी' निर्विषयी होते हैं. सत्त्वादि तीन गुण इस जगत्की जड़ें हैं. अतः यहां तीन प्रकारके कर्म भी होते हैं. दूसरी सृष्टिमें कहीं तामस कर्म और कहीं राजस कर्म होते हैं. सात्त्विक कर्म तो वहां निपट नहीं होते हैं. धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार प्रकारके रस भी इस सृष्टिवृक्षमें है, अन्यत्र अर्थ और काम दो रस हैं. पञ्च इन्द्रियोंसे जो पांच कर्म १.उत्पेक्षण(ऊपर फेंकना) २.अपेक्षण(नीचे फेंकना) ३.प्रसारण(खोलना) ४.आकुञ्चन(लपेटना) ५.गमन ये पांच कर्मके प्रकार भी यहां इस सृष्टिमें है. अन्यत्र 'उत्क्षेपण' कर्म नहीं होता है अथवा 'अन्नमयादि पांच कोशोंको कर्मके पांच प्रकार समझने, जैसा कि भगवती श्रुति कहती है कि ''**स वा एषः पुरुषः पञ्चधा पंचात्मा**'', वह यह पुरुष निश्चय पांच प्रकारके हैं और पंचात्मा है. ब्रह्माण्डविग्रह भी उसी प्रकारका है. अन्य सृष्टिओंमें आनन्दमय आत्मा नहीं है. जिस दृश्य जगत्रूप वृक्षकी षड् इन्द्रियां आत्मरूप हैं. यह आत्मा 'विज्ञानमय' है. 'ज्ञान' छः प्रकारका है. वह उत्पत्तिसे[१] भिन्न-भिन्न हैं. इस जगत् वृक्षके सात प्रकारके वल्कल(त्वक्, मांस, रुधिर, मेद, अस्थि, मज्जा और वीर्य) हैं. आठ प्रकृति(भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार) शाखाएं हैं. देहके नवछिद्र अक्ष(कोटर) हैं. दश प्राण हैं. प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनंजय ये दश प्राण हैं, ये पत्र हैं. जीव और अन्तर्यामी ये दो पक्षी हैं. अन्य सृष्टियोंमें इस सृष्टिसे विलक्षणता समझनी. श्लोकमें जो 'हि' शब्द है, उसका

आशय यह है कि सर्वत्र युक्तियां हैं. 'आदिवृक्ष' शब्द समष्टिरूपसे दिया है. इस प्रकार इस प्रमेय स्वरूपका निरूपण किया गया है।।२७।।

१. श्रोतृ, चक्षु, वाक्, जिह्वा, प्राण और मन इन छ: इन्द्रियोंसे ज्ञानकी उत्पत्ति पृथक्-पृथक् प्रकारकी होती है. अतः ज्ञान छ: प्रकारका है.

प्रकाश : इस श्लोक पर गो.श्रीपुरुषोत्तमजी प्रकाशमें कहते हैं कि ब्रह्मादि देवोंने स्तुति करते हुए प्रथम श्लोकमें भगवान्की प्रमाणरूपता बताई है और तृतीय श्लोकमें 'त्वमेक'में साधनरूप भी भगवान्को बताया है. अतः इस मध्यके द्वितीय श्लोकमें प्रमेयता बताना आवश्यक होनेसे भगवान्की प्रमेयरूपता बताई गई है.

यहां भगवान् ब्रह्माण्डात्मक वृक्षरूप हैं. उनको प्रमेयरूप कैसे कहा? इस शङ्काके निवारणकेलिए ही आचार्यश्रीने सुबोधिनीजीमें 'वृक्ष इव स्तब्ध' श्रुतिसे भगवान्को आदिवृक्ष सिद्ध किया है. वह आदिवृक्ष भगवान्, इस दृश्यमान् जगत्का कारणरूप है. यह जगत्रूप वृक्ष, उससे उत्पन्न होनेसे कार्यरूप है. कारण-कार्य एक होनेसे ब्रह्माण्डात्मक वृक्ष भगवद्रूप है. अतः उसको प्रमेय कहनेमें किसी प्रकारकी हानि नहीं है . तथा दूसरी श्रुति ''ऊर्ध्वमूल...मृत्युर्मा मारयात्'' देकर वृक्षको भगवान्का रूप सिद्ध किया है.

अन्य शङ्का: सद्रूप भगवान् तो प्रमेयरूप हो सकते हैं किन्तु कालात्मक भगवान् प्रमेयरूप कैसे होंगे? इस शङ्काका निवारण तृतीय स्कन्धके 'गुणव्यतिकराकारो' श्लोककी सुबोधिनीजीमें किया है. गुणोंके परस्पर संश्लेषण (मिलाप)से काल प्रकट होता है. कालका भी उपादान प्रभु हैं. अतः उपादेय, उपादानात्मक है. अतः काल भी जगत्का उपादान होनेसे प्रमेयरूप हो सकता है. विशेष विषय इस सम्बन्धमें संस्कृतमें देखिये, यहां सारमात्र दिया गया है.

आभास : इस श्लोकमें 'उपपत्ति'(हेतु देकर विषयको सिद्ध करना) पूर्वक साधनरूप भी यह है, इसका वर्णन 'त्वमेक एवास्य' श्लोकमें करते हैं:

त्वमेक एवास्य सतः प्रसूतिस्त्वं सन्निधानं त्वमनुग्रहश्च ।
त्वन्मायया संवृतचेतसस्त्वां पश्यन्ति नाना न विपश्चितो ये।।२८।।

श्लोकार्थ : इस सद्रूप जगत्के उत्पत्ति स्थान आप एक ही हो, लयस्थान भी आप हो और इसकी स्थिति भी आपमें ही है. आपकी मायासे जिनका ज्ञान आच्छादित(ढका हुआ) हो गया है, वे आपसे भिन्न, जगत्को नानारूपमें देखते हैं. जिनकी बुद्धि मायासे आच्छादित नहीं है वे विपश्चित(समझदार बुद्धिमान्) नानारूप पृथक् न देखकर सबमें एक आपको ही देखते हैं।।२८।।

व्याख्यार्थ : इस सद्रूप जगत्का उत्पत्ति स्थान, माता-पिताके समान आप एक ही हो, इसलिए मूल श्लोकमें 'प्रसूतिः' पद दिया है, जिसका अर्थ है भली भांति जिससे उत्पत्ति हुई है. जगत्को सत्यरूप और भगवान्से उत्पन्न हुआ है, यह कहकर सिद्ध किया गया है कि मायावाद आदि मतवाले जो जगत्को विनाशशाली मानते हैं, वे '**असत्यम् अप्रतिष्ठं ते जगदाहुः अनीश्वरम्**' इस गीताके वचनानुसार असुर हैं. उन असुरोंके मतमें ही जगत् असत्य कहा जाता है. यदि यह सिद्धान्त असुरोंका न हो, शास्त्रीय हो तो उस असत् और अज्ञानका कार्य(जगत्) का भगवान्(ब्रह्म) कर्त्ता कैसे हो? अर्थात् असत् तथा अज्ञानरूप कार्यका कर्त्ता भगवान् नहीं होता है, यह जगत् सद्रूप है. अतः भगवान् इसका कारण (उत्पत्तिस्थान) कहा गया है. न केवल उत्पत्तिस्थान आप(ब्रह्म) हैं किन्तु अन्तमें इस जगत्का लयस्थान भी आप(ब्रह्म) हैं. एवं मध्यमें उसका पालक भी आप ही हो. जिसका उत्पत्ति, लय और पालक भी आप हो, यह कहनेका आशय यह है कि भगवान् जिसका रक्षक है, वह कदापि नष्ट नहीं होता है.

इस जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करनेवाले ब्रह्मा, विष्णु और महेश गुणाभिमानी देव हैं, मैं तो नहीं हूं. यदि भगवान् यों कह दें तो इसके उत्तरमें ब्रह्मादि देव कहते हैं कि आपकी मायासे जिनका चित्त संकुचित(सिकुड़ा हुआ, छोटा अल्प तथा अनुदार एवं ज्ञानरहित) हो गया है, वे आपको पृथक्-पृथक् (नाना) देखते हैं. जो विपश्चित(जिनका चित्त मायासे संकुचित नहीं हुवा है) है, वे नाना न देखकर सबको आपका ही रूप समझते हैं. छोटे चित्तवाले, वस्तुको छोटा(अल्प) ग्रहण करते हैं. उदार हृदयवाले पुष्कल वस्तु ग्रहण करते हैं. मायासे जिनका चित्त अल्प न हुवा है वे कैसे भगवान्को परिच्छिन्न समझेंगे? वे विपश्चित तो ब्रह्मादि देवोंको परस्पर विलक्षण देखते हुए भी उस कार्यके अनुरोधसे वैसे बने हुए आपको ही देखते हैं अर्थात् वे भी आप ही हो, नहीं कि वे दूसरे हैं, आप उनसे पृथक् अन्य हो. अतः गुणों करके भिन्न सृष्टिके मनुष्योंको अपने-अपने कार्यकी सिद्धिकेलिए ये[१] ही भगवद्रूप देव यथारुचि(जिसका प्रेम जिसमें हो) सेव्य है. इस प्रकार इस श्लोकमें(साधन) कहे हैं।।२८।।

१. गो.श्रीवल्लभलालजी आज्ञा करते हैं कि सुबोधिनीजीमें 'एते एव' ये ही भगवद्रूप मनुष्योंको सेव्य हैं. इस पदमें 'एव',(ही) कहकर दुर्गा, भैरव आदि देवोंका भजन दैवीजीवोंको नहीं करना चाहिये, इस आशयको व्यक्त(प्रकट) किया है.

आभास : प्रमाण, प्रमेय और साधन कहकर अब इस श्लोकमें फलका वर्णन करते हैं:

बिभर्षि रूपाण्यवबोध आत्मन् क्षेमाय लोकस्य चराचरस्य ।
सत्त्वोपपन्नानि सुखावहानि सतामभद्राणि मुहुः खलानाम्।।२९।।

श्लोकार्थ : हे ज्ञान स्वरूप आत्मन्! आप ही स्थावर तथा जंगम लोकोंके कल्याणार्थ, सत्त्वगुणवाले स्वरूपोंको बार-बार धारण करते हो. जो स्वरूप सत्पुरुषोंको सुखदायी और खलोंको दुःखदायी है।।२९।।

व्याख्यार्थ : हे प्रभु ! आप अपनी ज्ञानस्वरूप आत्मामें रूपोंको धारण करते हो. पूर्वमें कहे हुए प्रकारसे जो आपकी सेवा करते हैं, उन्हींके रूपोंको अपनी ज्ञानरूप आत्मामें धारण करते हो, अर्थात् उनको सायुज्य मुक्ति देते हो. अथवा, ज्ञानरूप आत्मामें शुद्ध आत्माकी सिद्धिकेलिए अवतारोंको लेते हो. जिससे, उन अवतारस्वरूपोंमें अपनी चिद्रूप आत्माको प्राप्त करते हैं. इसके सिवाय आपके अवतारोंको धारण करनेका दूसरा भी कारण है. वह कारण बताते हैं. चर और अचर प्राणियोंके कल्याणकेलिए भी आप अवतार लेते हो. 'चर' शब्दसे ब्राह्मण और 'अचर' शब्दसे क्षत्रिय, यह अर्थ न्यायवेत्ता[१] करते हैं. चर (चलनेवाले प्राणी मात्र), अचर(एक स्थान पर स्थित पृथ्वी आदि पदार्थ) समझने चाहिये. इससे समझा जाता है कि भगवान् ऐहिक(इस लोकमें सुखरूप फल) फल देनेकेलिए भी अवतार लेते हैं.

१. ''अत्ताचराचरग्रहणात्'' व्याससूत्रमें इस प्रकारका अर्थ किया गया है.

ब्रह्मादि देवता भी ईश्वर कोटिमें गिने जाते हैं, अतः उनका भी रजोगुण वा तमोगुणसे अवतार धारण करना सम्भव है. इसलिए उनके अवतारोंकी व्यावृत्ति(निवारण)केलिए देव कहते हैं, कि आपके अवतार सत्त्वोपपन्न (सत्त्वगुणसे युक्त) अवतार होते हैं. जैसे लोकानुसारी मत्स्य आदि आपके अवतार भी सत्त्वोपपन्न हैं. आधिदैविक ब्रह्मा तथा महादेवके अवतार भी सत्त्वोपपन्न होते हैं, कारण कि ब्रह्मा और महादेवके आधिदैविकरूप आप ही हो, अतः सत्त्वोपपन्न जो भी अवतार हैं वे आपके ही हैं. क्योंकि सत्य अवतार ही सुखदायी होते हैं. मूलश्लोकमें 'सतां' पद देनेका आशय यह है कि भगवान्के अवतार सत्पुरुषोंको सुख देनेकेलिए हैं. कारण कि दैत्य खल है, इसलिए

उनकेलिए तो आपके सब अवतार दुःखदायी हैं, यह जतानेकेलिए मूलमें 'मुहुः' शब्द दिया है. अतः यह शंका नहीं करनी कि भगवान् अवतार लेकर दैत्योंका भी कल्याण तो नहीं करेंगे? ।।२९।।

आभास : लौकिक प्रकारसे प्रमाण, प्रमेय, साधन और फल चारोंका वर्णनकर, अब स्मृतिप्रकारसे उन चारोंका चार श्लोकोंमें वर्णन करते हैं:

त्वय्यम्बुजाक्षाखिलसत्त्वधाम्नि समाधिनावेशितचेतसैके ।
त्वत्पादपोतेन महत्कृतेन कुर्वन्ति गोवत्सपदं भवाब्धिम्।।३०।।

श्लोकार्थ : हे कमल नयन ! सर्व जीवोंके निवास आप ही हो, अतः आपमें समाधि द्वारा अपने चित्तको स्थिरकर, महान् पुरुषोंकी सिद्ध की हुई, आपके चरणारविन्दरूप नौकाके आश्रयसे वे, संसाररूप समुद्रको, गौके बछडेके खुरके समान जलके गढ्ढे जैसा बना देते हैं।।३०।।

व्याख्यार्थ : स्मृतिओंमें जो योग कहा है, वह अनेक प्रकारका है, उनमेंसे जो योग, देवोंका हितकारी धर्मरूप है, उसका निरूपण करते हैं. हे कमल नयन ! भगवान्के इस नामसे यह बताया है कि आपके दर्शनसे ही पाप नष्ट हो जाते हैं. समग्र जीवोंके धामरूप(निवासस्थान) आपमें मनुष्य समाधि द्वारा चित्त स्थिरकर, आपके चरणरूप नौकाको साधन बनाकर, संसाररूप सागरको गौके बछड़ेके खुरके समान जलके गड्ढे जैसा बना देते हैं, जिससे यह सिद्ध हुआ कि योग द्वारा प्रत्यक्ष भगवान् संसारसे तारते हैं. जिस योगका तृतीय स्कन्धमें वर्णन किया गया है, वह सर्वात्मक तथा भगवत्सम्बन्धी है. उसको स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि आप समग्र जीवोंके धाम हो और समस्त सत्त्वगुणोंके आश्रय हो, वैसे आपमें, जिन्होंने समाधि द्वारा पूर्णरीतिसे अपना चित्त लगा दिया है, एवं आपके चरणरूप नौकाको साधन बनाया है, उन्होंने संसाररूप सागरको गौके बछड़ेके खुरके समान जलके गड्ढे जैसा कर दिया है. जिससे यह सिद्ध हुआ कि योग द्वारा प्रत्यक्ष भगवान् संसारसागरसे तारते है. समुद्रसे पार जानेका साधन नौका है. भगवान्के पृथ्वी, आकाश और अक्षररूप चरण भी संसारसागरसे पार जानेकेलिए पोत (नाव) है. सब जानते हैं कि यह भूमि सभीकेलिए नावरूप है, कारण कि नाव उसको कहते हैं जो अपने ऊपर बिठाकर जलमें डूबने न दे और आप जलके ऊपर तैरती रहे. इस प्रकार भूमि, जलके ऊपर स्वयं स्थिर हो, जनताको जलमें डूबने नहीं देती है, अतः जनताकेलिए वह पृथ्वी भगवान्का चरणरूप पोत मानी जाती

है. इसी प्रकार आकाश भी भगवान्का चरणरूप पोत है वह तारोंको जलमें डूबनेसे बचाकर तारता है. अक्षर भी तब चरणरूप होता है, जब भगवान् पुरुषरूपसे प्रकट होते है. समाधिमें भगवान् पुरुषरूपसे प्रकट होकर प्रत्यक्ष होते हैं, अतः उस समय भी अक्षररूप चरण, पोत होता है. इस प्रकार पृथ्वी, आकाश और अक्षर, ये तीनों ही भगवच्चरण संसारसे तारनेवाले होनेसे 'पोत' हैं.

समाधिमें कल्पितपुरुष, संसारके मध्यपाती होनेसे उसके चरण कैसे 'पोत' तारक बनेंगे? इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि 'महत्कृतेन'. भगवान्के चरणको महत्पुरुषोंने बनाया है. महान् पुरुष प्रत्येक पदार्थके साध्य(जिसको सिद्ध करना हो)-साधक(सिद्ध करनेवाला) भावको जानते हैं. समाधिमें भगवत्स्फूर्ति होनेसे वह चरण उस समय भी तारते हैं, यह अलौकिक सामर्थ्य है, जिसके आगे युक्तिका विरोध टिक नहीं सकता है. जैसे कि स्मृतिमें कहा है कि ''**अयं तु परमोधर्मो यत् योगेन आत्मदर्शनम्**''. योगद्वारा आत्माका दर्शन ही परम धर्म है. जिस प्रकार यज्ञादि अदृष्ट द्वारा स्वर्गके साधन है, वैसे ही यह भी होगा? इस शंकाका निवारण 'महत्कृतेन' पदसे किया है, जिसका आशय यह है कि भगवान्का चरण अदृष्ट बनाकर फल नहीं देता है किन्तु सीधा स्वयं पार उतारता है. यह महान् पुरुषोंने सिद्धकर बताया है कि यह पाद पोत महान् है अतः यह हृदय तथा संसारमें व्याप्त है. समाधि असाधारण साधन है. समाधिमें पाद पोतका आश्रयकर संसारसागरको गोवत्स पद जैसा बना देते हैं. इसका आशय यह है कि जिन्होंने भगवच्चरणका आश्रय लिया है, उनकेलिए यह संसार तुच्छ है. वे संसारमें रहते हुवे भी संसारसे लिप्त नहीं होते हैं क्योंकि उनकी दृष्टिमें संसार बछड़ेके खुरके समान जलका छोटा गढ्ढा है. योगसिद्ध हो जानेसे उनका संसार तो स्वयं शुष्क हो गया है. किन्तु योग आदिके निर्वाहकेलिए नाममात्र संसारको रखा है. वे महापुरुष हैं, अतः संसारको 'गोवत्सपद' पर केवल आप ही संसारसे पार होकर नहीं जाते हैं किन्तु अन्योंके उद्धारकेलिए आप तूष्णी होकर बैठते हैं इसलिए ही कहा है कि उन महापुरुषोंने संसारको 'गोवत्सपद' बना दिया है. इस श्लोकसे प्रमाणका वर्णन किया।।३०।।

आभास : उपरोक्त श्लोकमें वर्णित प्रमाणसे जिस प्रमेयकी सिद्धि होती है उस प्रमेयका वर्णन इस श्लोकमें करते हैं:

स्वयं समुत्तीर्य सुदुस्तरं द्युमन् भवार्णवं भीममदभ्रसौहृदाः ।

भवत्पदाम्भोरुहनावमत्र ते निधाय याताः सदनुग्रहो भवान्।।३१।।

श्लोकार्थ : हे स्वयं प्रकाशस्वरूप ! सफल सौहृदवाले महापुरुष अत्यन्त दुस्तर तथा भयानक भवसागरको स्वयं भलीभांति तैरकर, आपकी चरणरूपी नौकाको यहां ही छोड गए हैं. आप सत्पुरुषों पर अनुग्रह करनेवाले हो अतः आप कृपादृष्टिसे उनको तारो।।३१।।

व्याख्यार्थ : जो चरणोंका आश्रयकर संसारसे पार हो गये हैं, उनको तीर्ण कहा गया है. वे तो संसार सागरको वत्सपद समझकर स्वयं पार हो गये, जिससे पार हुए उस पादरूप नौकाको यहां धर गये हैं. अन्यथा इन संसारसागरका रूप तो सुदुस्तर(जिसको पार करना यों ही कठिन है) है किन्तु पुनः उसमें रहे हुए व्यसन, मृत्यु, जरा आदि अलौकिक साधनके सामर्थ्यके घातक होनेसे महा कठिन तथा भीम(भयानक) है. जैसे समुद्र यों ही पार करना कठिन है किन्तु मगरमच्छ आदिसे महा कठिन तथा भयानक है. सर्व सच्छास्त्र मोक्षका प्रतिपादन करते हैं, अतः मोक्ष(फलरूप होनेसे) प्रमेय है और भगवान्का चरणरूप भक्तिमार्ग सम्प्रदाय, मोक्ष(भगवत्प्राप्ति)का साधन होनेसे प्रमेय है. भगवान्को 'द्युमन्' सम्बोधन दिया है, जिसका भावार्थ है कि जैसे सूर्य स्वतः अन्धकारपूर्ण जगत्के अन्धेरे और भयको मिटाता है, वैसे आप प्रकाशरूप हैं, अतः आपके चरण तीनों प्रकारके दोषोंको निवारण करनेमें समर्थ हैं, जिससे आपके आश्रित भी आपके चरणोंके प्रसादसे संसारको पार कर गये हैं. जब वे पार हो गये तो अब अन्योंका उद्धार कैसे होगा वा कौन करेगा? जो स्वयं पार पहुंच गये उनको दूसरोंके उद्धारकी क्या चिन्ता है? इसके उत्तरमें कहते हैं कि वे दूसरोंके पार उतारनेका भी विचार करते हैं कारण कि उनका हृदय सुन्दर है और वे हृदयसे सबसे सौहार्द करते हैं, अतः उनका सौहार्द सफल इसलिए हुआ है. जब वे दूसरोंकेलिए भगवच्चरणरूप पोत, भक्तिमार्ग सम्प्रदायकी स्थापना कर गये है, जिससे सभीकेलिए, यह दुस्तर संसारसागर गोवत्स पद जैसा स्वल्प जलका गढ्ढा बन गया है.

वे स्वयं इस भक्तिमार्ग सम्प्रदाय द्वारा पार जाकर सिखा गये हैं कि आप भी इसका अनुसरण करोगे अर्थात् भगवान्के चरण, भक्तिसम्प्रदायको नाव बनाओगे तो सहज और सरलरीतिसे पार हो जाओगे. इसलिए श्लोकमें भगवान्के चरणको अम्भोरुह(कमल) कहा है. कमल कोमल ताप निवारक होता है, वैसे ही चरणरूप भक्ति-सम्प्रदाय भी है. वे तो इस प्रकारका भक्तिमार्ग

स्थापना कर गये, किन्तु अब उस भक्तिमार्गका उपदेश करनेवाले तो वैसे नहीं हैं, तो कैसे आजकलके जीव उस भक्तिमार्गसे पार पहुंचेंगे. इसके उत्तरमें श्लोकमें कहा है कि 'सदनुग्रहो भवान्'. हे प्रभु! आप सत्पुरुषों, जिन्होंने भक्तिमार्ग स्थापन किया है, उन पर सदैव अनुग्रह करते हो अर्थात् उनकी कानिसे जो भक्तिमार्गके अनुयायी होंगे उनको अपनी कृपाबलसे अवश्य तारोगे।।३१।।

आभास : इस 'येऽन्येऽरविन्दाक्ष' श्लोकमें महान् पुरुषोंने जिस प्रकारका उपदेश किया है, वह प्रकार ही साधन है. उसका वर्णन करते हुए इससे भिन्न प्रकारके साधनोंका निराकरण करते हैं:

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनः त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः ।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः।।३२।।

श्लोकार्थ : हे कमलनेत्र ! जो दूसरे लोग अपनेको ब्रह्म समझ आपकी भक्ति करनेसे विमुख होते हैं, जिससे उनकी बुद्धि भ्रष्ट(मलीन) हो जाती है, वे बहुत कष्टपूर्वक सत्कर्मोंके करनेसे उत्तम स्थानको प्राप्त हुए हैं, तो भी आपके चरणाश्रयरूप भक्तिका अनादर करनेसे उस स्थानसे भी नीचे गिरते हैं।।३२।।

व्याख्यार्थ : जो अन्य पुरुष निरीश्वर सांख्य तथा मायावादके अनुयायी होते हुए भी भगवान्की उपासना करते हैं, उसका कारण यह है कि उन्होंने पूर्व जन्ममें जो ज्ञान प्राप्त किया था, उस ज्ञानके फलस्वरूप अब भी उनमें सद्बुद्धि रही है. किन्तु वह ज्ञान विकर्म(शास्त्रोंमें जिन कर्मोंके करनेका निषेध है) सहित था, अतः उस ज्ञान द्वारा उनको जीव, आत्मस्वरूपसे जो स्फुरित होने लगा था, उस ज्ञानको वे निरीश्वर सांख्य और मायावादके संसर्गसे छोड़ देते हैं. यदि वे पूर्वकी भांति, जीवका आत्मस्वरूपसे अनुसन्धान करते रहते, तो भी कृतार्थ हो जाते. किन्तु इस प्रकार न रहना विकर्मोंका फल है अर्थात् जो विकर्म किये हैं, उनसे इनकी बुद्धि मलीन हो गई है, इससे उस ज्ञानको छोड़ दिया है. श्लोकमें कहे हुए 'कृच्छ्रेण परं पदं'का आशय स्पष्ट करते हैं कि, पूर्व ज्ञानसे उनके चार अध्यास(प्राण, देह, इन्द्रिय और अन्तःकरणको ही अपना रूप समझना) नाश हो गये और महान् कष्टसे इकट्ठे किये हुए धनका दानकर, सर्व बान्धवोंको छोड़के, सर्व सांसारिक सुखोंसे मुंह मोड़कर, तपस्या तथा श्रद्धासे ब्रह्मात्मभावनाको प्राप्त हुवे, यही उनका परमपद था. 'अन्ये' और 'अरविन्दाक्ष' दो पदोंका आशय प्रकट करते हुए आचार्यश्री आज्ञा करते हैं, कि दूसरे वे हैं जो कभी भी भगवत्सम्बन्धी

विचारमात्र नहीं करते हैं, ऐसे मनुष्योंको भगवान् अपना न समझकर पराया समझते हैं. और आप कमलनयन हैं, अतः जो अन्य हैं, वे असुरोंके पक्षपाती हैं, इसलिए उनको दर्शन नहीं देते हैं. दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि जैसे कमल रात्रिको विकसित नहीं होता है, यदि रात्रिको विकसित हो, तो रात्रिस्थ भी कमलकी गन्धका अनुभव करेंगे, किन्तु वे आमोद ग्रहण करनेके योग्य नहीं है, अतः रात्रिको कमल विकसित नहीं होता है. इसी प्रकार जो असुर या असुरपक्षपाती हैं वे दर्शनके योग्य नहीं है.

वे अन्य, पूर्ववासनाके कारण अपनेको विमुक्त मानते हैं, किन्तु वास्तविक विमुक्त नहीं हैं. केवल शास्त्रसे उत्पन्न ज्ञानसे अपनेको आत्मरूप मानते हैं, इस प्रकार माननेसे कोई लाभ नहीं है. अन्य विषयोंके समान इस प्रकारसे अपनेको विमुक्त आत्मा मान लेनेसे अभिमान ही उत्पन्न होता है. अतएव, इस प्रकार अभिमान हो जानेसे आपमें जो पहले भाव(प्रेम) था, जो साधनरूपसे किया जाता था, वह भी अस्त होकर बुद्धि मलीन हो जाती है. यदि बुद्धि मलीन न होवे तो अहंकारादि दोषोंसे अपना अन्तःकरण दूषित हो गया है, इसको वे विद्वान् होते हुए भी क्यों न समझ जावे कि हम कुमार्ग पर जा रहे हैं. उस कुमार्गको छोड़कर सुमार्ग पर आनेका प्रयत्न भी करें किन्तु वैसा नहीं करते हैं. इससे निश्चयसे जाना जाता है कि उनकी बुद्धि मलीन हो गई है. जब बुद्धि शुद्ध होती है, तब अपने दोष स्फुरित होते हैं. ज्ञानकी पूर्वावस्था तब समझनी चाहिये जब अपने दोष स्फुरायमान् होने लगे. अतः परिश्रमसे भी ब्रह्मभाव तक पहुंचकर आपके चरणारविन्दका अनादर करनेसे उस पदसे अवश्य गिरते हैं. जीव अथवा प्रकृतिको उच्च गति परकी प्राप्तिकेलिये, बिना आश्रयवाले मार्गमें भी भगवान्के चरणोंके आश्रयके सिवाय अन्य कोई आश्रय नहीं है. कारण कि वियद् (आकाश–जहां कोई आश्रय नहीं है) वहां भी आश्रय विष्णु पद है. भगवान्के चरणारविन्दके आश्रयसे ही जीवका ऊर्ध्वगमन होता है.

शृंखलद्वीपमें जो श्रीपाद पर आरोहण करता है वह शृंखलाका आश्रय लेता है, यदि उसको छोड़कर अपने बलसे चढ़ता है, तो उसका अधःपतन होता है. इसी प्रकार यहां भगवान्के चरणोंका आश्रय आवश्यक है. विशेष न कर सके, तो केवल चरणोंमें आदर रखे तो भी उसका पात नहीं होता है. चरणमें जीवका विश्वास तथा प्रेम आदरसे ही होता है, अतः चरणमें स्थितिका कारण आदर ही है।।३२।।

आभास : भक्तिमार्ग भी साधन है, अतः उसमें भी विकर्म करनेसे जब कालान्तरमें बुद्धिका नाश हो सकता है, तब अन्य मार्गोको दूषित करनेसे क्या ? इस शंकाके निवारणार्थ स्मार्त भगवन्मार्गमें स्थित मनुष्योंको जो फल मिलता है, उसका वर्णन इस श्लोकमें करते हैं:

तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद् भ्रश्यन्ति मार्गात् त्वयि बद्धसौहृदाः ।
त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो।।३३।।

श्लोकार्थ : हे माधव ! जो लोग आप ही में स्नेहवाले होनेसे आपके हो गए हैं, वे उनकी भांति जो अपने आपको ब्रह्म मानकर समझते हैं, कि हम मुक्त हैं, मार्गसे कभी भ्रष्ट नहीं होते हैं किन्तु आपसे रक्षित होनेसे निर्भय होकर बडे-बडे अनेक विघ्नोंके सिर पर पैर धरके फिरते रहते हैं।।३३।।

व्याख्यार्थ : हे माधव ! वे आपके भक्त, जिन्होंने पूर्वकालमें ज्ञानियोंकी भांति अनेक सत्कर्म आदि किये हैं, जिनसे आपने उनको अपने बना लिये हैं, अतः वे भक्त आरोहण अवस्था(ऊपर चढ़नेकी साधनावस्था)में भी गिरते नहीं है. प्रमाद होने पर भी एक पांव भी नीचे नहीं गिरते हैं. अपने ही मार्ग पर स्थिर रहते हैं, कारण कि यह भक्तिमार्ग ही ऐसी विशेषतावाला है. जो मनुष्य जैसी वस्तु अपने पास रखता है, उसको वैसा ही लाभ होता है. जैसे अत्तर(फुलेल) बेचने वालेको अनायास सुगन्धि मिल ही जाती है, तथा जो लहसुन बेचनेवाला है, उसको निरुपाय दुर्गन्धि लेनी ही पड़ती है, उससे वह अपनेको बचा नहीं सकता है. यद्यपि जिसको आपने अपना लिया है, उसने स्वतन्त्र आपकी सेवा नहीं की है, तो भी उसका पात नहीं होता है, कारण कि उसको अपनानेवाला ऐश्वर्यादि षड्गुणयुक्त आप भगवान् हैं. श्लोकमें भगवान्का माधव नाम देनेका भाव बताते हैं कि भगवान् रात्रिमें उन तत्रत्य भक्तोंको विलासपूर्वक दर्शन देते हैं. इससे यह दिखाया कि दोनों विकर्मकी तुल्यता होने पर भी इन भक्तोंको भगवद्दर्शन होता है, अन्योंको नहीं, कारण कि ये भगवान्की सेवा करनेवाले, सेवक होनेसे भगवान्के हैं. वे भ्रष्ट नहीं होते हैं, जिसका कारण यह है कि आप भगवान्में उनका सौहार्द(स्नेह) है. स्नेह रज्जूके समान होता है. जैसे रज्जू दूसरेको बान्धते हुए आप भी बद्ध हो जाती है, वैसे स्नेह भी जीवको तथा अपनेको भगवान्के चरणोंमें बद्ध कर देता है. अतः उन स्नेही सेवकोंका न गिरना, योग्य ही है. शंका करते हैं कि कालादिक उनको भ्रष्ट क्यों नहीं करते अथवा उनकी भक्तिका नाश

क्यों नहीं कर देते हैं? इस शंका निवारणकेलिए कहते हैं कि उनकी रक्षा आप कर रहे हैं, अतः वे निर्भय फिरते हैं. साधारण प्रकारसे उनकी रक्षा नहीं करते हैं, किन्तु पूर्णरीतिसे करते हैं, जिससे बाहिर-भीतर सर्वत्र रक्षा होनेसे उनकी बुद्धिका नाश नहीं होता है और न उनमें कोई दोष भीतर जा सकता है, जिससे वे भ्रष्ट हो सके. अतः कालादिकोंका भय न होनेसे तथा कहीं भी निन्दा न होनेसे वे सर्वत्र निर्भय फिरते रहते हैं. इतना ही नहीं, किन्तु आपसे रक्षित होनेके कारण, जहां दूसरोंको विघ्नोंके कारण भय होता है और दूसरे विघ्नोंके भयसे, जिस स्थानको छोड़ देना चाहते हैं, वहां ये, उन विघ्न करनेवाली सेनापतियोंके शिर पर पैर धरकर निर्भय होकर घूमते हैं, क्योंकि विघ्नकर्ताओंकी सारी सेना विघ्न करनेकेलिये आकर भी कुछ कर नहीं सकती है. कारण कि आपके सुदर्शनचक्र आदिके भयसे उनका स्पर्श तक न करके दूर ही खड़ी रहती है. प्रह्लादके चरित्रसे इसका प्रमाण मिलता है. भगवद्भक्त ऊपर चड़नेकेलिए विघ्नोंके शिरको सीढ़ी बनाते हैं. वे विघ्नकर्ता तो इन भक्तोंको नीचे गिरा नहीं सकते हैं, अतः वे विघ्नकर्ता, भक्तोंकी प्रतिष्ठाकेलिए कारण बन जाते हैं. जैसे जड़भरतको मारने लगे, किन्तु उनको मार न सके जिससे जड़भरतकी प्रतिष्ठा ही बढ़ी.

विघ्नकर्ताओंके मस्तक, परमकाष्ठापन्न(ऊंची पदवी पर पहुंचे हुवे) तथा सर्व सामर्थ्यवाले होनेसे वे आपके बल पर ही सबके पास जा सकते हैं, किन्तु समर्थ होते हुए भी भक्तोंसे द्वेष नहीं करते हैं क्योंकि वहां उनका सामर्थ्य स्तब्ध हो जाता है, इससे सिद्ध होता है कि भक्तिमार्गके साधन और फलसे कोई भी अन्य मार्ग उत्तम नहीं है।।३३।।

आभास : उपरोक्त श्लोकोंमें स्मृतिमार्गसे भगवत्पक्षपात कहकर, अब वैदिकमार्गसे भगवत्पक्षपातका ४ श्लोकोंमें प्रमाण, प्रमेय, साधन और फलके भेदसे वर्णन करते हैं:

सत्त्वं विशुद्धं श्रयते भवान् स्थितौ शरीरिणां श्रेय उपायनं वपुः ।
वेदक्रियायोगतपः समाधिभिस्तवार्हणं येन जनः समीहते।।३४।।

श्लोकार्थ : आप जगत्के पालन समयमें जीवोंको शुभ कर्मोका फलरूप उपहार देनेकेलिए सत्त्वगुणमयशरीर धारण करते हो, जिससे मनुष्य, वेदमें कही हुई क्रिया, योग, तप और समाधीसे आपकी सेवा कर सकते हैं।।३४।।

व्याख्यार्थ : प्रवृत्ति तथा निवृत्तिमार्गके प्रतिपादनके कारण वेद दो

प्रकारका कहा जाता है. पुनः प्रवृत्ति और निवृत्तिमार्गके दो-दो भेद हैं. जिनके अधिकारी भी भिन्न-भिन्न होते हैं. अतः वे, दो भी पुनः दो-दो प्रकारके हो जाते हैं. उनमेंसे प्रथम प्रवृत्तिमार्गके धर्म, ब्रह्मचारी तथा गृहस्थीके अधिकारानुसार अर्थविबोध, अध्ययन(वेदादि शास्त्रोंका पढ़ना) और अनुष्ठान(वेदमें कहे हुए धर्मोंका पालन) सिद्ध है. द्वितीय, निवृत्तिमार्गके धर्म, वानप्रस्थी तथा संन्यासीके अधिकारानुसार तपस्या और आत्माका अनुसन्धान निवृत्तिके समय क्रमसे करनेकेलिये कहे गये हैं.

इस प्रकार चारों आश्रमोंके मनुष्योंकेलिए वेदानुसार इन धर्मोंका आचरण करनेकेलिये कहा है. अतः जिनमें दैत्यांश है, वे भी इन धर्मोंको करने लगेंगे. इसलिये सत्त्वमूर्ति भगवान् अपना सत्त्व प्रकटकर, सात्त्विक (दैवी) जीवोंको ही उन धर्मोंके करनेकेलिये प्रेरणा करते हैं, तथा अन्यों(आसुरी दैत्यांशवालों)को वहांसे हटा लेते हैं. जो इस प्रकार भगवान्की प्रेरणा नहीं होवे तो आश्रमस्थितोंमें भी, कोई शास्त्रार्थानुसार वेदाध्ययन करते हैं, तथा कोई नहीं करते हैं, इस भांतिकी व्यवस्था नहीं होती. वैदिकधर्मोंका प्रचार उनके पालन करनेसे ही जगत्में होता है. अतः जगत्की स्थितिसमयमें जगत्की स्थितिकेलिये जब आप विशेषेण शुद्ध सत्त्वरूप धारण करते हो, तब लोकमें फैले हुए आश्रम धर्म, क्रमपूर्वक वेदाध्ययन,क्रियायोग,कर्मानुष्ठान,तपस्या,वनवास और समाधि (आत्मामें स्थिति). इन चार प्रकारके धर्मोंका जीव सम्यक् प्रकारसे सेवन करते हैं. अनन्तर इन धर्मोंके पालनसे शुद्ध अन्तःकरण होने पर आपकी सेवा कर सकते हैं. शुद्ध जीव ही भगवत्सेवा करनेके योग्य हैं.

वेदसे ही जब कार्यकी सिद्धि हो सकती है, तब सत्त्वगुणकी क्या आवश्यकता है? इस शंकाके निराकरणकेलिए श्लोकमें 'जीवाः' न कहकर 'शरीरिणः' कहा है, जिसका आशय यह है कि जीव जब तक 'शरीराभिमानी' है, तब तक वेदाज्ञाका पालन नहीं कर सकता है क्योंकि अभिमान रजो एवं तमोगुणसे होता है, जिससे बुद्धि भी अन्यथा होती है. अतः उन शरीराभिमानी जीवोंके रजो तथा तमोगुणको दबाकर उनमें सत्त्वगुणका आविर्भाव भगवान् आप अवतार द्वारा नहीं करते हो, तबतक आश्रम धर्मोंका पालन नहीं हो सकता है, जिससे जगत्की स्थिति भी डावांडोल हो जाती है, इसलिए वेदोंके विद्यमान् होते हुए भी सत्त्वगुणकी आवश्यकता है. अथवा यदि कोई वेदसे अतिरिक्त, चेतन फलदाता

न होवे, तो प्रथम प्रवृत्त विसंवादीको(अवैदिक) देखकर, प्राय: जनता वैदिक कर्मोमें प्रवृत्त नहीं होगी, अतः वेदसे कार्यकी सिद्धि नहीं होनेसे, श्रेय करनेवाले सत्त्वगुणावतारकी वैदिकपदार्थ तथा क्रियाके ज्ञान उत्पन्न करनेकेलिए आवश्यकता है.

वेदसे सिद्धि न हो तो भी अदृष्ट द्वारा या भूतसंस्कार द्वारा कार्यकी सिद्धि हो जायगी तदपि सत्त्वमूर्तिकी आवश्यकता नहीं है. इस प्रकारकी शंकाको इस भांति मिटाते हैं कि अदृष्ट और भूतसंस्कार तब बनते हैं, जब जीवको देहसे भिन्न समझा जाय. वे तो शरीरको ही अपना रूप समझते हैं, इसलिए उनका प्रारब्ध नहीं बनता है और प्रारब्धके न होनेसे भूतसंस्कार भी नहीं बनते हैं, दोनोंके अभावमें फलदाता भगवान्की अपेक्षा रहती ही है. भगवान् ही फलदाता है, इसको सिद्ध करनेकेलिए श्लोकमें 'श्रेयः उपायनम्' और 'वपुः' शब्द दिये हैं. जिनका भावार्थ है कि भगवान् स्वयं सत्त्वमूर्ति धारणकर, कल्याणकारी उपहार आकर भेंट करते हैं. दैवगतिसे(प्रारब्ध आदि) फलकी सिद्धि नहीं होती है, किन्तु भगवान्ने कृपाकर प्रकट होके यह सत्त्वबुद्धि उपहारमें दी है.

दुर्जन-संतोषसे[१] मानी जाय कि, दैवगतिसे फलकी सिद्धि हो भी जाय तो भी वह सिद्धि भगवद्भजनमें साधनभूत सहायक न हुई तो उस सिद्धिका फल नाशवान् होगा और पूर्वदोषोंकी निवृत्ति भी नहीं होगी. अतः वैदिकमार्गमें सर्वधर्म प्रवर्त्तक भगवान् ही है. इससे देवोंके पक्षका पोषक है. श्लोकमें 'जन' शब्द एक वचन, जातिके अभिप्रायसे दिया गया है और वह दुर्लभत्व बतानेकेलिए है।।३४।।

१.दुर्जन अर्थात् आग्रहीको प्रसन्न करनेकेलिए उसकी बात थोड़े समयकेलिए मान लेनेको 'दुर्जनसंतोष' कहते हैं.

आभास : जिन ब्रह्मचारियों और गृहस्थीयोंकी आत्मविवेक(आत्मके स्वरूपका ज्ञान) नहीं है, उन्हींकों श्रेयदानार्थ(सत्त्व प्रकटकर, आत्मस्वरूपका ज्ञान देनेकेलिए अथवा मोक्ष देनेकेलिए) सत्त्वगुणरूप अवतार लेनेकी चाहे आवश्यकता हो किन्तु ज्ञान तो सिद्ध फलका दाता है, यदि फलकी सिद्धि न भी हुई हो तो भी ज्ञान साक्षात् फलजनक होनेसे, उस ज्ञानके वा उसके साधन अथवा तपस्याकेलिए भगवान्के सत्त्वशरीर धारण करनेकी आवश्यकता नहीं है. यदि कोई इस प्रकार पूर्वपक्ष शंका करे तो उसके उत्तरमें यह श्लोक कहते हैं:

सत्त्वं न चेद् धातरिदं निजं भवेद् विज्ञानमज्ञानभिदापमार्जनम् ।
गुणप्रकाशैरनुमीयते भवान् प्रकाशते यस्य च येन वा गुणः।।३५।।

श्लोकार्थ : हे धात ! यदि आप सत्त्वगुणमय वपुको धारण नहीं करो तो अज्ञानका नाश करनेवाले विज्ञानकी भी स्थिति न हो. गुणोंके प्रकाशसे ही हम आपका अनुमान कर सकते हैं कि जिसका और जिससे गुणोंका प्रकाश होता है।।३५।।

व्याख्यार्थ : यदि सर्वरक्षक और सर्वकर्मफलदाता आपका यह शुद्ध स्वरूप न हो तो विज्ञान भी न होवे. कारण कि शास्त्र कहते हैं कि "**सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानं**", सत्त्वगुणसे ज्ञान उत्पन्न होता है. यदि सत्त्वगुण नहीं हो तो ज्ञानकी उत्पत्ति भी नहीं हो. यदि कहो कि शास्त्रोंसे ज्ञान प्राप्त कर लेंगे, तो वह भी नहीं हो सकता है. कारण कि शास्त्र पढ़नेसे वा उनके अर्थके मनन करनेसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह शास्त्रका धर्म होनेसे उस वक्त तक ही रहता है क्योंकि वह ज्ञान पराया होनेसे टिकता नहीं है. यह ज्ञान जो सत्त्वगुण वपुधारीसे दानरूपमें प्राप्त होता है, वह अपना होनेसे स्थिर रहता है, अतः इस ज्ञानसे सिद्धि होती है. शास्त्र, मूलभूत सतोगुणको प्रकट नहीं कर सकते हैं. कारण कि शास्त्र, कर्ता नहीं है. इसको सिद्ध करनेकेलिए भगवान्को 'हे धात!' नामसे सम्बोधन किया है, आप रक्षक हो, जिससे आपका स्थापित किया हुआ सतोगुण सदैव रहकर ज्ञानको प्रकट करता है, जिससे क्रमशः विज्ञान(अनुभव) भी होता है. विज्ञान सत्त्वगुणयुक्त अन्तःकरणमें होता है. ज्यों-ज्यों ज्ञान द्वारा जीव निष्काम बनता जाता है, त्यों-त्यों उसको विज्ञानकी प्राप्ति होती है. जैसे जगत्में अन्न उत्पन्न हो गया हो तो क्षुधा होते ही अन्न लाना सरल होता है, न कि भूख लगनेके बाद अन्न उत्पन्न करनेका प्रयत्न किया जाय, जो यत्न व्यर्थ है. अतः भगवान् द्वारा सत्त्वका आविर्भाव होनेसे उनकी कृपासे उनके साथ सत्त्व भी हृदयमें प्रवेश करता है, अन्य प्रकारसे सत्त्व, हृदयमें सदैवकेलिए नहीं आता है.

यदि इस प्रकार सत्त्व प्राप्त न हो तो शास्त्रसे प्राप्त करेंगे. इस शंकाको 'अज्ञानभिदापमार्जनम्' विशेषण देकर निवारण करते हैं. विज्ञानके दो प्रकार हैं, एक प्रकार, जो अज्ञानका नाशकर, आत्माका अनुभव कराता है, वह आत्म-विज्ञान है. दूसरा प्रकार जो आत्मा और परमात्माके भेदको मिटाता है, उसको भगवद्विज्ञान कहते हैं. जब इस प्रकार जीव और परमात्माके स्वरूपका

साक्षात्कार होता है, तब देहादिकोंमें जो अध्यास[१] है, वह नष्ट हो जाता है और सर्वत्र शुद्ध अद्वैत स्फुरित होता है. वह ज्ञान, विषय तथा विषयीभावसे नहीं होता है, कारण कि विषय और विषयीभाव द्वैत तक रहता है, अद्वैतमें वह भाव नहीं होता है. विषय-विषयीभाव पुरुषार्थको सिद्ध नहीं करता है, यह पूर्वमें कह दिया है. भगवान् वा आत्मस्वरूपका आविर्भाव शुद्ध सत्त्वगुणके सिवाय नहीं होता है. यदि ज्ञानमें सत्त्वगुणकी अपेक्षा है, तो तपस्यामें भी सत्त्वगुणकी अपेक्षा होनी चाहिए. अतः उसका पृथक् निरूपण नहीं किया गया है.

१. जीव अपनेको ब्रह्मका अंशस्वरूप न समझ, देहप्राणादिको अपना रूप समझता है.

श्लोकोंमें जो पदोंकी व्यवस्था अर्थात् अन्वय किया जाता है, वह अर्थके अनुकूल किया जाता है. अतः यहां अर्थानुकूल अन्वय इस प्रकार करना चाहिये. अन्योंने जिस प्रकार अन्वय किया है, वह प्रसंगानुकूल युक्त नहीं है.

श्लोकके प्रथम आधेका अन्वय:

''हे धातः! इदं निजं सत्त्वं यदि न भवेत्, अज्ञानभिदापमार्जनं विज्ञानं (अपि) न भवेत्'' अर्थ- हे धातः ! यह अपना सत्त्व न हो तो अज्ञानके भेदको नष्ट करनेवाला विज्ञान भी उत्पन्न न होवे. इस प्रकार अन्वय करनेसे अर्थ स्पष्ट हो जाता है.

यह सत्त्वगुण स्वयं तो ज्ञानरूप नहीं है. अतः इसका उपयोग ज्ञानके साधनके रूपमें किया जाता है. तब अन्य प्रकारसे ही भगवान्का और आत्मा (जीव)का आविर्भाव हो जाय, तो सत्त्वकी क्या आवश्यकता है? इन्द्रियोंका प्रकाश लोकदृष्टिसे भी देखा जाय तो अपने कारणरूप भगवान्के प्रकाशका ही आक्षेप(अनुसरण) करता है. वहां ज्ञानमार्गमें प्रवृत्ति करानेवाले भगवान् और भगवत्रूप होनेका अभिमान करनेवाले जीव, दोनोंका प्रकाश अवश्यम्भावी है. अतः अपने कारणरूप, भगवान्के अनुसन्धान करनेसे विक्षेप करनेवाले मलकी निवृत्ति हो जायेगी, जिससे आत्मा(जीव) और परमात्मा, दोनोंका प्रकाश हो जायेगा. अतः सत्त्वकी कोई आवश्यकता नहीं है. यदि इस प्रकार शंका की जाय तो उसका उत्तर देते हैं कि ''**गुणप्रकाशैः अनुमीयते भवान्**'', गुणके प्रकाशसे अर्थात् इन्द्रियोंके विषयज्ञानसे केवल अनुमान किया जाता है कि आप प्रेरक और जीव गुणाभिमानी है. इस अनुमितिसे(अनुमानज्ञान) उन दोनोंकी सत्ताका ज्ञान होता है, न कि उनके स्वरूपोंका प्रकाश होता है. यदि स्वरूपका प्रकाश हो तो

उस समय यह मालूम हो जाय कि यह तो भगवान् है और यह मैं हूं, वह तो होता नहीं है. यह क्यों नहीं होता है? वहां कहते हैं कि वह(परमात्मा) आविर्भूत् न होकर ही कार्य करते हैं. आविर्भाव तो कौन कर सकता है? यदि कहा जाय कि स्वरूपसत्तासे ही आविर्भाव हो जायगा, इस पर कहते हैं कि प्रकृतमें(पूर्वमें कहे हुए प्रकारसे परोक्षके अनुभवमें) स्वरूपकी सत्ता अथवा कार्यकारण प्रयोजक (प्रेरक–काममें लगानेवाले) नहीं है. आविर्भाव तो सत्त्वगुणके आधीन(आश्रित) है. भगवान्का प्रकाश तो कार्य(गुणोंके) प्रकाशके सिवाय भी होता है. यदि इस प्रकार न हो तो यों कहो कि गुणोंका प्रकाश भी नहीं होगा. कारण कि जिसके सम्बन्धवाला गुण, प्रकाशमें आता है और जिससे गुणका प्रकाश होता है, इस प्रकार अर्थ करनेसे सर्व स्पष्ट हो जायगा. यहां सम्बन्धी वा करण(साधन)के प्रकाशकी अपेक्षा नहीं है. अतः प्रकाशकेलिए सत्त्वगुणकी आवश्यकता है ही. जैसे सूर्यकी सत्ता हो तो भी, वह सत्तावाला सूर्य, वस्तुका प्रकाश नहीं कर सकता है. इसका प्रत्यक्ष ज्ञान, ग्रहणके समयमें होता है, उस समय सूर्यकी सत्ता है किन्तु वह, केवल सत्ता वस्तुको दिखा नहीं सकती है. ग्रहणके अभावमें जब प्रकाश युक्त सूर्य होता है, तब वह वस्तुको दिखा सकता है. इसी भांति यहां भी प्रकाश विशिष्ट सत्तासे ही कार्य सिद्धि होती है, अतः प्रकाशार्थ भगवद्पुरुष सत्त्वगुणकी आवश्यकता है, क्योंकि उसके बिना उत्तमाश्रमीके हृदयमें भी स्वरूपका प्रकाश नहीं होता है. इस प्रकार इस वैदिकमार्गमें, जीवस्वरूप, प्रकाश तथा शुद्धाद्वैत प्रकाश, प्रमेय कहा गया है ।।३५।।

आभास : उपरोक्त श्लोकमें वैदिकप्रमाण तथा प्रमेयका भगवद्रूपसे विचारकर, अब इस श्लोकमें साधनका विचार करते हैं:

न नामरूपे गुणकर्मजन्मभिर्निरूपितव्ये तव तस्य साक्षिणः ।
मनोवचोभ्यामनुमेयवर्त्मनो देव क्रियायां प्रतियन्त्यथापि हि।।३६।।

श्लोकार्थ : उन साक्षीस्वरूप आपके मार्गका केवल अनुमान होता है, कारण कि आपके नाम और रूप, मन तथा वचनके अगोचर है. अतः गुण, कर्म, और जन्म निरूपण नहीं किये जा सकते हैं, तो भी क्रियामें आपकी प्रतीति उपासकोंको होती है।।३६।।

व्याख्यार्थ : वैदिकमार्गके अनुसार समस्त पुरुषार्थोंकेलिए भगवान् ही साधन है. वह(साधनरूप भगवान्) गुणातीत है, कारण कि वेदमें गुणातीत

भगवान्का वर्णन है. किन्तु उस निर्गुण भगवान्ने देवपक्षपातकेलिए तथा फलदान करनेलिए गुणविशिष्ट स्वरूप धारण किया है, जिससे वह सगुण भगवान् यहां साधनरूप है. इस प्रकार यदि कहा जाय कि सगुण भगवान् साधनरूप है, तो उस सिद्धान्त(पक्ष)का निराकरण करते हुए कहते हैं कि आपके नाम तथा रूप, गुण कर्म और जन्मके कारण नहीं बनते हैं. कारण कि आप भगवान् तो साक्षी, सर्व कर्मोंके फलदाता तथा कर्माध्यक्ष हो, वह ही साधनरूप हो. गुणोंसे जो कर्म वा जन्म होते हैं, वे आपके नहीं होते हैं, किन्तु सद्रूप क्रियाशक्ति द्वारा धर्मरूपसे जो आपका प्राकट्य है, वे ही नाम हैं. तथा आनन्दरूपसे जो प्राकट्य है, वे ही आपके जन्म हैं. इन्हींसे ही आपके नाम तथा जन्म है. यदि वैसे आपके नाम तथा जन्म न होवे तो प्राकृत होने पर कोई भी, पुरुषार्थ उन प्राकृत नामरूपोंसे सिद्ध न होगा.

इस प्रकार भगवान्के नाम और रूप कल्पान्तरमें भले माने जायें, किन्तु शास्त्रमें साधनरूपसे, निरूपण नहीं करने चाहिये. जो इसी तरह मान लिया जाय, तो भगवान्में जो फलदातृत्व है वह भी रहेगा नहीं. कारण कि प्राकृत नामरूपवाले, फलदाता नहीं हो सकते हैं. पुनः जो सगुण माना जाय, तो वह मन एवं वाणीसे व्याप्य(मन और वाणीका विषय) होनेसे, मानसिक और वाचनिक फल ही दे सकेंगे. भगवान् तो मन और वाणीसे तथा जिनके मार्गका केवल अनुमान ही कर सकते हैं, वैसे हैं, न कि प्रत्यक्ष विषय हैं. क्योंकि ''**यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह**'', ''**पराञ्चि खानि व्यतृणोत् स्वयम्भूः**''. इत्यादि श्रुतियोंमें कहा है, कि मन सहित इन्द्रियां वहां न पहुंचकर, लौट आती है, उस स्वयम्भूको इन्द्रियां प्राप्त नहीं कर सकती हैं. तो उसके नामरूप नहीं है. यदि यों कहो तो उसके उत्तरमें श्लोकमें कहा है कि ''**देव क्रियायां प्रतियमन्त्यथापि हीति**''. हे देव! यद्यपि आपके नामरूप इन्द्रियोंसे नहीं जाने जाते हैं, तो भी क्रियासे इनकी प्रतीति होती है, जिसका प्रमाण भी शास्त्र ही है. जैसे कि कहा है ''**विष्णोर्नु कम्**'' विष्णुके वीर्य(पराक्रम) कहते हैं. ''**तदस्य प्रियम्**'', वह (इसका प्रिय). ''**इदं विष्णुर्विचक्रमे**'' विष्णुने यह विश्व, तीन पादोंमें नाप लिया. षडक्षरादि राम आदि मन्त्र तथा जिस देवताकेलिए हवि अर्पण करनेकेलिए ग्रहण की है, उसका ध्यान करो. इत्यादि क्रियाएं तब हो सकती हैं, जब आपके नाम और रूप हो. यदि नाम व रूप न हो तो ध्यान तथा मन्त्र भी न होवे. 'हि' शब्दसे निश्चय पूर्वक यह उत्पत्ति होती है कि, ये आपके नाम और रूप प्राकृत नहीं है किन्तु आनन्दमय

(अलौकिक) है. अतः वे(आनन्दमय नाम तथा रूप) सर्व पुरुषार्थोंके साधक(सिद्ध करनेवाले) हैं. ऐसा निरूपण किया गया है।।३६।।

आभास : उपरोक्त श्लोकमें भगवान्के नामों व रूपोंके स्वरूपका वर्णन किया है कि वे नाम और रूप नित्य तथा आनन्दमय हैं, अब इस श्लोकमें उनके लेने और ध्यान करनेसे जो फल मिलता है, उसका वर्णन करते हैं:

श्रृण्वन् गृणन् संस्मरयंश्च चिन्तयन् नामानि रूपाणि च मङ्गलानि ते ।
क्रियासु युष्मच्चरणारविन्दयोराविष्टचित्तो न भवाय कल्पते।।३७।।

श्लोकार्थ : आपके मंगलरूप नाम और रूपोंको स्मरण करते हुए, सुनते हुए, कहते हुए और चिन्तन करते हुए जो पुरुष देवार्चनादि क्रियाओंके करनेके समय आपके चरणारविन्दमें ही चित्त स्थिर रखते हैं. उनका कभी भी पुनर्जन्म नहीं होता है।।३७।।

स्मरणेन क्रियाः पूर्णाश्चित्तावेशश्च तत्र हि ।
ज्ञानक्रिये यदा विष्णुस्तदा मोक्षो न संशयः।।कारि.१।।

कारिकार्थ : भगवान्के स्मरणसे क्रियाओंमें पूर्णता आती है और भगवान्में चित्त प्रविष्ट हो जाता है. ज्ञान और क्रिया दोनों, जब विष्णुरूप हो जाती है, तब मोक्ष होता है, इसमें किसी प्रकारका संशय नहीं है।।१।।

व्याख्यार्थ : कारिकामें केवल स्मरण कहा गया है, किन्तु इस स्मरण शब्दसे श्रवण, स्मरण, चिन्तन और कहना ये चार ही समझने. अर्थात् इन चारों प्रकारसे भगवत् चिन्तनादि करनेसे भक्तके हृदयमें क्रियारूप भगवान्का आविर्भाव होता है. जब क्रियारूप भगवान्का हृदयमें आविर्भाव होता है, तब उस आविर्भावसे भक्तका चित्त उनके चरणारविन्दमें प्रविष्ट होता है, जिससे ज्ञानशक्तिरूप भगवान्का ही हृदयमें आविर्भाव होता है. इस प्रकार जब साधककी क्रिया तथा ज्ञानशक्ति विष्णुरूप हो जाती है, तब मोक्ष होता है. इसमें संशय नहीं करना चाहिए ।।१।।

व्याख्यार्थ : स्मृतिशास्त्र, इस श्लोक द्वारा कहता है कि ''**यस्य स्मृत्या च नामोक्त्या तपो यज्ञक्रियादिषु, न्यूनं सम्पूर्णतां याति सद्यो वन्दे तमच्युतम्**'' वैदिक कर्म, जब अंगो सहित पूर्ण किये जाते हैं, तब वे फल देते हैं. यदि उनमें कुछ त्रुटि रह जाय, तो फल नहीं देते हैं. अतः उस त्रुटिकी उसी क्षणमें ही पूर्ति करनेकेलिए स्मृतिकारने कहा है कि ''तपस्या, यज्ञादि क्रियाओंमें रही हुई त्रुटिकी पूर्ति, जिन

अच्युत भगवानकी स्मृतिसे और नाम लेनेसे हो जाती है. उस अच्युत भगवान्को मैं नमस्कार करता हूं''. इस श्लोकसे यह बताया गया है कि किसी भी वैदिक आदि क्रियाओंकी त्रुटिकी पूर्तिकेलिए कर्म करनेवालेको कर्म करनेके अन्तमें भगवत्स्मरण और नाम लेना चाहिए, जिससे वह कर्म सांगपूर्ण होकर फलदाता हो जाय. वह फल मोक्ष ही है. आचार्यश्री कहते हैं कि हमने निबन्धमें स्वर्गपदका विश्लेषण करते हुए यह समझा दिया है कि 'स्वर्ग' शब्दका भावार्थ सुख अर्थात् मोक्ष है. उसे ही यहां भी कहा है.

जब दूसरे भक्त भगवान्के नामोंका उच्चारण करते हैं, तथा उनके गुण व रूपोंका कीर्तन करते हैं, तो उनको(दोनों प्रकारोंको) सुनकर जो आप भी उसी भांति बोलते हैं और स्मरण करते हैं, तो वह स्मरण भी ध्यानरूपसे करना चाहिए. इसलिए श्लोकमें 'स्मरण' न कहकर 'संस्मरणं' कहा है. श्लोकमें कहे हुए 'च'का आशय है कि केवल स्वयं न लेकर अन्योंको भी स्मरण करावे तथा उपदेशादि दानसे अर्थात् उसका भाव बताते हुए दूसरोंको सुनावे और हो सकें तो उन्होंसे नामध्वनि करावे.

'स्मरण' तथा 'चिन्तन'में क्या भेद है? उसको समझाते हैं कि सांसारिक विषयोंसे रोके हुए चित्तसे नामका जप करना ध्यान है, जिस ढंगसे चित्तको किसी प्रकारका प्रयत्न न करना पड़े, उस प्रकारसे अर्थात् बिना प्रयत्नके नाम लेनेको 'स्मरण' कहते हैं. प्रयत्नसे नाम स्मरणमें चित्त लगानेको चिन्तन कहते हैं. उसी चिन्तनके समयमें स्मरण करते हुए यदि भगवद्रूपकी भी कल्पना की जावे तो वह 'ध्यान' है. श्लोकके दूसरे 'च'का यह आशय है कि यदि भगवान्से सम्बन्ध रखनेवाले अन्य विषयोंका श्रवण किया जाय तो उनसे भी फल सिद्धि होती है. यदि फलसिद्धिकी इच्छा होते हुए भी फलसिद्धि न हो तो क्या उसकेलिए कोई दूसरा उपाय करना चाहिये? ऐसी शंका ही किसीको मनमें नहीं लानी चाहिए क्योंकि भगवान्के नाम, रूप और गुण तथा उनसे सम्बन्ध रखनेवाले सब पदार्थ, आपके(भगवान्के) मंगलरूप हैं. अतः उनसे सिद्धिको प्राप्तिमें प्रतिबन्ध हो ही नहीं सकता है. क्योंकि आपकी क्रियाएं(यज्ञादि भगवत्सेवा अथवा लौकिकवत् क्रियाएं सब) मङ्गलरूप होनेसे बिना प्रतिबन्धके सिद्धि देनेवाली हैं.

जिसका चित्त आपके चरणारविन्दमें पूर्णरीतिसे प्रवेश कर गया है, वह कदापि संसारमें नहीं आता है अर्थात् वह भक्त मुक्त हो जाता है. संसारमें वह

आता है, जिसमें दोष रहे हों. उपरोक्त क्रिया करनेसे सर्व दोषकी निवृत्ति हो जाती है, तब अहंताममतात्मक संसार, निर्बल होना युक्त है. जिससे निर्दोषको मुक्ति हो जाती है।।३७।।

आभास : यों वैदिक प्रकारसे चारों(प्रमाण, प्रमेय, साधन और फल)का निरूपणकर, अब अपने(देवताओंके) सिद्धांतानुसारी(प्रमाण, प्रमेय, साधन और फल) चारोंका चार श्लोकोंमें वर्णन करते हैं:

दिष्ट्या हरेस्या भवतः पदो भुवो भारोपनीतस्तव जन्मनेशितुः ।
दिष्ट्याङ्कितैस्त्वत्पदकैः सुशोभनैर्द्रक्ष्याम गां द्यां च तवानुकम्पिताम्।।३८।।

श्लोकार्थ : हे हरे ! प्रसन्नताका विषय है कि आपके चरणरूप भूमिका भार आप(ईश्वर)के जन्म(प्राकट्य)से दूर हुआ. आपके सुन्दर चरणारविन्दोंसे चिह्नित तथा कृपावाली पृथ्वी और स्वर्गको हम देखेंगे, यह भी हर्षका विषय है।।३८।।

व्याख्यार्थ : भगवत् शास्त्रमें भगवान् ही प्रमाण, प्रमेय, साधन और फल हैं. भगवान्का साक्षात्कार अथवा साक्षात्कारकृत भगवान् ही प्रमाण हैं. भूमिके प्रसंगके कारण हम(देवतालोग) कृतार्थ हुवे हैं, यों कहते हुए यह सिद्ध करते हैं कि, केवल, हम ही नहीं किन्तु समग्र जगत् भगवान्के प्राकट्यसे कृतार्थ हुआ है. हे हरे ! आपकी पादरूप भूमिका भार आपके प्राकट्यसे उतर गया है. पृथ्वीका मर्दनक्लेश (कुचले जानेका कष्ट) तो परमानन्दके प्राकट्यमात्रसे दूर हो गया है. पृथ्वीके भार उतरनेका साधन आपका जन्म ही है, जिसकेलिए अन्य प्रयत्न (कर्त्तव्य) करनेकी आवश्यकता नहीं है. कारण कि जिसका जन्म हुआ है, वह सर्वथा समर्थ होनेसे सर्व अनर्थोंको स्वयं निवृत्त करनेवाले हैं. हे हरे ! भूमिके भारका निराकरण करना आपकेलिए आवश्यक है. और वह हमारेलिये हितकर है. कारण कि पृथ्वी आपकी चरणरूपा है. प्रत्येक व्यक्ति अपने चरणोंका भार दूर करता है. अपने उपास्यमें दोष न रहे, वह समस्तोंकेलिए हितकर है. इस प्रकार कर्त्तव्य करना आपकेलिए आवश्यक है, क्योंकि आप हरि(दुःखोंको हरण करनेवाले) हो.

आपका प्राकट्य अलौकिक है. आपके प्राकट्यकेलिए पूर्ण साधनोंका भी अभाव है और आप सर्वात्मक हो, यों होते हुए भी जो आप 'भूभारहरणाय' (दैत्योंके नाशकेलिए) कृपाकर प्रकटे हो, यह हर्ष है. कितनोंकी राय है कि देवकीके उदरमें आना, यह पृथ्वीके भारका हरण करना ही है, नहीं कि आपका

जन्म है. अतः पृथ्वी पर केवल आनन्द ही प्रकटे हैं. आपके समागमनसे और भी जो कुछ हुआ है, उसका वर्णन करते हुए कहते हैं कि देव भी पृथ्वीका स्पर्श नहीं करते हैं, तो क्या भगवान् उसका स्पर्श करेंगे? इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि जो न होनेवाला है, वह भी यदि आपके जन्मसे होगा, वह भी प्रसन्नताका चिह्न है.

भगवान् सर्वरूप हैं. अतः मनुष्यरूपसे पृथ्वीको स्पर्श करते ही हैं, इसमें क्या आश्चर्य है? यह शंकाकर, देवता उसके उत्तरमें कहते हैं कि सर्व लक्षण (ध्वज, वज्र और अंकुशादि चिह्नों)वाले आपके सुन्दर चरणचिह्नित भूमिका हम दर्शन करेंगे. यह हम लोगोंका महत् भाग्य है. पृथ्वी, पदको ग्रहण करती है, यह इस भूमिका भी भाग्य है. विशेषता यह है कि चरणोंकी छाया भी पृथ्वी पर पड़ती है. धरा, भगवान्का पद है, भगवान्ने उसका उद्धार भी किया है, तथा वह ब्रह्माकी पुत्री है, जिससे उसका भगवान्में प्रेम है, प्रेमके कारण भगवान्ने इस प्रकार दर्शन दिये हैं. यह भी प्रसन्नता है. श्लोकमें व्याकरणानुसार 'तां' न देकर 'गां' शब्द दिया है, उसका भाव आचार्यश्री बताते हैं कि भगवान्के पदोंसे चिह्नित होनेसे यह भूमि सकल कामनाओंको कामधेनुके समान पूर्ण करनेवाली होगी. और पहले यह भूमि ही आंखोंसे आंसू बहाती हुई, गौरूप धारण करती हुई, हमने देखी थी, अब वह ही परमानन्दस्वरूप चरणोंसे अंकित होनेके कारण आनन्दमें प्रफुल्लित हुई हम देखेंगे, यह भी हमारा महद्भाग्य है. 'गो' पद देनेसे ये दो भाव बताये गये हैं. तथा चरणों द्वारा आपसे अनुकम्पित स्वर्गको भी देखेंगे. देवोंके ऊपर सर्वप्रकारके आपने उपकार किये और अदितिके कुण्डलका दान किया, उससे स्वर्ग भी अनुगृहीत है. अतः हमारे भाग्य हैं, जो इन दोनोंको(भूमि तथा स्वर्गको) इस प्रकार देखेंगे. दर्शन प्रमाणरूप हैं और आविर्भाव प्रमेयरूप है।।३८।।

आभास : अब प्रभुके प्राकट्यका समर्थन करते हैं:

न तेऽभवस्येशभवस्य कारणं विना विनोदं बत तर्कयामहे।
भवो निरोधः स्थितिरप्यविद्यया कृता यतस्त्वय्यभवाश्रयात्मनि।।३९।।

श्लोकार्थ : हे ईश! आप, जो कि अजन्मा हो, उनके जन्म लेनेका कारण केवल क्रीडा बिना दूसरा कोई हमारे विचारमें नहीं आता है. जन्म रहित, आपके विषयमें जन्म, निरोध तथा स्थिति, अज्ञानके कारण हम देखते हैं।।३९।।

व्याख्यार्थ : जन्मरहित आपके जन्मका कारण विनोद(लीला)के सिवाय, अन्य प्रकारका तर्क हम नहीं कर सकते हैं. अथवा विनोद पदमें दो शब्द

हैं. एक 'वि', जिसका अर्थ है काल. दूसरा 'नोद', जिसका अर्थ है प्रेरणा करना. काल स्वयं स्थिर है. सकलोंको ही मर्यादानुसार सुखी करता है. उस कालको आप जन्मसे प्रेरणा करते हो अर्थात् अन्यथा करते हो. अथवा बिना विनोद इन दो पदोंको मिलाकर उससे 'विनावि' और 'नोद' इस प्रकार पदच्छेद करते हैं, जिसका अर्थ होता है, 'विनावि',(संसार नौकामें) और 'नोद',(प्रेरणा) अर्थात् यदि आप संसारनौकाको प्रेरणा नहीं देवें तो संसाररूप नौका कभी भी पार न जा सके. यों कहनेका आशय यह है कि भाव विकारोंसे रहित यह संसार ब्रह्मात्मक है. संसार एक प्रकारकी नौका है, जैसा कि एकादश स्कन्धमें 'नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं' श्लोकमें मनुष्यदेहको नौका कहा गया है. इसीसे उस नौकाको संसारसे पार जानेकेलिए प्रेरणाकी आवश्यकता देखकर आप प्रेरणा देनेकेलिये ही अपना आविर्भाव करते हो. यदि आप भक्तोंके यहां पति–पुत्रादिके आभिमानिक सम्बन्धरूपसे प्रकट न होवे तो संसारनाव पार न पहुंचे. पुनः अन्य प्रकारसे अन्वय करते हैं कि 'न' और 'ते' ये पद जुदे हैं, उनको मिलाकर एक पद 'नते', सप्तमी विभक्तिकर, उसका अर्थ करते हैं, 'न ते', शरणागत पुरुष पर कृपाकर अजन्मा आप जो प्रकट होते ही वह भी संसारनौकाको पार करनेकी प्रेरणाकेलिये ही है, यों हम तर्क करते हैं. पुनः अन्य प्रकार बताते हैं. 'न ते भवस्य' इस पदका विच्छेद न, त, भ, (नत+इभ) और 'वस्य[१]' करके अर्थ करते हैं कि (नतेभ). 'नत'का अर्थ शरणागत और इभका अर्थ गजेन्द्र, शरण आया है उसको (वि)मोक्ष, जिससे प्राप्त हुवा, उसका जन्म, विना विनोदके अन्य कुछ नहीं हैं, ऐसा हम तर्क करते हैं. यद्यपि वैसे पशु जातिके केवल शरण आनेसे संसारनिवर्त्तकका(अजन्माका) जन्म असम्भावित है, तो भी इस प्रकार भी आविर्भाव होनेका कारण लीला ही है, यों हम तर्क करते हैं. यह संसार नौका रहित है, उसको पार पहुचनेकी प्रेरणा करनेकेलिए ही आपका प्राकट्य है. यद्यपि हमारे इस कथनकी पुष्टिकेलिए कोई प्रमाण नहीं है, तथा यथार्थ द्रष्टा आप्त पुरुष भी कोई नहीं है, जो इसकी प्रत्यक्ष सबूत दे और न ही आपने भी आजतक इस विषयमें कहा है, अतः हम स्वयं वैसा तर्क करते हैं. वस्तुतः यह लीला भी है, या नहीं, इसमें भी सन्देह है, तात्पर्य यह है कि आपके प्राकट्यका कारण आप ही जानते हो, अन्य सर्व तर्क ही है.

१.'वस्य' यह 'व' शब्द षष्ठी विभक्तिका एकवचन है. सारा पद समासान्त है. वह समास इस प्रकार बहुव्रीहि किया गया है ''नतेभवस्य वं यस्मात् सः नतेभवः, तस्य,

नतेभवस्य.'' जिसका अर्थ होता है, शरणागत गजको(वं) मोक्ष, जिससे प्राप्त हुआ उसका जन्म बिना विनोद अन्य कोई कारण है, ऐसा तर्क नहीं कर सकते हैं.

हे देवो ! आप मुझे अभव क्यों कह रहे हो, जैसे मेरे अंशरूप जीवका जन्म होता है, वैसे मेरा भी मान लो. देवता कहते हैं कि यदि भगवान् यों कहदे तो उसका उत्तर देते हैं कि प्राणीमात्रकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय देहादिकोंके अध्यासके[२] कारण होते हैं. स्वतः जो जीवोंका भी जन्म नहीं होता है. वह भी तब होता है, जब आप हो. यदि आप नहीं होवो तो निराधार जगत्में उत्पत्ति ही नहीं होवे. यदि आप उदासीन होवे, तो भी न होवे. अनित्यमें भी उत्पत्ति नहीं होती है. कोई समवायी-कारण[३] न हो तो भी उत्पत्ति नहीं होती है. उत्पत्तिकेलिये आधार और समवायीकी आवश्यकता रहती है. यदि आपको भी उत्पत्ति मानी जाय तो जगत्का अनादिपन न रहेगा तथा जगत् अलीक(झूठा) हो जाएगा.

२. औरको और समझ लेना अध्यास है अर्थात् देहको जीव समझ लेना अध्यास है. जैसे जीव जब देहको अपना रूप समझ लेता है, तब देहकेलिए कहता है कि 'मैं हूं' इसको 'अध्यास' कहते हैं, वैसे ही अन्यत्र भी समझ लें.

३. 'समवायीकारण' उसको कहा जाता है, जिससे वस्तु बने. जैसे कि मिट्टीसे घड़ा बनता है, तो मिट्टी घड़ेका समवायीकारण है. वैसे परमात्मासे जगत् बना है, तो परमात्मा जगत्का समवायीकारण है.

जैसे आपके जन्म अचानक होते हैं, वैसे ही जगत्का भी होगा. अतः आत्माके आश्रयरूप होनेसे ही जीवोंकी उत्पत्ति आदि होते हैं और आपका तो लीलासे ही प्राकट्य होता है. भगवान् जीववत् जन्मे हैं. यह कहना भगवान्के स्वरूपका एवं उनके कारणका अज्ञान ही है. भगवान्का जन्म नहीं है किन्तु आनन्दरूपका प्राकट्य है, यह निरूपण किया गया है. भगवान्के जन्म माननेसे समस्त जगत् अनादि न रहेगा।।३९।।

आभास : वही आनन्दरूप भगवान् साधन है. इसका वर्णन करते हैं:

मत्स्याश्वकच्छपनृसिंहवराहहंसराजन्यविप्रविबुधेषु कृतावतारः।।
त्वं पासि नस्त्रिभुवनं च तथाऽधुनेश भारं भुवो हर यदूत्तम वन्दनं ते।।४०।।

श्लोकार्थ : हे यदूत्तम ! मत्स्य, अश्व, कच्छप, नृसिंह, वराह, हंस, राजा, ब्राह्मण और देवोंमें अवतार धारण करके आपने दूसरे समयमें जैसे हमारी तथा त्रिलोकीकी रक्षा की है, वैसे अब भी करो, और पृथ्वीका भार उतारो. हे ईश ! हम आपको प्रणाम करते हैं।।४०।।

व्याख्यार्थ : जैसे प्रथम आपके नव अवतार हुए, वैसे ही यह दशवां है. तीन अवतार जलसे हुए, तीन वनसे हुए और तीन लोकमें हुए. मत्स्य, हयग्रीव तथा कच्छप, तमोगुण जैसी आकृतिवाले हैं. नृसिंह, वराह और हंस, राजसगुण समान आकारवाले हैं. और रामचन्द्रजी, परशुराम और वामन, ये सत्त्वगुण सहजरूपवाले हैं. मूलमें अश्वपद हयग्रीवका वाचक है. अश्व भी जलज(जलसे उत्पन्न) और हयग्रीव भी जलज है. नृसिंह स्तम्भसे प्रकट होनेके कारण वनज कहे जाते हैं. वराहकी आरण्यक(जंगली) प्रकृति है, अतः वनज है. हंस बाहिर वायु (आकाश)वाले स्थानमें रहनेकी प्रकृतिके कारण वनज है, जो(हंस) प्रकट होकर उपदेश द्वारा अन्योंको वनवासी बनाता है. अतः उसको वनज कहना यह योग्य ही है. रघुनाथजी(क्षत्रिय), परशुराम(विप्र), वामन(देव) इन तीनोंका तरतमभाव बतानेकेलिए पृथक् वर्णन किया है. मत्स्यसे अश्व उत्तम है. अश्वसे कूर्म उत्तम है. यह उत्तमता कार्य करनेसे सिद्ध होती है. अतः प्रतीतिकी है अर्थात् अन्य अवतारोंमें उत्तमता, कार्यसमयमें देखनेमें आती है. कूर्मकी उत्तमता वास्तविकी है, कारण कि कूर्म सदैव जलमें रहकर पृथ्वीकी रक्षा करते हैं. नृसिंहसे वराह इसलिए उत्तम है कि नृसिंहजीने यथास्थिति प्रह्लादकी रक्षा की थी, किन्तु वराहने जलमें डूबी हुई पृथ्वीका जलसे उद्धार किया, तथा हिरण्याक्षको मारा था. वराहसे हंस ज्ञानप्रद होनेके कारण उत्तम है. क्षत्रिय, ब्राह्मण और देव अवतारोंमें तरतमभाव स्पष्ट ही है. इन नवविध अवतारोंने नवविधोंकी रक्षा की है. इस समय आपको एक ही अवतारसे नवविधोंकी रक्षा करनी है. ये ही भगवान् जिस जातिकी रक्षा करनी होती है, उस जातिके अवतार लेकर उनकी रक्षा करते हैं. अब देवता उससे भी विशेष प्रार्थना करते हैं कि आपने पहले उन्हींमें अवतार धारण करके हम लोगोंको, तीनों भुवनोंको, तथा धर्मादिककी भी रक्षा की है. वैसे ही इस समय भी, हे ईश ! सर्व प्रकार सामर्थ्यसे अवतीर्ण हुए हो. अतः उसी प्रकार देवता, तीन लोक और धर्मकी रक्षा करनेके साथ विशेषमें भूमिका भार भी उतारो. आप ईश होते हुए भी लोकमें आपका 'यदूत्तम' नामसे व्यवहार होता है. आपके इन उपकारोंका प्रतीकार केवल वन्दन ही हो सकता है.

नव अवतारोंके कार्यसे अधिक, भूभारहरण कार्यकी प्रार्थना की. अवतारोंके कार्योंसे विशेष अन्य कार्योंकी प्रार्थना क्यों नहीं की? इस शंकाके उत्तरमें आचार्यश्री कहते हैं कि भगवान्के ये मत्स्यादि अवतार ही सर्व कार्य

साधक हैं. यहां मत्स्यादि अवतारोंका वर्णन जो दृष्टान्तरूपसे किया है, उसका यह भाव है कि पृथ्वी पर जो भाररूप असुर नृपति हुए थे, उनके नाशकेलिए ही भगवान् अवतार लेते हैं. इसलिए जो अवतार लिये जाते हैं, तो उन असुर राजाओंसे युद्ध होनेकी सम्भावना होती है. वह युद्ध भगवान्में अतिशय स्नेहके कारण भक्तलोग नहीं चाहते हैं, कारण कि युद्धमें भगवान्को विशेष परिश्रम करना पड़ेगा. वह भक्तोंसे सहन नहीं किया जा सकता है. ''**रूपं चेदं पौरुषं**'' ''**जन्मते मय्यसौ**''. इस श्लोकमें जैसी देवकीजीने प्रार्थना की वैसे देवता कहते हैं कि यह आपका पौरुष जन्म हमारे लिये है. अतः देवकीजीके समान भगवान्का माहात्म्य जानते हुए भी भक्त होनेके कारण भूभारका हरण, युद्ध बिना अन्य प्रकारसे करनेकी प्रार्थना करते हैं.

जबतक आपने अपने ऐश्वर्य आदिको प्रकट नहीं किया है, तबतक गुप्त रीतिसे अन्य द्वारा शत्रुओंका नाश हो सके तबतक युद्ध नहीं करना. प्रलयाब्धिके समयमें सत्यव्रत आदि भक्त रक्षणीय हैं.

यदि आपने पुरुषरूप धारण किया है, अतः आप युद्ध द्वारा रक्षा करना चाहोगे, तो युद्धरूप समुद्रमें क्लेशादिरूप मकरोंसे भयकी सम्भावना है, जिससे स्नेहके कारण भक्तोंको दुःख होगा. वह दुःख भक्तोंको नहीं होवे, तदर्थ जैसे हीन जाति मत्स्यका रूप धारणकर सुखपूर्वक जलसंचार करते हुए रक्षण किया था, वैसे अब भी करो, वह प्रार्थना है. इसी कारणसे अपने ऐश्वर्यके विरुद्ध होते हुए भी भीमसेनने याचक बनकर जरासन्धको मारा, न कि भीमने क्षात्ररूपसे मारा.

हयग्रीवरूपसे ब्रह्माके सत्रमें प्रकट होकर असुर नाश तथा वेदकी रक्षा की. यहां भी राजसूय यज्ञके समय प्रकट होकर ब्राह्मणोंका सम्मानकर धर्म मर्यादाकी स्थापना की. वेद विरुद्ध बोलनेवाले शिशुपालको अनायास मारा. कच्छपावतारमें 'मेनेऽङ्गकण्डूयनम्', इस वाक्यानुसार खुजली मानकर सुखपूर्वक 'मन्दराचल'को धारण किया. वैसे ही यहां भी विशेष वीर्यशक्तिके कारण भुजाओंमें उत्पन्न हुई खुजलीकी शान्ति करनेकेलिए युद्ध करना, न कि सामने आये हुए प्रतिपक्षी योद्धाओंको मारनेकेलिए. जब ऐसा अवसर हो तो, उनको मारनेकेलिये दूसरोंको प्रेरणा कर दें. यही हमारी प्रार्थना है. अतः जहां-जहां युद्ध हुआ है, वहां-वहां यों ही किया है, अर्थात् अन्यों(व्यूहों)को प्रेरणा की है. जैसे राजालोग क्रीडाके वास्ते शिकार खेलते हैं, वैसे ही भगवान् युद्ध करते हैं. इसलिए

कहा गया है, 'विक्रीडितं तज्जगदीशयोः परम्', यह जगत्के दोनों ईशोंकी क्रीडा है. जिस प्रकार अमृतदानार्थ कच्छपजीने मन्दराचलको धारण किया, वैसे ही यहां पर अपने स्वरूप अमृतदानार्थ ही गोवर्धनको धारण किया है और उससे व्रजकी रक्षा भी की है. नृसिंह अवतारमें पूर्वजन्मके भक्त और इस जन्ममें भक्तके पिताको भक्त प्रह्लादकी रक्षाकेलिए अचानक प्रकट होकर मारा. यह भी जताया कि उस समय दैत्यत्वके तथा क्रूर होनेके कारण लक्ष्मी भी आपके पास नहीं जा सकती थीं, तो भी आपके पास भक्त जा सकते थे, कारण कि भक्तोंको आनन्दरूपसे ही दर्शन देते थे. यहां भी पांडवोंकी रक्षाकेलिए आसुरावेशी उनके पितामहादिको मारा. वैसे ही कंसादिकोंको मारा. वनमासमें पार्थरक्षार्थ अचानक आविर्भूत होकर, शेष बचे हुए शाकान्नको खाकर सबका समाधान किया. वराहजी नृसिंहके समान प्रकट न होकर जिस(पृथ्वी)के उद्धारकेलिए आविर्भूत् हुए थे, उस पृथ्वीके गुण(गन्ध)को ग्रहण करनेवाली नासिका इन्द्रियको अधिष्ठान बनाकर, उससे प्रकट हुए, जिससे आपने पृथ्वीसे अपना पक्षपात प्रकट दिखा दिया. इस कृष्णावतारमें भी पांडवोंके रक्षणार्थ विदुरजीके घरमें बिराजे, अन्यत्र नहीं बिराजे. कारण कि विदुरजी पांडवोंके गुणोंके ग्राहक थे. इसी प्रकार व्रजभक्तोंके उद्धारार्थ उनके सम्बन्धवाली(श्रीगोकुल)में स्वयं प्रकट होकर उनकी रक्षा की. अन्यत्र स्थिति नहीं की. इसी भांति वैदर्भीका(शिशुपालसे) उद्धार करते हुए, हिरण्याक्षकी तरह मार्गके मध्यमें प्रतिबन्धक रुक्मीको रोककर ही स्वकार्य सिद्ध किया और उस वक्त उसको मारा नहीं. आगे उसको समय आने पर मारा. जैसे हंसने तत्त्वज्ञानका उपदेश देकर ब्रह्मादिकोंका विषाद नष्ट किया, वैसे ही यहां भी यदि वैदिकमर्यादाके विरुद्ध, गुरुवध करना पाप समझकर स्वधर्म युद्धसे विमुख, अर्जुनकी चिन्ता तथा विषादको मिटानेकेलिए गीता द्वारा तत्त्वज्ञानका उपदेश दिया न होता तो पृथ्वी पर हुआ असुर राजाओंका भार नहीं उतरता.

रामावतारमें डूबनेके साधन, पत्थरोंको तारनेका साधन बनाकर एक भक्त(विभीषण)केलिए अनेक दैत्योंका नाश किया और वैसे ही यहां इस कृष्णावतारमें एक पृथ्वीकेलिए अनेकोंको कैसे मारा ? इस शंकाके निवारण केलिए कहते हैं कि असुरावेशी राजाओंमें जिनको मारा था, उनमें द्वेषादिभाव था. जिससे वे मारे तो नाममात्रकेलिये ही गये थे, किन्तु उनका उद्धार हो गया. परशुरामावतार ब्राह्मणवृत्ति होते हुए भी उसमें घोर क्षात्रधर्म स्वीकारकर असुर क्षत्रियोंका वध

किया है. इस अवतारमें ब्रह्मत्व समान होते हुए भी दैत्यवध करना ही है. देवावतार(वामनावतार)ने तो माताकी प्रार्थनासे आविर्भूत् होकर जिस त्रैलोक्यको लेनेके कार्यको, ब्रह्मादिक भी नहीं कर सके, उस कार्यको केवल वाणीसे कर दिखाया. इस प्रकार यहां वृत्रासुर वधमें यह स्पष्ट है. देवकीकी प्रार्थनासे आविर्भूत् होकर ब्रह्मादिकोंको कठिनाईसे मिलनेवाला अपना आनन्द यादवोंको दान दिया. राज्यके लोभी कंसको मारकर, राज्य उग्रसेनको दिया, आपने नहीं लिया था. इस प्रकार नमस्कार पर्यन्त भगवान्की स्तुति की गई है. कंसादि वध तो अप्रयोजक है, इस कारणसे इसकी पृथक् विशेषरूपसे गणना नहीं की है ।।४०।।

आभास : प्रसंगसें श्रीकृष्णका चरित्र फलरूप है, उसका और देवकीके सान्त्वनाका भी वर्णन इस श्लोकमें करते हैं:

दिष्ट्याम्ब ते कुक्षिगतः परः पुमानंशेन साक्षाद् भगवान् भवाय नः ।
मा भूद् भयं भोजपतेर्मुमूर्षोर्गोप्ता यदूनां भविता तवात्मजः।।४१।।

श्लोकार्थ : हे माता ! आपकी कूखमें प्रद्युम्नांश(व्यूहरूप)से पूर्ण पुरुषोत्तम पधार गए हैं, वे साक्षात् भगवान् हैं. वे हमारे कल्याण करनेकेलिए आए हैं. अब आप मरनेवाले कंससे मत डरो. ये आपके पुत्र यादवोंकी रक्षा करेंगे. अतः बधाई है।।४१।।

व्याख्यार्थ : सबकी आत्मा भगवान् हैं. अतः उनकी माता सबकी माता हैं. इसलिए देवोंने देवकीजीको कहा है कि हे अम्ब ! हे माता! आपके यहां नृसिंहादिकी भांति अकस्मात् प्राकट्य होना योग्य नहीं होनेसे ही आपकी कूंखमें बिराजे हैं, यह बधाई है. उनकी कूंखमें बिराजनेकी योग्यताका समर्थन करते हैं कि वे पूर्णपुरुषोत्तम हैं. 'अंशेन' शब्दका भाव है कि कूखके एकदेशसे अथवा प्रद्युम्नांशसे पुत्ररूप होकर विराजते हैं. 'साक्षात्' भगवान् कहनेका आशय यह है कि केवल क्रियाशक्तिसे आकर नहीं बिराजे हैं. किन्तु साक्षात् ज्ञानक्रियाविशिष्ट आप पधारे हैं. आपके उदरमें कहते हैं कि आप अब किसी प्रकारका डर मत करो. क्योंकि कंसको केवल वचनसे डरा रहा है, वह कुछ नहीं कर सकता है. उसके वचनों पर ध्यान नहीं देना चाहिये, कारण कि वह मरनेवाला है. जिसकी मृत्यु समीप होती है, उनके वचन घबराहटवाले असम्बद्ध होते हैं. यदि देवकीजी कहे कि आपके कहनेसे मैं निडर कैसे बनूंगी? तो इसके उत्तरमें कहते हैं कि हम केवल आपके वचनोंसे नहीं कहते हैं किन्तु हम देव हैं. इसलिये हम जानते हैं कि

यह आपके पुत्र कंसको मारकर यादवोंके रक्षक होंगे. अतः आप निर्भय रहो. क्योंकि जब सब यादवोंकी रक्षा करेंगे, तो आपकी रक्षामें कौनसा संशय है? कोई नहीं हो, यह आपके पुत्रकी ही स्वल्प यादवोंकी रक्षा करेंगे, यों न समझना किन्तु समस्त यादवमात्रकी रक्षा करेंगे. इस प्रकार कहनेसे स्वरूप, कार्य और आनुषंगिक दोनों कार्य कहे।।४१।।

आभास : उपसंहार करते हैं:

श्रीशुक उवाच

इत्यभिष्टूय पुरुषं यद्रूपमनिदं यथा।
ब्रह्मेशानौ पुरोधाय देवाः प्रतिययुर्दिवम्।।४२।।

श्लोकार्थ : श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि देवताओंने इस प्रकार पूर्ण पुरुषोत्तमकी स्तुति की कि, वह स्वरूप था, इस भांति है भी और नहीं भी है किन्तु सर्वरूप है. तदनन्तर ब्रह्माजी तथा महादेवजीको आगे कर, सब देव स्वर्गको गए।।४२।।

व्याख्यार्थ : 'पुरुष' शब्दसे यह बताया है कि परमात्मा सर्व कर्त्ता है. जिस स्वरूपका वर्णन प्रथम स्तुतिमें जैसा किया है, वैसे(उतने ही) वे हैं, यों नहीं है अर्थात् देवताओंके ही पक्षपाती है सो नहीं है. किन्तु दैत्योंके भी हितकारी हैं कारण कि उनको भी मुक्तिदान दिया है. यह इस प्रकारका होता भी है, नहीं भी होता है. तात्पर्य यह है कि प्रकारभेदसे प्रभु आप सर्वरूप होनेसे सत्य भी हैं, और असत्य भी हैं. देवताओंको यह शंका हुई कि हम तो जा रहे हैं, कदाचित् ब्रह्मा तथा शिवजी यहां ही रुक न जाय, इसलिए इनको आगे करके, उनके पीछे सब अपने-अपने स्वर्गमें गये. देव अपने-अपने स्वर्गमें गये, इससे समझा जाता है कि स्वर्ग एक नहीं है किन्तु बहुत हैं. नृसिंहपुराणमें इक्कीस स्वर्ग कहे हैं. अन्य पुराणोंमें शत स्वर्ग भी कहे हैं. यहां क्रियापदमें 'या' धातु देनेका आशय यह है कि देवताओंको मार्गमें किसी प्रकारका विघ्न नहीं हुआ, सुखपूर्वक पहुंच गये. 'या' धातुका अर्थ है पहुंचना।।४२।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराणके दशम स्कन्धके अध्याय २ की
श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्रीसुबोधिनी टीकाका हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण.

अध्याय ३

चतुर्धा रूपान्तरका स्वीकार तथा प्रद्युम्न व्युहका प्राकट्य

जननं वर्णनं स्तोत्रे सान्त्वनं गमनं तथा।
षड्विधो भगवान् अत्र तृतीये विनिरूप्यते।।कारि.१।।
रूपान्तरस्वीकरणम् अध्यायार्थ इहोदितः।
प्रतीयमानो भगवान् इति षड्विध उच्यते।।कारि.२।।

कारिकार्थ : इस तृतीय अध्यायमें, १.जनन(भगवान्का प्रकट होना), २.वर्णन (प्रकट हुए भगवत्स्वरूपका वर्णन), ३.स्तोत्र श्रीवसुदेव कृत एवं ४. श्रीदेवकीकृत स्तुति (पृथक्-पृथक् स्तुति), ५.सान्त्वन(देवकी वसुदेवके प्रति भगवान्के पूर्व जन्मवृत्तान्त वर्णनादि धैर्यप्रद वचन), तथा ६.गमन (भगवान्का गोकुलको पधारना) इन छः भगवच्चरित्रोंका निरूपण हुआ है, भगवच्चरित्र भगवत्स्वरूपात्मक हैं. इस श्रुति प्रसिद्ध सिद्धान्तके अनुसार यहां पर षट् प्रकारसे भगवान्का निरूपण हुआ है. ऐसा कहा गया है. १.ऐश्वर्य, २.वीर्य, ३.यश, ४.श्री, ५.ज्ञान, ६.वैराग्य ये भगवान्के षड् गुण हैं जिनकी सूचना इधर वर्णित हुए चरित्रोंकी षट् संख्यासे हो रही है।।१।।

इस अध्यायका मुख्यतया प्रतिपाद्य अर्थ रूपान्तर स्वीकार कहा है. माता-पिताके देखते-देखते भगवान्का प्राकृत[१] शिशुरूप ग्रहण करना ही रूपान्तर का स्वीकार करना है. इस रूपान्तरके स्वीकार करनेवाला षड् ऐश्वर्यादि गुणपूर्ण भगवान् ही है, जिस रूपमें उसकी प्रतीति हो रही है, वह रूप देह-देहीके भेदसे रहित है. ऐसी सूचना देनेको जननादि षट्चरित्रोंसे अध्ययार्थको समन्वित कर उसकी भगवद्रूपता बतलाई गई है।।२।।

१. नन्दालयमें भगवत्प्राकट्यके समय ही मथुरामें उसी द्विभुज नन्दनन्दनका दर्शन देवकी वसुदेव को हुआ है, जिसे प्राकृत शिशुरूपमें कहा गया है. इस मर्मको सूचित करनेकेलिये भी रूपान्तर स्वीकारको ही प्रधानतया अध्यायार्थ माना है.

अष्टभिश्च चतुर्भिर्वै दशभिश्चाष्टभिस्तथा।
चतुर्दशभिरष्टाभिः षडर्थाः क्रमतोऽत्र हि।।कारि.३।।
ऐश्वर्यमष्टधा यस्मादर्धमात्रा हरौ परा।
सार्धाष्टभिरतः प्रोक्तमैश्वर्यं सर्वमङ्गलम्।।कारि.४।।

अधिकारिणि काले वै अनन्ता भगवद्गुणाः।
खण्डशस्तेवयवशः सर्वेषां फलबोधकाः।।कारि.५।।

कारिकार्थ : यहां क्रमसे ही 'जनन आदि' ६ अर्थोंको कहा है. प्रथम आठ श्लोकोंसे जनन चरित्र कहा है, चार श्लोकोंसे वर्णनचरित्र कहा है, दश श्लोकोंसे वसुदेवकृत स्तुति एवं आठ श्लोकोंसे देवकीकृत स्तुति कही गई है, चौदह श्लोकोंसे सान्तवनचरित्र और आठ श्लोकोंसे गमनचरित्र कहा है।।३।।

प्रथम, जननचरित्रमें भगवान्के प्रथम गुण अष्टविध ऐश्वर्यकी सूचना जिन आठ श्लोकोंसे की है, उनका अन्तिम श्लोक सार्ध है, उसमें आधा श्लोक अधिक है, साढे आठ श्लोक हैं, जिससे अष्टविध ऐश्वर्यकी सूचनाके साथ-साथ ही भगवान्की परमतत्त्वरूपता भी सूचित हो रही है, ओंकारकी अन्तिम अर्धमात्रा परमतत्त्व प्रतिपादिका है. तापनीय श्रुतिमें ''अर्धमात्रात्मकः कृष्णः'' यह स्पष्ट उल्लेख है. ''**अर्धचतुर्थ मात्रेण 'ॐ'इत्येकेनैव अक्षरेण परं पुरुषम् अभिध्यायीत**'' इस प्रश्नश्रुतिमें भी परम पुरुषके ध्यानमें ओंकारकी आधी चतुर्थ मात्राको प्रधानता दी है. अतः साढे आठ श्लोकोंसे सूचित होता है कि जो सर्व मंगल निधान व अष्ट ऐश्वर्यपूर्ण एवं ओंकार गत अर्धमात्रा प्रतिपाद्य परमतत्त्व है, उसीके जन्मका यहां पर वर्णन हो रहा है, तभी तो श्रीदेवकीजीके गर्भका बढना आदि सर्व धर्म स्त्रीसाधारण थे तो भी भगवान्के प्रकट होनेका प्रकार '**प्रादुरासीद् यथा प्राच्यां दिशीन्दुरिव पुष्कलः**' लोकविलक्षण था. एवं '**तमद्भुतं बालकम् अम्बुजेक्षणम्**' स्वरूप भी लोकोत्तर था.

भगवान्का प्राकट्य जिस समयमें हुआ है, वह समय यद्यपि मांगलिक कार्योंमें प्रशस्त नहीं, किन्तु निन्दित ही है. उत्तरायण न होकर दक्षिणायनका होना, शुक्ल पक्ष न होकर कृष्ण पक्षका होना, दिन न होकर रात्रिका भी निशीथ होना इत्यादि. दोषोंके होते हुए भी उस समयको सर्वगुणपूर्ण बतलाकर श्रीशुकदेवजीने यह सूचित कर दिया है, कि काल भगवान्का एक अधिकार प्राप्त सेवक है. कार्य सचिव है, उसमें उत्तरायण आदि अनन्त शुभ फल सूचक गुण भगवान्के ही हैं, उनकी कृपासे ही उसे प्राप्त हुए हैं.

मूले समागते कालः स्वकीयान् सकलान् गुणान्।
हरौ प्रदर्शनार्थाय प्रकटीकृतवान् यथा।।कारि.६।।
देशोऽपि त्रिविधश्चैव भूतान्यपि तथैव च।

तत्रत्या ये विदुस्तेऽपि ज्ञापनार्थं गुणान् स्वकान्।।कारि.७।।
प्रकटीकृतवन्तो वै दोषनाशपुरस्सरम्।।कारि.७. १/२।।

कारिकार्थ : वह उत्तरायणादि काल गुण भी किसी अंशसे सब लोगोंको प्राप्त होनेवाले अपूर्ण फलका बोध मात्र कराते हैं. फलका दान तो भगवान्के ही हाथ हैं।।५।।

परन्तु जब कालके स्वामी मूलतत्व भगवान् स्वयं पधारते हैं, तब तो वह काल अपने आराध्य प्रभुकी सेवामें अपने समस्त उत्तरायणादि सद्गुणोंको उनके दृष्टिगोचर करानेकेलिए आपकी वस्तु इस प्रकार संभाल कर रखी है, इस आशयसे प्रकट कराता है।।६।।[१]

१.गोस्वामी श्रीविठ्ठलनाथजी ने 'अधिकं तत्रानुप्रविष्टं न तु तद्हानिः' इस न्यायको उपस्थित कर शंका की है कि भगवान्के प्राकट्यका काल यदि उत्तरायण शुक्लपक्ष एवं दिन आदि होता तब तो और भी अच्छा ही था. भगवत्सेवक काल तो उन गुणोंको प्रकट करता ही उत्तरायण आदि और अधिक रूपसे गुणोंकी वृद्धिमें उपयुक्त हो जाते, कोई हानि तो थी नहीं. उक्त शंकाका समाधान करते हुए आप आज्ञा करते हैं, कि भगवत्प्राकट्यकी देश कालादि सर्व सामग्री आधिदैविक है, आधिभौतिक देश कालादिमें भगवत्प्राकट्य सम्भव नहीं. यह लीलाकाल भगवत्स्वरूप है. भगवल्लीलाका प्रारम्भ होने वाला है. अतः यह स्वरूपात्मक लीलाकाल प्रकट हुआ है. इसकी सूचना मूल में 'अर्थ' शब्दसे की है, कि अब सब ही प्रकार भिन्न है. जिस प्रकार रास लीलाकी षड् मासकी रात्रियोंमें दिनका प्रवेश नहीं हुआ. यह उन रात्रियों की विलक्षणता थी, आधिदैविकता थी, उसी प्रकार इस प्राकट्य कालमें भी आधिभौतिक दक्षिणायनादिका प्रवेश नहीं. यह पुष्टिमार्गकी मर्यादामार्गसे विलक्षणता और बलिष्ठता है. 'सर्वगुणोपेतः' इस विशेषणसे इस प्राकट्य कालकी ऐश्वर्यादि गुण पूर्ण भगवद्रूपता स्पष्ट होती है.

उच्च देश आकाश, मध्य देश दिशा और अधो देश भूमिने तथा इन देशोंमें रहनेवाले देव, मुनि, सिद्ध, गन्धर्व, किन्नर, चारण आदिने भी एवं जल, अग्नि, वायु आदि भूतोंने भी अपने-अपने गुणोंको प्रकट किया, इन सबके दोषोंका नाश तो पूर्वमें ही हो चुका था.

आभास: इस प्रकार पूर्ववर्ती द्वितीयाध्यायमें भगवान्के अवतारार्थ उद्यमका वर्णनकर, (इस तृतीय अध्यायमें भूमि, माता-पिता तथा अन्यान्य भक्त) इन सबके सात्त्विक, राजस, तामस तीनो प्रकारके दुःख दूर करनेकेलिए

अथवा कंसकृत, कालकृत, अज्ञानकृत इन तीनो प्रकारके दुःख दूर करनेकेलिए रूपान्तरका स्वीकार कहा जाता है. अतः प्रथम रूपका वर्णन आवश्यक है, क्योंकि किसी एक रूपका अन्यरूपमें परिवर्तित होना ही तो रूपान्तर है. यदि भगवान्के रूपका वर्णन नहीं किया जावे तो उनके रूपान्तरका स्वीकार करना जो कि अध्यायार्थ है, वह संगत न हो सकेगा और यदि भगवत्प्राकट्यमें काल आदि अधिकारियोंके नैमित्तिक(भगवत्प्राकट्यमूलक) शुभसूचक गुणोंके प्रकट होनेका सर्वांशमें वर्णन न किया जाय तब तो भगवत्प्राकट्यको प्राकट्य[१] शब्दसे नहीं कहा जा सकेगा. तब तो वह 'जनन' शब्दसे ही व्यवहृत होगा क्योंकि सर्व गुणोंका सर्वांशमें प्रादुर्भाव किसी एकके भी जन्म कालमें नहीं होता अन्यान्य बडे-बडे महानुभाव 'पृथु' महाराज जैसोंके भी जन्म कालमें सर्व गुणोंका प्राकट्य नहीं हुवा, यदि वसुदेव एवं देवकी कृत स्तुतिका वर्णन न किया जाय तब तो उनके विषयमें सर्वसाधारणकी यही बुद्धि हो सकती है, कि इन माता-पिताओंको इतना ही ज्ञान होगा कि हमारे चतुर्भुज पुत्र उत्पन्न हुवा है यह साक्षात् भगवान् है, इस प्रकारका ज्ञान तो उनकी की हुई स्तुतिसे ही स्पष्ट होता है. उक्त चतुर्भुजरूप केवल माता-पिताके दिखानेको ही प्रकट किया हो, ऐसी बात नहीं है, किन्तु पूर्व जन्मोंके प्रसंगोंका स्मरण करा देना आवश्यक है. अतः शुकदेवजीने 'सान्त्वन' प्रकरणमें भगवत्कृत स्वरूप वर्णनका आवश्यक समझकर उल्लेख किया है, यदि ऐसा नहीं किया जाता तो वह अद्भूत स्वरूप दर्शन आश्चर्य ही बना रहता और उसके कारणका ज्ञान न होनेसे सन्देह ही रह जाना कि यह हमारे पुत्र कैसे हो सकतें है, रूपान्तरके स्वीकार मात्रसे भक्त दुःख निवृत्तिका कार्य बिना गोकुल पधारे नहीं हो पाता, अतः 'गमन' भी अध्यायके अन्तर्गत आवश्यक है.

१.परं तत्त्व श्रीकृष्णके ही जन्ममें 'प्राकट्य' शब्द उपयुक्त है, उन्हींके आविर्भाव कालमें सर्व तत्त्वोंमें आनन्दका आविर्भाव होता है. यही उनकी परं तत्त्वरूपताका साक्षात् हृदयस्पर्शी प्रमाण है.

टिप्पणी: प्रकाशकारने 'आविरासीत्' इस अष्टम श्लोकगत क्रिया पदसे सुदूर अन्वयको स्वीकार किया है, उनका कहना है, कि अध्याहारकी अपेक्षा दूर अन्वयमें लाघव है, अतः प्रथम श्लोकगत 'अर्थ'का वहीं सम्बन्ध है. लेखकारने इस पंक्तिको प्रकारान्तरसे लगाया है, उनका कहना है, कि 'इति' अर्थात् भगवान् प्रकट हुवे हैं, इस कारणसे 'सम्बन्धः' गुणोंका कालसे सम्बन्ध हुवा.

अथ सर्वगुणोपेतः कालः परमशोभनः।।
यर्ह्योवाजनजन्मर्क्षं शान्तर्क्षग्रहतारकम्।।१।।

श्लोकार्थ : स्तुति कर, देवताओंके चले जानेके अनन्तर परम सुन्दर एवं सर्वगुणसम्पन्न काल प्रकट हुआ जब ही रोहिणी नक्षत्र (आया) एवं उसके सहवर्ती अन्य नक्षत्र ग्रहतारा भी शान्तरूपसे शुभ फलकी सूचना देनेको उपस्थित हुए।।१।।

व्याख्यार्थ : यदि प्राकृत शिशुरूप ग्रहण न किया जाता तो सर्वसाधारण की मुक्ति हो जानेका सम्भव था, तथा लीलाकी वह वात्सल्य माधुर्य आदि रसमयता[1] भी सम्पन्न न हो पाती. श्रीवसुदेव एवं देवकीके भयभीत होनेका वर्णन उनके ही स्तोत्रोंमें हुवा है, जबकि अलौकिक स्वरूपका दर्शन हो रहा है, ऐसी दशामें भी भयका होना स्पष्टतया सूचित करता है, कि लौकिककी अपेक्षा अलौकिक[2] दुर्बल होता है. भगवान्की महिमाका ज्ञान अलौकिक है. उसके होते हुवे भी इस बालकका क्रूर कंससे कोई अनिष्ट न हो जावे, इस प्रकारकी स्नेहमय लौकिकबुद्धिका बना रहना स्पष्ट कर देता है, कि लोककी प्रबलता है, अलौकिक की नहीं.

१.निज अंतरंग भक्तोंको जिस रसका दान करता है, जिस रसकी प्राप्तिके बिना उनका ताप क्लेश निवृत्त नहीं हो सकता उस रसदानमें रूपान्तर स्वीकार अत्यन्त आवश्यक है. तभी तो यह ही मुख्यतया तृतीयाध्यायार्थ माना है.

२.लीलाकी रसालतामें यह भी उपयुक्त है ''लोकवत्तु लीला कैवल्यम्'' व्याससूत्र भी लीलाकी लोकतुल्यताका निर्देश करता है. परन्तु आचार्यश्रीकी यह पंक्ति हम लोंगो (वैष्णवों)को सावधान करनेकेलिए भी है, कि अलौकिक भगवद्भावकी रक्षा सावधानतासे करते रहें, लौकिक महान् प्रबल शत्रु है, उससे बचते रहें.

व्याख्यार्थ: शुक मुनि सर्व प्रथम भगवान्के अष्टैश्वर्य सहित प्रादुर्भावका वर्णन करते हैं, कि जब देवगण स्तुति करके चले गये, उसके अनन्तर ही भगवान् प्रकट हुए, उसी समय काल सर्वगुण सम्पन्न हो गया, जितने गुण कालमें स्थापित किये थे, वे सब प्रकट हो गये, भगवान्को अपनी सेवावत् लानेको कालने गुण प्रकट किये, इसीसे काल परम शोभापूर्ण हो गया, परम तत्त्व सर्व गुणपूर्ण भगवान्की भी शोभाका हेतु बन गया. कालके अवयव जो नक्षत्र हैं, उनमें भी केवल गुणोंका आश्रय 'रोहिणी' नक्षत्र ही है, भगवान्ने अपने गुणोंको प्रकट

करनेकेलिए ही ब्रह्मा उत्पन्न किया.

उस ब्रह्माने तो विकारोंको दूर कर गुणोंको ही प्रकट करनेकेलिए उस रोहिणी नक्षत्रका ग्रहण किया. (यहां दोषाभावपूर्वक सर्व गुणोंके प्राकट्य द्वारा जन्म कालकी आधिदैविकताका प्रतिपादन करना अभीष्ट है.) इसीलिए रोहिणी नक्षत्रको 'अजनजन्मा' ब्रह्माका नक्षत्र कहा है, जिससे उक्त नक्षत्रके देवता ब्रह्माकी निर्विकारता सिद्ध होती है. बात ऐसी है, कि भगवान् तो जन्मादि विकारोंसे रहित होनेके कारण 'अजन' कहलाते ही हैं. ब्रह्मा उन्हीं भगवान्का पुत्र है, अतः वह भी जन्म रहित ही है. इसीसे ब्रह्माको 'अज' शब्दसे कहा गया है. अतः अजन्मा भगवान्से जन्म प्राप्त करनेके कारण 'स्वयम्भूः' 'अजः' आदि शब्दोंसे संकेतित हुए ब्रह्माके नक्षत्रको निर्दोष गुणपूर्ण होना सर्वथा समुचित ही है. श्रुतिसे 'रोहिणी' शब्दका जो निर्वचन प्राप्त हुआ है, वही इस नक्षत्रकी महिमाका पर्याप्त प्रमाण है, भगवती श्रुति कहती है, कि ''उस[१] नक्षत्रसे ही वे लोग सर्व उच्च स्थानोंको चढ़ गये'' वे अपने सम्पर्कियोंको उच्चस्थान पर चढ़ा देना. रोहिणीका रोहिणी नामसे व्यवहृत होनेका कारण है, जब रोहिणी नक्षत्र हुआ तब ही सर्वगुणपूर्ण काल हुआ, इस प्रकारकी योजनासे सूचित होता है, कि भगवान्का जन्म रोहिणीनक्षत्रके प्रारम्भमें ही हुआ. उक्त नक्षत्रके सब ही सहायवर्ती अन्यान्य नक्षत्रादि भी अनुकूल थे. ऐसा सूचित करनेको 'शान्तर्क्ष' इत्यादि विशेषणका प्रयोग किया है, कि इस नक्षत्रके सहचारी अन्य नक्षत्र, ग्रह और तारा भी शान्त थे, अश्विनी आदि नक्षत्र, सूर्य आदि ग्रह एवम् उपनक्षत्र तारा सब ही शान्त थे, शुभ थे. यद्यपि ज्योतिष शास्त्रमें इनका फल नहीं कहा तो भी उनका भी फल होता है. इसीलिए उनकी शान्त अवस्थाका निर्देश किया है. इस श्लोकसे कालके सब ही स्वाभाविक एवं सहयोगसे प्राप्त होनेवाले आनुषंगिक गुणोंका निरूपण किया है।।१।।

१. यह श्रुति तैत्तरीय शाखाध्यायियोंके ब्राह्मण भागमें रोहिणीकी स्तुतिरूपसे उपलब्ध है (योजना)

व्याख्यार्थ : देश तीन प्रकारका है, नीचा, ऊंचा और सब ओर चारों तरफ, उसमें चारों ओर दिशा उपर आकाश और नीचे भूमि, इन तीनोंकी निर्दोषताके साथ गुणोंका वर्णन किया जाता है. उनमें दिशा देवतारूप भी होती है, और भूतात्मक भी होती है. उनमें भूतात्मक पूर्व–पश्चिम आदि दिशाओंका प्रसाद

(निर्मल होना) वह है, जिससे दूर देशस्थ वस्तुका भी दर्शन हो सके. मेघ आदिके न होनेके कारण वैसी निर्मलता होती है, और श्रवण इन्द्रियकी अधिष्ठात्री दिग्देवताका प्रसाद तो सर्व सिद्धिका कारण है. अतः[१] ज्ञान भी सिद्ध हो और सर्व फल भी सिद्ध हो, इसलिए भूतात्मक और देवात्मक दोनों प्रकारकी दिशाओंकी प्रसन्नता 'दिशः प्रसेदुः' इन शब्दोंसे कही है.

१.दूरदर्शिता एवं सर्व इन्द्रियोंकी सत्प्रवृत्तिके द्वारा जीवनकी सफलता इन दो महान् लाभोंकी सूचना 'दिशः प्रसेदुः' की व्याख्यामें निगूढाशय आचार्यने की है.

दिशः प्रसेदुर्गगनं निर्मलोडुगणोदयम्।।
मही मङ्गलभूयिष्ठपुरग्रामव्रजाकरा।।२।।

श्लोकार्थ : जिस समय दिशाएं निर्मल हो गई थीं, आकाश भी निर्मल तारागणोंके उदयसे शोभित था. पृथ्वीमें भी प्रत्येक नगर और ग्रामोंमें एवम् गौओंके रहनेके स्थान तथा रत्नादिकोंके भी उत्पत्ति स्थानोंमें सर्वत्र ही प्रचुर मंगलाचार हो रहे थे।।२।।

व्याख्यार्थ : आकाश निर्मल तारागणोंसे उनके उदयकालमें भी शोभित था. वर्षाकालमें मेघोंका होना स्वाभाविक है. उनके कारण ताराओंका प्रकाश नहीं दिख पाता. इस कारण ताराओंकी निर्मलता बतलाई है, कि उदयकालमें भी मेघादिकोंका अभाव था, अथवा उदय शब्दसे 'दर्शन' अर्थ यहां पर अधिक उपयुक्त है. आकाशमें निर्मल तारागणोंका दर्शन हो रहा था. पृथ्वीमें विवाह, पुत्र-जन्म आदि मांगलिक उत्सव होने लगे. बड़ेसे बड़े नगर, छोटेसे छोटे ग्राम, गौओंके निवास तथा रत्न आदिके उत्पत्ति स्थान सब ही बहुविध एवम् अत्यधिक मंगलमय दृश्योंसे पृथ्वीसे सज उठे।।२।।

नद्यः प्रसन्नसलिला ह्रदा जलरुहश्रियः।।
द्विजालिकुलसन्नादस्तबका वनराजयः।।३।।

श्लोकार्थ : (जिस समय) नदियोंका जल निर्मल था, सरोवर भी कमलोंसे शोभा सम्पन्न हो रहे थे, वन पंक्तियां भी पक्षीवृन्द एवम् भ्रमर पुञ्जकी गुञ्जारसे पुष्प गुच्छोंको मुखरित कर रही थीं।।३।।

व्याख्यार्थ : इस प्रकार देश और कालके गुणोंका वर्णनकर, उन-उन भूतोंकी प्रधानता रखनेवाले भौतिक पदार्थोंके गुणोंको कहते हैं. उनमें प्रथम जलोंके गुणोंको कहते हैं, कि नदी प्रसन्न सलिला हो गई. उनका जल निर्मल हो

गया. यद्यपि जल अनेक प्रकारके हैं, फिर भी मुख्य दो ही प्रकार हैं. एक तो स्थिर रहनेवाले और दूसरे बहनेवाले. अतः उन दोनोंके गुण कहे जाते हैं. नदियोंमें कालवश जल गंदा हो जाता है. आधिदैविक कालके प्रकट होनेसे या कालके नियामक भगवान्के सामर्थ्यसे वह गंदे होनेका दोष दूर होता है, अतः कालके नियामक भगवान्के पधरानेके समय नदियोंका नीर निर्मल हो गया, एवं प्रसाद गुण पूर्ण हो गया. इस प्रसन्न सलिला पदके द्वारा मलांश दोषकी निवृत्तिके साथ-साथ स्वाभाविक नेत्र सुखकारी सौन्दर्य गुणका निर्देश किया है. सरोवर स्थिर जलाशय होते हैं. जलमें प्रकट होनेवाले कमलोंकी शोभा उन जलाशयोंमें व्याप्त हो रही थी. जलका जो यह सारांश है, या उनके हृदयका जो रत्न है, वह कमलादि ही है. अतः जलके असाधारण गुणोंका वर्णन इस विशेषणसे हुआ है. भूमिके गुणोंका वर्णन करना है, इसलिए गन्ध ही भूमिका प्रधान गुण है, इस दृष्टिसे तथा उस गन्ध की प्रसिद्धि पुष्पादिकोंमें है, इस दृष्टिसे गन्ध और रसके कार्योंका[१] कथन करते पुष्पादि सम्पत्तिपूर्ण वनरूपिणी भूमिका वर्णन करते हैं, कि पक्षियों एवं भ्रमरोंके समूहोंकी मधुर ध्वनिसे शब्दायमान् पुष्प गुच्छों द्वारा वन रात्रियां भी आनन्दोल्लाससे परिपूर्ण हो गई।।३।।

१. आम्र आदिके पुष्प गुच्छों पर केवल रसना द्वार रस ग्रहण करनेवाले कोकिलादि पक्षियोंका और मालती आदिके पुष्पगुच्छों पर गन्ध तथा रस दोनोंके ग्राहक भ्रमरोंका वर्णन यथा योग्य ज्ञातव्य है.

ववौ वायुः सुखस्पर्शः पुण्यगन्धवहः शुचिः।।
अग्नयश्च द्विजातीनां शान्तास्तत्र समिन्धत।।४।।

श्लोकार्थ : (उस समय) पवित्र एवम् शुभसूचक सुगन्धपूर्ण तथा सुस्पर्श वायु बह रहा था, और द्विजातीयोंके शुभ अग्नि देव भी प्रदीप्त हो उठे थे।।४।।

व्याख्यार्थ : सुखमय स्पर्श वायुका गुण है, और वह वायु पृथ्वीके प्रधान गुण गन्धका वहन करता ही है, परन्तु भगवत्प्राकट्यके सुअवसर पर तो उस वायुने शुभसूचक पवित्र सुगन्धको बहा दिया. दिशा विदिशाओंको सुगन्धसे सुवासित कर दिया, इस वायुमें गंगादि पवित्र नदियोंके जल कण व्याप्त थे, अतः इसे 'शुचि' कहा है, अथवा दोष रहित होनेके कारण इसे 'शुचि' कहा गया है, या शुभसूचक होनेसे 'शुचि' है. उक्त सब ही अभिप्रायोंको लेकर शुचि पदका प्रयोग हुआ है, वायुके दोषाभाव और गुणोंमें उसके तीनों विशेषणोंका उपयोग है, और

स्मृति प्रतिपादित कर्मोंके उपयोगी लौकिकअग्नि तथा श्रुति प्रतिपादित अग्निहोत्र आदि वैदिक कर्मोंके उपयोगी वैदिकअग्नि दोनों प्रकारके शुभअग्नि प्रज्वलित हो उठे. 'द्विजातीनाम्' इस पदसे अग्निके ब्राह्मण आदि उच्च श्रेणीके सत्कर्माधिकारियोंके सम्बन्धी होनेका निर्देश किया है, और उसके द्वारा म्लेच्छ आदिसे सम्बन्धित निषिद्ध कर्मगत अग्निका अग्रहण सूचित किया है, अर्थात् म्लेच्छोंकी अग्नि बुझ गई, यह सूचित किया है, 'शान्ता' इस विशेषणसे अशुभ कार्यगत अग्निका व्यावर्तन किया है. आशय यह है, कि भगवत्प्राकट्यके सुअवसर पर शुभअग्नि दबी हुई भी जाग उठीं और अशुभ मांसपाकादि क्रियागत अग्नि जगानेसे भी नहीं जगी।।४।।

मनांस्यासन् प्रसन्नानि साधूनामसुरद्रुहाम्।।
जायमानेऽजने तस्मिन् नेदुर्दुन्दुभयो दिवि।।५।।

श्लोकार्थः (उस समय) असुरोंके विरोधी सब ही सन्मार्गवर्ती साधुओंके मन उल्लासपूर्ण होकर खिल उठे थे, अजन्माके जन्म कालके अधिक निकट आने पर आकाशमें नगाडे बजने लग गए।।५।।

व्याख्यार्थ : 'मन' सात्त्विक अहंकारका कार्य है. इस कारण(तामस अहंकारके कार्य) पृथिवी आदि भौतिक पदार्थोंके गुण वर्णनके अवसर पर मनके[१] भी गुणोंको कहा जाता है, जब सत्त्वगुण[२] मनसे आरुढ होता है, अर्थात् मन सत्त्वगुण पर स्थित होता है, तब मन प्रसन्न होते हैं, मन दैत्यसम्बन्धी भी होता है, उस दैत्य सम्बन्धी मनको प्रसन्नता प्राप्त नहीं हुई ऐसा बतलानेको 'साधूनाम्' इस पदका प्रयोग किया है, यह 'साधु' पद दैत्योंके अतिरिक्त सबहीका बोधक है, ऐसा सूचित करनेको 'असुरद्रुहाम्' इस पदका प्रयोग किया है, व्यवहारमें सन्मार्ग पर बर्तनेवाला सदाचारी ही साधु है, ऐसा बतलानेको 'साधु' पद उपयुक्त है, यह अवस्था स्थूल कालमें भी रही अर्थात् भगवान्के जन्मकालसे कुछ पूर्वमें इस अवस्थाका प्रारम्भ हुआ और मायाके जन्म पर्यन्त यह देशकालादिकी प्रसन्नता वाली अवस्था वर्तमान रही, परन्तु जन्मके निकट समयमें तो यह विशेषता हुई कि आकाशमें दुन्दुभि बज उठी, अजन्मा भगवान्के प्राकट्यकालके निकट आते ही आकाशमें निगाड़े खड़कने लगे, यह शब्द इतना निकट था, जिससे वसुदेवजी आदि सुन सकें. आकाशके[३] गुण नृत्य और वाद्य हैं, दुन्दुभि मंगलवाद्य है, आप ही आप दुन्दुभि बजी थीं, किन्हीं लोगोंने इन्हें बजाया नहीं था।।५।।

१.मन सब ही इन्द्रियोंका उपलक्षण है. समस्त इन्द्रियोंकी प्रसन्नतामें तात्पर्य है.
२.''यदा रजस्तमोभावाः कामलोभादयश्च ये, चेत एतैरनाविद्धं स्थितं सत्त्वे प्रसीदति'' भा.प्र.स्क.द्वि.अ. १९वां श्लोक देखिये.
३.आकाश प्रधान अन्तरिक्ष लोकके यह नृत्य आदि गुण कहे हैं. इस श्लोकमें दुन्दुभि वाद्य कहा है. आगे श्लोकमें गान और स्तुति कही है. गान और स्तुति तो शब्दरूपसे आकाशके गुण स्पष्ट है ही.

जगुः किन्नरगन्धर्वास्तुष्टुवुः सिद्धचारणाः।।
विद्याधराश्च ननृतुरप्सरोभिः समं मुदा।।६।।

श्लोकार्थ : (उस समय) किन्नर और गन्धर्व गान करते थे, सिद्ध एवम् चारण लोग स्तुति पढ रहे थे और विद्याधर गण अप्सराओंके साथ हर्षसे नाच रहे थे।।६।।

व्याख्यार्थ : किन्नर और गन्धर्व भी गान करने लगे. उनका हृदय स्वतः ही उल्लासपूर्ण हो गया, भगवान् प्रकट हो रहे हैं, इस ज्ञातव्य विषयके ज्ञानके बिना ही उनकी यह रसमत्त दशा हो गई, यदि भगवत्प्राकट्यको जानकर उन्होंने गान किया, ऐसा माना जाय तब तो भगवत्प्राकट्यकी महिमाका प्रतिपादन न हो सकेगा, उसकी स्वाभाविक चमत्कृतिका दिग्दर्शन न हो सकेगा. सिद्ध और चारण स्तुति करने लगे, उस समय अकस्मात् ही मांगलिक स्तुतिपाठमें प्रवृत्त हो गये, क्योंकि वह लोग इस मांगलिक समयके राय, भाट जैसे थे, विद्याधर लोग नर्तक (नाचनेवाले) थे. 'विद्याधराश्च' इस 'च' शब्दसे यह भी सूचित होता है, कि विद्याधरोंकी स्त्रियां भी नाचने लगीं, अप्सराओंके साथ सम्पन्न हुआ यह नृत्य आनन्दके आवेशसे ही है, नाट्य[१] शास्त्रकी पद्धतिसे नहीं, अतएव 'मुदा' पदके द्वारा आनन्दकी सूचना की है, किन्नर आदि किसीके प्रेरणासे गानादिमें प्रवृत्त नहीं हुए किन्तु स्वतः ही आनन्दसे[२] व्याप्त होकर अकस्मात् स्त्री और पुरुष उस समय नाचने लगे, इससे यह अर्थ निकलता है, कि जो भी कोई जिस विद्यामें तल्लीन थे वह सहसा हर्षके साथ उस उस कार्यको करने लगे।।६।।

१.शास्त्रीय नृत्यमें तो उसके नियमानुसन्धानसे व्यग्रताका रहना स्वाभाविक है, और व्यग्रताकी दशामें आनन्दकी स्थिति समुचित सांगोपांग बनी रहे यह सम्भव नहीं.
२.'आनन्दाभिभूताः' ऐसा पाठ होना अत्यधिक सम्भव है. लेखकार ने तो 'स्वतः एव जातो य आनन्दस्तेनाविर्भूतास्तेषां गानादि क्रिया इति शेषः' इस प्रकार पंक्तिके लगाने

की सफल चेष्टा की है, परन्तु उस प्रयासकी आवश्यकता प्रतीत नहीं होती. पूर्वापर की वाग्धारासे 'आनन्दाविर्भूता:' ऐसा ही प्रयोग अधिक सङ्गत प्रतीत होता है.

मुमुचुर्मुनयो देवाः सुमनांसि मुदान्विताः।।
मन्दं मन्दं जलधरा जगर्जुरनुसागरम्।।७।।

श्लोकार्थ : (उस समय) मुनि एवम् देवताओंने प्रसनन्ताके साथ सुमन वृष्टि की, एवं मेघोंने सागरके निकट मन्द-मन्द गर्जना की।।७।।

व्याख्यार्थ : देवगण और मुनिगणोंने भगवत्प्राकट्यको जानकर[१] ही धारारूपसे पुष्पोंकी वृष्टि की थी. मुनिओंको[२] शब्दरूप श्रुतिका बल है, और देवताओंको अर्थरूप भगवान्का ही बल है, यह दोनों प्रामाणिक हैं, इन्होंने अपनी सेवा(प्रभुके प्रति सेवकका कर्त्तव्य) और भगवान् पधारतें हैं, इस विषयमें अपनी जानकारी प्रकट करनेको मंगलकी सूचनाकेलिए हर्षपूर्वक पुष्पवृष्टि की, भगवत्प्राकट्यकालमें यदि सर्वथा ही मेघ न होवे, तब तो वर्षाऋतुमें मेघोंके न होनेसे कालधर्म विपरीत होनेसे अशुभकारी समझा जावे, अतः मेघोंका भी कार्य वर्णन किया है, कि समुद्रके तट पर मेघोंने गर्जना की.

१. क्योंकि पुष्पवृष्टि एक ऐसा कार्य है, जिसमें गान आदिकी भांति अज्ञान पूर्वकताका सम्भव नहीं, गान आदि आनन्दकी उमंगमें स्वतः भी होते हैं, परन्तु पुष्प वृष्टि उनके कारणका ज्ञान होने पर ही हो सकती है.

२. प्रकाशकारके अनुसार यह व्याख्या है. लेखकारने तो मुनि और देव दोनोंको क्रमसे शब्द और अर्थके द्वारा वेदके उपजीवी बतलाया है. मुनिगण वेदका स्वाध्यायकर, सामर्थ्य सम्पन्न होते हैं, और देवगण अपने प्रतिपादक मन्त्रों द्वारा प्राप्त हुवे हविका भोगका सामर्थ्य सम्पन्न होते हैं. लेखकारका कहना है, कि कालादिके गुण जो पूर्वमें कहे गए है, वह सब रूपलीला सम्बन्धी पदार्थोके ही कहे गए हैं, नामलीला सम्बन्धी पदार्थोके गुण यहां देव और मुनिओंके पुष्प वृष्टि द्वारा कहे हैं.

व्याख्यार्थ : मुनियोनें अपने निर्दोष मानसोंको पुरुषोत्तमसे सम्बन्धके न होनेके कारण समाधिसे निकालकर भगवान्के प्राकट्य स्थल पर छोड़ दिये व रख दिये. धारावाहिकरूपसे उनकी मनोवृत्ति वहीं पर लग गई, देवताओंने तो वहां पर पुष्पोंकी वृष्टि की, ऐसा अर्थ है, इसलिए पुष्प आदि पदको छोड़कर 'सुमनस्' पदका प्रयोग किया है, क्योंकि ये पद सुन्दर मन और पुष्प दोनों अर्थोंका वाचक है, पुष्पवाचक 'सुमनस्' शब्द स्त्रीलिंग है, स्त्रीलिंगका 'सुमनसः' ऐसा प्रयोग न

करना सूचित करता है, कि द्वितीय अर्थ 'सुन्दर मन' भी यहां अभीष्ट है, अन्यथा भूमिमें स्थित रहनेवाले मुनियोंका आकाशमें स्थित हुए देवताओंके साथ पुष्प-वृष्टि करना कैसे सिद्ध हो सकेगा? मनका पुष्परूपसे कथन पुष्पोंके उज्ज्वल एवं संकोच-विकास आदि धर्मोंसे युक्त होनेके कारण विरुद्ध नहीं किन्तु अनुकूल है (उचित है). 'मुदान्विताः' इस विशेषणसे मुनि और देवताओंमें आनन्दावेशकी सूचना है, जिससे पुष्परूप मुनि मानसोंकी मकरन्दभरपूर्णता व्यञ्जित होती है, उस समय मेघोंने विचार किया कि इस सुमन वृष्टिकी अपेक्षा हमारी की हुई जल-वृष्टि न्यून रहेगी और ऐसी अद्‌भुत न होगी. अतः उन्होंने जल-वृष्टि नहीं की, किन्तु वहां गर्जना नहीं है, अतः गर्जनामात्र ही मेघोंने आवश्यक कर्त्तव्य समझकर की, गर्जना भी मन्द-मन्द सुहावने ढंगसे की, जिससे वह किन्नर गन्धर्वोंके गान तान सुननेमें आ सके, क्योंकि गम्भीर गर्जना पूर्वोक्त वाद्य गीत आदिके श्रवणमें प्रतिबन्ध करनेवाली होती है, अतः उसमें प्रतिबन्ध न होने पावे इसलिए मन्द गर्जना की ऐसा कहा है, अन्यथा वाद्य गीतोंकी व्यर्थता हो जानेकी आपत्ति थी, इससे यह अभिप्राय सिद्ध होता है, कि एक ही साथ वाद्य, गीत और गर्जना हो रहे थे और उनका आपसमें मेल मिल रहा था. एक दूसरेके उतराव चढ़ावमें सहायक हो रहे थे, ऐसी सुव्यवस्थाके साथ सब लोगोंके सुननेमें आ रहे थे.

व्याख्यार्थ : वह मेघ जलको धारण करनेवाले ही थे, वर्षा करनेवाले नहीं थे. अतः गर्जना ही की, वृष्टि नहीं की. मेघोंका 'जलधर' शब्दके व्यवहार करनेमें शुकदेवजीका यह आशय है, कि भगवत्प्राकट्यसे पूर्वमें नीलवर्णकी प्रसंशा लोकमें नहीं थी. इस कारण वह अपने नीलरूपको अप्रशस्त समझकर उसके दूर करनेकेलिए जलका त्याग करते रहते थे, और शुभ्र हो जाते थे, परन्तु अब तो परम मनोहर श्याम स्वरूप प्रभु प्रकट हो रहे हैं, अतः कविगण आगे हमारी उपमा उन्हें देवेंगे, उससे हमारा जन्म सफल होगा. इस हर्षके कारण अपने नीलरूपको अभीष्ट होनेसे, उसे बचाये रखनेको उस नीलरूपताका कारण जल धारण है, इस विचारसे जलधर ही रहे आये. 'जलद' या 'जलभुक्' नहीं हुवे, यदि जल धारण नहीं करते, उसकी वृष्टि कर देते तो शुभ्रता हो जाती, नीलिमा न रह पाती, यद्यपि मरकतमणि, नीलकमल आदि की भी समान रूपता है, परन्तु अपना (मेघ)का साथ विद्युत(बिजली)से होता है, मरकतादिका नहीं, अतः स्वामिनीओंकी सुनहरी तनु लतासे जब श्यामतमाल प्रभु वेष्टित होंगे, तब उस

दशामें युगल छबिके दोनो रूपोंमें अधिक साम्य अपना ही ठहरेगा, इत्यादि 'जलधर' पदका स्वारस्य है, क्योंकि जलवाले मेघोंमें ही विद्युतका साथ देखनेमें आता है, और भी बात यह है, कि समुद्र इस गर्वसे गर्जना करता है, कि मेरे गाम्भीर्य गुणको प्रभुने अंगीकार किया है, उसके उस गर्वको दूर करनेकेलिए मेघ गर्जता है, कि तेरा तो केवल गाम्भीर्यमात्र धर्मसे ही साम्य है, और मेरा साम्य तो स्वरूपसे है, अतः मेरा साम्य अधिक है. तू क्या गर्व करता है, ऐसा सूचित करनेकेलिए 'अनुसारगम' यह पद कहा है ।।७।।

निशीथे तम उद्भूते जायमाने जनार्दने ।
देवक्यां देवरूपिण्यां विष्णुः सर्वगुहाशयः।।८।।
आविरासीद् यथा प्राच्यां दिशीन्दुरिव पुष्कलः।।

श्लोकार्थ : (जिस समय) अविद्यानाशक भगवान् जनार्दन प्रकट हो रहे थे, अंधकार ऊंचा जा चुका था. उस अर्धरात्रके समय विष्णुरूप धारिणी श्रीदेवकीमें सर्वान्तर्यामी पुरुषोत्तम भगवान् विष्णुका पूर्व दिशामें पूर्ण चन्द्रकी भांति जन्म हुआ। ।८।।

व्याख्यार्थ : इस प्रकार देश-कालोंके तथा देश-कालस्थ जल, वायु आदि तत्त्वोंके और वर्षा ऋतुके गुणोंका निरूपण करनेके अनन्तर 'निशीथे' आदि श्लोकार्धसे रात्रिके और उसके मुहूर्तके गुणोंका वर्णन करते हैं, रात्रिका मध्य भाग, जहां उसके पूर्वार्ध और उत्तरार्ध मिलते हैं, वह अर्धरात्रि या निशीथ कहलाता है, जो कि (४५)पैंतालीस[१] और (४६)छयालीसवीं घडियोंका जोडा है, उस समयकी निर्दोषताका सूचक 'तम उद्भूते' यह विशेषण है, क्योंकि उस निशीथमें 'तम'(अन्धकार) 'उद्भूत' हो चुका था, ऊंचा हो चुका था, अर्थात् निवृत्त हो चुका था. रात्रिका दोष अन्धकार है, उसकी निवृत्तिसे निर्दोषता सिद्ध होती है, ऊंचा होना ही निवृत्त होना है. क्योंकि देखा जाता है, कि जो निकल जाता है, वह ऊंचा होता है. (और[२] जो फंसा रह जाता है, वह नीचा पडा रहता है). जनार्दनके जन्मका वर्तमान काल होनेसे 'जायमाने जनार्दने'के द्वारा उस कालके गुणोंका निर्देश किया है, कि जितने गुणसे सर्व प्राणीओंके अविद्यानाशक जनार्दन प्रभु प्रकट होते हैं, वैसे गुणोंका आधार वह निशीथ काल था, ऐसा अर्थ है.

१. टिप्पणी - यद्यपि मेष या तुला राशि पर सूर्यके संक्रमण कालमें ही दिन मान और रात्रि मान ३० तीस - तीस घडियोंका होता है, उसी दिन अर्ध रात्र ४५-४६

घडियोंका होता है. सिंह राशिस्थ सूर्यके कालमें ४६-४७ घडियोंका अर्धरात्र होता है, तो भी ४५-४६ घडियोंका निर्देश किस प्रकार हुवा? इस विषय पर प्रकाश डालते हुए प्रकाशकारने भगवान्के जन्मकालका गणितकर, इस प्रकार निर्णय दिया है कि कलियुग आनेसे १२५ वर्ष पूर्व भगवान्का जन्म हुवा था, तथा उस वर्षमें 'अषाढ' मास अधिक था. उस दिनका मान ३१ घडी ४ पल था, एवं रात्रिका मान २८ घडी ५६ पल था. रात्रिका पूर्वार्ध १४ घडी २८ पलका था, तथा रात्रिका उत्तरार्ध भी १४ घडी २८ पलका ही था. तदनुसार अर्धरात्रिका काल ४५ घडीके अनन्तर ३२ पल व्यतित होने पर आता है, भगवान्का जन्म उसी समय हुवा था, उसी समय चन्द्रमाका भी उदय हुवा था, परन्तु अन्धकारकी निवृत्ति ४५वीं घडीके आरम्भ होते ही हो गई थी. ३२ पलोंसे पूर्व ही चन्द्र प्रकाशका क्षितिजसे संयोग होने पर अन्धकार हट गया था. इस अन्धकारके हटनेके कालका उल्लेख ४५वीं घडी पर किया है, जिससे अन्धकारकी निवृत्तिके द्वारा सर्व दोषोंकी निवृत्तिका बोध कराना अभीष्ट है, कि उस समय किसी प्रकारका कोई दोष अवशिष्ट नहीं रहा था, सर्वदोषोंकी निवृत्ति होने पर ही 'पूर्णचन्द्र कृष्णचन्द्रका प्राकट्य हुवा''.

२. यह आशय है, निगूढाशय वाक्पतिका जीवोंकी संसारासक्तिके अभाव सम्पादनमें.

व्याख्यार्थ : कालगत मूलरूप भगवद्गुणोंके और भौतिक नदी आदिके गुणोंके प्रकट होनेमें भगवान्का प्राकट्य ही निमित्त है, इस तत्त्वको लक्षित करानेकेलिए बीचमें 'जायमानेऽजने' ऐसा पंचम श्लोकमें कहा जा चुका है, 'अजन' शब्दसे, भगवान्का जन्मादि विकारोंसे रहित होना सूचितकर, उसके ऐच्छिक प्राकट्यमें विकारहेतु काल निमित्त नहीं हो सकता, किन्तु प्राकट्यकालके सर्व गुणयुक्त होनेमें वह प्रकट होनेवाले 'अजन' भगवान् ही निमित्त हैं, और फिर अन्तमें ''**जायमाने जनार्दने**''के द्वारा यह सूचित करना अभीष्ट है, कि सर्व तत्त्वोंके गुणोंका प्रकट होना इसलिए अनिवार्य है, कि भगवान् सबकी अविद्याका नाश करनेको प्रकट हो रहे हैं. अतः भगवत्प्राकट्य ही सबके गुणोंके प्रकट होनेमें हेतु है, ऐसा बतलाया है. इस प्रकार इस सन्दर्भमें गूढार्थ प्रकाशक पद्धतिसे विचारीत तृतीयाध्याय ग्रन्थमें भगवान्के अवतारत्रय भी कहे हैं, सर्व धर्मके संरक्षक 'श्रीअनिरुद्धजी'[३] एवम् अज्ञान निवृत्तिके द्वारा मोक्षदाता 'संकर्षण'[४] और देवकीमें जो विष्णुरूप है, वह 'प्रद्युम्नजी'[५] तथा नन्दालयमें 'वासुदेव'(जिनका दर्शन रूपान्तर स्वीकार स्थल पर माता-पिताको

हुआ है) इस प्रकार सर्वरूपसे प्रकट हुवे यही भगवान् हैं, ऐसा कहा गया है.

३.अनिरुद्धव्यूहके प्राकट्यकी सूचना 'जायमानेऽजने' इस स्थल पर मिलती है, क्योंकि, 'अथ सर्वगुणोपेतः'से लेकर 'जगर्जुरनुसागरम्' पर्यन्त कालादि गुणरूप धर्मोका वर्णन है, उसीके मध्यमें अजनके जन्मका उल्लेख धर्म संरक्षक स्वरूपका ही परामर्श करता है.

४.संकर्षण व्यूहकी सूचना 'जायमाने जनार्दने' इस स्थल पर हुई है, यहां जनार्दनका प्राकट्य उस स्वरूपका प्राकट्य है, जो 'जना' नामक अविद्याका 'अर्दन'(विनाश) करता है, विनाशका प्रलय करना संकर्षणका कार्य है, अविद्याका विनाश करने पर मोक्ष दान भी करते हैं.

५.देवकीमें प्रकट होकर वंश वृद्धि करनेवाला स्वरूप प्रद्युम्न व्यूह है.

व्याख्यार्थ : दोषोंके अभाव सम्पादनमें एवं गुणोंके प्रकट होनेमें भगवान् ही कारण है. यदि दोषाभावका सम्पादक एवं गुणोंको प्रकट करनेवाला कोई स्वाभाविक काल ही है, ऐसा मान लिया जावे तब तो उस समयमें उत्पन्न होनेवाला कोई अन्य पुरुष भी भगवान्के समान ही होना था, क्योंकि उस पुरुषकी उत्पत्तिका काल और भगवत्प्राकट्यका काल एक ही है, जो कि दोनो स्थलों पर निमित्तरूपसे उपस्थित है, अतः यह ही मानना पडेगा कि भगवान्का प्राकट्य ही गुण प्राकट्यमें निमित्त है, और उन गुणोंका प्राकट्य भगवान्के प्रकट होनेकेलिए ही हुआ है, ऐसा निरूपण दो बार 'जायमाने' के कथनसे अभीष्ट है. इस प्रकार सर्वांश पूर्ण भगवान् प्रकट हुवे ऐसा कहते हैं, कि देवकीमें विष्णु प्रकट हुवे, देवकी सर्व देवता है, सर्व देवताओंकी समूहात्मक प्रतिमा है, सम्पूर्ण देव समूहमें पूर्ण सत्त्व होता है, और वह पूर्ण सत्त्व भगवान्के आविर्भावमें आधाररूपसे निमित्त होता है. जैसे अग्निके विषयमें अरणि काष्ठको आधाररूपसे निमित्त देखा गया है. यहां पर अरणिके दृष्टान्तको लेकर यह विचार उपस्थित होता है, कि अरणि भी किसी मन्थन व्यापारके आवेशको पाकर ही अग्निके प्रकट होनेमें निमित्त होती है, इसलिए देवकीने भी मन्थनके स्थान पर किसीका निरूपण करना आवश्यक है, उक्त विचारको लक्ष्य कर 'विष्णुरूपिण्याम्' यह देवकीका विशेषण प्रयुक्त हुआ है, देवकीमें विष्णुका रूप विद्यमान् है, अतः उसे विष्णुरूपिणि कहा गया है, आशय यह है, कि देवकीके अन्तःस्थित भगवत्स्वरूपने ही बाहर भगवान्को प्रकट कर दिया है, देवकीका कोई प्रयत्न अथवा प्रसवका वायु आदि कुछ भी भगवत्प्राकट्यमें निमित्त नहीं. उन प्रयत्न आदि अन्य निमित्तोंके निवारण

करनेकेलिए बतलाया गया यह देवकी हृदयगत रूप ही स्वयमेव मन्थन स्थानीय होकर अपने आविर्भावमें कारण है, ऐसा सिद्धान्त है.

कुछ विद्वानोंका कहना है, कि देवकीमें जो आधिदैविक स्वरूप विद्यमान् है, उसका विष्णु शब्दसे निर्देश है, परन्तु उस दशामें विष्णुरूपा देवकी ऐसा अर्थ होता है, विष्णुरूपको धारण करनेवाली विष्णुरूपवती देवकी. इस प्रकार विष्णुरूपसे अतिरिक्त उसकी आधाररूप देवकी ऐसा अर्थ यहां पर अभीष्ट है. कहीं 'देवरूपिण्याम्' ऐसा पाठ है, वहां भी देव शब्दसे विष्णुका ही ग्रहण अभीष्ट है. विष्णुका अर्थ व्यापक पुरुषोत्तम है, जिसे वेदांतमें ब्रह्म कहा जाता है, जब उस व्यापककी सर्वत्र ही सत्ता है, तो उसका प्रादुर्भाव वास्तविक नहीं औपचारिक किसी धर्मको लेकर कथन मात्र ही है, ऐसी शंकाके निवारणार्थ 'सर्वगुहाशयः' इस पदका प्रयोग किया है, भगवान् प्राणीमात्रकी हृदयरूप कन्दरामें शयन करते हैं, विराजते हैं. वह सर्व व्यापक होते हुए भी सर्वान्तर हैं, सबके अन्तर्यामी हैं, अन्तर देशमें स्थित हैं, वह बाहर पधारे हैं, बाहर पधारना ही उनका प्रादुर्भाव है, अतः पूर्वोक्त शंकाको स्थान नहीं. आपकी व्यापकता और सर्वान्तरता श्रुति सिद्ध है. अतः उनका अविरोध है, उक्त गुहाशय स्वरूपके प्राकट्य प्रतिपादनसे यह निरूपण किया है, कि भगवान्ने अपने भजनकेलिए सर्व साधारण लोगोंके हृदयमें विराजमान् होकर इस तत्त्वको समझानेकेलिए वेदोंकी रचना की वेदोक्त कर्तव्यपरायण लोग कृतार्थ हो जावेंगे, इस समय वह अन्तर् स्वरूप बाहर प्रकट हुआ है, इसलिए अब इससे आगे भविष्यमें वेदोक्त अन्तःस्वरूप चिन्तन आदिकी प्रक्रियाका उपयोग नहीं किन्तु इस बाहर प्रकट हुवे स्वरूपकी ही सेवा करनी चाहिए.

व्याख्यार्थ : भगवान् अकस्मात् प्रकट हो गये. देवकी जिस स्वरूपका हृदयमें अनुभव कर रही थीं, वह स्वरूप बाहर दृष्टिगोचर हो गया, देवकीका कोई भी व्यापार उनके प्रकट होनेमें निमित्त नहीं हुआ, न कुछ ज्ञान ही हुआ कि प्रसव होनेवाला है, और न उसकेलिए सावधानता ही की गई, वह प्रकट हुआ स्वरूप सम्पूर्ण ही आनन्दमय है, ऐसा निरूपण करनेकी आधाररूप देवकीका प्राची दिशा और प्रकट हुए, भगवान्का पूर्ण चन्द्र दृष्टान्त कहा है, "**यथा प्राच्यां दिशि इन्दुरिव**", प्राची पूर्व दिशा सबकी उपासना करने योग्य है. सर्व देवतामयी है, वह भी चन्द्रमाके आगमनमें मार्ग मात्र है, चन्द्रमाको उत्पन्न करनेमें निमित्त नहीं,

चन्द्रमा अमृतमय है. परम ऐश्वर्यशाली होनेसे इसे 'इन्दु' भी कहते हैं, यह आनन्दमय हैं. पूर्व दिशामें प्रथम इसका पूर्णरूपसे ही दर्शन होता है, इसके खण्ड तो मध्य आकाशमें और प्रान्तभाग पश्चिम दिशामें दिखते हैं, और इसका ऊंचा विशाल खण्ड भी पूर्व दिशामें दिखता है, कृष्ण पक्षकी प्रतिपदा, द्वितीया तिथियोंके कालमें पूर्व दिशामें दीखनेवाले अपूर्ण चन्द्रके निवारण करनेको 'पुष्कल' शब्दका प्रयोग किया है, इस पूर्ण चन्द्रके दृष्टान्तसे भगवान्की पूर्णता सिद्ध की है, पुष्कल शब्दसे परिपुष्टता भी सूचित होती है, जिसके द्वारा निष्कलंकताका बोध होता है, क्योंकि कलंक ही तो क्षयका कारण है, तथा उक्त रीतिसे पूर्व दिशामें पूर्ण चन्द्रकी भांति देवकीमें विष्णुका प्राकट्य हुआ, यह एक दृष्टान्त निकलता है, और इस शंकाके निवारण करनेकेलिए कि वसुदेवजीकी अनेक पत्नियोंके होते देवकीमें ही भगवान्का प्राकट्य क्यों हुआ ? दूसरा दृष्टान्त है कि, जैसे अनेक दिशाओंके होते हुए भी पूर्ण चन्द्र प्राची दिशामें ही उदित होता है, उसी प्रकार देवकीमें ही भगवान् प्रकट हुए, 'इव' और 'यथा' इन दो दृष्टान्तवाचक शब्दोंकी आकांक्षा शान्त करनेको 'प्राची-दिशा' और 'पुष्कल-चन्द्र' इन शब्दोंका दो वार उच्चारण जानना आवश्यक है, इस प्रकार व्याख्या करने पर यह अर्थ सिद्ध होता है, कि जैसे पूर्ण चन्द्रका प्राकट्य स्थान पूर्व दिशा ही है, उसी भांति सर्व शक्ति परिपूर्ण पुरुषोत्तमका प्राकट्य स्थान देवकी ही है, अतः सच्चिदानन्द स्वरूप, एवं सकलकला परिपूर्ण भगवान् अकस्मात् ही देवकी वसुदेवके सम्मुख प्रकट हो गये, वह दोनों तो बैठे थे, उनके बैठे-बैठे ही आकस्मिक प्रादुर्भाव हुआ तभी आश्चर्य भी उन दोनोंको हुआ और उन्होंने वर्णन भी किया. यह भी संगत होता है, भगवान्के प्रकट होनेमें कुछ श्रुति वाक्योंका विरोध प्रतीत होता है. उसके निवारणार्थ आचार्योंने कारिकामें आज्ञा की है, कि मेरे स्वामी दासीजनोंकी सर्व प्रकारसे रक्षा करनेके हेतु वैसा निमित्त बनाकर प्रकट हुए हैं, '**अदृश्यम् अग्राह्यम्**' आदि उपनिषद् वाणीमें किसी प्रकारकी चिन्ताकी आवश्यकता नहीं, क्योंकि इन्द्रिय सामर्थ्यसे उनकी अग्राह्यता एवम् अदृश्यतामें उसका तात्पर्य है. स्वेच्छासे तो वह दृश्य एवं ग्राह्य होते ही हैं. अतः प्राकट्यसे पूर्व जैसे कोई विरोध नहीं था, प्रकट होने पर भी कोई विरोध नहीं है।।८।।

दासीनां सर्वरक्षार्थं निमित्तीकृत्य तादृशम्।
प्रादुर्भूतो मम स्वामी नैश्चिन्त्यं वाचि पूर्ववत्।।कारि.१।।८।।

१.इस कारिकाके शब्दोंसे निश्चय होता है, कि श्रीवल्लभाचार्यने अपने सर्वस्व प्रभुका, जिन्हें श्रीगोपीजनवल्लभ कहते हैं, यहां प्राकट्य माना है. 'मम स्वामी' और 'दासीनाम्' इन शब्दों का स्वारस्य इस ओर आकृष्ट करता है. मथुरामें व्यूह सहित पुरुषोत्तमका प्राकट्य है, यह तो सर्व सम्मत है ही, अनिरुद्ध, संकर्षण और प्रद्युम्न इन तीनों व्यूहोंका तो श्रीसुबोधिनीमें स्पष्ट उल्लेख हुआ ही है. प्रकाशकारने श्रीसुबोधिनीके ही आधार पर वासुदेव व्यूहका प्राकट्य भी मथुरामें हुआ है, ऐसा सिद्ध कर दिया है. लेखकार वासुदेवके प्राकट्यको यहां नहीं मानते हैं. उनका मत है कि वासुदेव व्यूहके अतिरिक्त तीनों व्यूहोंके साथ पुरुषोत्तमका प्राकट्य मथुरामें हुआ है, वासुदेवका प्राकट्य तो नन्दालयमें नवमीके दिन हुआ है, पुरुषोत्तम प्राकट्यमें तो कोई मतभेद नहीं है, पुरुषोत्तम प्राकट्य व्यूहोंके सहित मथुरामें हुआ और व्यूहरहित द्विभुज पुरुषोत्तम प्राकट्य गोकुलमें हुआ.

श्रीशुक उवाच

तमद्भुतं बालकमम्बुजेक्षणं चतुर्भुजं शङ्ख–गदाद्युदायुधम्।।
श्रीवत्स–लक्ष्मं गलशोभिकौस्तुभं पीताम्बरं सान्द्रपयोदसौभगम्।।९।।

श्लोकार्थ : प्रकट हुआ वह बालक अद्भुत था. कमल जैसे नेत्र थे. चार भुजाएं थीं. उन भुजाओंमें शंख, गदा आदि आयुध उठे हुवे थे. श्रीवत्सका चिह्न वक्षःस्थलमें था. गलेमें शोभा सम्पन्न कौस्तुभ मणि थी. पीताम्बर धारण किये था. नीले स्निग्ध मेघके समान सुन्दरता थी।।९।।

व्याख्यार्थ : इस प्रकार भगवान्के प्रादुर्भावका निरूपण उनके ऐश्वर्यके साथ–साथ साढ़े आठ श्लोकोंसे करनेके अनन्तर उनके वीर्यका निरूपण करनेकेलिए 'तमद्भुतम्' आदि दो श्लोकोंसे भगवान्का अनुरूप वर्णन करते हैं, इस वर्णनके पूर्वमें 'श्रीशुकउवाच' ऐसा कहा गया है, जबकि अध्यायके आरम्भमें ही 'श्रीशुकउवाच' ऐसा कहा जा चुका है, साढ़े आठ श्लोकोंमें प्रादुर्भावका वर्णन शुकदेवजीने ही किया है, बीचमें कोई अन्य संवाद आया नहीं. अब वर्णन भी शुकदेव ही कर रहे हैं, ऐसी दशामें फिर 'श्रीशुक उवाच' इस प्रकारका उल्लेख अनुपयुक्त प्रतीत होता है, परन्तु वह उल्लेख किसी विशेष दशाकी दिशाको दिखला रहा है कि इस भगवत्प्राकट्य प्रसंगमें आनन्दमग्न हुए श्रोतागण बाह्य अनुसन्धान रहित हो गये. परीक्षित आदि सबकी लीला तन्मयता हो गई उन्हें सावधान करते हुए शुकदेवजी वर्णन करने लगे, इस अभिप्रायसे यहां 'श्रीशुक

उवाच' कहा गया है.

दशलीलानिरूप्योऽयं पुरुषो द्वादशात्मकः।
द्विगुणो भगवानत्र प्रादुर्भूत इतीर्यते।।कारि.१।।
सर्वेषां प्राणरूपश्च ऐहिकः पारलौकिकः।
ज्ञानक्रियोभययुतो दशलीलाप्रवर्तकः।।कारि.२।।
सगुणां नवधाभक्तिं निर्गुणां च प्रवर्तयन्।
काण्डद्वयार्थं तनुते सोत्र द्वादशधामतः।।कारि.३।।
सर्वप्रकाशकश्चैव कालात्मेन्द्रियनायकः।
आत्मा कार्यं च भूतानि अहन्तत्वमुभौ त्रयः।।कारि.४।।
अक्षरं भगवांश्चेति द्वादशात्मा हरिः स्वयम्।।कारि.४.१/२।।

कारिकार्थ : सर्ग, विसर्ग, आदि दशविध लीलाओंसे जिसका स्वरूप निरूपण होता है, वह ही यह प्रकट हुआ अद्‌भुत बालक, द्वादशात्मक पूर्ण पुरुषोत्तम है, यहां पर प्रकट हुए भगवान् द्विगुण हैं, अर्थात् षड् ऐश्वर्यादि गुणयुक्त जो भगवान् कहलाता है, उसकी अपेक्षा यह द्विगुण है, इस प्रकट हुए स्वरूपमें मर्यादामार्गीय षड् ऐश्वर्यादि और पुष्टिमार्गीय षड् ऐश्वर्यादि मिलकर एक कालमें विराजमान् हैं. अतः इस स्वरूपको द्विगुण भगवान् जानना यह कहा गया है।।१।।

यह प्रकट हुआ स्वरूप, सबका दशविध प्राण है और इस लोक एवं परलोक दोनों ओरका परम फल है, एवं ज्ञानशक्ति तथा क्रियाशक्ति दोनों शक्तियोंसे पूर्ण है और सर्ग आदि दशलीलाओंको प्रवृत्त करनेवाला है।।२।।

श्रवण, कीर्तन आदि नवधा सगुण भक्ति और निर्गुण प्रेमलक्षणा भक्तिको प्रवृत्त करता हुआ वेदके पूर्व और उत्तर दोनों काण्डोंके प्रतिपाद्य कर्म, और ज्ञानका विस्तार करता है, वह स्वरूप यहां पर द्वादश प्रकारसे माना है।।३।।

द्वादश राशियोंके द्वादश सूर्योंकी भांति सर्व प्रकाशक हैं, एवं द्वादश भासात्मक कालरूप हैं, तथा एकादश इन्द्रिय और उनका नायक मन यह सब मिलकर द्वादश रूप यह ही है, आत्मा(१.जीवात्मा और २.परमात्मा) कार्य (३.महत्तत्व) भूत (४.पृथ्वी आदि पञ्च महाभूत) अहंत्तत्व (५.अहंकार) दोनों ६.प्रकृति और ७.पुरुष, तीनों गुण ८.सत्व, ९.रज, १०.तम, ११.अक्षरब्रह्म और भगवान् (१२.परब्रह्म) इस प्रकार द्वादशात्मा स्वयं हरि ही सब कुछ है।।४।।[(क),(ख)]

व्याख्यार्थ : उन द्वादश विशेषणोंमें प्रथम दश प्रकारके स्वरूपलक्षण विशेषणोंका वर्णन करते हैं. 'तम्' इस विशेषणसे लोक वेद प्रसिद्ध, जिसका भगवद्गीता अध्याय १५ श्लोक १८में निरूपण किया है, जो मूलरूप होनेके कारण आश्रय[१] भूत सर्वाधार है, उसीका निरूपण हुआ है, कुछ विवेचकोंने 'तम्' इस प्रथम विशेषणसे, 'सृष्टि' सर्ग नामक प्रथम लीलाका ग्रहणकर भगवान्की सृष्टिरूपता स्वीकार[२] की है, अद्भुत शब्द भगवान्की अलौकिकताका सूचक है, क्योंकि पदार्थ लोक अथवा वेदमें प्रसिद्ध होता है, वह तो दृष्टिगत या श्रवणगत होकर सर्वसाधारणको आश्चर्यजनक नहीं हो सकता, अलौकिक पदार्थ ही आश्चर्यजनक होता है, यही प्रमेयबल[३] कहलाता है, यह प्रमाणसे सर्वथा भिन्न हैं, दूरस्थ है, वीर्य वह ही होता है, जिसका उल्लंघन लौकिक और वैदिकोंसे न हो सके, तब ही आश्चर्य होता है, 'अद्भुत' विशेषणसे सूचित होता है, कि भगवत्स्वरूप ऐसा है, कि जिसे देखे ही बने उसका स्मरण, या वर्णन नहीं हो सकता, इस प्रकार 'तम्' और 'अद्भुतम्' इन दो पदोंसे भगवत्स्वरूपके सर्व साधारण लोगोंसे वर्णित हो सकनेकी और न हो सकनेकी सूचना की है.

क. उक्त साडे चार कारिकाओंमें 'तमद्भुतम्' इत्यादि श्लोक द्वयमें प्रयुक्त हुए भगवत् स्वरूपके परिचायक विशेषणोंकी संख्याका प्रयोजन आठ प्रकारसे सूचित किया है, प्रथम श्लोकमें १० और द्वितीय श्लोकमें २ दो विशेषण हैं, उनका पृथक् और मिलाकर दोनों प्रकारसे तात्पर्य वर्णन किया है, एवं उसके द्वारा यह प्रतिपादन किया है, कि भगवल्लीलास्थ सर्व सामग्री भगवद्रूप ही है,

ख. दो श्लोकोंसे वीर्यगुणका निरूपण भी भगवान्की द्विगुणताका सूचक है.

१. भगवद्गीता अ. (८।२२) जिसे भक्ति द्वारा लभ्य कहा है.

२.क्योंकि तमद्भुतं श्लोकके अन्तर्गत दश विशेषणोंसे सर्गविसर्गादि दश लीलाओंका ग्रहण उन्हें अभीष्ट है, परन्तु कोई बलिष्ठ प्रक्रियाका निर्देशन मिलनेसे उनका मन्तव्य चिन्त्य ही है.

३.जो लोकवेदप्रसिद्ध है, वह ही अद्भुत भी है, अर्थात् लोक वेद प्रसिद्ध नहीं भी है, यह तत्त्व प्रमाणयुक्ति द्वारा बुद्धिगम्य नहीं हो पाता, क्योंकि उस अद्भुत तत्त्वकी अद्भुतता तो यह ही है, कि सब प्रमाण उसका अनुसरण करते हैं, परन्तु 'इदमित्थं' रूपसे नहीं बतला पाते उस प्रमेय स्वरूप परम तत्त्वका यह बल है, यह ही उसका वीर्य है कि लोक और वेद दोनों मिलकर या पृथक्-पृथक् भी उसका पार नहीं पा सकते

वह अपार है, दो श्लोकों द्वारा भगवत्स्वरूपका वर्णन उनके वीर्यका प्रमेय बलकी लोक और वेद दोनोंसे अगम्यताका सूचक है.

व्याख्यार्थ : 'बालकम्' इस विशेषणके द्वारा भगवान्के यशका निरूपण अभीष्ट है, जिसके बाल-बालमें (रोम-रोममें) ब्रह्माण्ड शरीरधारी ब्रह्मा है, ऐसे अद्भुत बालकका स्वरूपत: यथावत् वर्णन शक्य नहीं, जिससे बालकोंको (अत्यन्त मुग्धगोपबालकोंको) 'क' सुख ब्रह्मानन्दसे भी अधिक आनन्द प्राप्त होता है, या होनेवाला है, ऐसा यह अद्भुत बालक है, तथा 'क' ब्रह्मा भी जिसका बाल (पुत्र) है, एवं बलसम्बन्धी (बलदेवजीके साथ क्रीड़ा करनेवाले) बाल सखाओंके 'क' शिररूप उनमें सर्वश्रेष्ठ सबके शिरोमणि यह बालक है, इत्यादि निर्वचनसे आपके पराक्रमको अद्भुतताके द्वारा 'यश'का निरूपण हुआ है, 'अम्बुजेक्षणम्' इस विशेषणसे अलौकिक शोभाका निरूपण करते हैं, कि कमल जैसे आपके नयन हैं, एवम् अम्बुजा (समुद्रसे उत्पन्न हुई लक्ष्मी) आपके ईक्षण (दर्शन)में है, (जो इन्हें देख पाता है अथवा, जिस पर आपका दृष्टिपात हो जाता है, वह सर्व समृद्धि परिपूर्ण हो जाता है.) तथा सूर्य चन्द्रको उपनिषद्में जिसका नेत्र बतलाया है, और श्रुतिसिद्ध पञ्चाग्नि विद्याके द्वारा जिस रूपकी साधना उच्चकोटिके साधक करते हैं, उस रूपवाले पुरुषको 'अम्बुज' शब्दसे कहा है, क्योंकि ''पञ्चभ्यामा हुता वापः पुरुष वचसो भवन्ति'' इस श्रुतिमें पञ्चम आहुतिके होने पर जलोंकी पुरुष शब्दसे व्यवहार्यताका उल्लेख मिलता है, उस अम्बुज नामक पुरुषमें जिसका ईक्षण है, जिसका ज्ञान उस पुरुषमें प्रकट होता है, ऐसा वह अद्भुत बालक है, एवं लक्ष्मीका काम जिसका सुख है, तथा ब्रह्माण्डमें उसकी रक्षाके निमित्त जिनका दृष्टिपात होता है, और लक्ष्मीमें जिसका दृग्विलास या सुख है, क्योंकि लक्ष्मी आपकी भोग मन्दिर है.

जलसे प्रकट हुई पृथिवीमें जिसका दर्शन है, अन्यत्र नहीं, (ऐसा सुन्दर सुयोग है, कि जिसके दर्शनको अलभ्य या दुर्लभ कहते हैं, वह अब यहां पृथिवी पर ही दर्शन दे रहा है, कहीं अन्यत्र ढूंढनेकी आवश्यकता नहीं) ऐसे अनेक प्रकारसे भगवान्की ज्ञानात्मक श्रीका निरूपण किया है. कमलके मध्यमें भ्रमरके प्रवेश करने पर ही उसे नेत्रकी तुलना प्राप्त होती है, और वह भ्रमर भी निश्चल हो गया हो, तब ही नेत्र ताराकी सदृशताको प्राप्त कर सकता है, कमलमें भ्रमर मकरन्द पान मग्न होकर ही निश्चल होता है, अतः कमलकी समानता नेत्रोंमें

किसी विलक्षण मकरन्द रसपूरको बतलाती है, दया, अमृत आदि ही नेत्रोंमें मकरन्द स्थानीय हैं, उन दयामृतादिरूप भगवत्कृपा कटाक्षके सम्बन्ध होने पर ही सबको भगवद्रसके आस्वादकी योग्यता एवम् अधिकारिता प्राप्त होती है. जैसे बिना मकरन्द सम्बन्धके भ्रमरको मधुप नहीं कर सकते वह मकरन्द (मधु) पानसे ही मधुप कहलाता है, इस तथ्यका निरूपण करनेकेलिए प्राकृत कमलोंसे भी नेत्रोंको समानता दी है, अथवा जलमें कमल एक अद्भुत सौन्दर्यशाली पदार्थ होता है, इसी प्रकार सम्पूर्णरूपमें नेत्रोंको प्रधानता होती है, वह अद्भुत शोभा सम्पन्न होते हैं, इस विशेषणसे अद्भुत ज्ञानशक्तिका निरूपण किया है.

४. नेत्र ज्ञानशक्ति प्रधान है और कमल श्री(शोभा)प्रधान है. इन दोनोंका साम्य भी अभेद पर्यवसायी ही है, अतः ज्ञानमयी श्रीका निरूपण होता है, षड् ऐश्वर्यादि गुणोंकी भी पारस्परिक विभिन्नता ही हो ऐसा नियम नहीं है, ज्ञान गुण, श्री गुणका एवं श्री गुण, ज्ञान गुणका कार्य कर सकते हैं अप्राकृत गुणोंमें ऐसा ही सहज चमत्कार है.

घातकौ रक्षकौ चोक्तौ विरोधेप्यतिसंकटे।
वेदोक्तं द्विविधं ज्ञानं भक्तिर्भगवतस्तथा।।कारि.१।।
मधुसूदनो माधवश्च त्रिवृन्नारायणस्तथा।

व्याख्यार्थः 'चतुर्भुजम्' इस विशेषणसे भगवान्की क्रियाशक्तिका निरूपण करते हुए उसके मूलभूत ज्ञानकी[५] चतुर्विधताका[६] निरूपण करते हैं. भगवान्की भुजा चार हैं, भुजाओंसे आदान प्रदान आदि क्रिया होती है, अतः भुजा क्रियाशक्ति स्वरूप है, भगवान्का अवतार चार प्रकारके कार्य करनेको हुआ है, उन्हीं कार्योंको चतुर्भुजरूपसे कहा है, अथवा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष यह चारों पुरुषार्थ या पृथ्वी, जल, तेज, वायु यह चारों भूत या धर्म, वरुण, इन्द्र, कुबेर, यह चार दिक्पाल भगवान्की भुजा हैं, या भुजाओंमें यह सब हैं, इस विशेषणसे भगवान्की पुरुषरूपताको द्विगुणरूपसे कहा है, वह लौकिक भी हैं और अलौकिक भी हैं.

५.क्रियाशक्तिके निरूपणमें ज्ञानशक्तिका उल्लेख सूचित करता है, कि भगवान्की भुजा आदि कर्मेन्द्रिय, जीवोंकी भांति ज्ञानशून्य नहीं किन्तु ज्ञानपूर्ण ही हैं.

६.प्रमाण, प्रमेय, साधन, फल यह चार प्रकार ज्ञानमें अपेक्षित होते हैं, किसी वस्तुका ज्ञान प्रमाणके बिना नहीं हो पाता, काले पीलेका ज्ञान आंखसे और खाटे खारेका ज्ञान रसनासे ही होता है, अतः ज्ञान प्रमाणाधीन है, प्रमाणकी अपेक्षा रखता है,

ज्ञातव्य पदार्थ भी ज्ञानमें अपेक्षित है. जिस पदार्थको जानना अभीष्ट है, उसकी भी अपेक्षा ज्ञान रखता है. उस ज्ञातव्य पदार्थोंको ही प्रमेय कहते हैं, ज्ञान होने पर भी तब–तक उस ज्ञानकी पूर्णता नहीं जब–तक उसका ज्ञातव्य किस साधनसे प्राप्त होता है, ऐसा न जान लिया जावे. अतः ज्ञानमें साधनकी भी अपेक्षा रहती है, एवं ज्ञातव्यके ज्ञानसे और उसकी प्राप्तिके साधन ज्ञानसे उपस्थित होनेवाला उनका फल तो उस ज्ञानकी परिपूर्णतामें मुख्य है ही. अतः प्रमाणादि चतुष्टयको ज्ञानका प्रकार या अंग जानना चाहिए.

वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, इन व्यूहोंके क्रमशः मुक्तिदान, असुर वध, वंश वृद्धि, धर्मरक्षा कार्य है, उन्हींका भुजाओंसे संकेत है. युद्ध आदिके द्वारा शत्रुवध लौकिक चरित्र है, और शकटभंग आदि अलौकिक चरित्र हैं.

कारिकार्थ: भगवान्‌की चार भुजाओंमें दो–दो भुजा घातक हैं और दो–दो भुजा रक्षक हैं, एक समयमें एक ही स्थान पर घात भी करना और रक्षा भी करना अत्यन्त विरुद्ध है, महाराज परीक्षितको उत्तरा माताके उदरमें अश्वत्थामाके अमोघ ब्रह्मास्त्रसे आहत कराकर, उसके लौकिक बीजांशका घात भी किया और वैष्णवांश गर्भकी रक्षा भी की, और उसकी माताको बचाया, महान् संकटकी अवस्थामें भी इस प्रकार भक्तोंके दोष विघातपूर्वक रक्षा करनेकी सूचना चतुर्भुज शब्दसे हुई है, अथवा वेदोक्त ज्ञान दो प्रकारका होता है, कर्मज्ञान और ब्रह्मज्ञान, या आत्मज्ञान और परमात्मज्ञान, तथा भगवद्‌भक्ति भी द्विविधा होती है, साधनभक्ति और फलभक्ति, या सगुणभक्ति और निर्गुणभक्ति. भक्ति इत्यादि सर्व फलका दान भगवान्‌के ही हाथ है, ऐसी सूचना चतुर्भुज शब्दसे होती है.

व्याख्यार्थ : 'शङ्खगदाद्युदायुधम्', इस विशेषणसे भगवान्‌के वैराग्य गुणकी सूचना है, क्योंकि वैराग्य होने पर ही सर्व दु:ख निवृत्त होते हैं और भक्तोंके दु:ख निवृत्तिकेलिये ही आयुधोंको भगवान्‌ने उठाया है, शङ्ख जलतत्त्व है, जलसे पृथिवी उत्पन्न हुई, अत: पृथिवी तत्त्वका जलतत्त्व आदिकारण है, अत: भुवनात्मक कमल पृथिवीतत्त्वका ग्रहण आदि शब्दकी योजनासे यहां अभीष्ट है, गदा प्राणात्मक वायुतत्त्व है, वायुसे अग्नि उत्पन्न हुआ है, अत: अग्नितत्त्व सुदर्शनका ग्रहण 'गदादि' शब्दसे अभीष्ट है, इस प्रकार शङ्ख,पद्म, गदा,चक्र इन चारों आयुधोंका क्रमसे निरूपण किया है, इन आयुधोंको ऊंचा उठाये हुए भगवान् प्रकट हुए हैं.

कारिकार्थ : वैष्णवशास्त्रमें चतुर्भुज स्वरूपके आयुधोंके धारण क्रममें भेद होनेसे 'मधुसूदन', 'माधव', 'नारायण' इत्यादि भेद बतलाए हैं, यहां पर प्रकट हुए स्वरूपको दक्षिण हस्तोंमें ऊपर शङ्ख और नीचे पद्म तथा वामहस्तोंमें ऊपर गदा और नीचे चक्र इस प्रकारसे मधुसूदन माना है, और कुछ समानताको लेकर माधव और नारायणरूप भी कहा है, तथा संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्धरूपता भी है.

व्याख्यार्थ : उक्त आयुधोंके विषयमें यह शंका हो सकती है कि शंख और कमलको किस प्रकार शस्त्ररूप माना जावे, उनसे तो शत्रुवध सम्भव नहीं, उक्त शंकाके निवारणार्थ आयुध शब्दके प्रयोगका तात्पर्य समझाते हैं कि यह शंख, पद्म, गदा, चक्र भगवान्के क्रमशः इन्द्रिय, देह, प्राण, अन्तःकरण हैं, इनसे ही भगवान् दैत्यवध करते रहते हैं. शंख, प्राणात्मक वायुसे भरा जाता है, उसकी ध्वनिसे दैत्योंका दर्प नष्ट होता है, अतः शीघ्र ही वे मारे जाते हैं, इन्द्रियोंका भी पोषण शंखकी भांति प्राणसे ही होता है, अतः शंख इन्द्रियरूप है, और कमल ब्रह्माण्डरूप होनेसे भगवान्का स्थूल शरीर ही है, उसको धारणकर सूचित करते हैं कि जैसे अधिक भारयुक्त पदार्थ ऊपर गिर पड़नेसे साधारण जन्तुओंको पींचकर मार देता है, उसी प्रकार ब्रह्माण्डात्मक कमलके फिरानेसे इन साधारण कीट पतंग जैसे दैत्योंको चाहूं जहां, वहीं पीस देता हूं, अतः शंख कमलकी आयुध सत्ता उपयुक्त है, गदा वायु तत्त्व होनेसे आधिदैविक प्राणरूप है ही, और सुदर्शन चक्र तो तेजः स्वरूप होनेके कारण आपका अन्तःकरण है. मोक्ष देनेकी इच्छासे जिसका वध करते हैं, तेजःस्वरूप चक्रके द्वारा उसे तेजमें ही लय प्राप्त करा देते हैं, अथवा पञ्च महाभूतोंमें आकाशको छोड़कर अन्य पृथिवी आदि भूतचतुष्ट्य ही आपके आयुध हैं, आकाश तो निर्लेप होनेके कारण आपके शरीररूपमें उपयोग पाता है, पृथिवी कमल है, जल शंख है, तेज सुदर्शन चक्र है, वायु गदा है. आप तो आकाशकी भांति निर्लेप रहते हैं, भूतोंसे भूतोंका वध होता रहता है यह अभिप्राय है, उक्त विशेषणमें 'उदायुध' पदका 'उद्+आयुध' इस प्रकार पदच्छेद करनेसे 'उदक जल' इस अर्थकी भी प्रतीति होती है, उसके अनुसार भी व्याख्या करते हैं, कि जिस प्रकार जल अपनेमें गिरे हुए भारी पदार्थको अपनेमें ही डुबा लेता है, उसी प्रकार अभिमानके भारसे लदे हुए अविनीत पाषाण तुल्य दैत्योंको भगवान्के आयुध अपनेमें ही मिला लेते हैं, निकालकर अलग नहीं

फेंकते. अतः आसुर लोग भूतोंमें ही लीन होते हैं, मुक्तिको प्राप्त नहीं कर पाते हैं.

इस प्रकार उक्त श्लोकके पूर्वार्धमें षड्गुण सहित भगवान्का निरूपण किया है, अब फिर उत्तरार्धमें वैदिक ऐश्वर्य आदि कहे जाते हैं, 'श्रीवत्सलक्ष्मम्', इस विशेषणसे श्रीवत्सको भगवान्का चिह्न बतलाकर उनकी अक्षरब्रह्मसे प्रधानता सूचित की है, जिसके उनके वैदिक ऐश्वर्यका बोध होता है, क्योंकि उक्त विशेषणमें श्री-वत्स-लक्ष्म यह तीन शब्द हैं, 'श्री' शब्दका अर्थ 'लक्ष्मी' है. वह ही ब्रह्मानन्द कहलाती है, वह ब्रह्मानन्द स्वरूप श्री'लक्ष्मी', जिसकी 'वत्सा' पुत्री है, वह (श्रीवत्स) सर्व वेद प्रतिपाद्य अक्षरब्रह्म ही है, वह अक्षरब्रह्म स्वरूप श्रीवत्स जिसका 'लक्ष्म'(चिह्न) है, परिचय करानेवाला असाधारण धर्म है, वह परब्रह्म स्वरूप यह अद्भुत बालक है, सर्वात्मा भगवान्के 'जगत्' अक्षरब्रह्म-काल आदि अनेक लक्षणरूप धर्मोंमें अक्षरब्रह्मकी, मुख्यता है, अतएव आपके वक्षः स्थलमें 'भृगुपद'का चिह्न है, भृगु ऋषि सर्व प्रकारसे ब्रह्मको धारण करनेवाले थे, जातिसे भी ब्राह्मण थे, वेदाध्ययन परायण थे, अक्षरब्रह्मके तादात्म्यका अनुभव करनेवाले थे, उन्होंने जातिरूपसे भी ब्रह्मको धारण किया था, वेदरूपसे भी ब्रह्मको धारण किया था, और अभेद चिन्तनकी प्रक्रियासे भी ब्रह्मको धारण किया था, सर्व प्रकारसे ब्रह्मके धारण करनेवाले महात्मा भृगुका पद जहां अंकित है, वह सर्वथा ही ब्रह्मका आश्रय है, क्योंकि आश्रयमें ही पद स्थिर होकर ठहरता है, अन्यत्र मार्गादिमें तो वह पद गतिशील ही बना रहता है, जब कोई किसी गन्तव्य देशका लक्ष्यकर, चलता है, जबतक वहां पहुंच नहीं पाता, तबतक उसके पद व्यापारशील बने रहते हैं, ठहरते नहीं. ठहरते तो वहीं पर हैं, जहां उसे पहुंचना है, जो उसका आश्रय है, सर्वथा ब्रह्ममय भृगु ऋषिके भगवान् ही आश्रय हैं, अतः उनकी गतिका पर्यवसान भगवान्में ही है, वहीं पर उनका पद प्रतिष्ठित हुआ है, ''कितना गम्भीर विश्लेषण है, पुनः पुनः पढ़नेकी आवश्यकता है'' इन भृगु ऋषिकी ख्याति नामक स्त्रीमें 'श्री' नामक कन्या उत्पन्न हुई थी, अतः इनको 'श्री वत्स' कहते हैं, क्योंकि श्री जिसकी वत्सा (बेटी) हो, उसे श्रीवत्सा कहा जाता है, ब्रह्मका लक्षणरूपसे अपने परिचायक धर्मरूपसे ग्रहण करना भगवान्के ऐश्वर्यका कार्य है. वेदसिद्ध होनेसे यह वैदिक ऐश्वर्यका निरूपण हुआ है. ''गल शोभिकौस्तुभम्'' इस विशेषणसे भगवान्के वैदिक 'वीर्य' गुणका निरूपण करते हुए बतलाते हैं, कि ब्रह्म ही किसी अवस्थासे

सम्पर्क प्राप्तकर जीवपदवीको धारण करता है, वह भी भगवान्का एक प्रकारका लक्षण विशेष है.

भगवान्ने अपने गलेमें शोभा युक्त कौस्तुभमणिको धारण किया है, वह सर्व जीवोंकी स्वरूप भूत प्रतिमा है, ''**चैत्यस्य तत्त्वममलं मणिमस्य कण्ठे**'' इस भा.स्कं. (३।२८।२८)में कौस्तुभमणिको जीवतत्त्व बतलाया है, उस मणिको श्रीहस्तादिमें स्थान न देकर गलेमें स्थान देनेका अभिप्राय यह है, कि क्रिया शक्तिकी अपेक्षा ज्ञानशक्ति उत्तम होती है, अतः मुक्त जीवोंको सरस्वतीका स्थान ही उपयुक्त है. भगवान्का कण्ठप्रदेश ज्ञानशक्ति स्वरूप सरस्वतीका आश्रय है, अतः वहां मुक्तात्माओंका स्थान है, मुक्तोपसृप्य भगवान् मुक्त जीवोंको कण्ठाभरणरूपसे धारण करते हैं, कौस्तुभमणिका बीचमें धारण करना सूचित करता है, कि जीव दोनों प्रकारके होते हैं. कोई क्रियानिष्ठ होते हैं, जिनका कर्मकाण्डकी पद्धतिसे ब्रह्म प्राप्तिकेलिए उद्यम होता है, और कुछ ज्ञाननिष्ठ होते हैं, जिनका ज्ञानकाण्डकी पद्धतिसे ब्रह्म प्राप्तिका उद्यम होता है, भगवान्की सर्वांग वर्णना श्री भा.(३।२८) में हुई है, वहां कौस्तुभका वर्णन दो वार किया है, इससे भी द्विविधता स्पष्ट होती है, श्लो.सं.२६''**कण्ठञ्च कौस्तुभमणेरधि–भूषणार्थम्**'' श्लो.सं.२८''**चैत्यस्य तत्त्वममलं मणिमस्य कण्ठे**'', यह वह दोनों श्लोकोंके अंश हैं, शोभा दो प्रकारकी होती है, ज्ञानकृत शोभा और कर्मकृत शोभा सत्कर्माचरणसे हुई शोभा कर्मकृत शोभा है, और तत्त्वचिन्तनादिसे सम्पन्न हुई शोभा ज्ञानकृत शोभा है, जीवके यह दोनों ही, क्रिया और ज्ञान, धर्म हैं, अतः जीवतत्त्वात्मक कौस्तुभमणिको 'शोभि' शोभा सम्पन्न बतलाया है, उक्त प्रकारसे भगवान्में अक्षरब्रह्म एवं जीवब्रह्म इन दोनोंके सम्बन्धका श्रीवत्स और कौस्तुभरूपसे निरूपणकर जीवोंके जीवभावमें करणीभूत मायाका भगवान्के अमुक अंशको आच्छन्न करनेवाली होनेके कारण पीताम्बररूपसे निरूपण करते हैं, 'पीताम्बरम्' भगवान्का वस्त्र पीतवर्ण है, अतः शोभाका हेतु है, क्योंकि नील वर्ण आपका श्री विग्रह है,आकाशका वर्ण भी नील है, इसलिये आपको आकाशतनु कहा है, कि भगवान्का शरीर आकाश है, नीलवर्ण पर पीतवर्ण अधिक शोभादायक होता ही है, साथ ही में एक मर्म ओर भी शोभामें उपयोगी है, कि भगवान्का शरीर आकाश है, ऐसा ''**आकाश शरीरं ब्रह्म**'' आदि श्रुतियोंसे सिद्ध होता है.

आकाश विकार रहित है, तो उसकी शोभा भी विकार रहित वस्तुके सम्बन्ध होने पर रह पावेगी. विकारिवस्तुके सम्बन्ध होने पर निर्विकारकी भी शोभा नहीं रह पाती. पीताम्बर सर्वांशमें विकार रहित है, इसमें पीत और अम्बर दो अंश है, अम्बर शब्द आकाश वाचक होनेसे निर्विकारिताका सूचक है, और पीत वर्णके सम्बन्धमें इस दिशासे विचार करने पर निर्विकारिता सूचित होती है, कि तामस और राजसके सम्बन्धमें पीत वर्ण सम्पन्न होता है, इसमें सात्त्विकका सम्बन्ध नहीं है, सात्त्विक अहंकारको ''**वैकारिको राजसश्च तामसश्चेत्यहं त्रिधा**'' आदि स्थल पर वैकारिक कहा है, एवं रोमाञ्च आदि सात्त्विक भावोंको भी विकार माना है, अतः पीत वर्णमें सात्त्विकका सम्बन्ध न होनेसे निर्विकारता है, यदि कहें, कि पीत वर्ण स्वतन्त्र है, राजस तामसके सम्बन्धसे क्यों माना जाय तो इस विषयमें तो श्रुति ही प्रमाण है, कि रूप तो तीन ही प्रकारका होता है, लाल शुक्ल और कृष्ण, पीत वर्ण आया कहांसे श्रुतिसे स्पष्ट उल्लेख है, कि ''**यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद् रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्य**'' (छान्दोग्य ६।४।१) लाल वर्ण तेजका है, शुक्ल वर्ण जलोंका है, कृष्ण वर्ण अन्न (पृथ्वी)का है, अतः पीत वर्ण भी विकार रहित 'सात्त्विक सम्बन्ध रहित' होनेसे निर्विकार है, तो पीताम्बरसे नीलवपुकी निर्विकारसे निर्विकारकी शोभा होना सर्वथा सुसंगत है, ''सान्द्र पयोद सौभगम्'' इस विशेषणसे भगवान्की 'श्री' प्रभाका वर्णन करते हैं, गाढ नील वर्णवाले मेघके समान आपकी सुन्दरता है, परमानन्द स्वरूप भगवान्की नीलवर्णताका निरूपण चार प्रकारसे पूर्वमें 'निबन्ध'में किया जा चुका है, प्रथम प्रकार यह है, कि जैसे नेत्ररूपवाले पदार्थको देखते देखते आकाशमें किसी वस्तुके न होने पर मेघ शून्य प्रदेशमें दूर जाकर कुछ नीला सा देखते हैं, उसी प्रकार ब्रह्म भी अत्यन्त गम्भीर होनेके कारण नीला जैसा ही दीखता है. द्वितीय प्रकार यह है, कि सत्ययुग आदि युगके अधिष्ठाता देवताओंके शुक्ल, रक्त, पीत, नील, वर्ण है, उनके प्रतिबिम्बोंकी प्रतीति ब्रह्ममें होती है. तृतीय प्रकार यह है, कि भगवान् भूमिमें प्रकट हुए हैं, अतः भूमिका नील वर्ण उनमें प्रतिफलित होता है. चतुर्थ प्रकार यह है, कि शुद्ध सत्त्वका वर्ण नील है. शुद्ध सत्त्वात्मक वैकुण्ठमें प्रकट हुए ब्रह्ममें उस शुद्ध सत्त्वकी नीलता झलकती है.

इस प्रकार आकाश, काल, भूमि और वैकुण्ठ इनके द्वारा चार प्रकारसे

नील रूपताका प्रतिपादन किया है, इस समय तो नील मेघकी उपमाके द्वारा उनके धर्मोंका निरूपण करना अभीष्ट है, जो मेघ अपने समय पर सर्व साधारणको आनन्दका प्रदान करता है, एवम् अन्नका उत्पादन करता है, तथा तापका नाश होता है, वह मेघ गम्भीर और नीलवर्ण होता है, इसी प्रकार ही भगवान् भी पृथिवी, एवं स्वर्गलोक, धर्म तथा भक्तोंके सर्व अनिष्टोंको नष्टकर सर्व अभीष्टोंको सिद्ध करनेवाले हैं, भगवान्के विषयमें कहा है, कि ''**सर्वत्र पूर्णगुणकोऽपि बहूपमोऽभूत**'' वह भगवान् सर्वत्र पूर्ण गुणोंसे सम्पन्न होते हुए भी बहुत उपमाओंको अंगीकार करते हैं, अतः प्राकृत मेघोंकी उपमा कोई अनुचित नहीं, अन्यथा सर्वथा अप्राकृत ब्रह्मको प्राकृत मेघोंकी उपमा कैसे संगत हो सकेगी, इस विशेषणसे मनोहर वर्षा कालीन मेघके समान श्याम सुन्दर स्वरूपका वर्णनकर, भगवान्की कान्तिस्वरूप श्रीका निरूपण किया है।।९।।

महार्ह–वैदूर्य–किरीट–कुण्डलत्विषा परिष्वक्त–सहस्र–कुन्तलम्।।
उद्दाम–काञ्च्यङ्गद–कङ्कणादिभिः विरोचमानं वसुदेव ऐक्षत।।१०।।

श्लोकार्थ : बहुमूल्य वैदूर्यमणिसे जटित मुकुट और कुण्डलोंकी कान्ति आपके हजारों केशोंसे आलिंगन कर रही थी, तथा बन्धन रहित काञ्ची (कन्धनी) एवं अंगद(बाजूबन्द), कंकण आदि आभूषणोंसे आपकी छबि अधिक छहरा रही थी, ऐसे स्वरूपका दर्शन वसुदेवने किया।।१०।।

व्याख्यार्थ : इस प्रकार पूर्वोक्त श्लोकके 'श्रीवत्सलक्ष्मम्' आदि चार विशेषणोंके द्वारा यह वर्णन किया, कि भगवान् मूल भूत अक्षरब्रह्ममें विराजमान् होकर, अपने अंशरूप जीवोंको कृतार्थ करते, भूमि स्थित जीवोंको महामोहसे स्वरूप ज्ञान रहित बनाकर उनको चतुर्विध पुरुषार्थका दान करते हैं, इस श्लोकके द्वारा ज्ञान और वैराग्यके रूपसे भगवान्के सर्व शास्त्ररूपी आभूषणोंका अनुरूप वर्णन किया जाता है, जिससे यह सूचित करना अभीष्ट है, कि भगवत्स्वरूपगत ज्ञान, एवं क्रिया यह दोनों शक्ति विविध भांतिकी हैं, उनके अनेक प्रकार हैं.

बहुमूल्य वैदूर्यमणिसे जटित किरीट एवं कुण्डलोंकी कान्तिसे भगवान्के सहस्रशः केश आलिंगित हो रहे हैं, इस विशेषणसे यह सूचित होता है, कि भगवान्के श्रीमुखका निरीक्षण करनेवाले शास्त्रके मर्मज्ञ जीवगण भगवान्के श्रीमुख कमलके मकरन्द रस पानमें निरत हुए भ्रमरोंकी भांति भक्तिके हो जानें पर सब ओरसे शोभित हो रहे हैं.

१.टिप्पणी: इस स्थल पर भक्तिके होने पर ही शास्त्र श्रमकी सफलता है, यह सूचित करना अभीष्ट है, किसी पुराणादिगत यह भगद्वचन यहां पर लिखना आवश्यक है, **''यथा खरश्चन्दन भारवाही भारस्य वेत्ता न तु चन्दनस्य, तथैव विप्रा षट् शास्त्र युक्ता मद्भक्तिहीनाः खरवद्वहन्ति**''.

उन जीवोंकी शोभाके सम्पादनमें वेद, और सांख्य योगोंका उपयोग है, तथा वेद सांख्य योगोंकी प्राप्ति सर्व लोक प्रसिद्ध गुरुसे ही होती है, इसलिये वैदूर्यमणिको बहुमूल्य[२] कहा है. वेदमें कर्म और ज्ञानके प्रतिपादक दो काण्ड है. योग भी साधन, फल, भेदसे दो प्रकारका है, और सांख्य भी न्यास तथा ज्ञानके भेदसे दो प्रकारका है, इस प्रकार षट् शास्त्रोंका निरूपण होता है. यह षट् शास्त्र ही षट् पद भ्रमररूप जीवोंके पद हैं, कुन्तलोंको संख्या सहस्र शब्दसे इसलिए प्रकट की है, कि वेद, सांख्य, योग, इन तीनोंके भी हजारों भेद हैं शास्त्रज्ञ भक्तोंका लौकिकज्ञान विस्मृत हो जाता है, इस आशयको व्यक्त करनेकेलिए कुन्तलोंका किरीट और कुण्डलोंकी आभासे परिषांग(आलिंगन) बतलाया है, अर्थात् कुन्तलरूप जीव षट् शास्त्रज्ञान जनित भक्तिभावसे सर्वांग परिपूर्ण हो जाते हैं, अतः उन्हें लौकिकका अनुसन्धान नहीं रहता है, इस प्रकार लोकमें नाना प्रकारोंको प्राप्त हुए ज्ञानके निरूपण करनेके अनन्तर 'उद्दाम' इत्यादि विशेषणके द्वारा क्रियाका निरूपण करते हैं. यद्यपि कर्म अनन्त ही हैं तो भी तीन प्रकारके ही बतलाये गये हैं, क्योंकि वह सर्व कर्मोंका सात्त्विक, राजस, तामसरूपसे ही विभाग होता है, अतः यहां पर उनका काञ्ची, अंगद, कंकणके रूपमें निरूपण हुआ है, काञ्ची तमोमय कर्मरूप है, अंगद सत्त्वमय कर्मरूप है, और कंकण रजोमय कर्म स्थानीय है.

२.अमूल्य न कहकर बहुमूल्य कहना वस्तुकी प्राप्तिके साधनकी सत्ताका सूचक है, और उसकी महत्ताका भी सूचक है, अतः किरीट आदिसे सूचित वेदादि शास्त्र भी बहुमूल्य सद्गुरुकृपासे प्राप्त होते हैं.

यह भगवान्के आभरणरूप त्रिविध कर्म वेदादि शास्त्रोंसे प्रतिपाद्य हैं, और यावत् कर्म मात्रके आदि भूत (पूर्ववर्त्ती कारण) है, अपने समान जातीय अनन्त सात्त्विक आदि कर्मोंको भविष्यमें प्रकट करते रहते हैं, क्योंकि कर्मोंका स्वभाव है, कि उत्तरोत्तर अपने जैसे कर्मोंको उत्पन्न करते रहना, 'कंकणादिभिः' का आदि शब्द, काञ्ची, अंगद और कंकण तीनोंसे सम्बन्धित है, अतः तामस

कर्म, तामस कर्मोंको सात्त्विक कर्म, सात्त्विक कर्मोंको और राजस कर्म, राजस कर्मोंको जन्म देते रहते हैं, यह सूचना अभीष्ट है. लोकमें काञ्ची दाम सहित होती है,(किसी बन्धन सूत्रादिके आधार पर अवलम्बित होती है.) परन्तु यह भगवदासरण काञ्ची तो उद्दाम है, बन्धन रहित है, वैदिक क्रिया यद्यपि हिंसात्मक होती हैं क्योंकि पशुका बलिदान वहां पर प्रधानतया किया जाता है, फिर भी वह लौकिक हिंसाकी तरह निन्द्य या पाप जनक नहीं बन्धन हेतु नहीं, इस अभिप्रायको 'उद्दाम' विशेषणसे व्यक्त किया है, साथ ही वैदिक कृतिके हिंसात्मक होनेकी सूचनासे काञ्चीकी वैराग्यरूपता[३] भी स्पष्ट हो जाती है, क्योंकि राग प्रयुक्त हिंसा ही पाप है, एवं बन्धन कारण है, वैदिक हिंसा पाप नहीं क्योंकि वह शुद्ध विधि प्रयुक्त ही है, अतः रागके अभावकी या वैराग्यकी स्पष्टता हो ही जाती है. पीताम्बरके ऊपर काञ्ची (करधनी) स्थित है, वह यह सूचित कर रही है, कि जो लोग भूमिमें मायासे व्याप्त हैं, उनका ही वैसे हिंसात्मक कर्मोंमें अधिकार है, क्योंकि भगवान्के चरणरूप भूलोक पर पीताम्बर रूपीणि माया है, और उसका काञ्चीरूप वैसे कर्मोंसे निकट सम्बन्ध है. भगवान्में लौकिक कर्मोंका सर्वथा अभाव है, अतः उन लौकिक कर्मोंकी व्यावृत्ति करनेकेलिए उनके अभाव बतलानेकेलिए लौकिक सूत्रका अभाव 'उद्दाम' शब्दसे कहा है, अथवा 'उद्दाम' शब्दके अन्तर्गत 'उद्' शब्दका उत्कृष्ट अर्थ होनेके कारण उस काञ्चीरूप वैदिक कर्ममें अलौकिक[४] साधनोंका निरूपण 'उद्दाम' शब्दसे किया है. अंगद बाहुओंके मध्यमें रहते हैं, यह सात्त्विक कर्मोंके मूल भूत है, क्योंकि ''अङ्गद्यति खण्डति'' इस व्युत्पत्तिके अनुसार अंगका खण्डन करनेवाला ही अंगद शब्दका वाच्यार्थ है. देहाध्यासकी निवृत्ति या विदेह कैवल्यकी प्राप्तिमें अंगका खण्डन (देहका अनुसन्धान न रहना) स्वाभाविक है, यह देह स्मृतिकी अवस्था सात्त्विक है, अतः इस अवस्थाका प्रयोजन कर्मकी सात्त्विक ही है. चञ्चल होनेसे कंकण राजस कर्म स्थानीय है. यद्यपि[५] शास्त्र विहित कर्मरूप अंगद और कंकणोंकी क्रिया शक्तिरूप भगवद्भुजाओंमें स्थिति होनेसे उनके सात्त्विक या राजस होनेमें कोई स्थूल कारण नहीं दीखता, परन्तु एक ही कर्मकी सकाम निष्काम कर्त्ताओंके आधार पर सात्त्विकता और राजसता, गीता १८।२३-२४)में कही है, उस दिशासे सात्त्विक और राजस (निष्काम और सकाम) कर्ता ही कर्मके सात्त्विक और राजस इस विभागके कारण है, अतः उक्त विषयमें कोई शंका नहीं.

३.वैदिक कृति लौकिक दुःखको निवृत्त करती है, अतः वैराग्यरूप है, ऐसा प्रकाशकार लिखते हैं.

४.लेखकारने साधनोंकी अलौकिकता पर प्रकाश डालते हुए वैदिक साधनोंकी भगवद्रूपता ''तत्साधनञ्च स हरिः प्रयाजादि स्रुगादियत्'' इस निबन्धके अनुसार बतलाई है.

५.'सात्त्विकराजसयोर्विभागहेतुत्वात्', इस पंक्तीकी प्रकाशकारके अनुसार यह व्याख्या है. लेखकारने तो सत्व और रजोगुण को स्थिति और सृष्टिके प्रयोजक होने के कारण ब्रह्मसे विभाग करानेमें कारण माना है. तमोगुण लय का प्रयोजक होने से विभाग का निवर्तक है, अतः अङ्गुलि आदि अवयवोंसे विभाग युक्त हस्तोंमें सत्व, एवं रजो रूप अङ्गद कङ्कणोंको स्थान है, और विभाग रहित कटिमें तमोमय काञ्ची का स्थान है, ऐसा कहा है.

आदि शब्दसे मुद्रिका(अंगूठी) एवम् अंगद(बाजूबन्द)के स्थान पर धारण करने योग्य अन्य आभरण तथा क्षुद्रघण्टिका नूपुर आदिका निरूपण किया है, उन सब ही धर्ममार्गीय भगवत्सम्बन्धी कर्मरूप आभूषणोंसे भगवान् शोभा सम्पन्न होते हैं. ''**वेदे रामायणे चैव**''[६], इस हरिवंशोक्त पद्यका उद्धरण इस दृष्टिसे किया गया है, कि सर्व शास्त्रोंमें आमूल चूल भगवान्की महिमाका ही गान हुआ है, अतः शास्त्रोक्त कर्मरूप आभरणोंसे भगवान्का शोभित होना सर्वथा सङ्गत ही है. उक्त श्लोकमें 'वसुदेव ऐक्षत', वसुदेवजीने उक्त स्वरूप भगवान्को देखा, ऐसा कहा गया है, शुकमुनिका ऐसा कथन एक शंकाके निवारणार्थ हुआ है कि प्रकट भगवान्का दर्शन तो अनुक्तसिद्ध है, उसके कथनकी क्या आवश्यकता? जो स्वरूप प्रकट हुआ उसका दर्शन होना तो स्वाभाविक ही है. एवं 'सविस्मयोत्फुल्ल' श्लोकमें 'विलोक्य' पदसे दर्शनका अनुवाद आगे किया ही है, ऐसी स्थितिमें भगवान् ऐसे हैं, देखकर वसुदेवने दान, स्तोत्र आदि किये. इतना कथन ही पर्याप्त था, परन्तु बात ऐसी है, कि वसुदेवजीको भगवत्स्वरूपका सर्वांशमें यथार्थ ज्ञान हो चुका है, इस रहस्यकी सूचनाकेलिए वह कथन किया है. बात ऐसी है, कि पूर्वोक्त ऐश्वर्यादि भगवद्धर्मोंकी लौकिकताका भी सम्भव है, और अलौकिकताका भी सम्भव है, इस समय वसुदेवजीको यदि यथार्थ ज्ञान न होगा तो वह उन ऐश्वर्यादिकोंको लौकिक ही मानेंगे, और यदि यथार्थ ज्ञान होवेगा तो[७] हमने लौकिक वैदिक दोनों प्रकारके ऐश्वर्यादिकोंका प्रतिपादक जो व्याख्यान पूर्वमें कहा

है, उसी प्रकारका आगे भी उनको भगवल्लीलाओंमें अनुभव होता रहेगा, अतः शुकदेव कहते हैं कि वसुदेवजीने वैसे धर्मोंके सहित भगवान्‌को देखा. उनका लौकिक वैदिक उभयविध ऐश्वर्यादि परिपूर्ण स्वरूप उसी समय पहिचाना, वसुदेवजीका वह ज्ञान उनके किये हुए स्तोत्रमें स्पष्ट हो जावेगा।।१०।।

६. यह प्रकाशकारका अभिप्राय है, लेखकार तो 'तमद्‌भुतम्' आदि श्लोकद्वय द्वादश विशेषणोंके अभिप्रायका सिंहावलोकन इस पद्यसे किया है, ऐसा बतलाते हैं, वेदमें आदि १, मध्य २, और अन्त ३, में तथा रामायणमें आदि ४, मध्य ५, अन्त ६, में एवं पुराणमें आदि ७, मध्य ८, और अन्त ९, में और भारतमें भी आदि १०, मध्य ११, और अन्त १२ में हरि गान किया है, अतः यहां प्रकट हुए भगवान् वह ही हैं, जिनका निरूपण वेदादि सर्व शास्त्रोंमें हुआ है.

७.श्रीवल्लभाचार्यने उक्त श्लोकोंके व्याख्यान द्वारा जैसा भगवत्स्वरूप कहा है, वसुदेवजीको उस स्वरूपका साक्षात्कार इसी समय हुवा और आगे भी होता रहेगा.

आभास : इस प्रकार भगवान्‌का दर्शनकर शुद्ध सत्त्वगुणके प्रतीक श्रीवसुदेवजीने क्रिया और ज्ञानको प्रकट किया, यह दो श्लोकोंसे कहते हैं, गोदानरूप क्रिया है, और स्तोत्र भगवत् स्वरूपके ज्ञानका बोधक है. कर्ममें चार प्रकारका अधिकार और श्रद्धा अंग है, कर्ता अर्थी होना चाहिये, जिस निमित्तसे वह कर्म करता है, उस निमित्तकी उसे अभिलाषा होनी चाहिये, तथा वह विद्वान् भी हो. उसे निमित्तका और नैमित्तिककर्मका ज्ञान भी हो, अन्यथा कर्म नहीं कर सकेगा, एवम् ऐसे सामर्थ्यशाली भी होना आवश्यक है, क्योंकि सामर्थ्यके बिना कुछ भी नहीं किया जा सकता है, और शास्त्रसे उसे कर्म करनेमें वर्जन या निषेध प्राप्त न होना चाहिये. इस प्रकार यह चार कर्त्ताके विशेषण कर्ममें अधिकाररूप हैं, और यह दानरूप कर्म नैमित्तिक है. पुत्रजन्म आदिके निमित्तसे किया जानेवाला है. वसुदेवजीको भगवान्‌के जन्मकी अपेक्षा है, इसकी सूचना उनका हर्ष ही कर रहा है. वह हर्ष भगवद्‌विषयक होनेसे असाधारण ही होता है, उसे 'सविस्मयोत्फुल्ल' आदि दो श्लोकोंसे कहते हैं:

स विस्मयोत्फुल्लविलोचनो हरिं सुतं विलोक्यानकदुन्दुभिस्तदा ।
कृष्णावतारोत्सवसम्भ्रमोस्पृशन् मुदा द्विजेभ्योयुतमाप्लुतो गवाम्।।११।।

उस समय हरिरूप पुत्रको देखकर वसुदेवजीके नयन विस्मयसे खिल उठे, कृष्णके अवतार होनेके कारण आनन्दातिरेकसे सम्भ्रान्त होकर प्रसन्नतासे स्नान कर, ब्राह्मणोंको दश सहस्र गौओंके दानका मानस संकल्प किया।।११।।

व्याख्यार्थ : उक्त श्लोकमें 'स' शब्दसे पूर्वोक्त वसुदेवजीका परामर्शकर, उनके दान, स्तोत्र, और स्वाधिकार सम्बन्धी परिज्ञानमें हेतुका निर्देश किया है, कि यह वह वसुदेव है, जिनने भगवत्साक्षात्कार किया है. एवं जो विशुद्ध सत्त्वात्मक है, अतः इनके सर्वविध ज्ञान सम्पन्न होनेमें किसी प्रकारकी शंकाका अवकाश नहीं, उनको अलभ्य लाभ[१] होनेके कारण विस्मय हुआ. वह विस्मय अन्तःप्रदेश हृदयमें प्रवेशकर नेत्रोंको खिला देता है, यह उसका स्वभाव है. वसुदेवजीके नेत्र विस्मयसे खिल उठे, उन्होंने पूर्वमें यह सुना था कि भगवान् हरि पुत्ररूपसे प्रकट होंगे, इस समय तो पुत्ररूपसे प्रकट हुए हरिको देख रहे हैं. इस प्रकारके दर्शनसे उनकी विद्वत्ता स्पष्ट होती है, जो कि कर्माचरणके अधिकारोंमें एक है. प्रस्तुत गोदान कर्ममें भगवत्प्रादुर्भाव निमित्त है, इस निमित्तके ज्ञानसे वसुदेवजीका नैमित्तिक(गोदान कर्म) विषयक ज्ञान भी सिद्ध होता है. उनका वह ज्ञान आगे गोदान करनेसे स्पष्ट होगा. 'आनक दुन्दुभिः' वसुदेवजीको इसलिए कहते हैं कि इनके जन्म समयमें आनक और दुन्दुभि बजे थे, इस कारण इनकी गोदानादि सत्कर्माचरणमें समर्थता[२] व्यक्त होती है, कि यदि दशसहस्र गोदानका सामर्थ्य नहीं होता तो जन्मकालमें आनकदुन्दुभियोंका नाद भी कैसे सम्भव था.

(१. अलभ्य वस्तुका लाभ विस्मयजनक तो होता ही है, साथमें उस वस्तुकी तीव्र प्राप्तिकी इच्छाका भी द्योतक है, जिसके प्राप्त करनेकी पूर्ण अभिलाषा हो पर अपने साधनबलको देखकर प्राप्त होनेकी आशा न हो, लाभ होने पर वह अलभ्य लाभ कहलाता है, इस कथनके द्वारा (आर्निता) भगवत्प्रादुर्भावकी अपेक्षाकी सूचना है, जो कि कर्माचरणमें एक अधिकाररूप है.

२. कर्माचरणमें समर्थता भी अधिकाररूपसे अंग है.)

भगवान् कृष्णके अवतार होने पर वसुदेवजीके मनका विलासरूप जो उत्सव हुआ, उसके होने पर उनको परम सुन्दर भ्रम या व्यग्रता हुई कि ऐसे शुभावसर पर क्या-क्या न्यौछावर न की जाय. भगवत् सम्बन्धि शास्त्रमें एवं स्मृति शास्त्रमें वैसे पुरुषका ही उस प्रकारके गोसहस्र दानादि कर्ममें वर्जन[३] नहीं किया, जिसका मन उल्लासपूर्ण हो और सम्भ्रान्त हो. पुत्र यदि सर्व शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न हो तब ही उल्लासपूर्ण हृदय होकर वैसे शुभ कर्मका अधिकार प्राप्त हो सकता है, अतः यहां कृष्ण पदका प्रयोगकर, पुत्रकी सर्व लक्षण सम्पत्ति सूचित की है, 'मुदा' हर्षके साथ गोदान किया. हर्ष स्नेहात्मक है. उसके स्वरूपमें स्नेह

अन्तःप्रविष्ट है, अतः भक्तिकी सूचना करता है, कि भक्तिमान् वसुदेवजीने भक्तिपूर्वक गोदानका मानस संकल्प किया. दशसहस्र गौओंका दान ब्राह्मणोंको उद्देश्यकर वसुदेवजीने किया. यद्यपि गोदानादि सत्कर्ममें प्रथम स्नान आवश्यक है, स्नान करनेके अनन्तर ही वैसे सत्कर्मोंका विधान है. वसुदेवजीने ऐसे ही संकल्प कैसे किया? इस प्रकारकी आशंकाके समाधान करनेकेलिए 'मुदाप्लुत[४]' इस प्रकारकी पद योजना की है, जिससे वसुदेवजीने हर्षके जलसे स्नान किया ऐसा अर्थ निकलता है।।११।।

३. शास्त्रमें वर्जित न होना भी कर्त्ताका अधिकाररूप अंग है.

४. 'मुदा' इस शब्दकी आवृत्ति अभीष्ट है. 'मुदा' हर्षके साथ दशसहस्र गौओंका मानस स्पर्श किया, तथा 'मुदा' हर्षरूपी जलसे स्नान किया, इस प्रकार दो वाक्योंमें बिना आवृत्तिके अन्वय नहीं हो सकता.

अथैनमस्तौदवधार्य पूरुषं परं नताङ्गः कृतधीः कृताञ्जलिः।।
स्वरोचिषा भारत ! सूतिकागृहं विरोचयन्तं गतभीः प्रभाववित्।।१२।।

श्लोकार्थ : हे भारत ! गोदान कर्मके अनन्तर वसुदेवजी इस अद्भुत बालकको यह ही पूर्णपुरुषोत्तम है, ऐसा निश्चय पूर्वक जानकर सर्वांगको झुकाए हुए बुद्धिको अभिमुख किए हुए हाथोंको जोडे हुए स्तुति करने लगे. वह बालक अपनी दिव्यज्योतिसे जन्मस्थानको विशेषरूपसे प्रकाशित कर रहा था और वसुदेवजीका भय नष्ट हो चुका था, वह भगवत् भावको जान चुके थे।।१२।।

व्याख्यार्थ : ऐसी शंका हो सकती है, कि पुत्रका संस्कार 'जातक' नामवाले कर्मसे करना आवश्यक था, वसुदेवजीने वैसा क्यों नहीं किया, परन्तु इस शंकाको यहां अवकाश नहीं, क्योंकि प्राकृत पुत्रके जन्म होने पर उनकी शुद्धिकेलिये संस्कारका विधान है, इस अप्राकृत बालकमें संस्कारकी अपेक्षा नहीं. वसुदेवजीको इस बालककी अलौकिकताका ज्ञान हो चुका है, ऐसा बतलाते हुए स्तुति करते हैं. मानसिक गोदानरूप कर्मकी समाप्तिके अनन्तर वसुदेवजीने पुत्ररूपसे प्रकट हुए भगवान्की स्तुति की, स्तुति अपनी अपेक्षा उच्च कक्षावाले पुरुषकी की जाती है. पुत्रकी स्तुति कैसे की गई? इस आशंकाको हटानेकेलिए शुकदेवजी कहते हैं कि वसुदेवजीने पूर्वोक्त प्रकारसे इस बालकको परतत्त्वरूप पुरुष जानकर यह ही पूर्णपुरुषोत्तम हैं, ऐसा निश्चय करनेके अनन्तर स्तुति की है. स्तुति केवल प्रशंसा करने मात्रसे भी हो सकती है, परन्तु यह स्तुति

वैसी नहीं है, यह तो नम्रता पूर्ण स्तुति है. वसुदेवजी 'नतांग' होकर स्तुति करते हैं, भगवान्‌को नमस्कार करके स्तुति कर रहे हैं, उनका अङ्ग झुक गया है.

जो भगवान् जैसे प्रकट हुए हैं, उनको वैसा ही जानकर स्तुति करना उचित है, अन्यथा उचित नहीं. शास्त्रमें कहा है, कि आत्माका स्वरूप हो कुछ अन्य प्रकारसे और यदि कोई असावधान व्यक्ति उसे अतिरिक्त प्रकारसे समझने लग जावे तो वह पापी है, चोर है, आत्माका अपहरण करनेवाला है. वैसी स्थितिके हटानेको कहते हैं कि वसुदेवजी तो 'कृतधी' हैं, भगवत्स्वरूपके यथावद् ज्ञाता हैं. यद्यपि इनको पूर्वमें यह ज्ञात नहीं था कि पुरुषोत्तमका प्राकट्य होगा, परन्तु भगवान्‌ने अपने श्रीहस्तादि अवयवोंका दर्शन कराकर, उनकी उस प्रकारकी बुद्धि बना दी, जिससे वह समझ गये कि यह पूर्णपुरुषोत्तम हैं. नम्रतापूर्वक स्तुति भी समान स्तरके लोग आपसमें एक दूसरेकी किया करते हैं परन्तु यहां वैसी बात नहीं है, इसलिए ये 'कृताञ्जलिः' है. वसुदेवजीको कहा है, कि वह हाथ जोड़े हुए हैं, महान् पुरुषकी ही हाथ बांधकर स्तुतिकी जाती है, समान कक्षावालेकी नहीं. स्तुति शरीर, वाणी और मनसे होनी चाहिए, हाथोंका जोड़ना शरीरकी स्थितिका सूचक है, कि स्तुति करनेमें शरीरका उपभोग हुआ है, और 'कृतधी' शब्दसे मनकी अवस्था सूचित हो ही रही है, और वाणीका उपयोग तो स्तुतिमें स्पष्ट ही है, क्योंकि स्तोत्र वचन द्वारा ही होता है. स्तुति उच्च स्वरसे की जाती है, वैसा करने पर पहरेवाले जाग जावेंगे यह शंका हो सकती है.

उस शंकाके निवारणार्थ 'गतभीः' विशेषणका प्रयोग किया है, कि वसुदेवजीको कंसका भय नहीं था, क्योंकि वह 'प्रभावविद्' थे, भगवत्प्रभावको उन्होंने जान लिया था कि यह काल आदिके भी नियामक हैं. यदि सामर्थ्य होते हुए भी उसे प्रकट न करे अथवा शालग्राम शिला आदिकी तरह वह सामर्थ्य प्रमाण सिद्ध ही हो(अतिक्रम करनेवालेको परोक्षरूपसे ही दण्ड देनेवाला हो) प्रत्यक्ष कोई चमत्कार न हो, शिलावत् मूक ही रहा आवे, तब तो विपरीत हो जानेका सम्भव है, इस शंकाको निवृत्त करते हैं कि उनका सामर्थ्य तो प्रकट तेजःपुञ्जसे प्रत्यक्ष ही प्रतीत हो रहा है. अपनी दिव्यकान्तिसे जन्मस्थानको इस प्रकार प्रकाशित कर रहे हैं जैसे करोड़ों मणियोंसे गृह प्रकाशित होता है. भारत! यह सम्बोधन परीक्षितके विश्वासकेलिए प्रयुक्त हुवा है, कि हे राजन्! तुम भगवद्भक्त राजर्षि भरतके वंशमें प्रकट हुए हो, अतः तुम्हारा इस प्रकारके

भगवत्प्रभाव पर पूर्ण विश्वास होना तो अनिवार्य।।१२।।

द्वादशात्मा हरिर्ज्ञेयस्त्रिधा च नवधा तथा।
नवधा वैदिकः प्रोक्तस्त्रिधा लौकिक उच्यते।।कारि.१।।
यज्ञस्तु पञ्चधा प्रोक्तश्चतुर्धा भगवानिति।
पञ्चात्मकश्चतुर्मूर्तिस्तन्त्रं वेदेन सम्मितम्।।कारि.२।।
लौकिकस्त्रिगुणः प्रोक्तः स्मृतिश्चैव हि लौकिकी।
नवधा वसुदेवोऽस्तौत् त्रिधा चैव हि देवकी।।कारि.३।।

कारिकार्थ : भगवान् श्रीहरि द्वादशात्मा हैं, ऐसा 'तमद्भुतम्' श्लोकके ऊपर कारिकाओंसे अनेक भांति प्रतिपादन किया जा चुका है. वसुदेव तथा देवकीके द्वारा की हुई स्तुतियोंके श्लोकोंकी संख्या भी उसी तत्त्वकी परिचायक है, इस आशयसे आचार्यश्री निरूपण करते हैं कि हरिको द्वादशात्मा जानना चाहिए. वसुदेवजीने नव श्लोकों[१] द्वारा स्तुतिकर, उनकी नव विविधता बतलाई है, और देवकीजीने तीन श्लोकों[२] द्वारा स्तुतिकर, उनकी त्रिविधता बतलाई है. दोनों स्तुतियोंके द्वारा मिलितरूपसे द्वादश विविधता स्पष्ट हो जाती है. वेदोक्त प्रक्रियासे नव श्लोकों द्वारा स्तुतिके विषय हुए भगवान्, नवधा वैदिक रूपसे बतलाए गए हैं और स्मृति प्रोक्त प्रक्रियासे तीन श्लोकों द्वारा स्तुतिके विषय हुए भगवान्, त्रिधा स्मार्त या लौकिकरूपसे कहे जाते हैं।।१।।

१.अग्निहोत्र, २.दर्शपूर्णमास, ३.पशु, ४.चातुर्मास्य, ५.सोम इन भेदोंसे यज्ञरूपी भगवान् पांच प्रकारके कहे हैं. तथा १.वासुदेव, २.संकर्षण, ३.प्रद्युम्न, ४.अनिरुद्ध इन व्यूहोंके भेदसे भगवान् चार प्रकारके हैं, अतः भगवान् पञ्च-यज्ञात्मक है, और चतुर्व्यूह मूर्त्तिरूप भी हैं. यद्यपि व्यूहमूर्त्तिका निरूपण तन्त्रने किया है, तथापि तन्त्र भी वेदके समान ही आदरणीय है. (अतः पञ्चयज्ञात्मक और व्यूह चतुष्टयात्मक नवधा स्वरूपको वैदिक कहा गया है)।।२।।

१.वसुदेवकृत स्तुतिमें यद्यपि दश श्लोक हैं, तथापि अन्तिम श्लोककी गणना, स्तुति में नहीं है.

२.देवकीकृत स्तुतिमें यद्यपि आठ श्लोक हैं, तथापि पिछले पञ्च श्लोकोंकी गणना स्तुतिमें नहीं है.

लौकिक स्वरूप सत्त्व, रज, तम इन गुणोंके भेदसे त्रिविध कहा है, देवकीजीने स्मृतिकी प्रक्रियासे स्तुति की है, स्मृति प्रणेता ऋषियोंने लोकरीतिसे

वर्णन किया है, अतः स्मृति लौकिक ही कही गई है.वसुदेवजीने नवधा ९प्रकारसे स्तुति की है, और देवकीने त्रिधा(तीन) प्रकारसे स्तुति की है।।३।।

एकेन प्रार्थनं पूर्वं द्वाभ्यां चैव तथापरम्।
दशभिः पञ्चभिश्चैव निरूप्येते स्तुती उभे।।कारि.४।।
शास्त्रतो भगवानेव प्रतीत्यापि दृढीकृतः।
बाधकं त्वन्यथाज्ञानमज्ञानं चापि हेतुतः।।कारि.५।।

कारिकार्थ : एक श्लोकसे पूर्ववर्ती वसुदेव स्तुति गत प्रार्थना की है, और दो श्लोकोंसे परवर्ती देवकी स्तुति गत प्रार्थना की है, अतः दोनों स्तुति क्रमशः प्रार्थना श्लोकोंको लेकर दस एवं पञ्च श्लोकों द्वारा निरूपित हुई है. वसुदेव कृत स्तुति प्रार्थनाके साथ दश श्लोकोंमें हुई है, और देवकी कृत स्तुति प्रार्थनाके दो श्लोकोंको लेकर पञ्च श्लोकोंमें हुई है. यद्यपि देवकीकृत स्तुति आठ श्लोकोंमें सम्पन्न हुई है, तथापि प्रारम्भके ३ श्लोकोंमें ही मुख्यतया स्तुति की है, अतः उसको 'त्रिधा' कहा है. चतुर्थ श्लोकमें तृतीय श्लोकोक्त शरणागतिके कारणका निर्देश किया है, अतः उसका पूर्वमें ही अन्तर्भाव है, पृथक् सत्ता नहीं, पञ्चम एवं षष्ठ श्लोकोंमें क्रमशः अपनी रक्षा, एवं कंसको आपके जन्मका ज्ञान न हो पावै यह दो प्रार्थनाएं की हैं. उक्त दोनों प्रार्थनाओंके साथ पूर्वकथित श्लोकत्रय गत स्तुति 'पञ्चधा' कही गई है. सप्तम श्लोकमें रूपके उस संहारकी प्रार्थना है, उसका पूर्व प्रार्थनाओंके समान स्तुतिमें उपयोग नहीं, अतः प्रार्थना दो ही बतलाई है, तीन नहीं. अष्टम श्लोकमें तो भगवान्के गर्भगत होनेमें विरोधका परिहारमात्र किया है, अतः उसका भी स्तुतिमें मुख्यतया उपयोग नहीं, इस दृष्टिसे विचार करने पर विदित होता है, कि देवकी स्तुति मुख्यतया 'त्रिधा' ही है. उपयोगी दो प्रार्थनाओंको मिलाकर 'पञ्चधा' भी है, और अवशिष्ट अंकोको लेकर 'अष्टधा' भी है।।४।।

'विदितोऽसि' इस वाक्यमें वसुदेवजीने भगवत्स्वरूपको शास्त्रसिद्ध कहा है, और प्रतीतिके द्वारा भी उस शास्त्रैकसमधिगम्य स्वरूपकी दृढता की है, चक्षु आदि इन्द्रियोंके विषय हो जानेके कारण लोगोंको भगवत्वरूपके ब्रह्मरूप होनेमें बाधा डालनेवाला अन्यथाज्ञान एवं अज्ञान हो सकता था. वसुदेवजी स्तुतिके द्वारा 'विदितोऽसि' वाक्यमें उस अदृश्य, अग्राह्य ब्रह्मकी स्वेच्छासे दृश्य, ग्राह्य होनेकी सूचना देकर उस अज्ञान एवं अन्यथाज्ञानका निवारण करते हैं।।५।।

श्रीवसुदेव उवाच

विदितोऽसि[१] भवान् साक्षात् पुरुषः प्रकृतेः परः।।
केवलानुभवानन्दस्वरूपः सर्वबुद्धिदृक्।।१३।।

श्लोकार्थ : वसुदेवजीने कहा है, कि मैंने तुमको जान लिया है, आप साक्षात् प्रकृत्तिसे पर, उसके नियामक पुरुष हो. आप पुरुषोत्तम हो. आपका स्वरूप केवल अनुभव एवं आनन्दरूप है. आप सर्व चेतनोंकी बुद्धिके दृष्टा हैं।।१३।।

१. 'विदितोऽसितभवान्', ऐसा पाठ न होकर उक्त पाठका होना और वह भी भगवान्के जन्मप्रसंगमें उनके पिता श्रीवसुदेवजीके शब्दोमें वैयाकरणोंका जो कि अर्धमात्राके लाघवसे पुत्रोत्सव मानते हैं, अपनी ओर आकृष्ट करता है, क्योंकि 'अस्मि' पदकी अपेक्षा 'असि' पदमें अर्धमात्राका लाघव है, वसुदेवजीका पुत्रोत्सव ही स्तुतिरूपमें व्यक्त हो रहा है.

व्याख्यार्थ: उक्त स्तुतिमें सर्व प्रथम वसुदेवजीने 'विदितोऽसि' इस वाक्यसे मुझको तुम्हारा ज्ञान हो चुका है, ऐसा कहकर भगवान्के विषयमें अपने अज्ञानका निराकरण किया है. अज्ञानकी सम्भावना इस प्रकार हो सकती है, कि ब्रह्म तो अतीन्द्रिय है, उसका चक्षु आदि इन्द्रियसे ग्रहण सम्भव नहीं, जो स्वरूप सम्मुख प्रत्यक्ष दीख रहा है, वह ब्रह्म नहीं हो सकता, चाक्षुष होना(नेत्रोंसे गृहीत होना) आदि उस स्वरूपकी ब्रह्मताके बाधकधर्म हैं. यदि ब्रह्मके चाक्षुष प्रत्यक्ष होनेमें कारण उस ब्रह्मकी एकमात्र इच्छा ही है, ऐसा ज्ञान न हो पावे तो उक्त प्रकारसे अज्ञानका सम्भव है, अतः आरम्भमें ही वसुदेवजीने वैसे अज्ञानका अपनेमें अभाव बतलाया है, कि 'विदितोऽसि', तुम जान लिये हो, वसुदेव और देवकी इन दोनोंकी की हुई स्तुति उनके भगवद्विषयक ज्ञानकी सूचक हैं, कि पिता और माता दोनोंको भगवत्स्वरूपका ज्ञान हो चुका है.

वसुदेवजीका कहना है, कि मैंने आपको अच्छी तरह जान लिया है. आर्ष ज्ञानसे(ऋषियों जैसे दिव्यज्ञानसे) आपको मैंने भली भांति पहिचान लिया है. कदाचिद् भगवान् ऐसा प्रश्न कर बैठे कि 'तत्त्वमसि' इत्यादि वैदिकवाक्यजन्य ज्ञानसे तो बहुत लोग जीवको भी भगवद्रूपसे जान लेते हैं, क्या उसी तरह आपका भी ज्ञान है? इसके समाधानमें वसुदेवजीने 'असि' इस मध्यम पुरुषका प्रयोग किया है. उक्त श्लोकमें 'त्वम्' इस प्रकार युष्मद् शब्दका प्रयोग नहीं भी हुआ है,

तो भी 'असि' यह मध्यम पुरुषका प्रयोग सम्मुखस्थ चतुर्भुज स्वरूपके प्रति किया गया है, कि 'युष्मद्' शब्दसे जो सम्मुखस्थ चतुर्भुजरूप व्यवहृत होता है, वह भी तुम जान लिये गये हो. अतः शास्त्रसे और लोकसे जो तुम ज्ञात होते हो वह मैंने जान लिया है. इस व्याख्यानसे यह निरूपण किया है, कि जिस अन्तर्गत स्वरूपकी परम्परासे प्रतीति होती है, जिसकेलिए 'भवान्' शब्दका प्रयोग अपेक्षित है, एवं जिस देह इन्द्रियादिरूप जड़ वर्गकी बाह्य प्रतीति होती है, जिसकेलिए 'त्वम्' शब्दका प्रयोग अपेक्षित है, वह दोनोंरूप आप एक ही हैं, आपके स्वरूपमें देह–देहीका विभाग नहीं, आप सर्वांशमें आनन्दमय हैं 'आनन्द मात्र करपाद मुखोदरादि' श्रुतिसिद्ध आपके स्वरूपका ज्ञान मुझे हुआ है.

पूर्व व्याख्यानमें 'भवान्' शब्दकी आवश्यकता सिद्ध नहीं हो पाती हैं क्योंकि 'असि' इस मध्यम पुरुषके प्रयोगसे 'त्वम्' शब्दका या उसके अर्थका लाभ होना अनिवार्य है, ऐसी दशामें 'भवान्' शब्दसे जो कार्य सिद्ध करना है, वह 'त्वम्' शब्दसे ही सिद्ध हो जाता है, अतः दूसरे प्रकारसे व्याख्यान करते हैं कि अथवा 'विदितोऽसि', तुमको मैंने जान लिया, ऐसी प्रतिज्ञा करके भगवान्की ब्रह्मरूपताका ही आगे उपसंहारमें निरूपण करना है. इस दृष्टिसे 'भवान्' और पुरुष, इन दो पदोंके द्वारा बाह्य, एवम् आभ्यन्तर दोनों रूपोंमें एक रूप तुम ही हो क्योंकि सर्वभावको प्राप्त होनेवाला ही तो ब्रह्म है.

अथवा 'भवान् पुरुषः' इन पदोंसे ब्रह्मकी विरुद्धधर्माश्रयताका ज्ञान दिखलाना अभीष्ट है, कि वह प्रत्यक्ष होते हुए भी अप्रत्यक्ष है, सम्मुख होते हुए भी असम्मुख है. इस व्याख्यानमें भी यह अरुचि रह जाती है, कि 'असि' इस मध्यम पुरुषके प्रयोगके बिना भी 'विदितो भवान्' इत्यादि प्रकारसे भी प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष आदि अभीष्ट अर्थ सिद्ध हो सकता था, 'भवान्' शब्द ही 'त्वम्'के अर्थको बोधित कर सकता था. 'असि' पदकी सार्थकता प्रतीत नहीं होती, अतः प्रकारान्तरसे व्याख्यान करते हैं कि अथवा भगवान् पुरुषत्रयरूप[१] हैं : [क]क्षर, [ख]अक्षर, [ग]पुरुषोत्तम या [क]आधिभौतिक, [ख]आध्यात्मिक, [ग]आधिदैविक रूपसे त्रिविधरूप आप ही है, ऐसा प्रतिपादन करनेको 'असि' 'भवान्' 'साक्षात्पुरुष' इन तीन पदोंका उपयोग है. 'साक्षात्पुरुषः' पदके अन्तर्गत 'साक्षात्' पदका प्रयोग इसलिए है, कि आनन्दमय पुरुषका ही बोध हो, अन्नमयादि पुरुषोंका नहीं, क्योंकि वह आनन्दमय पुरुषके प्रवेशसे पुरुषरूप होते हैं. अतः साक्षात् पुरुष नहीं

हो सकते वह परम्परासे पुरुष हैं, आत्म स्वरूपकी स्फूर्ति होने पर ब्रह्मवेत्ताओंकी भी साक्षात्पुरुषरूपता हो जाती है, अतः उनसे भी अधिकता बतलाते हैं कि आप तो प्रकृतिसे पर हैं, उसके नियन्त्रण करनेवाले हैं. वह ब्रह्मवेत्ता लोग तो जीव हैं अतः प्रकृतिके नियामक नहीं, भगवान्ने कौस्तुभमणि और पीताम्बरके द्वारा गुप्त जीव, माया, आदि तत्त्वोंको प्रकटकर अपनी प्रकृति नियामकता स्पष्ट की है.

१.'असि' पदसे देहरूप, 'भवान्' पदसे देहाभिमानी, 'साक्षात्पुरुष' पदसे परमात्मा इन तीनोंका बोध होता है. भगवत्स्वरूपमें जो देह है, वही देही आत्मा है, और वही परमात्मा भी है. भगवत्स्वरूपको खांडके पुरुषके भांति एक रस सर्वांशमें आनन्दमय वसुदेवजीने जाना है. व्याकरणमें प्रथम, मध्यम, उत्तम, इस प्रकार निडान्त पदोंमें व्यवहार किया गया है, वहां भी उन्हें 'पुरुष' पदवी मिली है, जो कि भगवान्की त्रिविधताकी सूचक है.

प्रत्यक्ष दोषका परिहार तो 'असि', 'भवान्' इन पदों द्वारा कर ही दिया है, कि जिस तत्त्वको श्रुति अतीन्द्रिय बतलायी है, वही तत्त्व अपनी इच्छासे साकार आनन्दरूपमें वसुदेवजीके सम्मुख उपस्थित होता है,और वसुदेवजी उनकी इच्छासे उन्हें जानकर कहते हैं कि आपको मैंने शुद्ध ब्रह्म पुरुषोत्तमरूपसे जान लिया है, ऐसी अवस्थामें यह मानना ही पड़ेगा कि अतीन्द्रिय होनेके कारण ब्रह्मकी प्रत्यक्षता, जो दोषरूप मानी जाती थी, वही उनकी निजेच्छासे गुणरूप हो जाती है. यद्यपि ब्रह्मको जान लेना प्रमाणसिद्ध नहीं, क्योंकि उस अनन्त एवम् अग्राह्य तत्त्वका ज्ञान सम्भव नहीं. अतः उसके विषयमें 'ज्ञातत्व' भी एक दोष ही है, परन्तु उस दोषका भी परिहार भगवान्के सर्वभावसे प्रकट होनेके कारण हो जाता है. बात ऐसी है, कि '**स सर्वं भवति**', भगवान् सब कुछ हो जाते हैं, '**इदं सर्वं यदयमात्मा**', यह सब कुछ जो है, यह आत्मा ही है, इत्यादि श्रुति भगवान्की सर्वरूपताका प्रतिपादन करती है. वसुदेवजी भी 'भवान् पुरुष', पदोंसे उनकी बाह्य एवम् आभ्यन्तररूपता वर्णनकर, सर्वरूपता ही सूचित करते हैं. ऐसी स्थितिमें यह मानना अनिवार्य है, कि भगवान्को देखनेवाले नेत्र या नेत्रोंका सामर्थ्य भी भगवान् ही है, तब स्वयं भगवान्का अपने आपको जान लेना जिस प्रकार दोषावह नहीं, उसी प्रकार वसुदेवजीका भी उन्हें जान लेना अविरुद्ध ही है. वसुदेवजी या उनकी शक्ति आदि सर्वरूप भगवान् ही तो हुए हैं, अतः सर्वभावसे प्रकट होनेके कारण(ज्ञातव्य) दोषको अवकाश नहीं. प्रत्यक्षत्व, अप्रत्यक्षत्व,

आदि विरुद्धधर्म एक-एक अंशसे[२] चरितार्थ हो जाते हैं, उनका विरोध नहीं करता, अपनी इच्छासे भगवान् जिस समय दर्शन देते हैं, उसी समय दर्शन करनेवालेकी इन्द्रियके सामर्थ्यसे अदृश्य भी बने रहते हैं.

२.प्राकृत इन्द्रियोंसे तो ब्रह्म सर्वथा अग्राह्य ही है, परन्तु अप्राकृत इन्द्रिय भगवद्रूप ही है, अतः अप्राकृत इन्द्रियसे ग्राह्य होने पर भी भगवान्की अधोक्षजता निर्विरोध सिद्ध है.

'केवलानुभवानन्दस्वरूपः', इस विशेषणसे वसुदेवजीने भगवान्के एक प्रश्नका उत्तर देकर, उनके स्वरूपके विषयमें अपनी अभिज्ञता प्रकट की है, भगवान्ने प्रश्न किया कि तो क्या इस चतुर्भुज देहके अन्तर्गत जो आत्मा है, वही मैं उस प्रकारका पुरुषोत्तम आदि रूप होऊंगा. वसुदेवजी उत्तरमें कहते हैं कि आप तो केवल हैं, देह, इन्द्रिय, अन्तःकरणरहित हैं, आपके स्वरूपमें जड़ देह एवं इन्द्रियादिका सम्भव ही नहीं, और न आप जीवकी भांति केवल ज्ञानरूप ही हैं, आप तो अनुभवानन्दरूप हैं, चिन्मय एवम् आनन्दमय हैं. लोहेके गोलेमें जिस प्रकार अग्निका संक्रमण होता है, कि प्रथम तो लोहा अग्निसे भिन्न ही प्रतीत होता है, पश्चात् मुद्गर प्रहार आदिकी प्रक्रियासे शनैः-शनैः अग्नि उस लोहमें प्रकट होकर सर्वांशमें उसे अपने रूपमें मिला लेता है. क्या उसी प्रकार चिदानन्दका संक्रमण इस चतुर्भुज देहमें हैं ? नहीं नहीं, जो स्वरूप दृष्टिगत हो रहा है, यह ही चिदानन्दरूप है. इसमें चिद् और आनन्द हो और यह उनसे पृथक् हो ऐसी बात नहीं, आप चिदानन्द स्वरूप है, सच्चिदानन्द ही आपका विभूह है, मूर्तिमान् सच्चिदानन्द आप हैं, इस प्रकार परोक्ष(अदृश्य), अपरोक्ष(दृश्य) और अन्तर्यामी, इन तीनों रूपोंवाला जो स्वरूप सामने दीख रहा है, वह आप हैं, यह निरूपण किया है. आप ही सर्वात्मा है, ऐसा कहना अवशिष्ट रह गया, अतः (सर्व बुद्धि दृग्) इस विशेषणसे सबके आत्मा हैं. इस प्रकार निरूपण करते हैं कि आप सबकी बुद्धियोंको देखते हैं ,अथवा सबकी बुद्धियोंमें जिनका दर्शन है, ज्ञान है, प्रकाश है, जिनके प्रकाशसे सबकी बुद्धि प्रकाशित होती है, इस प्रकार क्षर, अक्षर, पुरुषोत्तम, अन्तर्यामी, देह, जीव, अथवा आधिभौतिक, आध्यात्मिक, आधिदैविक, अन्तर्यामी, देह जीव इन रूपोंसे छहों प्रकारका भी भगवान् यह ही है, ऐसा कहा है, और प्रत्यक्ष व्यवहार आदि धर्मोंका अंशतः समर्थन[३] किया है।।१३।।

३. प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष आदिके विरोधको हटाया है.

स एव स्वप्रकृत्येदं सृष्ट्वाग्रे त्रिगुणात्मकम्।।
तदनु त्वं ह्यप्रविष्टः प्रविष्ट इव भाव्यसे।।१४।।

श्लोकार्थ : वह ही आप अपनी प्रकृत्तिसे इस गुणत्रयात्मक जगत्को रचकर उसके अनन्तर प्रविष्ट न होते हुए भी प्रविष्ट जैसे प्रतीत होते हो।।१४।।

व्याख्यार्थ : उक्त श्लोकमें अन्य दोषकी आशंकाकर समाधान करते हैं, भगवान् ऐसा प्रश्न कर सकते हैं कि यदि मैं सर्वरूप भगवान् ही हूं तो देवकीके उदरमें मेरा किस प्रकारसे प्रवेश हुआ? उक्त प्रश्न पर वसुदेवजी बोलते हैं कि आप तो अप्रविष्ट ही हैं, कहीं अन्यत्रसे आकर आपने देवकीके उदरमें प्रवेश किया हो ऐसी बात नहीं है. आप तो वहां विद्यमान् ही हैं, उपस्थित ही हैं, प्रवेश तो उसका होता है, जो वहां पर न हो, परन्तु आप प्रविष्टकी भांति प्रतीत होते हो, केवल दर्शन या प्रतीतिसे प्रवेशका निर्णय नहीं हो सकता है, जबतक कि वह दर्शन या प्रतीति शास्त्रसे संवाद प्राप्त न कर पाये, जो दीखता है, वह तब ही प्रमाणित माना जाता है, जब शास्त्र भी वैसा ही प्रतिपादन करता हो, प्रवेशके विषयमें कतिपय श्रुति[१] उपलब्ध होती हैं, उनके अनुसार स्थितिके अर्थ तथा कार्यार्थ एवम् अनेक रूप होनेकेलिए, और अन्य प्रवेशके अर्थ(जीवात्माके प्रविष्ट करानेकेलिए) ब्रह्मका प्रवेश होता है, ऐसा सुना जाता है.

१. बृहदारण्यक उपनिषत् प्रथमाध्याय चतुर्थ ब्राह्मण सप्तम मन्त्रका वाक्य है. "**स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यो यथा क्षुरः क्षुरधानेऽवहितः स्याद् विश्वम्भरो वा विश्वम्भर कुलाये**", इस वाक्यमें स्थितिके निमित आत्माका प्रवेश इस शरीरमें होता है, यह निरूपण किया है. छुरेका उसके कोषमें प्रवेश स्थितिके निमितसे ही होता है, अतः छुरेके दृष्टान्तसे यहां स्थित्यर्थ प्रवेश ही अभिमत है, जैसा कि 'अवहितः स्यात्' इस वाक्यशेषसे स्पष्ट होता है. द्वितीय दृष्टान्त विश्वम्भरके कुलाय प्रवेशका है. इसके द्वारा कार्यार्थ प्रवेश सिद्ध होता है. यदि विश्वम्भर शब्दसे भगवान् विष्णुका ग्रहण किया जावे तब तो भूभारहरणादि कार्यकेलिए उनका प्रवेश जिस प्रकार देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि शरीरोंमें होता है, उस प्रकार आत्माका प्रवेश भी कार्यार्थ ही है, विश्वम्भर शब्द 'अग्नि'के अर्थमें यदि प्रयुक्त हुआ है, तो भी "**अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः प्राणापान समायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्**" के अनुसार अन्न परिपाकं कार्यकेलिए प्राणियोंके देहमें अग्निरूपसे भगवत्प्रवेशकी भांति आत्माका प्रवेश कार्यार्थ सिद्ध होता है.

उस प्रकार देवकीमें भी प्रवेशका कोई प्रकार होगा, श्रीदेवकीके उदरमें

प्रकारविशेषसे प्रवेश माननेमें भगवान्‌की मुख्य कृष्णरूपतामें उनकी प्रधान परमतत्त्वरूपतामें विचिकित्सा उत्पन्न हो सकती है, कि प्रवेश करनेवाला तो सोपाधिक होता है, किसी कामनाकी उपाधिको लेकर ही प्रवेश करता है, और उसका किसी कार्यमें अभिनिवेश भी होता है, वह किसी कार्यके सम्पादन करनेको उसके अनुकूल उपायोंका आग्रहपूर्वक संग्रह भी करता है, जैसा कि जगत्‌के निर्माण आदि कार्यकेलिए ''**सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेय**'', ''**रूपं रूपं प्रति रूपो बभूव**'', आदि श्रुतियोंसे सिद्ध है. सोपाधिक एवं कार्यार्थी स्वरूप मुख्य तत्त्व सदानन्दं कृष्ण नहीं हो सकता, वह तो सर्वोपाधि रहित लोक और वेदमें अप्रसिद्ध पूर्णानन्द है, उसका प्रवेश सम्भव नहीं, इस सन्देहकी निवृत्तिकेलिए कहते हैं कि 'अप्रविष्ट एव प्रविष्ट इव' आप तो अप्रविष्ट ही हैं, प्रविष्ट जैसे प्रतीत हो रहे हैं, योगबलसे भी प्रवेश हो सकता है,(इन्द्र योगबलसे परमात्मामें प्रविष्ट हुआ था), एवं दक्षिणा नामक स्त्रीमें जन्म ग्रहण करनेके निमित्त प्रवेश हो सकता है, जैसा कि 'यो वा' इत्यादि श्रुतिसे सिद्ध है, कि जो इससे जन्म ग्रहण करेगा, वह इन्द्र होगा. इस कारणसे उस दक्षिणामें प्रवेश किया, उस दक्षिणासे इन्द्र ही उत्पन्न हुवा, और दितिके उदरमें मरुत नामवाले उसके गर्भस्थ बालकोंके नष्ट करनेको भी इन्द्रने प्रवेश किया था, भगवान्‌का प्रवेश उस प्रकारका नहीं है, ऐसा सूचित करनेको 'अप्रविष्टः' इस शब्दसे भगवान्‌को अप्रविष्ट कहा है, परन्तु प्रवेश धर्म तो भगवान्‌में है, ऐसा बतलानेको ''**प्रविष्ट इव**'' प्रविष्ट जैसे प्रतीत हो रहे हो ऐसा कहा गया है, तो प्रवेशमें क्या प्रकार है.

ऐसी आशंका होने पर कहते हैं, कि जो पूर्वमें सच्चिदानन्दरूप कहा गया है, वह ही आप अपनी निज प्रकृति या आधिदैविक स्वभावसे इस भगवल्लीलोपयोगी त्रिगुणात्मक जगत्‌की रचना करनेके अनन्तर यद्यपि आप उसमें प्रविष्ट नहीं हुए हो, क्योंकि अन्यकेलिए की गई जगत्‌की सृष्टिमें साक्षी होनेकेलिए या प्रकाश एवं नियन्त्रण आदि करनेकेलिए प्रवेश अपेक्षित हैं, अपनेलिए की गई लीला सृष्टिमें तो कारणरूपसे विद्यमान स्वरूपके द्वारा ही अन्तर्यामीका एवं जीवका भी कार्य हो जाता है, अतः वहां प्रवेशकी अपेक्षा नहीं, वहां पर तो भोग्य पदार्थोंका भोग करनेको कारणरूपसे जो आप प्रकट होते हैं, उन्हें ही जीवार्थ सृष्टिकी भांति प्रविष्ट जैसा मान लिया गया है, यह यहां पर प्रवेशके दर्शनमें प्रकार बतलाया है, कि वास्तवमें परमतत्त्व कृष्णका प्रवेश सम्भव

नहीं प्रवेशकी प्रतीति मात्र है. वसुदेवजी कहते हैं, कि आप भगवान् हैं, आपने अपने लीला विलासकेलिए हम लोगोंको रचा है, हमारा उपभोग करनेकेलिए हमारे अन्तःस्थित ही आप बाहर प्रकट हुए हो, अतः अप्रविष्ट ही हो तो भी प्रविष्ट जैसे प्रतीत होते हो यह अर्थ होता है. वसुदेवजीने इस लीला सृष्टिकी त्रिगुणात्मक इस सृष्टिसे कहा है, कि जिस प्रकार जीवार्थ सृष्टिमें होनेवाले आपके प्रवेशकी भावना इस निज सृष्टिमें भी होती है, मुख्यतया प्रवेश तो अन्यार्थ सृष्टिमें ही है, यहां तो केवल उसकी भावना(प्रतीति)मात्र है, उसी प्रकार त्रिगुणात्मक भी साधारण जगत् ही है, यह असाधारण लीलात्मक जगत् त्रिगुणात्मक नहीं फिर भी लीलास्थजनोंमें भगवद्विषयक स्नेह, द्वेष एवं साधारण (उदासीन) आदि भावोंकी प्रतीति होती है, उन्हीं भावोंको परार्थ सृष्टि प्रक्रियासे यहां सत्त्व आदि गुणरूप मान लिया गया है, और लीलासृष्टिको त्रिगुणात्मक कह दिया है.

वास्तवमें तो यह सृष्टि गुणातीत ही है, अथवा (अत्रिगुणात्मकम्) ऐसा पदच्छेद यहां पर अभीष्ट है, तब तो लीला सृष्टिकी गुणातीतता स्पष्ट ही है, अथवा ''**अग्रे त्रिगुणात्मकं सृष्ट्वा तदनु स्व प्रकृत्या–इदं सृष्ट्वा**'' इस प्रकार पद योजना अभीष्ट है. 'तदनु' पदका योग 'प्रविष्ट' पदसे नहीं क्योंकि 'तदनु'का अर्थ 'तदनन्तर' होता है, और उस अनन्तर अर्थकी प्रतीति 'सृष्ट्वा' पदके अन्तर्गत 'क्त्वा' प्रत्ययसे ही हो जाती है, क्योंकि वह 'क्त्वा' प्रत्यय पूर्वकालकी क्रियाका बोधक हैं, तब अनन्तर या उत्तरकालकी प्रतीति स्वभावतः हो जाती है, अतः प्रवेशकी उत्तर कालिकता 'तदनु' पदके बिना ही सिद्ध है, तदर्थ उसकी आवश्यकता नहीं, अत: उक्त योजनाके अनुसार इस प्रकार अर्थ समझना चाहिये कि पूर्वमें त्रिगुणात्मक जगत्को रचकर, तदनन्तर आधिदैविक प्रकृतिसे इस लीलात्मक जगत्को रचकर आप अप्रविष्ट ही प्रविष्ट जैसे होते हैं, अथवा ''**तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्**'' इस श्रुतिमें 'अनु' इस उपसर्गका प्रयोग हुआ है, इससे यह स्वीकार करना आवश्यक है, कि सृष्टिके अनन्तर जो प्रवेश होता है, उसका 'अनुप्रवेश' यह रूढनाम है. उसके अन्तर्गत 'अनु' पदका 'अनन्तर' अर्थ नहीं है, ऐसा मान लेनेसे पूर्वोक्त रीतिसे जो 'अनु' पदकी व्यर्थताका दोष सम्भावित था वह नहीं रहता है[१] ।।१४।।

१.इस श्लोकके व्याख्यानमें सिद्धान्त पक्ष सर्वप्रथम ही कह दिया है,'वा यद्वा' शब्दों

द्वारा जिन पक्षान्तरोंको दिखलाया है, वह महाभाष्यकारकी व्याख्यान प्रक्रियाका स्मरण दिलाते हैं, कि यह पक्षान्तरोपन्यास केवल किसी शास्त्र व्याख्यानकी दिशा बतलाने मात्रको ही है, इसमें आचार्यका तात्पर्य नहीं.

यथेमेऽविकृता भावास्तथा ते (तथैव) विकृतैः सह।।
नानावीर्याः पृथग्भूता विराजं जनयन्ति हि।।१५।।

श्लोकार्थ : जिस प्रकार यह अविकृत (आधिदैविक भाव) है, उसी प्रकार वह प्राकृत भाव भी है, इन दोनोंका सादृश्य नाना प्रकारके सामर्थ्य और पृथक् होनेसे है, यह अविकृत भाव विकृत भावोंसे मिलकर ब्रह्माण्डको उत्पन्न करते हैं यह ठीक ही है।।१५।।

व्याख्यार्थ : अन्य दोषकी आशंकाकर फिर उसका परिहार 'यथेमे' आदि दो श्लोकोंसे करते हैं, यह शंका हो सकती है, कि इस भगवत्स्वरूपमें उसी प्रकार पृथ्वी आदि भूतोंकी प्रतीति होती है, जिस प्रकार प्राकृत पदार्थोंमें उनकी प्रतीति होती रहती है, तो इस भगवत्स्वरूपको आनन्दमय कैसे माना जाय, शरीररूपसे पृथिवीकी, मुखारविन्दमें प्रधानतया जलकी, सर्वांगमें कान्तिरूपसे तेजकी नासिकामें प्राणरूप वायुकी, एवम् अन्यान्य छिद्रोंमें अवकाशरूपसे आकाशकी प्रतीति होती है, उक्त आशंकाके समाधान करनेकी दृष्टांतके द्वारा भगवत्स्वरूपमें प्रतीत होनेवाले पृथिवी आदि तत्त्वोंकी नित्यता एवम् अविकारिता सूचित करते हैं, कि इस भगवत्स्वरूपमें विद्यमान् देह इन्द्रियादि सब अधिकारी भाव हैं. चौबीसों तत्त्व आधिदैविक ही हैं, आधिभौतिक नहीं. इनकी आधिदैविकताका प्रतिपादन केनोपनिषत्की "**श्रोत्रस्य श्रोत्रम्**"[१] आदि श्रुतिने उपलक्षण रूपसे किया है, कि वह श्रवण आदि ज्ञानेन्द्रियोंका श्रवण आदि रूप हैं, मनः प्रभृति अन्तःकरणोंका मन आदि रूप है, वागादि कर्मेन्द्रियोंका वाक् आदि रूप है, एवं पृथिवीका पृथिवी जलका जल आदि भी है, यह ही आधिदैविक तत्त्व है, आधिभौतिक पृथिवी आदिमें यह आधिदैविक तत्त्व उन-उन कार्योंकेलिये स्थित रहते हैं, इनके बिना केवल आधिभौतिक चक्षु आदिसे रूपादि ग्रहणका कार्य नहीं हो सकता है.

१. यह केनोपनिषत्के प्रारम्भकी द्वितीय श्रुति है.

जिस प्रकार आधिदैविक २४ प्रकृति आदि तत्त्व (नाना वीर्य) है, जैसे आधिदैविक चक्षुरूपका ज्ञान करा देनेका सामर्थ्य रखता है, रसना रसके ज्ञान करा

देनेका सामर्थ्य रखता है, एवम् आधिदैविक हस्त पादादि भी आदान प्रदान गमन आगमन आदिका सामर्थ्य रखते हैं, तथा पृथक्-पृथक् अवस्थित हैं, परस्परमें मिलित नहीं है, भिन्न-भिन्न कार्योंके करनेको पृथक् ही रहते हैं, उसी प्रकार आधिभौतिक प्रकृति आदि तत्त्व भी (नाना वीर्य) है, और पृथग्भूत भी है, परन्तु ब्रह्माण्ड रचनाके एक ही कार्यमें यह सब आधिदैविक तत्त्व आधिभौतिकोंसे मिलकर ब्रह्माण्ड शरीर विराट्को जन्म देते हैं, जो कि स्वराट् पुरुषका देह कहलाता है, ऐसा होना ठीक भी है, क्योंकि आधिदैविक मूल या प्राणप्रद तत्त्वके बिना केवल आधिभौतिकसे कार्य नहीं हो सकता है, जब ऐसी बात है, कि प्राकृत स्थलमें भी अप्राकृत तत्त्वोंका रहना शास्त्र सम्मत है, तब अप्राकृत भगवत्स्वरूपमें जो तत्त्व दृष्टिगत हो रहे हैं, वह तो अप्राकृत ही हैं, आधिदैविक ही हैं, अतः उनको लेकर भगवत्स्वरूपकी विकारिता या अनित्यताका सन्देह नहीं रह पाता, किसी दोषको अवकाश नहीं रह जाता क्योंकि जो स्वरूप प्रकट दर्शन दे रहा है, वह [२]सर्वांशयुक्त भगवान् है, किसी भी अंशमें प्राकृततताका स्पर्श नहीं।।१५।।

२.यहां इतना और भी ज्ञातव्य है, कि यद्यपि भगवान् पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण केवल आनन्दमय है, उनमें आधिदैविक तत्त्वोंका भी प्रवेश सम्भावित नहीं परन्तु इनके अंशोंकी विशुद्ध सत्त्व शरीरता है, अतः उन अंशोंमें आधिदैविक तत्त्वोंकी सत्ता प्रमाण सिद्ध है, अवतारी स्वयं भगवान् कृष्णमें अंश गत आधिदैविक तत्त्वोंकी प्रतीति अंशी होनेके कारण होती है, वास्तवमें तो वह आनन्दमात्र करपाद-मुखोदरादिरूप ही है, इसी दृष्टिसे सुबोधिनीकारने 'सर्वांशो भगवान्' ऐसा कहा है, इस प्रकार योजनाकारने योजना की है.

सन्निपत्य समुत्पाद्य दृश्यन्तेऽनुगता इव।।
प्रागेव विद्यमानत्वान्न तेषामिह सम्भवः।।१६।।

श्लोकार्थ : (वह प्राकृत्त और अप्राकृत्त भाव) मिलकर भले प्रकार (भौतिक जगत्)को उत्पन्न कर, उसमें अनुगत जैसे पीछेसे प्रविष्ट हुएसे दीखते हैं, परन्तु पहलेसे ही विद्यमान होनेके कारण उनका यहां प्रवेश सम्भव नहीं।।१६।।

व्याख्यार्थ : पूर्व श्लोकमें यह निरूपण किया गया है, कि भगवत्स्वरूपमें जो कारणरूपसे पृथिवी आदि तत्त्व प्रतीत होते हैं, वह आधिदैविक तत्त्व हैं, प्राकृत नहीं, अतः सर्वांश पूर्ण भगवान् श्रीकृष्णमें उनके अंशगत आधिदैविक तत्त्वोंकी प्रतीति होने पर भी उनकी आनन्दमयता अक्षुण्ण बनी रहती है, परन्तु यह

एक सन्देह उपस्थित हो सकता है, कि भगवत्स्वरूपमें जो त्वचा, चर्म, रोग, दन्त, नख आदि प्रतीत होते हैं वह तो कार्यरूप हैं. पृथिवी आदि तत्त्वोंके विकार हैं, इनको आधिदैविक कैसे माना जा सकता है, अतः भगवान्‌की आनन्दमयता विचारणीय ही है, उक्त सन्देहके निवारणार्थ इस श्लोकसे दृष्टान्तके द्वारा त्वचा, चर्म आदिको भी आधिदैविक होनेसे नित्यता, एवम् अविकारिता बतलाते हैं, इस श्लोकमें आधिदैविक तत्त्व आधिभौतिक तत्त्वोंसे जलसे दुग्धकी तरह मिलकर विराट् जगत्‌को भली भांति उत्पन्न करके उसमें पटमें तन्तुओंकी भांति अनुगत जैसे प्रतीत होते हैं, परन्तु पूर्वसे ही विद्यमान् होनेके कारण उनकी यहां उत्पत्तिका सम्भव नहीं ऐसा कहा है, ध्यान देनेकी बात है, कि जब पूर्वश्लोकमें ''**विराजं जनयन्ति हि**'' ब्रह्माण्डके निर्माणकी चर्चा हो चुकी है, तो प्रकृत श्लोकमें 'समुत्पाद्य' पदके द्वारा उस चर्चाको फिर दुहराना इसी मर्मको रखता है, कि आधिदैविक तत्त्वोंकी सत्ता कारणों तक ही सीमित नहीं है, अपितु उनके साथ-साथ कार्यमें भी व्याप्त है. इस मर्मकी सूचना 'सन्निपत्य' 'समुत्पाद्य' इन पदों द्वारा हुए अनुवादसे ही होती है, अन्यथा पूर्व श्लोकमें 'सह' 'जनयन्ति' इन पदोंसे मिलकर उत्पन्न करनेका प्रसंग, कथित ही है. प्रकृत श्लोकमें उसका अनुवाद करना निष्प्रयोजन सिद्ध होगा. आशय यह है, कि अनुवादके द्वारा आधिदैविक तत्त्वोंका स्मरण कराना अभीष्ट है, अन्यथा '**दृश्यन्तेऽनुगता इव**' इतने कथन मात्रसे आधिभौतिकोंके ही अनुगत होनेकी प्रतीतिकी सम्भावना थी, वह ही आधिदैविक तत्त्व कार्यमें अनुगत जैसे प्रतीत हो रहे हैं, आधिदैविक त्वचा, चर्म, आदि रूपसे आधिदैविक पृथिवी तत्त्व, अनुगत है, अतः भगवत्स्वरूपमें जो त्वचा आदि प्रतीत होते हैं, वह आधिदैविक ही हैं, एवं समष्टिरूप भौतिक देहमें या ब्रह्माण्डमें पृथिवी, जल, तेज आदि कारण तत्त्व उन रूपोंमें प्रतीत होते हैं, देहमें कारणरूप जल तत्त्व ही रुधिरादिरूपसे प्रतीति होते हैं, इसी प्रकार अन्य आकाशादि तत्त्व भी छिद्रके अवकाश आदि रूपसे प्रतीत होते हैं, जबकि कारण तत्त्व कार्यमें दृष्टिगत होते हैं, तो उसी आधार पर उस दर्शन(प्रतीति)के प्रमाण बलसे यह क्यों न मान लिया जाय कि कारण तत्त्व अनुगत ही हैं, अर्थात् वह कारण ही कार्यरूपसे उत्पन्न हुए हैं, ऐसी शंकामें उत्तर कहते हैं, कि पहलेसे ही कारणरूपसे इस विराट् रूपमें और ब्रह्माण्डमें ऊपर भी विद्यमान् रहनेके कारण फिर उन कारण तत्त्वोंकी यहां कार्यमें उत्पत्ति सम्भावित नहीं, प्रकृतके उपयोगी

आशयको इस प्रकार जानना आवश्यक है, कि भगवत्स्वरूपमें आधिदैविक तत्त्वोंकी प्रकट सच्चिदानन्दरूप अलौकिक भावात्मक कारणरूपसे सत्ता है, अतः उनकी त्वचा,चर्म, आदि रूपसे उत्पत्ति नहीं है, किन्तु वह आधिदैविक तत्त्व ही त्वचा,चर्म आदिके रूपको अवतारकी तरह ग्रहण करके वहां पर उपस्थित हैं, अतः भगवत्स्वरूपगत त्वक् चर्मादि आधिदैविक तत्त्वोंके कार्य नहीं किन्तु रूपान्तर ही है. उनकी उत्पत्तिका सम्भव नहीं, क्योंकि आधिदैविक तत्त्वरूप कारणोंकी आधिभौतिकोंसे विलक्षणता होती है. भौतिक तत्त्व लौकिक कार्योंमें उस रूपसे उत्पन्न होते हैं. आधिदैविक तत्त्व तो आधिदैविक कार्योंका अवतारकी भांति रूपान्तर ग्रहण करते हैं.

जिस प्रकार बीज अंकुररूपमें प्रकट होता है, तब बीजकी पृथक् सत्ता प्रतीत नहीं होती क्योंकि वहां बीजका साक्षात् प्रवेश है, उसी प्रकार कारण तत्त्व कार्यरूपमें प्रकट हो जाता है, ऐसा भी स्वीकार नहीं कर सकते, क्योंकि माता-पिताओंके शरीरोंमें त्वचा आदिकी सत्ता पृथक् ही प्रतीत होती है, अतः पुत्रके शरीरमें उन त्वचा आदिका साक्षात् प्रवेश सिद्ध नहीं हो सकता. बीजका अंकुरमें जैसे साक्षात् प्रवेश है, वैसा प्रवेश तो उक्त प्रतीतिसे बाधित होनेके कारण नहीं माना जा सकता है. उक्त प्रक्रियासे यह सिद्ध होता है, कि जैसे आधिदैविक कारणरूप पृथिवी आदि तत्त्व भगवत्स्वरूपमें प्रतीत होते हैं, इसी प्रकार दन्त आदि भी आधिदैविक ही हैं, अतः पृथिवीरूप शरीर आदिकी भांति दन्त आदिकी प्रतीतिमें कोई विरोध नहीं[१] ।।१६।।

१.इस श्लोकके व्याख्यानमें ''तर्हि दर्शनप्रामाण्यादनुगता इव भवन्त्विति'' इस पंक्तिमें 'इव' शब्दके स्थान पर 'एव' शब्दका होना सम्भावित है. लेखकारने तो इस पंक्तिको इसी प्रकार संगत करनेका सफल प्रयास किया है. परन्तु प्रकाश, एवं योजनाकारने पाठ सम्बन्धमें यद्यपि कोई स्पष्ट उल्लेखन नहीं किया तो भी उनकी व्याख्या शैलीसे सूचित होता है, कि वह 'एव' घटित पाठसे सहमत है, व्याख्याकी विश्लेषणात्मक पद्धतिको दृष्टिगत करते मेरा इन शब्दोंको लिखना अनधिकार नहीं क्योंकि 'दृश्यन्तेऽनुगता इव' यह तो मूल पाठ है, ही. उसमें 'इव' शब्दकी आवश्यकता सिद्ध करनेकेलिए पूर्वपक्षमें 'एव' शब्दका प्रयोग दिखलाया है, 'प्रागैव' इत्यादि ग्रन्थसे पूर्वपक्षका खण्डनकर 'इव' शब्दकी आवश्यकता सिद्ध की है. लेखकार कहते हैं, कि कारणके असाधारण धर्म कार्यमें नहीं पहुंचते साधारण धर्म ही पहुंच पाते हैं, अतः 'इव' पदका प्रयोग है. कार्योंमें साधारण धर्म भी कार्यरूपसे उत्पन्न होते हैं,

अतः वहां पर अनुगत कहे जा सकते हैं, परन्तु कारणमें तो उत्पत्तिका सम्भव नहीं, अतः कार्य धर्म कारणमें अनुगत जैसे नहीं कहे जा सकते. यद्यपि कार्य धर्मोंकी परम्परासे कारणमें प्रवेश हो सकता है, कि वह धर्मकार्यमें प्रविष्ट होते हैं और कार्य अपने समष्टिरूप विराट्में प्रविष्ट होता है, विराट् अपने कारणरूप तत्त्वोमें और तत्त्व भगवान्में इस परम्परासे कह सकते हैं, परन्तु साक्षात् प्रवेश तो बाधित है, क्योंकि कार्य धर्मोंका उतना सामर्थ्य नहीं.)

एवं भवान् बुद्ध्यनुमेयलक्षणैर्ग्राह्यैर्गुणैः सन्नपि तद्गुणाग्रहः।।
अनावृतत्वाद् बहिरन्तरं न ते सर्वस्य सर्वात्मन आत्मवस्तुनः।।१७।।

श्लोकार्थ : इसी प्रकार आप बुद्धिके द्वारा ही जिनका स्वरूप अनुमानतः सिद्ध होता है, उन इन्द्रियोंसे गृहीत होनेवाले गुणोंके साथ रहते हुए भी, उन इन्द्रियोंके सामर्थ्यसे गृहीत नहीं हो पाते, आपके आवरण होनेके कारण बाहर भीतरका भेद नहीं, क्योंकि आप सर्वरूप हैं, सबके आत्मा हैं, और आत्मामात्रके वस्तुरूप(फलरूप) हैं।।१७।।

व्याख्यार्थ : इस प्रकार दो श्लोकोंसे दो दृष्टान्तोंका विचार करनेके अनन्तर उन दृष्टान्तोक्त आधिदैविक भावोंका भगवान्से भेद होगा ऐसी शंकाके निवारण करनेकेलिए दृष्टान्तों द्वारा जिसे लक्षित करना है, उस दार्ष्टान्तिक भगवत्स्वरूपमें आदेश करते हैं, कि 'एवं भवान्' ऐसे स्वरूपवाले आप ही हैं, अर्थात् पूर्व दो श्लोकोंमें आधिदैविक तत्त्वोंके विषयमें जो चर्चा की है, वह आपकी ही है, क्योंकि सबके मूलरूप तो आप ही हैं, यदि मूल तत्त्व नित्य, अविकृत नहीं हो तो उसका कार्य कदापि नित्य, आविकृत नहीं हो सकता, आधिदैविक तत्त्वोंकी नित्यता और अविकारिताके प्रयोजक उनके मूलरूप होनेके कारण आप ही हैं, पुनः अन्य दोषकी आशंका कर (बुद्ध्यनुमेय) इत्यादिके द्वारा उस आशंकाका निवारण करते हैं, आशंका यह है, कि भगवान् तो दृष्टा है, वह दृश्य कैसे हो सकता है, और यदि वह दृश्य है, तो सर्व मुक्तिकी सम्भावना है, क्योंकि बिना ही साधनके जब भगवत्स्वरूप दृष्टिगत हो सकता है, तो मुक्ति होनेमें क्या साधन अवशेष रह जाते हैं, जो वह नहीं हो तो, अतः उक्त स्वरूपका दृष्टिगत होना उनके भगवद्रूप होनेमें बाधक हैं, ब्रह्मको तो '**अदृश्यमग्राह्यम्**' आदि कहा है, एवं जो '**अनन्तरमबाह्यम्**' बाह्य आभ्यन्तर आदि भेदोंसे रहित है, वह बाह्यरूपसे तथा भिन्नरूपसे कैसे प्रतीत होता है, न तो भगवान् बाह्य ही है, न वह

भिन्न ही हैं, अतः भिन्न, तथा बाह्य, और दृश्यरूपसे प्रतीत होनेके कारण त्रिदोषके उपस्थित होनेसे प्रस्तुत स्वरूपको आनन्दमय भगवान् नहीं माना जा सकता, ऐसी आशंकामें कहते हैं, कि जब इन्द्रियोंके सामर्थ्यसे आपका ग्रहण नहीं होता, तो श्रुतिसिद्ध आपकी अदृश्यता व अग्राह्यतासे तो कोई विरोध ही नहीं है, बुद्धिसे जिनके लक्षण या स्वरूपको अनुमानतः जाना जाता है, उन इन्द्रियोंसे ग्रहीत होनेवाले रूप आदि गुणोंके साथ वहां आप विद्यमान हैं, अतः इन्द्रियोंसे आपका ग्रहण होता भी है, रूपादिकी भांति इन्द्रियोंसे आपका संयुक्त समवाय आदि सम्बन्ध भी है, होते हुए भी आप उन इन्द्रियोंके गुणोंसे उनके सामर्थ्योंसे गृहीत नहीं होते, बात ऐसी है, कि भगवान् इन्द्रियोंमें भी विराजते हैं, और उनसे गृहीत होनेवाले घट पटादि वस्तुमें तथा रूप, रसादि गुणोंमें भी विराजमान् हैं, तो भी उन इन्द्रियोंकी सामर्थ्य नहीं, जो भगवान्को ग्रहण कर सके, तथा आधिदैविक इन्द्रिय तो सामान्य इन्द्रियोंमें लौकिक विषयके ग्रहण करनेके सामर्थ्य सम्पादनको उन भौतिक इन्द्रियोंमें प्रविष्ट होते हैं, अतः उनका भी सामर्थ्य नहीं. तथा '**श्रोत्रमयुष्य शब्दः**', '**घ्राणोऽस्यगन्धः**'(भा.द्वि.प्र.अध्यायके) अनुसार आधिदैविक इन्द्रिय तो स्वयं ग्राह्य विषय स्वरूप है, वह विषयके ग्राहक नहीं हो सकते, एवम् अपने आधिदैविक इन्द्रियोंके साथ विषयोंका वह सम्बन्ध भी नहीं जो विषय ग्राहक इन्द्रियोंसे विषयोंका होता है, अतः आप सर्वत्र विद्यमान् भी हैं, सबके स्वरूप हैं, रूप, रस आदि भी आप हैं, तो भी रूपादिके ग्रहीत होते हुए भी आप ग्रहीत नहीं होते. यदि इन्द्रियोंकी प्रत्यक्षताका सम्भव हो, तब तो इन्द्रियोंके सहवर्ती आपका उनके आधिदैविकरूपमें प्रत्यक्ष सम्भावित है, परन्तु इन्द्रिय तो अपने स्वरूपका ग्रहण नहीं कर सकते, अतः वह स्वयं ही अप्रत्यक्ष है, उनकी सत्तामें अनुमान ही प्रमाण है, प्रत्यक्ष नहीं, अनुमानका आकार इस प्रकार है, कि (पक्ष) रूप, रस, गन्ध आदि विषयोंकी उपलब्धि (ज्ञान), (साध्य) किसी करण (व्यापारवाले असाधारण कारण)से साध्य है, (हेतु) क्रियारूप होनेसे, (दृष्टान्त) छेदन (विदारण) क्रियाकी भांति. सारांश यह है, कि जैसे काटना फाड़ना आदि क्रिया किसी खड्ग कुठार आदि साधनसे ही साध्य होती है, उसी प्रकार रूप आदिका जान लेना भी एक क्रिया है, वह भी किसी साधनसे ही साध्य हो सकती है, अतः सामान्यतया करणकी सिद्धि होने पर, नेत्र गोलकके साथ रूप ग्रहणका अन्वय और व्यतिरेक देखा जाता है, कि नेत्र गोलकोंके सद्भावमें रूप ग्रहण हुआ

है, एवम् उनके अभावमें नहीं. इस प्रकार अनुसन्धानसे नेत्र गोलकवर्त्तीचक्षु इन्द्रिय ही रूप ग्रहणका कारण है, ऐसे ही रसना इन्द्रिय रस ग्रहणका व घ्राण इन्द्रिय गन्ध ग्रहणका करण है, यह सिद्ध होता है, इस प्रकार इन्द्रियोंकी अप्रत्यक्षताके प्रतिपादनसे यह मान्यता खण्डित हो जाती है, कि जो प्रत्यक्ष होगा वह ही प्राकृत होगा, और जो अप्रत्यक्ष होगा वह ही अप्राकृत होगा, क्योंकि इन्द्रिय अप्रत्यक्ष होते हुए भी अप्राकृत नहीं प्राकृत ही है, अतः भगवान्का प्रत्यक्ष हो रहा है, तो भी इतने मात्रसे उनकी प्राकृतता या अप्राकृतता सिद्ध न हो पावेगी, क्योंकि दृश्य वस्तुको प्राकृत ठहरानेमें अदृश्य वस्तुका अप्राकृत स्वीकार करना तर्क की कसौटी पर साफ नहीं उतरता, वादीकी युक्तिको सहायता देनेवाला उसे सफल या सप्रयोजन सिद्ध करनेवाला कोई विचार उपस्थित नहीं होता. वह युक्ति अप्रयोजक ही रह जाती है, निर्बल पड जाती है. यदि ऐसा कहा जाय कि जो प्रत्यक्ष होता है, वह प्राकृत ही होता है, वह अप्राकृत नहीं होता, और जो प्राकृत होता है, वह प्रत्यक्ष ही होता है, वह अप्रत्यक्ष नहीं होता ऐसा नियम नहीं, वह अप्रत्यक्ष भी देखा जाता है, जैसे इन्द्रिय अप्रत्यक्ष होते भी प्राकृत ही हैं, अतः प्राकृतत्व, और प्रत्यक्षत्व समव्याप्त नहीं प्राकृतत्व व्यापक है, प्रत्यक्षत्वकी अपेक्षा अधिक देशवृत्ति है, और प्रत्यक्षत्व व्याप्य है, प्राकृतत्वकी अपेक्षा अल्प देश वृत्ति है. सारांश यह है, कि जहां भी प्रत्यक्षत्व होगा वहां प्राकृतत्व अवश्य होगा, परन्तु जहां प्राकृतत्व होगा वहां प्रत्यक्षत्व होगा ही ऐसा नियम नहीं है, वहां अप्रत्यक्षत्व भी हो सकता है, ऐसी स्थितिमें इन्द्रियोंकी प्राकृतता होते हुए अप्रत्यक्षता अनुचित नहीं, परन्तु प्रत्यक्षता होने पर भगवत्स्वरूपकी अप्राकृतता तो कैसे स्वीकृत की जाय, व्यापकका व्यभिचार(अधिक देशमें रहना) तो दोष जनक नहीं वह तो उचित है, परन्तु व्याप्यका व्यभिचार दोष जनक है, व्याप्य कदापि व्यापकके अभावाधिकरणमें नहीं मिलता. उनका व्याप्य व्यापक भाव ही नष्ट हो जाता है, अतः प्राकृतत्वाभावस्थलमें प्रत्यक्षत्व नहीं रह सकता, अतः प्रत्यक्ष हुए भगवत्स्वरूपको अप्राकृत स्वीकार करना कहां तक सम्भव है, उसका प्राकृत होना ही सम्भावित है, ऐसी आशंकाके निवारण करनेको उस विषयमें कहते हैं, कि इन्द्रिय ग्राह्य गुणोंके साथ भगवान् सर्वत्र ही विद्यमान् हैं, तो भी सर्वत्र उनका प्रत्यक्ष तो नहीं होता रूप, रस आदिमें रहनेवाले भगवत्तत्वका चक्षु रसना आदि इन्द्रियसे ग्रहण नहीं होता रूप, रस आदि मात्रका ही ग्रहण होता है, अतः

भगवान्में प्रत्यक्षता नहीं है, तो प्राकृतता भी नहीं है, अप्राकृतता ही है. यदि कहें कि कहीं भी प्रत्यक्ष होना अप्राकृतताका बाधक है, तो भी इन्द्रियोंके सामर्थ्यसे होनेवाले प्रत्यक्षको ही अप्राकृतताका बाधक कह सकते हैं, भगवान् तो 'तद्गुणाग्रह' हैं, इन्द्रियोंके गुणों(सामर्थ्यों)से ग्रहीत नहीं होते, इस समय भी जो भगवान्का दर्शन हो रहा है, वह नेत्रके सामर्थ्यसे नहीं किन्तु उनकी निजेच्छासे ही हो रहा है, अतः स्वेच्छासे प्रतीत होनेवाला स्वरूप इन्द्रिय द्वारा गृहीत होनेके दोषसे दूषित नहीं हो सकता. श्रुतिमें कहा है, कि स्वयम्भूने[1] इन्द्रियोंको पराङ्मुख बनाकर उनकी हिंसा की है, अतः बाहर दीखता है, अन्तरात्मामें नहीं, कोई धीर पुरुष अमृतत्वरूप परमानन्दकी इच्छा करनेवाला अपने चक्षुको अन्तर्मुख कर लेता है, और अन्तरात्माका दर्शन करता है, इस प्रकार श्रुतिमें परावृत्त हुए चक्षुकी ग्राहकता भी बतलाई है, और स्वभावतः ग्राहकताका निषेध भी किया है, इन दोनों श्रौत सिद्धान्तोंका विरोध नहीं है, उसी प्रकार प्रकृतमें भी इन्द्रिय सामर्थ्यसे आप अदृश्य ही हैं, और निजेच्छासे दृश्य हैं, इस रीतिसे कोई विरोध नहीं रह जाता है. उक्त कारणसे भगवान्के दृश्य होनेसे उनकी अब्रह्मता या प्राकृतताकी शंका नहीं रह जाती, अब भिन्नता एवं बाह्यतासे जो प्रतीति हो रही है, उस विषयमें समाधान करते हैं, कि अनावृत होनेके कारण आपका बाहर एवं भीतर कुछ भी नहीं है, आपको न बाहर कहां जा सकता है, न भीतर ही कहा जा सकता है. अमुक वस्तु बाह्य है, या आभ्यन्तर है, इस प्रकार व्यवहार व्यवस्था आकाशकृत है, यह बात हम पूर्वमें(३।२६।३४)के 'बहिरन्तर'में वचनकी व्याख्यामें कह चुके हैं, वह भी पृथ्वी आदि भूतोंका ही बाह्य अथवा आभ्यन्तर व्यवहार होता है, भगवान्का तो व्यवधायक कोई वस्तु मात्र नहीं, उन्हें अपनी आड़से रोक दे या सीमित कर दे ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं जिस प्रकार घरके भीतर रहनेवाले पदार्थोसे घर दूसरे किसी देखनेवालेसे व्यवहित नहीं होता आड़में नहीं आ सकता एवं स्वयं भी वह घर अपना ही आप व्यवधान नहीं करता. अपनी आड़ आप ही कर लेता हो यह बात भी नहीं हैं, उसी प्रकार भगवान् भी सर्व व्यापक हैं सर्वत्र विद्यमान् हैं, उनसे स्थूल या महान् कोई भी कार्य नहीं, जो उनका व्यवधान या आवरण कर सके अतः भगवान् अनावृत्त है, किसी आवरण या व्यवधानसे सीमित नहीं है, इसका स्पष्टीकरण आगे उलूखल बन्धन प्रसंगमें होगा, आवरण रहित होनेके कारण आपके सम्बन्धमें बाह्य या आभ्यन्तर व्यवहार

नहीं होता, यदि सम्पूर्ण तालाब उसीमें उत्पन्न हुए कमल शैवाल आदिसे ढका हुआ हो किसी अमुक भागमें खुला भी हो तो वह जितने भागमें खुला है, उतना ही तालाब है, ऐसा नहीं माना जाता और न उन कमल शैवाल आदिको तालाबका अवच्छेदक ही माना जाता है, कि यह तालाब इतना ही है, इस तालाबकी इयत्ता या सीमा कमल शैवाल आदिके आधीन हो, ऐसी भी बात नहीं हैं, तालाबसे प्रकट हुए पदार्थ तालाबको सीमित नहीं कर सकते, उसी प्रकार प्रकृत हुए पदार्थ तालाबको सीमित नहीं कर सकते, उसी प्रकार प्रकृतविषयमें आप व्यापक हैं, एक देशमें प्रकट हुए हैं, अतः आपका बाहर भीतरवाला भेद नहीं हो सकता है, प्रतीति जो हो रही है, वह तो आपकी इच्छासे उत्पन्न ही है, आप अपनी इच्छासे बाह्य आदि रूपसे प्रतीति होते हैं, जैसे इन्द्रिय सामर्थ्यसे अदृश्य होते हुए भी स्वेच्छासे दृश्य होते हैं, उसी प्रकार सर्व व्यापक होते हुए भी स्वेच्छासे एकदेशस्थ, बाह्य, भिन्न आदि प्रतीतिके विषय होते हैं, परिच्छिन्नता (एकदेशीयता) या भिन्नताका परिहार भी आपके अनावृत्त या व्यापक होनेके कारण हो ही जाता है, इस विषयमें शास्त्रोक्त तीन हेतुओंका निर्देश करते हैं, कि आप सब कुछ हैं, और सबके आत्मा हैं, एवं सब आत्माओंके वस्तु स्वरूप भी हैं, भगवान् सच्चिदानन्दरूप हैं.

उस सच्चिदानन्दका 'सद्'रूप तो जगत् रूपी भगवान् हैं, और 'चिद्'रूप तो जीवात्मा हैं ही और उन जीवात्माओंका फलरूप स्वयं आप आनन्दरूप हैं, इसमें जगत् या जीव, या फलरूप आनन्द एक दूसरेसे अपनी व्यावृत्ति(भेद) नहीं कर सकते हैं, क्योंकि तीनोंका स्वरूप भगवान् ही हैं, तब कौन किसका व्यावर्तक (भेदक) होगा ? उक्त तथ्यको "**सर्वस्य सर्वात्मन आत्म वस्तुनः**" इन शब्दोंमें कहते हैं, कि भगवान् सर्वरूप हैं(जगद्रूप हैं), सबके आत्मस्वरूप(जीवात्मा)हैं, एवं सर्व जीवात्माओंके भी वस्तुस्वरूप फलात्मक आनन्दरूप हैं, उनका अपने आपसे परिच्छेद (व्यावृत्ति या भेद) नहीं हो सकता है, 'अतति व्याप्नोति' इस व्युत्पत्तिसे आत्मा पदार्थ सर्वव्यापक महान् सिद्ध होता है, उस महान्का परिच्छेद कहां सम्भावित है, अतः भगवान्के अंशोंका उनके अन्य अंशोंसे या भगवान्से परिच्छेद हो सकता है, परन्तु भगवान्का किसी भी प्रकार परिच्छेद नहीं हो सकता क्योंकि उनसे अन्य कोई दूसरा तत्त्व ही नहीं तो परिच्छेद किससे होगा, स्वयमेव आप ही अपना परिच्छेद करते हैं इस पक्षका विवेचन आगे उलूखल बन्धन

प्रसंगमें करना आवश्यक हैं, इस प्रकार ५ श्लोकों द्वारा निर्दोषपूर्ण गुणसम्पन्न शरीरधारी साकार यह अद्‌भुत बालक ही १.अग्निहोत्र, २.दर्शपूर्णमास, ३.पशु, ४.चातुर्मास्य, ५.सोम नामक पञ्च[२] यज्ञात्मक है, ऐसा वैदिक प्रकारसे निरूपण किया है।।१७।।

१. कठोपनिषत् द्वि. अ. प्र. वल्लीके प्रारम्भमें है.

२. वसुदेव स्तुतिके प्रारम्भिक पञ्च ५ श्लोकोंका प्रतिपाद्य अर्थ संख्याके अभिप्रायको लेकर कहा है, पृथिवि १.जल २.अग्नि ३.वायु ४.आकाश ५.यह पञ्च तत्त्वात्मक भगवान् ही हैं यह अभिप्राय भी पञ्च संख्यासे अभिव्यक्त होता है.

य[१] आत्मनो दृश्यगुणेषु सन्निति व्यवस्यति (ते) स्वव्यतिरेकतोबुधः।
विनानुवादं न च तन्मनीषितं सम्यग् यतस्त्यक्तमुपाददत् पुमान्।।१८।।

श्लोकार्थ : जो पुरुष आत्माके दृश्य देह, इन्द्रियादि गुणोंमें किसी पदार्थको आत्मासे भिन्न है, इस प्रकार समझता है, वह मूर्ख है, क्योंकि विचार करने पर वह देह इन्द्रियादि केवल अनुवाद मात्र ही हैं, विचार दशामें जिस पक्षका अच्छी तरहसे त्याग किया जा चुका है, उसी पक्षका स्वीकार करना मूर्खता नहीं तो क्या है।।१८।।

१.''य आत्मनो दृश्य गुणेषु'' इस श्लोक द्वारा भगवान्‌की सद्रूपताका या प्रपञ्चकी असद्रूपताका प्रतिपादन हुआ है, दोनों प्रकारोंमें कुछ अरुचि बनी रह सकती है, क्योंकि भगवान्‌की सद्रूपता तो (सर्वस्य सर्वात्मन)के द्वारा कह चुके हैं, उसीका पुनः कथन पुनरुक्ति दोष होगा, और प्रपञ्चकी असद्रूपता माननेमें भगवान्‌की सर्वात्मकतासे विरोध होगा, अतः आचार्योंने उक्त श्लोक चतुष्टयको (तन्त्र)मत कहकर अविरोध स्थापन किया है.

व्याख्यार्थ : 'य आत्मन' आदि चार श्लोकोंसे तन्त्रमें कही हुई प्रक्रियाके अनुसार वासुदेव आदि चतुर्मूर्ति भगवान्‌का निरूपण किया जाता है, वहां तन्त्र शास्त्रमें प्रथम परब्रह्मरूप वासुदेव हैं, ऐसा माना है, वहां पर 'श्री' नामक भगवच्छक्तियां ''**श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ**''के अनुसार भगवत्पत्नीको माया कहा है, क्योंकि पञ्चरात्रमें ऐसा वाक्य है, ''**इत्थं विचिन्त्य परमः स तु वासुदेव नामा बभूव निज कारण मुक्ति दाता, तस्याज्ञयैव नियता परमाऽपि रूपं ववेद्वितीयमिव यत्प्रवदन्ति मायाम्**'' प्राणियोंके मोक्षमें प्रतिबन्ध करनेको वह केवल माया ही जगत्‌को रचती है, वासुदेव तो प्रेरणामात्र करते हैं.

उस जगत्में यदि प्राणी सत्यबुद्धि करता है, उसे सत्य समझता है, तो वह मुक्त नहीं होता है, इस प्रकार तान्त्रिक मत कहते हुए ही श्रीवसुदेवजी पूर्वमें यह कहते हैं, कि यह चतुर्मूर्ति भगवान् अवतीर्ण हुए हैं, अतः इस वासुदेवका दर्शन अन्तर्देश हृदयमें अथवा बहिर्देशमें जहां कहीं भी करना चाहिए परन्तु दोनों प्रकारोंमें केवल चिदानन्दका ही दर्शन अभीष्ट है. पृथ्वी आदि तत्त्वोंके सहित उनका दर्शन अपेक्षित नहीं, वसुदेवजीका कहना है, कि जो प्राणी आत्मस्वरूप भगवान्के दृश्य गुणोंमें देह, इन्द्रिय आदि समुदायोंमें किसी भी पदार्थको 'सत्' यह सत्य है, ऐसा निश्चित कर लेता है, वह मूर्ख है, क्योंकि यह देह, इन्द्रिय आदि समुदाय आत्माके द्वारा ही अनुभवके विषय होते हैं, अनुभवके अतिरिक्त उनकी कोई सत्ता नहीं प्रतीतिमात्र ही है, प्रकृति आदि चौबीस तत्त्व गुण हैं. रस्सीकी भांति बन्धन करनेवाले हैं, जीवात्माको प्रपञ्चमें फंसा देनेवाले हैं, इनमेंसे किसी एकको भी जो कोई सत्य मानता है, वह मूर्ख है, क्योंकि असली बात तो यह है, कि वहां सर्व वर्गोंमें उन-उन रूपोंसे भगवान्ने ही प्रवेश किया है, भगवान् सत्य ही है, उनकी सत्तासे ही तत्त्व भी सत्यरूपसे प्रतीत होते हैं, यदि आत्माके सम्बन्धके बिना ही किसी पदार्थको सत्य मानता है, अथवा आत्मासे अतिरिक्त किसी पदार्थको सत्यरूपसे स्वीकार करता है, तो वह मूर्ख ही है, उसकी बुद्धि कार्य नहीं करती वह मायासे मोहित हो चुका है, यहां पर यह पक्ष उठाया जा सकता है, कि आत्माके सम्बन्धसे अनात्म पदार्थ देहादिमें भी सत्यता उत्पन्न हो जाती है, ऐसा मान लिया जाय तो उसकी प्रतीतिमें तो कोई आपत्ति या दोष नहीं, इसका खण्डन करके उक्त विषय पर कहते हैं, कि विचारशील मनीषियोंके मनने जगत्को सत्यरूपसे नहीं विचारा है, केवल उसका अनुवाद ही किया है, अनुवादके बिना उसकी अन्य कोई सत्ता नहीं, जगत्की असत्यताके प्रतिपादन किये बिना विषयासक्ति निवृत्ति नहीं हो सकती, इस दृष्टिसे विषयोंसे वैराग्य करा देनेको यह मत उपयुक्त है. आत्मासे अतिरिक्त वस्तु मात्रका त्याग अपेक्षित है, अतः इसका अनुवाद आवश्यक है, त्याग उसी वस्तुका हो सकेगा जिसकी सत्ता सिद्ध होगी, जिसकी सत्ता ही नहीं, जो कुछ है, ही नहीं उसका त्याग कैसा, अतः आत्माके सम्बन्धसे देह इन्द्रिय आदि जगत्की सत्ता है, ऐसा अनुवादरूपसे कहा गया है. परन्तु आत्माके साथ जगत्का कोई सम्बन्ध नहीं केवल प्रतीति मात्र ही है, अतः कहते हैं कि अनुवादके बिना वह जगत् मनीषित

नहीं, मनके द्वारा सत्यरूपसे विचारित नहीं. आशय यह है, कि अनुवाद किसी वस्तुके यथार्थ या अयथार्थ होनेकी अपेक्षा नहीं रखता वह तो केवल प्रतीति मात्रकी अपेक्षा रखता है, चाहे वह प्रतीति ठीक हो वा न हो जिसे आंखके दोषसे आकाशमें दो चन्द्रोंकी प्रतीति होती है, वह कहता है, कि दो चन्द्र हैं, उसकी उक्तिका अनुवाद तटस्थ व्यक्ति करता है, कि (दो चन्द्र हैं) ऐसा यह भ्रम वश कह रहा है, वास्तवमें दो चन्द्र नहीं हैं, जिस प्रकार ऐसे अनुवादसे दो चन्द्रोंकी सत्ता सिद्ध नहीं होती, उसी प्रकार त्यागार्थ अनुवाद मात्रसे जगत्की सत्ता सिद्ध नहीं होती, आत्माके अतिरिक्त देह इन्द्रिय आदि दृश्यवर्गकी वास्तविकता नहीं. यद्यपि किसी वस्तुके निषेध करनेकेलिए भी उसका स्वरूपतः उल्लेख आवश्यक होता है, वस्तुके उल्लेख किये बिना उसका निषेध सम्भव नहीं. रस्सीके यथार्थ ज्ञान होने पर यह सर्प नहीं ऐसा कथन भी सर्पका उल्लेख चाहता है, जिसे कभी सर्प मान लिया था, वह सर्प नहीं, रस्सी है. इसी प्रकार जगत्को असत्य ठहरानेमें उसके पूर्व जो जगत्में सत्यताका आरोप आवश्यक है, उसकेलिए जगत्को सत्यरूपसे जाननेमें कोई बुराई नहीं वह तो ठीक ही है, तो वैसे जाननेवालोंको (अबुध) क्यों कहा जाय? ऐसी आशंकामें कहते हैं, कि जब विचार पूर्वक अग्राह्य समझकर जिस वस्तुका त्याग कर दिया है, उस वस्तुका ग्रहण करनेवाला पुरुष मूर्ख ही है, आत्मा और देह इन्द्रियादिके समुदायात्मक इस संघातमें आत्माके अन्वेषणकी दशामें आत्मासे अतिरिक्त देह इन्द्रिय आदि सबको अग्राह्य समझा था, उनका त्याग किया था. उन त्यागे हुए देहादिकोंको पुनः ग्राह्यरूपसे स्वीकार करना मूर्खता ही है. 'पुमान्' शब्दसे ऐसे व्यक्तिका उपहार व्यङ्ग्य है, कि स्वयं पुरुष होकर भली भांतिसे विचारकर त्याग कर चुका है, उसीका पुनः ग्रहण करना क्या पुरुषार्थ सिद्धिके अनुकूल है! नहीं नहीं, अत्यन्त मूर्खता ही है. छोड़ी हुई वस्तु दूरसे देखी जा सकती है, समीपमें उनका ग्रहण नहीं किया जाता. पासमें वह वस्तु नहीं रखी जाती, किसी अन्य व्यक्तिको तत्त्वका उपदेश करनेकेलिए यद्यपि अनुवादरूपसे उस दृश्य वर्गका ग्रहण सम्भावित है, परन्तु जहां पर उपदेशादिकी सम्भावनाके बिना ही दृश्य वर्गमें सद्बुद्धि होती है, वहां तो वह मूर्खता ही है, क्योंकि जिस प्रकारसे त्याग किया है, अनित्य समझकर अग्राह्य कक्षामें समझा है, उसी प्रकारसे नित्य समझकर ग्राह्य कक्षामें रखता है, अतः मूर्ख ही है, क्योंकि उसका विचार यथार्थ नहीं, पूर्वमें भली भांति त्याग

किया अब भली भांति ही ग्रहण करता है।।१८।।

गो. श्रीविठ्ठलनाथकृत व्याख्यान : प्रकृत श्लोकका ब्रह्मवादकी रीतिसे यह व्याख्यान गो.श्रीविट्ठलनाथ प्रभु चरणोंने किया है, आपने 'स्वव्यतिरेकतः' इस पदका 'स्वव्यतिरेकं प्राप्य' ऐसा विवरण किया है, तथा 'सर्वं वाक्यं सावधारणं भवति' (प्रत्येक वाक्य निश्चयके साथ होता है.) इस मीमांसकसम्मत विचार शैलीके अनुसार 'एव' पदका 'प्राप्य' पदके साथ प्रयोग किया है, एवं 'प्राप्य' इस पूर्वकालिक क्रियाका 'सन्' पदार्थक देश सत्ता क्रियासे अन्वय किया है, 'स्वव्यतिरेकतः' यह पद पञ्चमी विभक्तिके अर्थका प्रतिपादन करनेवाले (त) (तसिल्) प्रत्ययके योगसे-सिद्ध हुआ है, 'ल्यब्लोपे कर्म्मण्यधिकरणे च' इस व्याकरणके नियमानुसार (प्रासादमारुह्य प्रेक्षते)के स्थान पर (प्रासादात्प्रेक्षते) इस वाक्यकी भांति (स्वव्यतिरेकं प्राप्येव सन्)के स्थान पर (स्वव्यतिरेकतः सन्) यह वाक्य प्रयुक्त हुआ है, इस प्रक्रियासे यह वाक्यार्थ सिद्ध होता है, कि आत्मस्वरूप भगवान्के दृश्य गुणोंमें (भगवदिच्छासे दृष्टिगत होनेवाले) केश, रोम, नख एवं रूप, रस, स्पर्श आदिकोंमें किसी एक भी गुणको जो ऐसा मानता है, कि सच्चिदानन्द स्वरूप स्वयं भगवान्से व्यतिरेक(भेद)को प्राप्त करके ही यह सत्तावान् है, भगवान्से भिन्न होकर ही इसकी सत्ता है, उस प्रकारका निश्चय करनेवाला मूर्ख है. आशय यह है, कि भगवान्के गुण धर्म आदि सब कुछ भगवत्स्वरूप ही है, भिन्न नहीं, भिन्न माननेवाला मूढ सोचता है, कि ब्रह्म तो एक रस है, यदि उसके रूप आदिकोंको सत्य माने तो किसी एक रूपके सत्य मानने पर विविध रूपता सिद्ध नहीं होगी, ''समो नागेन समो मशकेन'' यह श्रुति, हाथी और मच्छरके समान आकारवाला ब्रह्म है, ऐसा प्रतिपादन करती है. यदि हाथीके समान है, तो मच्छरके समान नहीं हो सकता है, और यदि मच्छरके समान है, तो हाथीके समान नहीं हो सकता है, अतः रूपादिकी प्रतीति यथार्थ नहीं, रूपादि गुणको ब्रह्मसे भिन्न ही स्वीकार करना उचित है, ऐसा जो निश्चय कर बैठता है, वह मूर्ख है. वह यह नहीं समझ पाता कि धर्मी ब्रह्म ही यथाऽवसर उन-उन धर्मोंको प्रकट करता रहता है, उसके स्वरूपात्मक सब धर्म नित्य सिद्ध हैं. सर्प कुण्डलाकार भी हो जाता है, और सरलाकार भी हो जाता है. उसके वह आकार न तो उससे भिन्न हैं और न मिथ्या ही है. यथावसर उन आकारोंको प्रकट करता है, उसी प्रकार ब्रह्म भी धर्मिग्राहक भानसे उसके स्वरूपका ज्ञान करानेवाले

''उभय व्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत्'' ब्रह्मसूत्र(३।२।२७)सूत्र, इस न्यायसे विविध रूपोंको प्रकट करता रहता है, यह सिद्ध हो जाता है. शुद्ध ब्रह्म उन-उन रूपोंको अभिव्यक्त करता है. इसी बातको कहते हैं कि 'विनानुवादम्', भगवत्स्वरूप वस्तु ही वैसा है, उसके आकारविशेषके दर्शन करनेके अनन्तर भक्तोंके द्वारा किया गया यह कथन ही अनुवाद है, कि यह श्रीहस्त कमल है, और यह श्रीचरण कमल है, एवं यह श्रीनयन कमल है, इस अनुवादके बिना वह श्रीहस्तकमलादि भगवत्स्वरूपसे पृथक् सत्तात्मक रूपमें मनके द्वारा भी विचारित नहीं होते, यहां पर यह शंका हो सकती है, कि भगवत्सम्बन्धी पदार्थोंको भी प्राकृत ही मान लिया जावे, केवल भगवत्सम्बन्ध होनेके कारण उनको 'सत्' कहा जाता है, क्योंकि उनमें सत्त्वकी उत्पत्ति भगवत्सम्बन्धसे हुई है, अतः प्राकृत पदार्थ ही सद्रूपसे प्रतीत होने लगते हैं, ऐसा स्वीकार करनेमें कोई दोष नहीं होता. उक्त शंकाके निवारणार्थ कहते हैं कि भगवत्तत्त्व श्रुति पाद्य है, श्रुति विरुद्ध तर्कसे उसके विषयमें विचार करना मूर्खता है, भगवती श्रुति आज्ञा करती है, कि जैसे सैन्धवघन(जमा हुआ लवण) भीतर बाहरके भेदसे रहित सर्वांशमें लवण रसका एक पिण्ड है, उसी प्रकार अरे जिज्ञासु गण! यह आत्मस्वरूप भगवान् भीतर बाहरके भेदसे रहित प्रज्ञानका सर्वांशमें प्रकृष्ट ज्ञानका मूर्तिमान् स्वरूप है, तथा ''यह पुरुष असंग ही है''. इसका किसी प्राकृत वस्तुसे स्पर्श या सम्बन्ध नहीं, पुष्कर पलाशकी भांति निर्लेप है, एवं ब्रह्मतत्त्वके विषयमें अब इस कारण यह आदेश है, कि इसको निषेधमुखसे समझो कि वह तत्त्व प्रकृतिके साम्राज्यमें जो पदार्थ है, उन सबसे भिन्न है. इस प्रकार प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियोंके विचारकालमें प्राकृत धर्मोंका सर्वथा त्याग किया गया है, कि ब्रह्ममें प्राकृत पदार्थका गन्ध भी नहीं है, उसी त्यागे हुए प्राकृत धर्मका स्वीकार करना कि ब्रह्मके सम्बन्धसे उसके प्राकृत गुणोंमें सद्रूपता आ जाती है, सर्वथा अनुचित है, क्योंकि प्राकृत पदार्थोंसे सम्बन्ध होने पर ही उनमें सत्ताकी उत्पत्तिका सम्भव है, जब सम्बन्ध ही नहीं, तब कैसे सत्ता प्रकट हो सकेगी.

उक्त श्लोकमें 'व्यवस्यति'के स्थान पर 'व्यवस्यते' ऐसा पाठ भी सम्भव है, तदनुसार 'अस्वव्यतिरेकतः' ऐसा पदच्छेद भी अभीष्ट है, तब अथवा इस प्रकार भी व्याख्या हो सकती है, कि जो पुरुष आत्मा देखनेवाले स्वयं अपने इन्द्रियसामर्थ्यसे दृष्टिगत होनेवाले भगवान्के कर-चरणादि अंगोमें भगवान्

विद्यमान् है, उन अंगोकों व्याप्तकर अभिमानी जीवकी तरह स्थित हैं, ऐसा निश्चय करता है, वह मूर्ख है, क्योंकि 'अस्वव्यतिरेकतः', उन करचरणादिकोंमें उसका व्यतिरेक(भेद) नहीं है, जिसे आत्मारूपसे मान रखा है. जीवकी भांति वहां देह-देहीका भेद ही नहीं, तो आभिमानिक सम्बन्ध भी असम्भावित है, वहां तो कर-चरणादि उनके आत्मरूप ही हैं, जैसे आत्मा शुद्ध निर्विकार है, उसी प्रकार आत्माके(भगवान्के) करचरणादि भी निर्विकार शुद्ध चिन्मय, आनन्दघन हैं. इस प्रकारकी सूचना हमको अव्ययान्त प्रयोगसे मिल रही है. व्याकरणमें तसिल् प्रत्ययकी 'तद्धितश्चासर्वविभक्तिः' सूत्रसे अव्यय संज्ञा हुई है. अव्ययमें कोई भी परिवर्तन या विकार नहीं होता, उसके प्रयोगसे प्रकृतमें भगवत्स्वरूपकी शुद्ध एकरसताका बोध कराना अभीष्ट है. इस व्याख्यानमें अन्य विवरण, पूर्व व्याख्यानकी भांति ही जान लेना, विशेषमात्रका निर्देश किया है, अतः इस पक्षमें भी आपमें कोई प्राकृत धर्म नहीं है, इस कारण आप वासुदेव हैं।।१८।।

१.ज्ञान गत प्रकर्ष आनन्दका तादात्म्य है, रसके दृष्टान्तसे यह बात स्पष्ट हो जाती है.

त्वत्तोऽस्य जन्मस्थितिसंयमान् विभो वदन्त्यनीहादगुणाद् अविक्रियात्।।
त्वयीश्वरे ब्रह्मणि नो विरुध्यते त्वदाश्रयत्वाद् उपचर्यते गुणैः।।१९।।

श्लोकार्थ : हे विभो! आपसे इस जगत्के उत्पत्ति, पालन एवं प्रलय होते है, ऐसा प्रामाणिक लोग कहते हैं. आप तो कोई चेष्टा नहीं करते एवं गुण और विकारोंसे रहित हैं, परन्तु समर्थ ब्रह्ममें यह कुछ विरोध नहीं आता, गुण भी तो आपके ही आश्रित है, रज आदि गुणसे उत्पत्ति आदिका होना उपचार मात्र है।।१९।।

व्याख्यार्थः प्रत्यक्ष हुए जिस अद्भुत बालकका तान्त्रिक प्रक्रियासे परब्रह्म होनेके कारण वासुदेवरूपसे निरूपण किया, उसका इस श्लोकमें ईश्वर और ब्रह्म होनेके कारण प्रद्युम्नरूपसे निरूपण करते हैं, कि आप ही भगवान् प्रद्युम्नरूप भी है. पञ्चरात्रमें प्रद्युम्नको जगत्का कर्ता बतलाया है, और उसीकी शक्ति या पत्नीको 'स्मृति' कहा है. प्रद्युम्नने स्मृतिको पैदा किया है, जो कि रजः सत्त्वतमोमयी है. उससे कोई पुरुषकी उत्पत्ति नहीं होती. प्रकृतिमें स्त्रीकी ही प्रधानता है, पुरुष तो अप्रधान ही है. उस प्रकृतिसे सृष्टि, स्थिति और प्रलय होते है. संकर्षणसे उत्पन्न हुए सूत्र नामक तत्त्वसे उस प्रकृतिमें जगत्[१] उत्पन्न किया जाता है. इस प्रकार जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयमें प्रद्युम्नका उपयोग

परम्परासे समीप होने मात्रसे ही है. इतने मात्रसे ही लोग प्रद्युम्नसे सृष्टि बतलाते हैं, किन्तु वासुदेवकी भांति प्रद्युम्नसे सृष्टि नहीं, उस मतका यहां अनुवाद किया जाता है, कि हे विभो ! प्रद्युम्नरूप आपसे, इस जगत्के उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय होते हैं, ऐसा लोग कहते हैं

१. प्रकाशकारने 'पुरुष' उत्पन्न किया जाता है, इस प्रकार उल्लेख किया है.

उनके इस प्रकार कहनेका कारण, आपकी विभुता है, सर्व समर्थता है. हे विभो ! यह सम्बोधन पूर्वोक्त लोकोक्तिके कारणकी सूचना करता है, कि आप समर्थ हैं, अतः लोग आपसे जगत्की उत्पत्ति आदि बतलाते हैं. शंका हो सकती है, कि सामर्थ्य है, तो प्रद्युम्नसे उत्पत्ति आदि क्यों न मान ली जावे ? उक्त विषयमें उत्तररूपमें कहते हैं कि ''आप तो अनीह(चेष्टारहित) गुणरहित एवं विकाररहित हैं''. जो ही चेष्टा करता है, वह ही उत्पादन करता है. जो महान् ऐश्वर्य आदि गुणोंका अवलम्ब करता है, वह पालन करता है. पालन तो आज्ञामात्रसे भी सम्पन्न हो सकता है, उसकेलिए विकारकी आवश्यकता नहीं. देखा जाता है, कि राजवर्ग आज्ञामात्रसे सर्व पालन सम्बन्धी शासन व्यवस्था करता रहता है, परन्तु संहार तो क्रोध आदि विकारके बिना नहीं होता. जो क्रोध आदि विकारको प्राप्त करता है, वही संसार करता है, यह भगवान् प्रद्युम्न तो, सत्त्व, रजः, तमः, इन तीनों गुणोंका अतिक्रम कर गए हैं. इन गुणोंसे परवर्ती हैं, इनके सर्वथा आधीन नहीं है, अतः इनको किसी भी विकारका सम्भव नहीं, यह कूटस्थ है. सर्वथा निष्क्रिय एवम् अविचल स्थिर है. उक्त कारणसे इनका जगत्कर्ता आदि होना सर्वथा नहीं घटता, परन्तु अलौकिक सामर्थ्यके होनेसे लोग कहते हैं, यदि यह जगत्की उत्पत्ति आदि करना चाहें तो गुणोंको भी उत्पन्न कर दें और स्वयं विकारोंसे रहित भी रह जावे और उत्पत्ति आदि भी कर देवें, अथवा जिस प्रकार चिन्तामणि किसी अन्य साधनके सहयोगके बिना ही अनेक पदार्थोंकी सृष्टि कर देता है, उसी प्रकार यह प्रद्युम्नभगवान् भी गुणादिकोंकी अपेक्षा न कर स्वतः सब कुछ कर सकते हैं, जब सामर्थ्य होते भी जगत्का निर्माण नहीं करते, तो इनको अकर्ता ही क्यों न मान लिया जावे, कर्त्ता माननेकी क्या आवश्यकता है ? विरोध होने पर किसी एक धर्मका परित्याग करना उचित ही है. यदि कर्त्ता मानना हो तो अकर्तृत्वका त्याग करना आवश्यक है, अकर्त्ता मानना हो तो कर्तृत्वका त्याग अपेक्षित है, क्योंकि विरोध होने पर किसी एक धर्मका त्याग करना ही पड़ता है.

यदि लोक प्रतीतिसे कर्ता मानते हो और स्वरूपतः अकर्ता स्वीकार करते हों तो ऐसी दशामें स्वरूपगत अकर्तृत्व धर्मको ही बलिष्ठ मानना होगा क्योंकि यह अन्तरंग है, भगवत्स्वरूपके अन्तर्गत है, और कर्तृत्व तो लोक प्रतीतिके आधार पर माना गया है, अतः दुर्बल है, क्योंकि लोकप्रतीति बहिरंग है, अन्तरंग और बहिरंगोमें अन्तरंग अधिक बलवान् होता है, इस लोकसिद्ध न्यायसे अन्तरंग स्वरूप धर्मोंकी ही बलिष्ठता सिद्ध होती है, बहिरंग लोकप्रतीति दुर्बल पड़ जाती हैं, अतः इस पक्षमें यह ही सिद्धान्त होना उचित है, कि भगवान् कर्ता नहीं है, अतः वासुदेवकी अपेक्षा प्रद्युम्नकी कोई विलक्षणता सिद्ध नहीं होती. ऐसी शंकामें वासुदेवसे प्रद्युम्नकी विलक्षणता बतलानेकी उक्त विषयमें कर्तृत्व और अकर्तृत्व इन दोनों धर्मोंके परस्परमें अविरोध होनेके कारण कहते हैं कि 'त्वयीश्वरे' इत्यादि. यदि विरोध हो तब तो दोनोंमेंसे किसी एकका परित्याग उचित है, परन्तु जब ब्रह्मकी यह स्वाभाविकता है, कि वह सबकुछ हो सकता है, उसमें किसी भी विरोधको अवकाश ही नहीं, तो किसी एक धर्मके परित्याग करनेकी कल्पना उचित नहीं, अकर्तृत्व और कर्तृत्व यह दोनों धर्म ब्रह्मके स्वरूपमें अविरुद्ध है, अन्य कारण यह भी है, कि भगवान् ब्रह्म ही नहीं, ईश्वर भी है, ईश्वर होनेके कारण जगत्कर्त्ता है, ब्रह्म होनेसे सर्व विकार रहित है, अतः जगत्कर्तृता और निर्विकारता दोनों ही युक्त हैं, भगवान्को लौकिक कर्ताकी भांति किसी देश या कालकी अपेक्षा नहीं, और न उन्हें स्वरूपकी अवस्थाओंका भेद ही अपेक्षित है, अतः सर्वथा निर्विकार ही रहते हैं, और जगत्का सर्जन भी करते रहते हैं, जगद्रूप भी होते हैं, क्योंकि वह ईश्वर हैं, और ब्रह्म हैं. ईश्वरमें आज्ञाशक्ति अकुण्ठित रहती है. उनको स्वयं कोई चेष्टा नहीं करनी पड़ती, उनके आदेशमात्रसे सर्व व्यवस्था सम्पन्न होती रहती है, तथा ब्रह्ममें सब कुछ हो जानेकी शक्ति है, अतः किसी प्रकारके विरोधकी सम्भावना ही नहीं है, तब कर्तृत्व और अकर्तृत्व धर्मोंमें किसी एकके त्यागकी चर्चा अनुचित है. ब्रह्मके विषयमें अविरोध प्रतिपादन करनेकी एक प्रक्रिया यह भी है, कि विरोध तो प्रतीतिके अनुरोधसे होता है, कि प्रतीतिकी व्याख्या अन्य प्रकारसे हो सके तो विरोध नहीं रह पाता, ब्रह्म कर्ता है, या अकर्ता है, वह अनीह, अगुण, अविकार है, या नहीं इत्यादि प्रतीति प्रत्यक्षप्रमाणजन्य तो है, नहीं,किन्तु शास्त्रगम्य हैं, शास्त्रोंमें ब्रह्मको कर्ता भी कहा है, अकर्ता भी कहा है, अनीह आदि भी कहा है,

शास्त्र शब्दात्मक है, और शब्दका प्रयोग मुख्य अर्थको लेकर ही होता हो ऐसी बात नहीं है, वह किसी गुणकृत साम्यसे भी होता है, जैसे 'सिंहोमाणवकः' इस वाक्यमें बालकको सिंह कहा है, परन्तु सिंह शब्दके मुख्य अर्थ पशुविशेषको लेकर नहीं, उसके पराक्रम आदि गुणकृत साम्यको लेकर, उस बालकको सिंह कह दिया है. उसी प्रकार ब्रह्मकी कर्तृता भी औपचारिक है, मुख्य नहीं. मुख्य तो अकर्तृता ही है, अतः विरोध नहीं. यदि कर्तृत्व, और अकर्तृत्व दोनों वास्तविक हो तब तो विरोधकी आशंका हो सकती है, किसी एकको अवास्तविक मानने पर विरोध नहीं रह पाता. भगवान् सर्वाधार हैं, बिना आधारके जगत्का सम्भव नहीं, अतः भगवान्की जगदाधारता सिद्ध हो जाती है, उसी आधारताको लेकर उन्हें कर्ता कह दिया है, वास्तवमें तो गुण ही कर्ता हैं, अतएव सांख्यवालोंने प्रकृतिको ही कर्तृत्व स्वीकार किया है, गुणोंके भी भगवान् ही आश्रय हैं, जगत् रूपी कार्य और उसके कारणरूप गुणोंके भी आश्रय होनेसे ब्रह्मको जगत्का कर्ता कह देना संगत हैं. यद्यपि कर्तापनेका अभिमान ब्रह्ममें सम्भव नहीं तो भी लोकदृष्टिसे उसकी कर्तृता युक्त ही है. इस श्लोकमें जगत्की अमायिकता है, तथा भगवान्की अकर्तृता और कर्तृता दोनों ही हैं, ऐसा निर्देशकर वासुदेवकी अपेक्षा विलक्षणतासे प्रद्युम्नका निरूपण किया है, क्योंकि वासुदेवके निरूपणमें जगत्की मायिकता और भगवान्की सर्वथा साक्षिरूपता या केवल प्रेरकताका ही निरूपण किया है, प्रद्युम्नमें जो प्रकृतिके उत्पादन द्वारा उत्पत्ति, स्थिति, प्रलयरूपताका जो निरूपण किया है, वह आध्यात्मिक(उपादान)रूपसे किया है।।१९।।[२]

२.उक्त श्लोकमें ब्रह्मके अनीह, अगुण आदि होते हुए भी कर्ता होनेमें विरोध न होनेका कारण उसकी ईश्वरता और ब्रह्मता बतलाई है, तथा ब्रह्मके प्रति कर्तृ शब्दका प्रयोग औपचारिक है, अतः उसकी कर्तृता प्रमाणिक नहीं, ऐसा भी सिद्ध किया है. वास्तवमें तो 'कर्ता-कारयिता हरिः' यह ही सिद्धान्त है, श्रीहरिका कर्तृत्व ही गुणोंमें उपचरित है, क्योंकि गुणोंके भी आश्रय श्रीहरि ही हैं, ऐसा प्रतिपादन टिप्पणीकारने किया है. तन्त्र मतानुसारी होनेसे सिद्धान्तमें कोई विरोध नहीं.

स त्वं त्रिलोकस्थितये स्वमायया बिभिर्षि शुक्लं खलु वर्णमात्मनः।।
सर्गाय रक्तं रजसोपबृंहितं कृष्णं च वर्णं तमसा जनात्यये।।२०।।

श्लोकार्थ : त्रिलोकीकी स्थितिकेलिए आप अपनी मायासे अपने शुक्ल वर्णरूप सत्त्वगुणको धारण करते हैं, सृष्टिकेलिए रजोगुणसे पुष्ट हुए रक्तवर्णको

धारण करते हैं, एवं तमोगुणसे पुष्ट हुए कृष्णवर्णको लोक प्रलयके निमित्त धारण करते हैं।।२०।।

व्याख्यार्थ : उक्त श्लोकमें आधिदैविकरूपसे भगवान् अनिरुद्धका जगत्कर्त्ता होना सिद्ध किया है, जिस प्रकार पिता पुत्रादिका उत्पादक होता है, या कृषीवल(खेती करनेवाला किसान) अन्नआदिका उत्पादक होता है, एवं वर्षाके द्वारा इन्द्र आदि देवता सम्यादि सृष्टिके प्रयोजक होते हैं, अथवा गुणावतार‌रूप ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, जगत्के उत्पत्ति, स्थिति, संहारके प्रयोजक होते हैं, उस प्रकारका स्वरूप भगवान् अनिरुद्धका है. उक्तविषयमें आशंका हो सकती है, कि ब्रह्मा, विष्णु और शिवको ही रज आदिका एक-एक गुणके द्वारा उत्पत्ति आदिका नियामक माना गया है. अनिरुद्धको तो उस प्रकार नहीं कहा गया है, ऐसी आशंका कर, समाधान करते हैं कि अनिरुद्धकी ही उत्पत्ति, स्थिति, संहार इन तीनोंमें नियामकता है, अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु, शिव यह तीनों प्रकारान्तरसे अनिरुद्धके ही रूपान्तर हैं, ऐसा कहते हैं. त्रिलोकीकी रक्षाकेलिये आप अपनी शान्ति नामक मायासे सत्त्वगुणको धारण करते हो, उसे पोषण देते हो, उस सत्त्वगुणका स्वरूप आपका अपना शुक्लवर्ण है, ऐसी प्रसिद्धि है. सत्ययुगमें शुक्लवर्ण एवं चतुर्भुजरूप कहा है, तदनुसार सत्त्व आदि गुणोंको लेकर जो भगवान्के शुक्ल आदि वर्ण बतलाये हैं, वह उन गुणोंके उपाधिभूत कालके रूप हैं, उन्हें ही इस पक्षमें भगवद्रूप कहा है, उसीकेलिए गुणोंको कहते हुए रूपोंका निरूपण करते हैं, कि सृष्टिकेलिये रक्तवर्णको धारण करते हैं. वह रूप आपका स्वाभाविक नहीं है, किन्तु रजोगुणसे अभिवृद्ध हुआ आगन्तुक है. उसी प्रकार कृष्णवर्णको लोकोंके नाशके निमित्त धारण करते हो. इस प्रकार पूर्वार्धके 'बिभर्षि' इस क्रिया पदसे सम्बन्धकर वाक्यार्थ सिद्ध होता है।।२०।।

त्वमस्य लोकस्य विभो रिरक्षिषुः गृहेऽवतीर्णोऽसि ममाखिलेश्वर।।
राजन्य-संज्ञासुर-कोटियूथपैः निर्व्यूह्यमाना निहनिष्यसे चमूः।।२१।।

श्लोकार्थ : हे विभो! आप इस लोककी रक्षा करनेके इच्छुक हैं, हे अखिलेश्वर! मेरे गृहमें प्रकट हुए हो, राजनामधारी असुरोंकी कोटियोंके यूथपतिओं द्वारा प्रेरित हुई सेनाओंका आप वध करेंगे।।२१।।

व्याख्यार्थ : इस श्लोकमें भगवान्का संकर्षणरूप कहा है, कि हे विभो! आप इस लोककी रक्षाकी इच्छा रखते हुए मेरे गृहमें प्रकट हुए हो, रक्षा

करना आपका आवश्यक कर्त्तव्य है, क्योंकि आप अखिलेश्वर हैं, समस्त जगत्के स्वामी हैं, एवं विभु सर्वथा समर्थ भी हैं. यह लोकरक्षात्मक संकर्षण कार्य देवताओंके प्रति उनके द्वेषि दैत्योंके नाश करनेसे ही सिद्ध होता है, सर्व नाश करनेसे नहीं, अतः देवांश संकर्षण सर्वथा संहारक ही हो, यह बात नहीं, वह तो जगत्के रक्षक ही हैं, केवल दैत्योंका निवारण करते रहते हैं. उक्त तथ्यको कहते हैं कि आप राजा कहलानेवाले असुरोंकी सेनाओंके यूथपति कंस आदिकोंसे अत्यन्त सुरक्षित एवं उत्तेजित सेनाओंका निःशेषरूपसे वध करेंगे, अतः आपके द्वारा सम्पन्न हुआ दैत्यवध लोकरक्षाकेलिये ही सिद्ध होता है. इस प्रकार भविष्यका निर्देश वसुदेवजीकी सर्वज्ञताका सूचक है, जो कि उन्हें भगवान्के सन्निधानसे प्राप्त हुई है, अथवा श्रुति कहती है, कि ब्रह्मके विदित हो जाने पर सब कुछ विदित हो जाता है. इस कारण इनका यह ज्ञान ऋषियोंकी भांति भगवत्तत्त्वके ज्ञानसे भी हो सकता है।।२१।।

अयं त्वसभ्यस्तव जन्म नो गृहे श्रुत्वाग्रजास्ते न्यवधीत् सुरेश्वर।
स तेऽवतारं पुरुषैः समर्पितं श्रुत्वाधुनैवाभिसरत्युदायुधः।।२२।।

श्लोकार्थ : हे सुरेश्वर ! इस असभ्य कंसने तो हमारे गृहमें आपका जन्म होगा ऐसा सुनकर आपके ज्येष्ठ भ्राताओंका वध किया है, वह दुष्ट अपने प्रहरी पुरुषों द्वारा विदित किये गए आपके अवतारको सुनकर शस्त्रोंको उठाए हुए अभी आता ही है।।२२।।

व्याख्यार्थ : ऐसा ज्ञान होने पर भी वसुदेवजीका भय निवृत्त नहीं हुआ, इसलिए लौकिककी प्रबलताके सूचनार्थ 'अयन्तु' आदि श्लोक द्वारा भयसे भगवान्के प्रति विज्ञापना करते हैं. उक्त श्लोकमें 'तु' शब्द स्तुतिकी व्यावृत्तिका द्योतक है, कि अब स्तुति समाप्त हुई. पूर्वमें जो कहा गया है, वह स्तुति पदार्थ है, उसकी समाप्तिकर, अब एक श्लोकसे प्रार्थना करते हैं, वसुदेवजी कहते हैं कि यह कंस तो असभ्य है, भगवान् प्रकट हुए हैं, ऐसा जानकर साधु पुरुषोंको ही सुख होता है, दुष्टोंको नहीं. अतः इससे इस प्रसंगको कहना सर्वथा अयोग्य है, असभ्य होनेके कारण ही इसने आपके जन्मको हमारे गृहमें सुनकर, आपके ज्येष्ठ भ्राता मेरे षट् पुत्रोंको मारा है. उक्त श्लोकमें 'सुरेश्वर' यह सम्बोधन अमृतमन्थन आदि प्रसंगों पर देवताओंके पक्षपातकी स्मृति दिलाता हुआ, भक्त पक्षपातका संकेत करता है. इस समय क्या करना चाहिये? इस प्रश्नके विषयमें वसुदेवजी

कहते हैं कि वह हत्याप्रिय कंस, प्रहरी लोगोंसे सूचित हुए आपके अवतारको सुनकर शस्त्रोंको उठाये हुए अब ही निकट भविष्यमें आ ही रहा है, वर्तमानके समीप होने पर भी वर्तमान जैसा व्यवहार होता है, अतः 'अभिसरति' यह वर्तमानका प्रयोग संगत है. ईश्वरके प्रति प्रार्थनामात्र ही सेवकका कार्य है, कर्त्तव्य विषयका ज्ञान तो प्रभुको ही है, अतः वसुदेवजी मौन हो गये. वसुदेवजीका अभिप्राय तो यह है, कि यदि इसी समय मारना हो तो यहां विराजें, अन्यथा अन्यत्र पधारें. भगवान्ने विचार किया कि अभी मारनेमें तो गुप्तरूपसे जो व्रजवासियोंके साथ लीला अपेक्षित है, वह नहीं होगी, एवं और भी लोगोंका उद्धार आदि न हो पावेगा, अतः उस कार्यको करनेके अनन्तर ही कंसका वध उचित है, अतः पिता श्रीवसुदेवजीके अभिप्रायसे अन्यत्र पधारे ऐसा तात्पर्यतः विदित होता है।।२२।।

श्रीशुक उवाच

अथैनमात्मजं वीक्ष्य महापुरुषलक्षणम्।।
देवकी तमुपाधावत् कंसाद् भीता सुविस्मिता।।२३।।

श्लोकार्थ : श्रीशुकदेवजीने कहा इसके अनन्तर इस पुत्रको महापुरुषके लक्षणोंसे सम्पन्न देखकर, कंससे भीत हुई देवकी, उस पुत्ररूप भगवान्की शरणागत हो गई, उस दशामें वह आश्चर्य रसान्वित थी, अथवा पवित्र मृदुहाससे सुशोभित थी।।२३।।

व्याख्यार्थ : वसुदेवजीके मौन हो जाने पर श्रीदेवकी भगवान्से उनके रूपके छुपा लेनेकी एवं कंसको उनके जन्मके ज्ञान न होनेकी प्रार्थना करनेकेलिए प्रथम स्तुति करती है, ऐसा 'अथैनम्' इस श्लोक द्वारा शुकदेवजी कहते हैं. श्रीदेवकीने उस अद्भूत बालकको यह मेरा अपना ही पुत्र है, ऐसा समझा, क्योंकि भगवान्ने उस प्रकार ही उनकी बुद्धि उत्पन्न कर दी थी, परन्तु वह पुत्र लोक[1] प्रसिद्ध चतुर्भुज आदि लक्षणोंसे भगवान्के समान है, ऐसा जानकर अपनी बुद्धिसे स्मृति और पुराणोंमें भगवान्का स्वरूप जैसा प्रसिद्ध है, वैसा इस अवसर पर वर्णन करना आवश्यक है, अतः देवकी द्वारा वैसे वर्णन करनेकेलिये 'महापुरुष-लक्षणम्' इस विशेषणका प्रयोग श्रीशुकदेवजीने किया है, महापुरुष श्रीपुरुषोत्तमके लक्षण जिस बालकमें हैं, उस अद्भुत बालक भगवान्की शरणागति देवकीने प्राप्त की, स्तुति करनेके अनन्तर ही इन्हें शरणागति सिद्ध होगी, यह भगवान्के

निमित्तसे ही कंससे भीत(डरी हुई) हैं. शंका हो सकती है, कि तब महापुरुष-लक्षणोंसे भगवत्स्वरूपके ज्ञान द्वारा देवकीने भयको क्यों नहीं निकाल दिया? उसके विषयमें कहते हैं कि देवकी 'सुविस्मिता' थीं. उनको आश्चर्य रस ही उत्पन्न हुआ, निश्चयात्मक ज्ञान नहीं हुआ, जिससे भय निवृत्त होता. 'शुचिस्मिता' ऐसा पाठ भी सम्मत है, तदनुसार भगवान्‌की स्तुतिके उपयोगी ज्ञान प्राप्त करनेकी योग्यताके प्रयोजक देवकीके पातिव्रत्य आदि धर्मका निरूपण हुआ है, 'ऐसा जानना', उक्त श्लोकके प्रारम्भमें ही 'अथ' शब्द इस प्रसङ्गकी पूर्व प्रसंगसे विभिन्न शैलीकी सूचना देता है, कि वसुदेवजीने वेद और तन्त्रके प्रकारसे स्तुति की थी, और देवकीजी उससे भिन्न पुराणोक्त दिशासे स्तुति करेंगी, अन्यथा वसुदेवजीके प्रकारसे स्तुति करनेमें तो पुनरुक्ति दोषका सम्भव है।।२३।।

१.लेखकारने 'निवर्तयति' इस क्रियाका कर्ता भगवान्‌को बतलाया है, लोकमें भगवान्‌का स्वरूप 'चतुर्भुज'आदि रूपसे प्रसिद्ध है.

श्रीदेवक्युवाच

रूपं यत् तत् प्राहुरव्यक्तमाद्यं ब्रह्म ज्योतिर्निर्गुणं निर्विकारम्।।
सत्तामात्रं निर्विशेषं निरीहं स त्वं साक्षाद् विष्णुरध्यात्मदीपः।।२४।।

श्लोकार्थ : श्रीदेवकीने कहा कि जिसे, अव्यक्त, आद्य, ब्रह्म, ज्योति, निर्गुण, निर्विकार एवं सत्तामात्र, निर्विशेष, निरीह कहा है, (वह आधिदैविक रूपसे यह ही है, जिसे मैं देख रहीं हूं) जो अन्तःकरणको प्रकाशित करनेवाला है, वह सर्वोपास्य विष्णु आप ही हैं।।२४।।

व्याख्यार्थ: शरणागत देवकी आठ श्लोकोंसे स्तुति कह रही हैं. प्रारम्भमें भगवान्‌के आधिदैविक, आध्यात्मिक, आधिभौतिक, इन तीनों रूपोंका तीन श्लोकों द्वारा निरूपणकर, चतुर्थ श्लोकसे शरणागतिमें कारणका उल्लेखकर, पञ्चम श्लोकसे उपस्थित परिस्थितिमें रक्षा एवं सर्व साधारणको भगवत्स्वरूपका ज्ञान न हो, यह दो प्रार्थना करती है. षष्ट श्लोकमें इस अभिप्रायसे की, कि अभी कंसके मारनेमें तो उसके साथ आपके युद्धकेलिए प्रवृत्त होते ही मेरे प्राण नहीं रहेंगे क्योंकि पूर्वमें मैं जिस भयंकर दृश्यको देख चुकी हूं वैसा ही दृश्य(शस्त्रोंको उठाये कंसका आना) देखनेमें आयेगा. यद्यपि युद्धमें आप ही उसे मारेंगे, फिर भी मेरे षट् पुत्रोंका हत्यारा शस्त्रधारी क्रूर कंस मेरे सम्मुख उपस्थित होगा, इतने मात्रसे ही मेरे प्राण नहीं ठहर सकते. हृदय इतना दुर्बल पड़ गया है, अतः उस प्रकारसे रक्षा न

कीजिये, आपका अभी युद्धमें उसे मारकर हम लोगोंकी रक्षा करना मुझे अभीष्ट नहीं, किसी अन्य प्रकारसे रक्षा अभीष्ट है, अभी तो आपके जन्मका ज्ञान भी उसे नहीं होना चाहिये, ऐसी प्रार्थना करती हैं, क्योंकि यदि आपके जन्मका ज्ञान उसे हो जावेगा तो भी हम लोगोंके प्रथम पक्षकी ही सम्भावना है, अर्थात् प्राणोंकी स्थिति नहीं रहेगी,(रक्षा सिद्ध नहीं होगी). सप्तम श्लोकसे चतुर्भुजरूपके छुपा लेनेकी प्रार्थना करती हैं, सम्भव है, सर्वसाधारण लोग आपसे द्वेष करने लगे, क्योंकि ऐसा अद्भुतरूप किसीका भी नहीं है, अतः सबसे अधिकता होने पर द्वेष, ईर्ष्या आदिका सर्वसाधारणमें उद्गम होना सम्भावित है, और सबका ही संहार कर देना भी अशक्य है, क्योंकि तब तो कोई भी न रहेगा, तो आदान-प्रदानादि व्यवहारशून्य जीवन भी व्यर्थ ही सिद्ध होगा, अतः सबको मार देना भी नहीं बनेगा, अतः इस रूपको ही तिरोहित कर लेना उचित है. दूसरी बात यह भी है, कि इस अलौकिकरूपमें शीघ्र ही उपसंहारकी सम्भावना है.

रूपत्रयं तथा हेतुः प्रार्थनात्रितयं तथा।
नटत्वमितिविज्ञानं स्वस्य यादृक् तथोदितम्।।कारि.१।।

कारिकार्थ : आधिदैविक आदि तीन रूप और शरणगतिका कारण तथा रक्षा, भगवत्स्वरूपका तथा उनके जन्मका ज्ञान न होना और रूपका उपसंहार (तिरोभाव) करना, यह तीन प्रार्थना एवं नटकी भांति भगवान्का जन्म अनुकरण मात्र है, ऐसा श्रीदेवकीने अपने अनुभवके अनुसार कहा है.

व्याख्यार्थ : अधिक समय तक इस अद्भुतरूपसे सर्व साधारण जनतामें विराजना सम्भावित नहीं, अतः चिरकाल तक आपके विराजमान् रहनेके केवल अपने स्वार्थको लेकर रूपके उपसंहारकी प्रार्थना है. अवशिष्ट दो प्रार्थनायें तो प्रस्तुतमें उपयोगी है हीं. इस प्रकार तीन प्रार्थना की हैं. अष्टम श्लोकसे श्रीदेवकी अपने गर्वके न होनेकी सूचना करती हुई यह निरूपण करती हैं कि आपका अवतार तो नटकी भांति अनुकरण मात्र ही है, माताके आधीन होकर गर्भमें रहना और सर्वसाधारणकी भांति जन्म ग्रहण करना नहीं है.

श्रीदेवकी स्तुतिके प्रारम्भमें भगवान्को आधिदैविक बतलाती हुई अपने भगवद्विषयक ज्ञान और उसमें प्रमाण इन दोनोंका प्रसिद्धिके साथ निरूपण करती हैं, कि यह प्रत्यक्ष सम्मुख दृष्टिगत होनेवाला रूप वह ही है, जिसे सब लोग आधिदैविक कहते हैं, आधिभौतिक व आध्यात्मिक यह अन्य दो रूप तो लोक

सिद्ध हैं,अलौकिकरूप तो आधिदैविक ही है. यदि आधिदैविकरूप भी लोकसिद्ध हो, तब तो उसका ज्ञान लोकतः प्राप्त है, अतः उसके ज्ञापक वचनोंको अनुवाद ही मानना होगा, प्रमाण नहीं, अतः श्रीदेवकीका कहना है, यह रूप वह ही है. वह क्या है? ऐसी आकांक्षा होने पर कहती हैं, कि यह वह है, जिसे कहते हैं, अर्थात् सर्व शास्त्रोंमें जिसे परम तत्त्व मूलरूप कहा है, वह ही यह साकार आधिदैविक तत्त्व है. श्रीदेवकीने अपनी इस उक्तिमें अपने अनुभवकी दृढता बतलानेकेलिए 'यत्' शब्दके अनन्तर ही 'तद्' शब्दका प्रयोग कर दिया है. यद्यपि 'यत् प्राहुस्तद् रूपम्' इस प्रकारका शब्दविन्यास अपेक्षित था, अपने ज्ञानकी प्रामाणिकताके निरूपण करनेकेलिए 'यत्' और 'तद्' इन दोनों शब्दोंके मध्यमें 'प्राहुः' शब्दका प्रयोग करना आवश्यक था और 'तद्' शब्दके साथ ही 'रूप' शब्दका प्रयोग भी उचित था, परन्तु देवकीजीने वैसा प्रयोग नहीं किया.

व्याख्यार्थ : क्योंकि उनके अनुभवमें अंशतः भी शिथिलता नहीं थी, सर्वांशमें दृढ़ था. अतः उनको उस प्रकारके शब्दविन्यासकी आवश्यकता नहीं. उनको अपने अनुभव पर विश्वास था, अतः उनकी प्रामाणिकताके विषयमें प्रयास करना अनावश्यक समझकर 'यत् प्राहुस्तद्रूपम्' इस प्रकार आकांक्षाके विपरीत होने पर भी 'रूपं यत् तत् प्राहुः' ऐसा ही प्रयोग किया. यह स्वरूप आधिदैविक नहीं होना चाहिये क्योंकि आधिदैविक स्वरूप तो विलक्षण होता है, ऐसी शंकाके समाधान करनेकेलिए विलक्षणताके कारणरूप धर्मोंको(अव्यक्त) आदि नव पदोंके द्वारा इसी स्वरूपमें सिद्ध करती हैं, जगत् नव प्रकारका ही है, उससे विलक्षण ब्रह्म नव प्रकारसे ही निरूपित होता है. जगत्के धर्म प्रकट हुए, भगवत्स्वरूपमें प्रतीत होते हैं, वहां ''**अव्यक्तादीनि भूतानि**'' (भग.गीता २।२८) में सर्व जगत्का मूलरूप अव्यक्त हैं, ऐसा कहा है. जगत् तो व्यक्त है, ही, परन्तु यह भगवत्स्वरूप व्यक्त है, इस प्रकारकी लोकोंको प्रतीति होती है, (वास्तवमें तो यह अव्यक्त ही है) एवं मूल तत्त्व तो आद्य(सबसे पूर्ववर्ती) है, और यह स्वरूप अभी देखनेमें आया है, अतः आधुनिक है, (ऐसी लोकप्रतीति है). जगत् भी आधुनिक है. 'अव्यक्त', 'आद्यम्', इन दो पदोंसे स्वरूपकृत और कालकृत विलक्षणता उक्त भगवत्स्वरूपकी बतलाई गई है, श्रीदेवकी उक्त स्वरूपकी विलक्षणताको देशकृत भी बतलाती हुई परिमाणके द्वारा 'ब्रह्म' शब्दसे उसे सूचित करती हैं कि यह स्वरूप वह है, जिसे ब्रह्म कहा है. मूलभूत परतत्त्व बृहत्

(व्यापक) होनेसे एवं बृंहण(वर्धनशील, बढ़ता ही रहे) होनेसे 'ब्रह्म' कहलाता है. जगत् तो व्यापक नहीं परिच्छिन्न(सीमित) है, एवं वर्धनशील भी नहीं ह्रासशील हैं. उसी प्रकारसे लोगोंको प्रकट हुआ यह रूप भी प्रतीत होता है, परन्तु वास्तवमें तो यह रूप (ब्रह्म) ही है, इस प्रकार सच्चिदानन्दगत सदंशसे तीन विलक्षणताओंका निरूपण किया, चिदंशके द्वारा भी तीन विलक्षणताओंको बतलाती हैं कि यह स्वरूप ज्योति, निर्गुण एवं निर्विकार है.

'प्रकाशकं तच्चैतन्यम्' आदि वचनोंसे चैतन्य(चित्)को प्रकाशक कहा है, वह जगत्को प्रकाशित करता है, अन्यथा उसके प्रकाशके बिना जगत्की प्रतीति ही न हो पावेगी, एवं जगत् त्रिगुणात्मक है. सत्य आदि गुणत्रयोंका रूपान्तर है, कारणभूत मूल तत्त्व तो गुणत्रयसे अतीत है, निर्गुण है. यदि जगत्के प्रति गुणोंको भी कारण मान लिया जावे तो भगवान्की जगत्कर्तृता सिद्ध न हो सकेगी, क्योंकि कर्ता स्वतन्त्र होना चाहिये, गुणोंके कारण उसकी स्वतन्त्रता नहीं रह पाती, गुण सदंश है, अतः उनका (चित्)में सम्भव नहीं. पृथिवी आदि भूत एवम् इन्द्रिय अन्तःकरण जहां भी होते हैं, वह सगुण होता है, कारण वह ही होता है, जो प्रपञ्च(कार्य)से विलक्षण हो. प्रपञ्च तो उत्पत्ति आदि षट्[१] भावविकारों से युक्त है, अतः कारणतत्त्वको निर्विकार मानना आवश्यक है, लौकिक वस्तुमात्र जो ज्ञानके विषय हैं, वह सब सविकार हैं और रूपादि गुणोंसे समन्वित हैं, तथा चक्षु आदि इन्द्रिय एवम् उनके सूर्य आदि देवताओंसे प्रकाशित होते हैं, अतः चिदंशसे उक्त विलक्षणता भगवान्की सिद्ध होती है, क्योंकि लौकिक चित्की भांति आपका प्रकाश इन्द्रियादिके आधीन नहीं. आप तो स्वयं प्रकाश ज्योतिरूप हैं, और न आप लौकिक गुण एवं विकारोंसे ही युक्त हैं. आप तो निर्गुण एवं निर्विकार हैं, सत्तामात्र निर्विशेष, निरीह, इन पदों द्वारा आनन्दांशसे विलक्षणता बतलाती हैं, आनन्दांशमें विषयके द्वारा कोई विलक्षणता नहीं आती यह बतलाना आवश्यक है, अतः भगवान्को सत्तामात्र कहा है. आपका स्वरूप सर्वत्र विद्यमान् है, किसी भी कालमें आपकी सत्ता बाधित नहीं होती, भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालोंमें वह अक्षुण्ण बनी रहती है. सत्ता शब्द किसी 'सद्' वस्तुके भावको ही कहता है, "**सतो भावः सत्ता सदैव सत्तामात्रम्**", बात ऐसी है, कि लौकिक आनन्दमें भी लौकिक ज्ञानकी भांति विषयकृत विलक्षणता देखी जाती है. जिस प्रकार घट, एवं पटकी विलक्षणतासे घटज्ञान एवं पटज्ञान विलक्षण

प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार कामिनी स्पर्शज सुख एवं पुत्र स्पर्शज सुख भी कामिनी 'एवं पुत्र' की विलक्षणतासे विलक्षण ही प्रतीत होते हैं.

१. उत्पत्ति, सत्ता, वृद्धि, परिणाम, अपक्षय, नाश ये ६ भावविकार है.

अलौकिक सुखमें वैसी विलक्षणताओंका सम्भव नहीं क्योंकि वह सुख स्वरूपतः सुख है. कामिनी, एवं पुत्र आदिके स्पर्शके विषयको लेकर नहीं. वह तो सत्ता मात्र है. किसी देश या कालमें उसके अभावका सम्भव नहीं, वह व्यापक है, अतः वह ही यथार्थ सुख है, ''**यो वै भूमावत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति**'' आदि श्रुति भी इसी तत्त्वका प्रतिपादन करती है, अस्तु. जब 'सत्तामात्र' शब्दसे व्यापक आनन्दका प्रतिपादन हो जाता है, तब 'निर्विशेष' शब्दके प्रयोगकी क्या आवश्यकता रह जाती है, क्योंकि जो पदार्थ सविशेष होता है, वह उस विशेषको लेकर अन्य पदार्थसे भिन्न सिद्ध होता है, वैशेषिकोंने परमाणुओंके पारस्परिक विभेदका कारण विशेष पदार्थ माना है, सर्वव्यापक सत्तामात्र आनन्दमय ब्रह्मका भेद सम्भव ही नहीं, उसकी निर्विशेषता तो अनुक्त सिद्ध है. ऐसी अवस्थामें 'निर्विशेष' शब्दका प्रयोग एक लौकिकनियमका अलौकिकविषयमें अनादर बतलानेको उसकी अमान्यता सूचित करनेको किया है, कि यद्यपि सम्पूर्ण जगत् ही सद्रूप है. 'घटः सन् पटः सन्', घट है, पट है, इत्यादि प्रतीतिके आधार पर सत्ता सर्वत्र व्याप्त है, एवं सर्वत्र ही नाम 'रूप' विशेष भी धर्मरूपसे उपलब्ध होते हैं, जो है, उसका कोई नाम विशेष 'घट' आदि भी है, एवम् उसका रूपविशेष भी रक्त, कृष्ण, गोलाकार, लम्बाकार आदि भी है, ऐसा कोई भी सामान्य पदार्थ नहीं, जो नामरूप विशेषसे सर्वथा रहित हो, तथापि जगत्के पदार्थोंकी भांति ब्रह्मके भी सविशेष होनेकी शंकाके निवारणार्थ 'निर्विशेष' शब्दका प्रयोग किया है, कि लौकिकविषयमें ही यह व्याप्ति या नियम है, कि सामान्य पदार्थ सविशेष ही होता है, निर्विशेष नहीं. अलौकिक ब्रह्मके विषयमें यह नियम नहीं, वह तो सर्वविशेष, विनिर्मुक्त, निर्विशेष ही है. आशय यह है, कि केवल उक्त नियमका ब्रह्मके विषयमें अपवाद बतलानेको 'निर्विशेष' शब्द प्रयुक्त हुआ है, अन्यथा उसकी आवश्यकता नहीं, किन्तु पुनरुक्ति दोषका ही सम्भव था. उक्त नियमको अलौकिक विषयमें इसलिये नहीं माना जाता कि विशेषपदार्थ भेद करनेवाले होते हैं, मूल सत्ता स्वरूप ब्रह्ममें किसीसे भेद अभीष्ट ही नहीं, उससे किसीको व्यावृत्त या पृथक् सिद्ध करना अपेक्षित ही नहीं, एवं सम्भावित भी नहीं, तो वहां विशेषसे

क्या प्रयोजन है, कार्यमें तो सत्ता सर्वत्र ही व्याप्त है. अतः सत्तात्मक कारणरूप ब्रह्मसे कार्यकी तो व्यावृत्ति या भेदका सम्भव नहीं, यदि कार्यसे उसका उपादान भिन्न हो तब तो उसमें उपादान कारणता ही नहीं मानी जा सकेगी. उपादान कारण तो पटमें तन्तुओंकी भांति कार्यमें अनुस्यूत ही रहते हैं. 'घट' एवं 'पट' यह दोनों एक दूसरेसे व्यावृत हैं, तो एक दूसरेके कारण भी नहीं हैं, ब्रह्म सबका कारण है, सद्रूपसे सर्वानुगत है, उसकी व्यावृत्ति नहीं, अतः वह निर्विशेष ही है. 'निरीहम्' पदसे ब्रह्मकी चेष्टाका अभाव प्रतिपादन अभीष्ट है. ब्रह्म सर्व चेष्टाओंसे रहित है, क्योंकि चेष्टा करनेवाला अपनी किसी अपूर्णताको पूर्ण करनेकेलिए चेष्टा करता है, ब्रह्ममें अपूर्णताका सम्भव नहीं, भगवती श्रुति उसके विषयमें प्रतिपादन करती हैं, कि '**पूर्णमदः पूर्णमिदम्**' परोक्ष और प्रत्यक्ष दोनों अवस्थाओंमें ब्रह्म पूर्ण ही है. उक्त श्रुतिमें कारण सर्व चेष्टाओंसे रहित है, ऐसा सूचित किया है, सर्व जगत्का कारण ब्रह्म, किसी भी प्रकारकी चेष्टा नहीं करता. उस कारणका लक्षण ही चेष्टा रहित होना है, और कार्यमात्र चेष्टाशील है, किसी भी प्रकारकी चेष्टा होना कार्यमें अनिवार्य है, आकाश आदि भी चेष्टा रहित नहीं, शब्दको जन्म देनेकी चेष्टा आकाश आदिकी भी प्रसिद्ध ही है, इतना ही नहीं किन्तु जिस प्रकार आवरणके हट जाने पर कार्यकी स्थिति नहीं रहती वह भी हट जाता है, जिन कपाल आदिकोंने जितने अंशमें आकाशको आवृत करके घटरूपी कार्यको उपस्थित किया था, उन आवरणरूप कपाल आदिके हट जाने पर घट आदि कार्य भी हट जाता है, उस घट आदि कार्यकी नष्ट या चलित हो जानेकी चेष्टा प्रतीत होती है, उसी प्रकार वह आकाश भी जिसके आवृत होनेसे घट आदि कार्य दृष्टिगत हुए थे, नष्ट या चलित प्रतीत होता है, एवं दीपकके चलने पर अंधकारका चलना प्रतीत होता है, उसी प्रकार आकाश भी आवरणके हटने पर हटता हुआ प्रतीत होता है, अतः आकाशमें चेष्टा है ही, ब्रह्ममें तो किसी प्रकार चेष्टाका सम्भव नहीं, क्योंकि न तो उसका कोई आवरण करनेवाला है, और न वह किसी प्रकारके व्यवहारका विषय ही है, अतः उसकी निरीहता सिद्ध ही है. यद्यपि किसी एक ही विशेषणसे सर्व धर्मोंका संग्रह सम्भावित है, तो भी नव प्रकारसे विलक्षणताका बतलाना आवश्यक है, अतः नव विशेषण कहे हैं, पूर्वोक्त नव विशेषणोंके द्वारा जैसा मूल कारण ब्रह्मका स्वरूप कहा है, वैसा ही प्रत्यक्ष दृष्टिगत यह स्वरूप है, व्यक्त आदि नव प्रकारके लोगोंको अपने दोषसे

ही उनमें व्यक्तत्व आदि नव दोषोंकी प्रतीति होती है. प्राणी स्वयं व्यक्त, आधुनिक, परिच्छिन्न, पर प्रकाश्य, सगुण, सविकार, त्रैकालिक, सत्ताहीन, सविशेष, सचेष्ट होते हैं, उनको भगवत्स्वरूपमें भी व्यक्तत्व आदि नव धर्मोंकी प्रतीति होती है, जैसे घूमती हुई दृष्टिसे देखी गई पृथ्वी घूमती सी प्रतीत होती है, उसी प्रकार भगवत्स्वरूप भी व्यक्त आदि रूपमें प्रतीत होता है, भ्रान्त दृष्टिवालेकी दृष्टिसे ही पृथ्वी भ्रमित प्रतीत होती है, स्थिर दृष्टिवालेकी दृष्टिसे नहीं. भगवत्स्वरूप भी संसारी लोगोंकी दृष्टिसे ही व्यक्त आदि रूपसे प्रतीत होता है, ब्रह्मवेत्ताओंकी दृष्टिसे तो अव्यक्त, आद्य आदि वर्णन किये गये गुणोंसे परिपूर्ण ही दिखता है. यदि भगवान् अव्यक्त नहीं होते, व्यक्त ही होते, तो उनकी अभिव्यक्ति(प्राकट्य)केलिये भक्तजन प्रयत्न नहीं करते क्योंकि व्यक्त तो प्रकट ही है, उसकी अभिव्यक्ति तो स्वतः सिद्ध है, उसके अर्थ प्रयत्न प्रकाशमें दीपक जलानेकी भांति व्यर्थ ही है, अतः अभिव्यक्तिके प्रयत्नसे सिद्ध होता है, कि आप अव्यक्त हैं. एवं यदि आप आद्य नहीं, आधुनिक होते तो इस अर्वाचीन स्वरूपको ब्रह्मादिक सर्व प्राचीन देवता नमस्कार नहीं करते. यदि आप ब्रह्म नहीं होते तो मुक्तात्मा इस स्वरूपमें सायुज्यको प्राप्त नहीं कर पाते, यदि स्वयं प्रकाश ज्योतिरूप नहीं होते, तो इनके ज्ञानसे साधकगण सर्वज्ञ नहीं हो पाते, यदि निर्गुण नहीं होते, तो इसमें निष्ठा रखनेवाले लोग निर्गुण नहीं हो पाते. यदि निर्विकार नहीं होते, तो इनके भजनसे भक्तजन सर्व विकार रहित नहीं हो पाते, यदि सर्व देश–कालमें सत्तात्मकरूपसे नहीं विराजते, तो सर्व पदार्थोंमें इनका दर्शन न हो पाता. यदि नामरूप आदि विशेषोंसे विरहित न होते, तो इनके ज्ञानसे नाम रूपात्मक प्रपञ्चकी निवृत्ति नहीं हो पाती. यदि स्वयं पूर्ण होनेके कारण चेष्टारहित न होते तो इनकी कृपासे लोग ब्रह्मनिष्ठ परम शान्त भी नहीं हो पाते, अतः यह प्रत्यक्ष दृश्यमान् स्वरूप ऐसा ही है. एक शंका हो सकती है, कि यह सबकुछ उस दशामें सम्भावित है, जब भगवान् सर्व ज्ञानीजनोंके उपास्यरूपमें माने गये हों, इस समय प्रकट हुए स्वरूपको 'अव्यक्त' आदि कहना शक्य नहीं, सामर्थ्यसे साध्य नहीं, उक्त आशंकाके निवारणार्थ कहती हैं कि 'सत्त्वम्' वह आप ही हैं, जो ऐसा अव्यक्त आदि स्वरूप है, वह आप ही हैं, उसमें कारण आपका विष्णुरूप होना है, क्योंकि कि विष्णु ही अव्यक्त आदि पूर्ण वर्णित प्रकारसे सर्व साधारणके उपास्य हैं, वह ही सबके अधिदेव हैं, वह ही आप प्रकट हुए हैं, ऐसा ब्रह्माजीके

वचनसे निश्चित होता है, "**दिष्ट्याम्ब! ते कुक्षिगतः परः पुमान्**" ऐसा ब्रह्माका स्पष्ट वचन है. यद्यपि ब्रह्माके उक्त वचनमें 'अंशेन जातः' अंश शब्दका प्रयोग किया है, अतः अंशावतारकी सम्भावना हो सकती है, तब मूलरूप होनेके कारण पूर्वमें कहा हुआ सब ही बाधाग्रस्त है, युक्तिसंगत नहीं, ऐसी शंकाके निवारणार्थ 'साक्षात्' पदका प्रयोगकर, श्रीदेवकी ब्रह्माजीके पूर्वोक्त वचनगत 'अंशेन'के साथ प्रयुक्त हुए "**साक्षात् भगवान् भवायनः**" साक्षात् पदका स्मरण दिलाती है, कि आप साक्षात् मूलरूप ही हैं.

किसी ज्ञान या क्रियाके अंशसे प्रकट हुए हों, ऐसी बात नहीं है, श्रीदेवकीने ब्रह्माके कथनसे ही भगवान्की परमतत्त्वरूपता समझी हो ऐसी बात नहीं है, क्योंकि ब्रह्माका उक्त वाक्य 'सिंहो माणवकः'की भांति गौण भी हो सकता है, जिस प्रकार बालकमें शूरता आदि गुणोंको देखकर, उसे सिंह कह देते हैं, उसी प्रकार मूलतत्त्वके किसी अंशको लेकर भी अंशावतारको साक्षात् भगवान् कहा जा सकता है, तथा प्रशंसात्मक स्तुतिमें भी ब्रह्माका तात्पर्य हो सकता है, प्रशंसा सर्वांशमें यथार्थ ही हो ऐसा नियम नहीं है. श्रीदेवकीने अपने अन्तःकरणके संवादसे निर्णय किया है, आप कहती हैं कि 'अध्यात्मदीपः' मेरा अध्यात्म यह अन्तःकरण जो कि जड़ता एवं मोहसे व्याप्त है, सर्व शास्त्र विहीन है, जिसे किसी प्रकारसे प्रकाश प्राप्त नहीं हुआ, उस अन्तःकरणका आपके सन्निधानसे इस प्रकार प्रकाशपूर्ण हो उठना ही सूचित करता है, कि आप परम तत्त्व हैं, इस जड़ मुग्ध अन्तःकरणकी प्रकाशपूर्णताका कारण आपका मूल रूपत्व ही है, ऐसा निश्चय होता है, क्योंकि अध्यात्मको प्रकाशित करनेवाला आधिदैविक ही होता है, अतः मेरे अनुभवसे ही आप उक्त रूप ही हैं, अव्यक्तादि विशेषण विशिष्ट परम कारण मूल तत्त्व आधिदैविक स्वरूप ही हैं, क्योंकि कार्य तो बिना कारणके होता नहीं. धूम, अग्निके बिना नहीं हो सकता, वह अग्निका कार्य है, अग्निसे प्रकट होता है, उसे देखकर अग्नि नहीं भी दीखता तो भी निर्णय कर लिया जाता है, कि अग्नि है, क्योंकि धूम अग्निसे व्यभिचरित नहीं होता, वह उसका अव्यभिचारी लिंग(चिह्न) है, उसको छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं रहता अतः धूम अग्निका अनुभाषक या निश्चायक है, उसी भांति अध्यात्म(अन्तःकरणका प्रकाश भी) भगवान्के आधिदैविक होनेका निश्चायक है।।२४।।

नष्टे लोके द्विपरार्धावसाने महाभूतेष्वादिभूतं गतेषु।।
व्यक्तेऽव्यक्तं कालवेगेन याते भवानेकः शिष्यतेऽशेषसंज्ञः।।२५।।

श्लोकार्थ : द्विपरार्ध(ब्रह्माकी पूर्ण आयु)के समाप्तिकालमें भुवनोंके नाश हो जाने पर एवं प्रकाशके विलीन हो जाने पर पृथ्वी आदि महाभूतोंके आदिभूत अहंकारमें लीन हो जाने पर, कालवेगसे सब ही व्यक्त हुए महत्तत्व आदि पदार्थोंके अव्यक्त(प्रकृत्ति अथवा अक्षरब्रह्म)में प्राप्त हो जाने पर, अपनी अशेष संज्ञाओंको धारण किये हुए सर्व शब्दोंके वाच्यार्थ आपही एक अवशिष्ट रहते हैं।।२५।।

व्याख्यार्थ : इस प्रकार आधिदैविक स्वरूपका निरूपण कर, 'नष्टे लोके' आदि श्लोकसे आध्यात्मिक स्वरूपका निरूपण करती हैं, समस्त आधिभौतिक पदार्थका लय अध्यात्ममें ही है, क्योंकि ''अधिक आत्मा अध्यात्मा'' इस व्युत्पत्तिसे सर्वाधिक आत्मा ही सर्व तत्त्वोंका लयस्थान होनेसे आत्मारूपसे प्रतिपादित हुवा है. स्वप्न आदिमें देखा जाता है, कि बाह्य वस्तुके सर्वथा प्रकाश न रहने पर भी आन्तरिक प्रकाश होता है, उक्त कारणसे यह स्वीकार करना पडता है, कि यह भगवान् आत्मा है. प्रलयकालमें अन्यकोई स्वप्नका द्रष्टा जीव, लयका अवधि नहीं होता, वह तो स्वप्नावस्थामें ही उस प्रकारका हो सकता है.

इस कारण भगवान्को ही लयकी अवधि बतलाती है, कि लोकके नष्ट हो जाने पर आप ही शेष रहते हैं. 'लोक' शब्दसे 'प्रकाश' तथा 'चतुर्दशभुवन' दोनों ही का ग्रहण अभीष्ट है. सर्वनाश एक किसी निश्चित कालमें होता है, ऐसा बतलानेको 'द्विपरार्धावसाने' कहा है. ब्रह्माके आयुको 'पर' शब्दसे कहते हैं, उस आयुके अर्द्ध भागको परार्ध कहते हैं, दो परार्धोंके समाप्त होने पर ब्रह्माकी समाप्ति हो जाती है. ब्रह्माके आयुका अर्द्ध व्यवहार अर्थात् पूर्वार्ध और परार्ध इस प्रकारका विभाग लोकमें बन्ध और मोक्षकी व्यवस्थाके सूचनार्थ ही प्रचलित हुआ है, कि जिससे लोगोंको ज्ञात हो जावे कि ब्रह्माके आयुके उत्तरार्धमें ही ब्रह्माण्डवर्ती जीवोंकी मुक्ति होती है, द्विपरार्धके भी अवसान अर्थात् समाप्ति होने पर ही ब्रह्माण्डका प्रलय होता है. ब्रह्माण्डका प्रलय तो तब ही होता है, परन्तु उस समय तत्त्व रह जाते हैं, उनके प्रलयको भी कहती है, कि पृथ्वी आदि महाभूत अहंकारको जो कि सर्वभूतोंका आदिभूत है, उसे प्राप्त कर लेते हैं अर्थात् उसमें

लीन हो जाते हैं. आदिभूत शब्दसे अहंकार कहा जाता है. आगे महत्तत्त्वका लय प्रकृतिमें होता है, ऐसा कहेंगे, अतः अहंकार भी महत्तत्त्वमें लीन हो जाता है, यह सूचना मिलती है, आदि भूत शब्दसे अहंकारका ग्रहण 'भूतानामादिभूतः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार पृथ्वी आदि भूतोंके प्रथमवर्ती होकर उनको उत्पन्न करनेसे उचित ही है. यदि ''आदौ भूतो जातः'' इस प्रकार व्युत्पत्ति अभीष्ट है, तो 'महत्तत्त्व'का ग्रहण 'आदिभूत' शब्दसे सम्भावित है, 'व्यक्त' महत्तत्त्वके 'अव्यक्त' प्रकृतिको प्राप्त कर लेने पर भगवान् ही शेष रहते हैं, यहां 'व्यक्त' 'अव्यक्त' इन पदों द्वारा श्रीदेवकी यह सूचना देती हैं, कि जब यह मान्यता है, कि अक्षरब्रह्मसे प्रकृति और पुरुषका विभाग हुआ है, तो उस पक्षमें प्रकृति और पुरुषका भी अक्षरब्रह्ममें लय होता है,

१.यहां जिनकी मुक्तिकी चर्चा की है, वह ज्ञानी एवं भक्तोंसे अतिरिक्त अधिकार प्राप्त जीवोंकी समझनी, ज्ञानी और भक्तोंको किसी काल विशेषका बन्धन नहीं है.

'व्यक्त' शब्दसे प्रकृति और पुरुष भी संगृहीत होते हैं, और 'अव्यक्त' शब्दसे अक्षरब्रह्मका संग्रह अभीष्ट है, काल आदि तो अव्यक्त ही हैं, अधिक कहनेसे क्या प्रयोजन है, सब ही 'व्यक्त' प्रकट हुए पदार्थ 'अव्यक्त' अक्षरब्रह्ममें लीन हो जाते हैं, प्रवेश कर जाते हैं, उस प्रवेशमें कारण कालका वेग ही है. जब भगवान् सर्व जगत्को समाप्त करना चाहते हैं, तो उस कार्यकेलिए उनका अधिकारी काल तीव्र वेग धारण करता है, और वह स्वयं काल भी अक्षरब्रह्ममें ही लीन हो जाता है, अक्षरब्रह्मका लय परब्रह्म पुरुषोत्तममें होता है, अथवा उनके चरणरूप होनेसे उनके स्वरूपसे पृथक् न रहकर उनके चरणमें ही प्रवेश कर जाता है, उस समय केवल भगवान् ही आप शेष रहते हैं, उक्त अवस्थामें भगवान् जो आधिदैविक स्वरूप हैं, उनका लय भी हो जाता होगा, इस आशंकाके निवारणार्थ 'अशेष संज्ञः' पदका प्रयोग किया है, कि आपकी तो सब ही संज्ञा यथावत् रहती हैं, आप तो अपने वाचक अशेष शब्दोंसे वाच्य बने रहते हैं, अनन्त शब्दोंके द्वारा जिन-जिन अनन्त रूपोंका बोध होता है, उन सर्व रूपोंको लेकर आप एक मात्र अवशिष्ट रहते हैं, इस प्रकार सब ही आधिभौतिकोंके लय स्थान आध्यात्माका प्रतिपादन किया है।।२५।।

योऽयं कालस्तस्य तेऽव्यक्त बन्धो ! चेष्टाम् आहुश्चेष्टते येन विश्वम् ।
निमेषादिर्वत्सरान्तो महीयांस्तं त्वेशानं क्षेमधाम प्रपद्ये ।।२६।।

श्लोकार्थ : हे अव्यक्त बन्धो ! प्रकृत्तिके सहायक ! यह सम्पूर्ण विश्व जिससे चेष्टा प्राप्त कर रहा है, वह जो यह काल है, उसे आपकी चेष्टा बतलाते हैं, वह निमेषसे लेकर वर्ष पर्यन्तका है, वर्षोसे भी उसका अन्त नहीं वह अत्यन्त महान् है, उस कालके स्वामी मंगलमय धाम विशुद्ध सत्त्वमें विराजनेवाले सर्व समर्थ आपकी मैं शरणागत हूं।।२६।।

व्याख्यार्थ : श्रीदेवकी उक्त श्लोकमें भगवान्के आधिभौतिकरूपको कहती हैं, उनके आधिभौतिक होनेका प्रकार यह है, कि वह आधिभौतिक वर्गमें प्रवेशकर आधिभौतिक कहलाते हैं, जैसे वह चक्षुके चक्षु हैं, श्रोत्रके श्रोत्र हैं, वैसे ही आधिभौतिकोंके आधिभौतिक हैं, न कि आधिभौतिक ही हैं. उक्त प्रकारसे उनके आधिकभौतिक हो जानेका ज्ञान करानेकेलिए कालको उनकी चेष्टा बतलाया है, कि यह जो काल है, जिसके द्वारा सब ही आधिभौतिक वर्ग प्रेरणा प्राप्त करते हैं, वह आपकी चेष्टा है. श्रीदेवकीका कहना है, कि सबका निमित्त कारण जो यह काल है, वह आप ही हैं, क्योंकि सबके मूल कारण तो आप ही ठहरे, अतः कालमें प्रवेशकर उसे प्रेरणा शक्तिका लाभ करानेसे काल भी आपका अन्यतमरूप है, जैसा कि श्रीकपिलदेवजीने देवहूतिके प्रति कहा है, कि **''प्रकृतेर्गुण साम्यस्य निर्विशेषस्य मानवि ! चेष्टा यतः स भगवान् काल इत्युपलक्षितः''** (भाग.पुरा.३।२६।१०) हे मनुपुत्रि! आप महात्मा मनुकी पुत्री, होनेके कारण अलौकिक प्रकारको समझाती हैं, जबतक कालके द्वारा प्रकृतिके गुणोंमें क्षोभका उदय नहीं होता तबतक किसी भी प्रकारका विशेष (भेद) न होनेसे उन गुणोंकी साम्यावस्था निर्विशेष कहलाती है, कालके द्वारा चेष्टा प्राप्त होने पर ही उन गुणोंमें क्षोभ होता है, उनकी निष्क्रियता दूर होती है, वह सक्रिय होकर परस्परमें एक दूसरेका अभिभव करते हैं, एवम् उत्तरोत्तर प्राकृत तत्त्वोंका सर्जन करते हैं, वह चेष्टाका हेतुकाल उपलक्षणरूपसे भगवान् ही समझा जाता है. वास्तवमें तो वह काल आपकी चेष्टा ही है. उक्त श्लोकमें 'आहुः' इस क्रिया पदसे भगवान्की चेष्टाके कालरूप होनेमें प्रमाणकी आकांक्षाको शान्त करती हैं, कि अलौकिक तत्त्वके यथार्थदर्शी महानुभावोंने भगवान्की चेष्टाको काल कहा है, भगवान्की चेष्टाके अस्तित्वमें प्रमाणकी आकांक्षा शान्त करनेकेलिए अनुमान प्रमाणका उपन्यास करती कहती हैं, कि ''चेष्टते येन विश्वम्'' जिस कालसे समस्त विश्व चेष्टा युक्त हुआ है. विश्वका सचेष्ट होना ही भगवान्की सचेष्टताका साधक है,

क्योंकि विश्व कार्य है, भगवान् कारण है.कारणके धर्म ही कार्यमें उपस्थित होते हैं, विश्वमें चेष्टा प्रत्यक्ष उपलब्ध होती है, तो उसके कारण भगवान्में भी चेष्टाकी सत्ता है, भगवान् भी चेष्टावान् है, यह सिद्ध हो जाता है, अनुभवियोंने चेष्टाको काल इसलिए कहा है, कि समस्त चेष्टा काल ही के आधीन है, और कालवशसे ही चेष्टा होती है, चेष्टाका स्वरूप कर्म ही है, कर्म ही उत्पत्ति कालसे है, क्योंकि उन-उन कर्मोंकेलिए शास्त्रने नियत कालका निर्देश किया, कि अमुक कालमें अमुक कर्म कर्त्तव्य है, अतः कालको कर्मोंका कारण मानना आवश्यक है, जो जिसका कारण होता है, वह उसका प्रकारान्तरसे एक रूपान्तर है, अतः कर्म या चेष्टाको काल बतलाना युक्ति युक्त ही है, काल भगवान्की चेष्टाका ही स्वरूप है, जिस पक्षमें प्रकृतिको विश्वका कारण माना है, अथवा प्रकृतिके द्वारा विश्वकी कार्य रचना होती है, ऐसा स्वीकार किया है, उस पक्षमें कालकी चेष्टा रूपता सिद्ध न हो पावेगी, ऐसी आशंकाकर, अव्यक्तबन्धो ! इस सम्बोधनसे समाधान करती हैं, कि हे अव्यक्तबन्धो ! आप तो अव्यक्त (प्रकृति)के बन्धु (सहायक) है, बन्धु बन्धुकी सहायता करता है, आप प्रकृतिके सर्व कार्योंको सिद्ध करते हैं, अतः प्रकृति सम्बन्धसे प्राकृत कार्य जगत् होता है, इस पक्षमें भी प्रकृतिके बन्धु भगवान् चेष्टा करते ही हैं, तो उस पक्षमें भी भगवान्का चेष्टारूप काल सिद्ध होता है, आधिदैविक काल तो भगवद्रूप होता है, अतः उसे चेष्टात्मक न समझ लिया जावे इसलिए आधिभौतिक कालके आकारको भी बतला देती हैं कि निमेषसे लेकर वर्ष पर्यन्तका जिसका विभाग है, वह काल आपकी चेष्टा है. यद्यपि कालके अवयवोंमें सर्व प्रथम आदि अवयव परमाणु काल माना है, परन्तु परमाणुकालसे लेकर लव पर्यन्तका काल अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे व्यवहारमें उपयुक्त नहीं अतः निमेषसे ही प्रारम्भ मानकर उसका ही आदि रूपसे ग्रहण किया है, वर्ष पर्यन्तका काल भी पूर्ण तो नहीं है, चेष्टात्मक कालकी समाप्ति तो वहां पर नहीं होती, उसके एक अंशकी समाप्ति ही वहां पर होती है, चेष्टात्मक काल तो उससे कहीं अधिक विशाल है, ब्रह्माकी आयुका अन्तिम भाग द्वितीय परार्ध जब समाप्त होता है, तब उस कालका अन्त कहा जाता है. संवत्सर तो उसके मध्यमें होता रहता है, अतः वह तो मध्यम काल ही है, इस मध्यम कालसे उसकी महत्ताका बोध करानेको 'महीयान्' शब्द प्रयुक्त किया है, कि आपका चेष्टारूप काल तो अत्यन्त महान् है, वत्सर पर्यन्तका कथन तो

उसके अवान्तर भेदको लक्ष्यमें रखकर कर दिया है, क्योंकि वत्सरोंके द्वारा हो, तो उसका परिणाम होता है, इस प्रकार काल जिसकी चेष्टा है, एवं सबके लय हो जाने पर जो अवशिष्ट रहता है, तथा जो आधिदैविक परतत्त्व है, सर्व कारणोंका कारण है, वह आप ही हैं, मैं उन्हीं आपकी शरणागत हूं. इस प्रकार आधिदैविक आदि रूपत्रयका प्रतिपादन करनेसे एक आक्षेपका समाधान किया है, कि, जो बालक एवं पुत्र है, उसे शरण कैसे किया जावे, इस आक्षेपको अवकाश नहीं क्योंकि आप तो वह ही हैं, जो पूर्वमें बतलाये गये हैं, इस विषयमें प्रमाण तो 'आहुः', 'अध्यात्मदीपः', 'विष्णुः' इन पदों द्वारा सूचित हो चुका है, इस प्रकार सर्वरूप होते हुए भी यदि रक्षा आदि धर्मको प्रकट नहीं करें, तो शरणागति निष्प्रयोजन ही ठहरेगी, अतः उसके निवारणार्थ कहती हैं, कि ऐसा नहीं हो सकता. आप 'ईशान' हैं, समर्थ हैं, जिसमें भगवान्के इतने धर्म प्रकट हैं, वह ईश ही होता है. ऐश्वर्य विलम्ब सहन नहीं करता शीघ्र ही शरणागतका त्राण करता है, और उपेक्षा भी नहीं करता शरणागतकी रक्षा ही करता है. ईश्वर यदि दैत्योंका पक्षपाती होवे, तो भी कार्य सिद्धि नहीं हो सकती, इस शंकाके निवारणार्थ 'क्षेमधाम' पदका प्रयोग है. क्षेम नामक विशुद्ध सत्त्व ही आपका धाम है, अतः विशुद्ध सत्त्वमें विराजनेवाले आप, भद्र पुरुषोंका ही पक्षपात करेंगे दैत्योंका नहीं अतः कोई चिन्ता नहीं है. 'क्षेमधाम'की उक्त व्याख्याके अनुसार 'क्षेमधामानम्' ऐसा पुल्लिङ्गका निर्देश उचित था, परन्तु आधारभूत विशुद्ध सत्त्वरूप धर्मकी प्रधानताको बतलानेकेलिये यह लिंग व्यत्यय हुआ है, अर्थात् इस लिंगपरिवर्तनसे विशुद्ध सत्त्वकी प्रधानताके साथ सत्पुरुषोंकी रक्षा सूचित होती है ।।२६।।

मर्त्यो मृत्युव्यालभीतः पलायन् सर्वांल्लोकान् निर्भयं नाध्यगच्छत्।।
त्वत्पादाब्जं प्राप्य यदृच्छयाद्य स्वस्थः शेते मृत्युरस्मादपैति।।२७।।

श्लोकार्थ : मरण धर्मा मनुष्य मृत्युरूपी सर्पसे डर रहा है, डरसे भाग रहा है. ऊंचे-नीचे लोकोंमें भटक रहा है, कहीं भी निर्भयता या शान्ति इसे नहीं मिल पाती. अकस्मात् आज आपके चरणारविन्दको प्राप्तकर, स्वस्थ होकर शान्तिसे सोता है, और इससे मृत्यु भाग जाती है।।२७।।

व्याख्यार्थ : इस प्रकार भगवान्के आधिदैविक आदि तीनों रूपोंका तीन श्लोकोंसे निरूपण किया है, और तृतीय श्लोकमें शरणागतिका भी निरूपण किया है. तदनन्तर उस शरणागतिके प्रकृतिमें उपयोगी होनेकी सिद्धि करनेकेलिए

श्रीदेवकी 'मर्त्य' आदि श्लोकसे शरणागतिके हेतु, भयका निरूपण करती हैं. काल अतीन्द्रिय है, इन्द्रियों द्वारा वह नहीं जाना जाता, अतः उसने अपने स्वरूपको लोगोंके बुद्धिगम्य बनानेको सर्प प्रकट किया. सर्प कालकी प्रतिकृति है,उसके समान आकार प्रकारवाला है. लौकिक प्राणी उस अलौकिक या अतीन्द्रिय कालको सर्पके द्वारा ही समझ पाते हैं, जैसे सिंह जैसे आकारका श्वान होता है, व्याघ्र एवं गवय जैसे आकारके बिडाल एवं गौ होते हैं, वह काल जिसे प्रकट करता है, वह उसका भक्ष्य ही होता है, अतः कालसे रचे गये प्राणी 'मृत्यु' कहलाते हैं. उस कालकी भार्या कुण्डिलिनी शक्ति है. वह अपने भर्त्ता कालसे परिचय करा देती है. सब पुरुषोंके देहोंमें उसका निवास है. उस कुण्डलिनी शक्तिको प्रबोधित करनेवाला योग ही है. योगी उस कुण्डलिनोंके ही शरणागत होता है, तब उस कालभार्या कुण्डलिनीकी प्रार्थनाके कारण योगीको काल शीघ्र भक्षण नहीं करता, और उस कालका आध्यात्मिकरूप वेद है, अतः वेदोक्त कर्मसे भी विलम्ब होता है, जो कर्ममार्गी वैदिककर्मका सविधि आचरण करते हैं, उनका भी भक्षण करनेमें काल विलम्ब करता है. शीघ्र भक्षण नहीं करता है, अन्य सर्व पुराणोक्त देवता उस कालके आधिभौतिकरूप हैं, वह भी विलम्बके कारण हो जाते हैं. पुराणोक्त देवताओंके उपासक भी कालके शीघ्र भक्ष्य नहीं होते, यह तीनों प्राणी योगी, कर्मी, और उपासक, निरन्तर एक ही साधनमें निष्ठापूर्वक तत्परतासे लगे रहते हैं, अतः इनके भक्षणमें विलम्ब होता है, और जो साधारण प्राणी हैं, जिनको कालने अपने भक्षणकेलिए ही रखा है, जो रन्धित ओदन(भात)की भांति सरलतासे उसके गलेमें उतर जानेवाले हैं, वह लोग यदि कालके उल्लंघनकेलिए प्रयत्न करते हैं, तब कालके कार्य रोग आदिका अनुभवकर, उस कालके निवारकरूपसे सुने गये बहुतसे धर्मोंका आचरण करनेका प्रयास करते हैं, वह उनका प्रयास सर्पसे डरे हुए एवं उसके आगे पड़े हुवे मूषकके भागनेके समान व्यर्थ है. मृत्यु कालका मुख है, वह भी व्याल है. यद्यपि कोषमें सर्प, दुष्ट, हस्ती, शठपुरुष, एवं व्याघ्र, सिंह आदि हिंसक पशुओंको ही व्याल शब्दसे बोधित होनेवाले कहा है, तो भी वह सब मुखके द्वारा ही भयके कारण हैं, अतः कालके मुखरूप मृत्युको व्याल कह देना समुचित ही है, उस मृत्युसे डरकर भागना मूषककी भांति ही सिद्ध होता है. जहां कहीं भी जाता है, वहां भूख, प्यास, वृद्धता, शरीरकी त्वचाका सिकुड़ना, बालोंका श्वेत हो जाना

आदि ऊंचे-नीचे विविध प्रकारके कालधर्मोंका अनुभव करता है. कालके कार्योंके देखनेसे भय बना ही रहता है, उसकी निवृत्ति नहीं होती. बहुत काल तक स्थित रहनेवाले देवत्व, मनुष्यत्व, वृक्षत्व आदि धर्मोंके प्राप्त होने पर भयकी निवृत्ति होती होगी, इस आशंकाके निवारणार्थ कहा है, कि 'सर्वांल्लोकान्' सब लोकोंको दौड़ता हुआ भी निर्भयताको प्राप्त नहीं करता. 'निर्भयम्' पदसे भयका अभाव बोधित होता है, अतः किसी भी उपायसे मृत्युकी निवृत्ति नहीं होती यह अर्थ सिद्ध हुआ, अथवा 'निर्भयम्' पदका अर्थ है, 'भयका निवर्तक स्थान' ऐसा कोई स्थानविशेष नहीं मिल पाता, जहां मृत्युका भय न हो, सब लोकोंको दौड़ता-दौड़ता भयके निवारण करनेवाले स्थानको नहीं पहुंच पाता, क्योंकि भयकी निवृत्ति तो शास्त्र एवं निजानुभव इन दोनोंके परस्परमें मेल मिलने पर ही हो सकती है. शास्त्रमें जिसे निर्भय बतलाया हो और अपने अनुभवसे ही वह निर्भय ही सिद्ध होता हो, जहां पहुंचकर किसी प्रकारके भयके उदयकी हृदयमें सम्भावना भी न हो, ऐसा स्थान शास्त्र एवं अनुभवके द्वारा अवगत नहीं होता. पूर्वमें जिनकी चर्चा कर चुके हैं, वह तीनों योग, कर्म और उपासना तो कालके आधीन ही हैं, अतः योगादिके साधन करनेवालोंको भी काल अवश्य भक्ष्य करता है. कुछ विलम्बसे भक्षण करे यह बात दूसरी है, परन्तु सर्वथा उनको छोड़ नहीं देता, अतः वह भय निवारणमें समर्थ नहीं है.

पूर्वोक्त कुण्डलिनीकी प्रार्थना इतना बल नहीं रखती, जिससे वह काल सर्वथा भक्षण न करे, इस प्रकार अपने रक्षकके ढूंढनेको परिभ्रमण किया जा रहा है, ऐसी दशामें सर्वत्र प्रवृत्ति करानेवाले भगवान् कदाचित् सन्तुष्ट हो जावें, तब उनके चरणकी प्राप्ति होती है. 'सत्सङ्ग' एवं 'श्रीमद्भागवत' यह दोनों भगवान्के आधिभौतिक चरणयुगल हैं. ज्ञान एवं भक्ति, यह दोनों आध्यात्मिक चरणयुगल हैं, एवं उन प्रसन्न हुवे भगवान्के साक्षात् चरणयुगल आधिदैविक तो है ही, उनमेंसे किसी एककी भी प्राप्ति हो जाने पर पुरुषार्थ सिद्ध हो जाता है, ऐसा सूचित करनेको 'त्वत्पादाब्जम्' यह एक वचन प्रयुक्त किया है. उक्त पदमें भगवान्के साथ उनके चरणकमलकी प्राप्तिकी सूचना है, क्योंकि समासके द्वारा उनकी मिलितरूपसे उपस्थिति होती है. 'ते पादाब्जम्' इस प्रकार पृथक् पदोंका उपन्यास न कर, समास युक्त पदका प्रयोग भगवान्को लक्षितकर सत्संग, भागवतादिका सेवन कर्त्तव्य है, ऐसा सूचित करता है. भगवान्के साथ उनके किसी भी अन्यतम

चरणकमलका लाभ होनेसे कृतार्थता हो जाती है, यह चरणकमलका लाभ किसी कालसे सम्बन्धित नहीं है, कि अमुक समय उसकी प्राप्तिकेलिए नियत हो, वह सर्वथा कालके आधीन नहीं, वह तो भगवदिच्छा पर ही निर्भर है, अतः भगवदिच्छाके बोधक 'यदृच्छया' पदका प्रयोग किया है. नियत हुए कालकी यदृच्छा नहीं कह सकते, आकस्मिक स्थलमें ही यदृच्छा शब्दका प्रयोग होता है, अतः भगवच्चरणारविन्दकी प्राप्ति, भगवदाधीन ही है, कालाधीन नहीं यह सिद्ध होता है. 'पादाब्जम्' शब्दसे चरणको कमल बतलाया है. कमल जलमें होता हुआ भी उससे अस्पृष्ट एवम् अन्यान्य पुष्पोंसे अधिक शोभाशाली होता है. प्रभुका चरण भी लोकमें होते हुए अलौकिक तथा अपने स्वरूपका चमत्कार बतलानेवाला अतिशय शोभाशाली है, ऐसा प्रतिपादन यहां अभीष्ट है, भगवच्चरणकी शोभा कुण्डलिनी, वेद, देव इन तीनोंसे कहीं अधिक यह तीनों कालके आधीन हैं.

भगवच्चरण, कालके आधीन नहीं, कालसे अतीत है. काल भी उसके अधीन है, जो भगवच्चरणका आश्रय करता है. वह काल कवलित नहीं होता ऐसा विश्वास अपेक्षित है. इस विश्वासके साथ जब ही जीव प्रभु चरणका आश्रय करता है, उसी समय निश्चिन्त हो जाता है, इस आशयसे 'अद्य' पदका प्रयोग है. आज अभी चरणकमलको आकस्मिक प्राप्ति होते ही तत्काल ही वह जीव स्वस्थ होकर शयन करता है, अब मृत्युके निवारणका प्रयत्न नहीं करता. मृत्यु तो फिर अपने आप ही निवृत्त हो जाता है, क्योंकि वह मृत्यु सोचता है, कि इसके हृदयमें भगवच्चरणारविन्द विराजमान् हैं, अतः मेरा प्रभाव यहां न चलेगा, यह मेरेलिये असाध्य है, इससे हट जाना ही उचित है. उक्त विषयमें प्रमाण तो शास्त्र हैं ही, परन्तु अलौकिक भावकी सिद्धि ही अपने अनुभवके साथ उन शास्त्रोंका संवाद होना है, अर्थात् स्वानुभवैकवेद्य अलौकिक भावके उदय होने पर ही शास्त्र प्रतिपादित भगवच्चरणकी कालभय निवारकताका प्रत्यक्ष हो पाता है, जब हृदयमें भगवान्के चरणोंके प्रति अलौकिक भाव सिद्ध होता है, तब स्वयं ही भावुकका हृदय निर्भयताका अनुभव करता है. भगवान् कालके नियामक हैं, उसे अपनी इच्छानुसार प्रेरणा देते हैं, उसका नियन्त्रण करते हैं, अतः अनुभव, प्रमाण एवं युक्ति इसी पक्षमें हैं, कि भगवच्चरण-शरण जीव ही निश्चिन्त होता है, अतः योगादि मार्गोंकी भांति शरणमार्गमें कोई भी शंकाका अवसर नहीं, उसके लेशका

भी अवकाश नहीं. निष्कपट भावसे शरणमार्गमें प्रवृत्ति हो जाने पर सर्वथा निर्भयता हो जाती है, ऐसा दृढ़ सिद्धान्त है. अकापट्य नियम है, इस नियमका व्यभिचार या भंग नहीं हो सकता. भक्त प्रह्लाद आदि उक्त सैद्धान्तिक नियमके उज्ज्वल उदाहरण उपस्थित हैं।।२७।।

स त्वं घोरादुग्रसेनात्मजान्नस्त्राहि त्रस्तान् भृत्यवित्रासहासि।।
रूपं चेदं पौरुषं ध्यानधिष्ण्यं मा प्रत्यक्षं मांसदृशां कृषीष्ठाः।।२८।।

श्लोकार्थ : वह आप हमारी उस भयंकर उग्रसेनके पुत्र कंससे रक्षा करें, हम उससे भयभीत हो रहे हैं, आप सेवकोंके भयका निवारण करनेवाले हैं, इस पुरुषोत्तम सम्बन्धी चतुर्भुज रूपको चर्म चक्षुओंके प्रत्यक्ष न करें, यह तो ध्यानका ही विषय है।।२८।।

व्याख्यार्थ : इस प्रकार शरणागतिमें कारणका उपपादनकर, श्रीदेवकी 'सत्त्वम्' इत्यादि तीन श्लोकों द्वारा तीन प्रार्थनायें करती हैं, इस अवसर पर तीन सम्भावनायें हैं, एक तो यह, कि भगवान् अभी तो छुप जावें, पीछे अपनी इच्छासे अन्य स्थानमें विराजमान् हो, कंसको मारें, तो इस आपके प्रकट होनेकी कथाको सुनकर कंस हम लोगोंको मार सकता है, कि इनको उस अष्टम बालकका ज्ञान था और इन्होंने ही उसको अन्यत्र दिला भेजा है. इस प्रकार आपके विषयमें हमारे ज्ञान और दापन(प्रेषण)के अपराधका निर्धार करनेसे वह हमें मारे बिना नहीं रहेगा, अतः ऐसी सम्भावनामें अपनी रक्षाकी प्रार्थना करना आवश्यक है. दूसरी सम्भावना यह है, कि यदि आप अब ही कंसको मार देवें, तत्पश्चात् पधार जावें, तो कंसके पक्षपाती जरासन्ध आदि पीछे हम लोगोंको मार सकते हैं, इसलिए इस रूपको जनसाधारणमें प्रख्यात न करें, ऐसी भी प्रार्थना आवश्यक है. तीसरी सम्भावना यह है, कि कंसको अब ही मारकर यदि आप इस रूपसे यहां पर ही विराजें, तो अलौकिक स्वरूपको देखकर साधारण लोग द्वेष भी कर सकते हैं, (क्योंकि लोगोंका स्वभाव दुष्ट है, वह अन्यकी, प्रधानतया पार्श्ववर्तीकी समृद्धि या उत्कर्षको देख नहीं सकते) तथा इस रूपसे विराजने पर हम लोगोंकी मुक्तिके शीघ्र ही हो जानेका सम्भव है, अतः भक्तिरसका अनुभव न हो सकेगा, एवं पुत्र भावकी मर्यादा भी न रह पावेगी, इसलिए रूपके अप्रदर्शनकी प्रार्थना उचित ही है. इन सब दोषोंके परिहारकेलिये इस समय कंसको आपके जन्मका ज्ञान न हों यह प्रार्थना की है, अथवा श्रीदेवकी इस आशयसे रक्षाकी प्रार्थना करती हैं, कि

यदि अभी आप कंसको मारें, तो उसके साथ आपके युद्ध होनेके कालमें मेरा जीवन नहीं रहेगा. उस आपके अग्रजोंके हत्यारेका वह भयंकर दृश्य उपस्थित होते ही प्राण निकल जावेंगे, अतः रक्षाकी प्रार्थना आवश्यक है. एवं रूपके उपसंहार या परिवर्तनकी प्रार्थना इस दृष्टिसे आवश्यक है, कि यदि इस अद्भुतरूपको ही धारण किये रहेंगे तो पूर्वोक्त पक्षोंका सम्भव है, कंसको मारकर अन्यत्र पधारनेमें उसके पक्षपातियोंसे हमको आशंका रहेगी और यहां विराजने पर लोक प्रद्वेषकी आपत्ति बनी रहेगी, अतः इस लौकिकरूपका उपसंहार भी प्रार्थनीय ही हैं. बहन-बहनोईका सम्बन्ध विचारकर, कदाचित् कंस नहीं मारे, ऐसी सम्भावना नहीं की जा सकती है, उक्त सम्भावना या आशंकाके निवारणार्थ 'घोरात्' यह विशेषण कंसके प्रति प्रयुक्त किया है. 'सत्त्वम्' इन शब्दों द्वारा भगवान्के उस सामर्थ्यकी सूचना है, जिस सामर्थ्यसे आप अपने भक्तोंके सर्वविध प्रार्थनीय अभीष्ट पदार्थोंको देते रहते हैं, पूर्वमें जिन शरणागत वत्सलता आदि गुणोंको कहा है, आप उन समस्त गुण या धर्मोंके आश्रय हैं. 'घोर' शब्दसे कंसको निर्दय एवं भयानक हत्यारा कहा है. एवं उग्रसेनका आत्मज(शरीरसे उत्पन्न हुआ पुत्र) बतलाकर, उसकी अन्य उपायोंसे अवध्यता सूचित की है, कि वह विष आदिके द्वारा नहीं मारा जा सकेगा, क्योंकि वह जिस शरीरसे उत्पन्न हुआ है, उसकी तो सेना ही 'उग्र' विषरूप है, अतः विषका प्रभाव उस पर नहीं पड़ सकता, वह तो स्वयं ही घोर हलाहल विष है. 'त्रस्तान्' पदके द्वारा अपनी भयभीत परिस्थितिका चित्रण करती हैं, कि हम लोग अत्यन्त उद्विग्न हैं. हमारे पूर्व पुत्रोंको मारकर कंसने हमको अत्यन्त व्यथित कर दिया है, उस कंससे हमारी रक्षा करो. 'त्राहि' यह पालनार्थक 'त्रैङ्' धातुका प्रयोग पाणिनीय व्याकरणकी रीतिसे यद्यपि संगत नहीं. वहां इसे आत्मनेपदी ही माना है, परन्तु स्तोत्रोंमें इसका प्रयोग अधिक मात्रामें मिलता है, अतः इसे उभयपदी मानना आवश्यक है, ऐसा निश्चय किया जाता है. यह शंका की जा सकती है, कि कंसका अभी वध करनेमें परिणाम तो बाधा रहित ही रहेगा, उसमें तो कोई आपत्ति नहीं आएगी, तो रक्षाकी प्रार्थनाकी क्या आवश्यकता? इसके समाधानके विषयमें श्रीदेवकी कहती हैं कि आप तो अपने भृत्यगण(हम सेवक लोगों)के विविध प्रकारके त्रासोंका विनाश करनेवाले हैं, (अतः परिणाममें बाधा न होने पर भी आरम्भकी पूर्वोक्त बाधा निवृत्तिकेलिए रक्षा प्रार्थनीय है). 'असि' पदके द्वारा भगवान्के संकल्पकी सूचना है, कि

आपका तो यह संकल्प है, ''**परित्राणाय साधूनाम् विनाशाय च दुष्कृताम्**'' भक्तोंका दुःख निवारण करना आपका स्वभाव है. जिस प्रकार 'गन्ध' पृथिवीका स्वाभाविक गुण है, उसी प्रकार भक्तोंके दुःखोंकी निवृत्ति करना आपका सहज धर्म है. जिस प्रकार हम लोगोंकी रक्षा इस समय कंसके न मारनेसे एवम् अन्यत्र पधारनेसे करनी आवश्यक है, उसी प्रकार यहां स्थिति रखनेमें इस रूपका उपसंहार करना भी आवश्यक है, इस बातको 'रूपञ्चेदम्' उस उत्तरार्धसे कहती हैं कि सर्वदा इस अलौकिकरूपसे विराजना उचित नहीं, इस रूपको लौकिक बाह्यदर्शी चर्मचक्षु लोगोंके प्रत्यक्ष न कीजिये. इस स्वरूपके दर्शनके बिना किसीकी मुक्ति न हो सकेगी, इस आशंकाके समाधानमें कहती हैं कि यह रूप तो 'ध्यानाधिष्ण्य' है, ध्यान ही इसका स्थान है. अतः ध्यानमें ही इसका प्रकाश होना चाहिये, बाहर नहीं. इससे सर्व व्यवस्था सुन्दर रहेगी. ध्यानसे मुक्ति हो सकेगी. 'मा कृषीष्ठाः', साधारण लोगोंके प्रत्यक्ष न करिये, ऐसा कहनेसे सूचित होता है, कि यह स्वरूप स्वभावतः तो इन्द्रिय वेद्य नहीं, अप्रत्यक्ष ही है, परन्तु भगवदिच्छासे ही प्रत्यक्ष होता है. 'मांसदृशाम्' पदसे सूचित किया है, कि यह मांसाहारी दैत्य, सर्वत्र मांसको ही देखते हैं, कर्त्तव्य, अकर्त्तव्यका विचार नहीं करते. 'रूपञ्च' यहां पर 'च' शब्द पूर्वोक्त रक्षाका समुच्चायक है, अर्थात् देवकीको 'रक्षा' और रूपका 'अदर्शन' दोनों ही अपेक्षित है।।२८।।

जन्म ते मय्यसौ पापो मा विद्यान् मधुसूदन।।
समुद्विजे भवद्धेतोः कंसादहमधीरधीः।।२९।।

श्लोकार्थ : हे मधुसूदन! वह पापी कंस मुझमें आपके जन्मको न जान पावे, मैं आपके कारण कंससे डरती हूं, मेरी बुद्धि अधीर हो रही है, धैर्य धारण नहीं कर पाती।।२९।।

व्याख्यार्थ : कंसको अभी इसी समय मारा जावे और अलौकिकरूपको सर्व साधारण देखे, इन दोनों घटनाओंमेंसे एक भी घटना उपस्थित न हो तो कंस अभी मारा जाय, और न सर्व साधारणको भगवत्स्वरूपका दर्शन ही हो, इसलिए श्रीदेवकी कंसको भगवान्के जन्मका अज्ञान चाहती हैं, कि कंसको आपके जन्मका ज्ञान न हो. अभी कंसको न मारकर अन्यत्र पधारें, यह प्रथम पक्ष है. उसके विषयमें अपने प्राणोंकी आशंका थी. देवकीने पूर्वमें प्रस्तुत की है, एवं कंसको अभी न मारकर यहां पर ही विराजमान् रहें, यह तृतीय पक्ष है. उसके

विषयमें भी साधारण लोगोंका प्रद्वेष एवं हम लोगोंकी शीघ्र मुक्तिका प्रसङ्ग आपत्तिरूपसे निर्दिष्ट किया गया है. कंसको अभी मारकर अन्यत्र पधार जावें, यह मध्यम पक्ष है. इस मध्यम पक्षमें भी स्वयं कंसके पास जाकर उसे मारे तो आपके अन्यत्र पधारने पर उसके पक्षपातियोंका भय हमको रहेगा, अतः आप स्वतः अपनी ओरसे कंसके मारनेसे निवृत्त भी हो जावें, स्वयं उसे मारनेको नहीं भी पधारें तो भी यदि कंसको आपके जन्मका ज्ञान हो जायगा, तो स्वयं आकर युद्ध करेगा, अतः हमारे प्राणोंकी स्थिति न रहनेकी सम्भावनाका दोष तो इस मध्यम पक्षमें भी बना ही रहेगा. हमारे प्राण उस भयंकर दृश्यको देखकर नहीं रह पावेंगे, अतः आपके जन्मका ज्ञान कंसको नहीं होना चाहिये, ऐसी प्रार्थना करती हैं, कि यह कंस आपके जन्मको नहीं जाने, क्योंकि यह पापात्मा है, अत्यन्त भयंकर हत्यारा है. आप ऐसा न कहें कि तू मेरे स्वरूपको नहीं जानती, मैं जानती हूं, आप मधुदैत्यके विनाशक हैं. यद्यपि हम लोग जानते हैं, कि आप ही उसे मारेंगे, तो भी मध्यम पक्षकी सम्भावनासे प्रार्थना की जाती है. आप कह सकते हैं कि मध्यम पक्षमें क्या दोष है?अविश्वास करना तो उचित नहीं, मैं इस विषयमें कहती हूं, सुनिये. आपके कारणसे मैं कंससे अत्यन्त उद्विग्न हूं, भयसे कांप रही हूं, विश्वास करना आवश्यक है, पर विश्वास धीरताकी अपेक्षा रखता है, मैं तो 'अधीर धीः' हूं, मेरी बुद्धि तो धैर्यको खो बैठी है. परमानन्दमय भगवान्के प्रकट हो जाने पर किसी भी प्रकारके क्लेशका कारण उपस्थित होना उचित नहीं. 'भवद्भेतोः' पदसे यह सूचित करती हैं, कि यदि कंसको विदित हो जावे कि हम लोगोंसे उत्पन्न हुवे भगवान् कहीं अन्यत्र विराजते हैं, तो हठपूर्वक आपको मंगा लेनेकेलिये हमें बाध्य करेगा, क्योंकि पूर्वमें वैसी प्रतिज्ञा उससे की गई है, कि अपने पुत्रोंको तुम्हें देंगे, अतः कंसको आपके जन्मका ज्ञान ही न होना चाहिये।।२९।।

उपसंहर विश्वात्मन् अदो रूपम् अलौकिकम्।
शङ्ख-चक्र-गदा-पद्म-श्रिया जुष्टं चतुर्भुजम्।।३०।।

श्लोकार्थ : हे विश्वात्मन्! शंख, चक्र, गदा, पद्म और आलौकिक शोभासे सम्पन्न इस अलौकिक रूपको छुपा लीजिए।।३०।।

व्याख्यार्थ : अन्य रूपके स्वीकार करने पर तो आपको कहीं अन्यत्र भी पधराया जा सकता है. इस अद्भुतरूपसे तो नहीं पधराया जा सकता, अतः इस

रूपके उपसंहारकी प्रार्थना करती हैं, कि यह वेदके द्वारा जानने योग्य अलौकिकरूप लोकमें उचित नहीं, अतः उसे छुपा लीजिये. 'विश्वात्मन्' इस सम्बोधनके रूपके ग्रहण एवं उपसंहारके विषयमें सामर्थ्यकी सूचना है, कि विश्वात्मा भगवान् विश्वमें सब ही रूपोंका ग्रहण और त्याग भी करते रहते हैं. 'अदः'[१] पदसे भगवत्स्वरूपकी अलौकिकता व्यक्त की है, जिसके द्वारा यह सूचित किया है, कि अवतारको तिरोहित न किया जावे, अलौकिकता मात्रका ही तिरोभाव कर्त्तव्य है. भगवत्स्वरूपमें सब ही अलौकिक सामग्री है, तो सबका ही उपसंहार करना होगा, ऐसी दशामें जो लोकके समान है, उसको रखना चाहिये अन्य जो लोकवत् नहीं है, उसका उपसंहार करना चाहिये, ऐसा बतलाती हुईं श्रीदेवकी, अलौकिक अंशको कहती हैं, कि शंख, चक्र, गदा, पद्म इन आयुधोंको छुपा लीजिये, और अलौकिक 'श्री'(शोभा)को भी छुपा लीजिये. एवं चार भुजाओंको छुपा लीजिये, दो ही भुजा रखिये, यह कथन एक उपलक्षण है, लौकिकतासे जो भिन्न प्रतीत होता है, वह सब छुपा लीजिये. अलौकिक स्वरूपमें यद्यपि लौकिकताकी सत्ता अंशतः भी नहीं है, तो भी लोगोंके दिखाने भरकेलिए उसको रखना आवश्यक है. यद्यपि चतुर्भुजरूप देवताओंके प्रति साधारण जैसी बात है, क्योंकि देवताओंके तो चार मुख, तीन नयन एवं विभिन्न संख्यावाले बाहु आदि प्रसिद्ध हैं, परन्तु सर्व साधारणोंके प्रति वैसा चतुर्भुजरूप भी प्रकट करने योग्य नहीं यह प्रार्थना है।।३०।।

१.'अदस्' शब्दका प्रयोग दूरवर्ती पदार्थके प्रति होता है. समीपवर्तीके प्रति 'इदम्', 'एतद्' शब्दोंका प्रयोग होता है. भगवत्तत्त्वरूप लोकसे अत्यन्त दूरवर्ती अलौकिक है, अत: यहां प्रयुक्त हुवा है.

विश्वं यदेतत् स्वतनौ निशान्ते यथाऽवकाशं पुरुषः परो भवान्।।
बिभर्षि सोऽयं मम गर्भगोऽभूदहो नृलोकस्य विडम्बनं महत्।।३१।।

श्लोकार्थ : प्रलयकालके समाप्त हो जाने पर सृष्टिकालमें इस सम्पूर्ण विश्वको आप अपने ब्रह्माण्डशरीरमें धारण करते हैं,(इस विश्वके वितानमें कोई प्रकारका संकोच न कर, ज्योंका त्यों अपने देहमें इसे आप रखते हैं). आप ही परम पुरुष हैं, पुरुषोत्तम हैं. वह ही यह ब्रह्माण्डविग्रह पुरुष, मेरे गर्भ गत हुआ, यह आश्चर्य है, मनुष्य लोकका महान् नाट्य है, अनुकरण है।।३१।।

व्याख्यार्थ : इस प्रकार स्तुति एवं प्रार्थना करनेके अनन्तर 'विश्वं'

इत्यादि श्लोकसे निरोधका परिहार करती हैं, अथवा अर्ध(अलौकिक अंश)का उपसंहार करके अर्ध(लौकिक समान अंश)के रखनेमें समर्थताके प्रतिपादन करनेकेलिए 'विश्व'को स्वकुक्षिस्थ रखना और स्वयं मेरे कुक्षिस्थ होना, इस विरोधी गुणका अनुवादकर, उन दोनोंमेंसे, एक गुण, मेरे कुक्षिस्थ होना, तो दिखलाने भरको है, इस प्रकार विरोधके अभावका उपपादन करती, अविरोधका समर्थन करती हैं, कि ब्रह्माण्ड नामवाले अपने विराट् शरीरमें सृष्टिके समय आप यथावकाश उसे संकुचित किये बिना ही, चतुर्दश लोकात्मक विश्वको धारण करते हैं. 'निशान्त' शब्दसे प्रलयरूप निशाका अन्त हो जाने पर आनेवाला सृष्टिका काल सूचित होता है. प्रलयकालमें तो सूक्ष्मरूपसे विश्वका ब्रह्ममें निवास रहता है, स्थूलरूपसे नहीं, अतः प्रलयकी समाप्ति होने पर उपस्थित होनेवाले सृष्टिकालका निर्देश निशान्त शब्दसे किया है. 'यथाऽवकाश' शब्दके द्वारा 'विर्भीरतया'(संकुचितरूपसे) स्थितिका निषेध किया है, कि अवकाश बना रहे, अपेक्षित विकासमें कोई बाधा न आवे, उस प्रकार विश्वका धारण आप सृष्टिकालमें करते हैं, इसमें प्रमाण क्या है? इस आशंकाके समाधान करनेकेलिए 'पुरुषः', 'परः' इन दो शब्दोंका प्रयोग हुआ है. श्रीदेवकी कहती हैं कि आप ही पुरुष हैं और आप ही पर हैं. वृक्ष आदिकी भांति व्यष्टि(एकदेशी) भी आप हैं और वन आदिकी भांति समूहात्मक समष्टि(सर्वदेशी) भी आप हैं, अतः आपसे विश्वका सविकास धारण, वन और वृक्षके दृष्टान्तसे सर्वथा उपपन्न है, प्रमाणान्तरकी कोई अपेक्षा नहीं रह जाती. इस विषयमें भगवान्की सम्मतिके सूचनार्थ 'भवान्' शब्द प्रतियुक्त हुआ है, कि आपसे आपका स्वरूप तो छुपा नहीं, आप तो जानते ही हैं कि आप ऐसे ही हैं. उक्त सम्मतिके प्रदर्शनसे श्रीदेवकीको अपना भगवद्विषयक ऐसे माहात्म्यके ज्ञान सम्पन्न होनेका भगवान्को भली भांति बोध कराना अभीष्ट है. इस प्रकार विश्वके आधारभूत होकर भी आप मेरे गर्व गव(?) हुए यह आश्चर्य है. यद्यपि सर्व विरोधीधर्मोंके आश्रयरूप भगवान्के विषयमें यह आश्चर्य नहीं, तो भी श्रीदेवकी अपनी प्रतीतिसे आश्चर्य मानकर, विरोधका परिहार करती हैं, कि यह तो मनुष्यमात्रका महान् अनुकरण है. 'अहो' शब्द आश्चर्यसूचक है. मनुष्यमात्रका अनुकरण है. उक्त शंकाका समाधान है. बडे लोग भी छोटोंका अनुभव करते हैं. जैसे मनुष्य बिडालका अनुकरण करता है, फिर भी ब्रह्माण्ड शरीरधारी पुरुषोत्तमकी परम

सूक्ष्मता आश्चर्यरूप है, इस शंकाकी निवृत्तिको 'महद्' शब्दका प्रयोग किया है, कि यह अनुकरण भी महान् है, अन्य साधारण नहीं, अनुकरण है, यह तो सत्य है, परन्तु अलौकिक अनुकरण लोक साधारण अनुकरण नहीं, इस कथनसे श्रीदेवकीने अपने गर्वका अभाव सूचित किया है, कि मेरा क्या सामर्थ्य है, जो आपको धारण कर सकूं, यह तो सब आप ही का खेल है।।३१।।

पूर्वस्थितिस्तथा कार्यं प्रकारो भजनं हरेः।
कालस्तोषश्च प्राकट्यं वरप्रार्थनया सह।।कारि.१।।
अल्पबुद्धित्वभोगौ च जन्मत्रितयमेव च।
त्रिगुणं भगवत्सत्यं लौकिकाद् वैदिकान् महत्।।कारि.२।।
रूपदर्शनकार्यं च साधनं प्रोच्यते महत्।।कारि.२।।

कारिकार्थ : श्रीदेवकी-वसुदेवकी पूर्वजन्मकी स्थिति प्रथम श्लोकोंमें कही है. द्वितीय श्लोकमें उनका कार्य(तप) कहा है. तृतीय श्लोकमें तपश्चर्याका प्रकार कहा है. चतुर्थ श्लोकमें उनका भगवदाराधन(हरिभजन) कहा है. पञ्चम श्लोकमें तपस्याका काल है. षष्ठ श्लोकमें भगवान्का सन्तुष्ट होना कहा है. सप्तम श्लोकमें वरदानार्थ भगवान्का प्रकट होना कहा है, साथमें वरकेलिए प्रार्थना भी कहा है।।१।।

अष्टम श्लोकमें उनकी बुद्धिकी अल्पता बतलाई है, कि मोक्ष नहीं मांग सके. नवम श्लोकमें उनका ग्राम्य सुख-भोग कहा है. दशम, एकादश, द्वादश, इन तीन श्लोकोंमें भगवान्के तीन बार जन्म ग्रहण करनेका निर्देश किया है. भगवान्का कहा हुआ सत्यवचन लौकिक और वैदिक इन दोनोंसे अधिक महत्त्व रखता है, इस मर्मकी सूचना तीन बार जन्म लेनेसे होती है. लौकिकसत्य[१] एक गुण है, वैदिकसत्य द्विगुण हैं, लौकिक वैदिक दोनोंसे अधिक बलवान् है, और भगवत्सत्य त्रिगुण है, लौकिक वैदिक दोनोंसे अधिक बलवान् है।।२।।

त्रयोदश श्लोकमें भगवत्स्वरूपके दर्शनका कार्य, पूर्वजन्मोंका स्मरण कहा है. चतुर्दश श्लोकमें स्नेहरूप महान् साधनका निर्देश किया है।।२।।

१.लौकिकसत्य वह है, कि जन्ममें कहा हुआ इसी जन्ममें फलित हो, वैदिकसत्य जन्मान्तरमें भी फलित होता है, भगवत्सत्य तो मोक्ष पर्यन्त जितने भी जन्म हो सर्वत्र फलित होता है.

आभास : इस प्रकार वसुदेवजी और देवकी दोनोंकी की हुई प्रार्थनाके

सहित स्तुतियोंके वर्णन करने पर भगवान् अपने पुत्र होनेमें एवं उस प्रकारसे अलौकिक रूपसे प्रकट होनेमें कारणको बतलाते हुए उन दोनोंके पूर्व वृतान्तको उन्हें सर्वथा ज्ञात करानेकेलिये 'त्वमेव' इत्यादि चतुर्दश(१४) श्लोकों द्वारा सूचित करते हैं, इन श्लोकोंकी १४ चतुर्दश संख्या इस मर्मसे रखी गई है, कि पूर्ण ब्रह्म पर तत्व ही श्रीदेवकीनन्दन रूपमें प्रकट होते हैं, इसमें कोई सन्देद या असम्भावना आदि करनेका अवकाश नहीं, इसकी प्रामाणिकतामें चतुर्दश विद्यायें[१] अपने सम संख्याक श्लोकोंके मिषसे उपस्थित है:

१.ऋग्, यजुः, साम, अथर्व ये ४ वेद; शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्यौतिष ये ६ अङ्ग; स्मृति, पुराण, मीमांसा, तर्क ये ४ शास्त्र मिलकर १४ विद्या हैं.

श्रीभगवानुवाच

त्वमेव पूर्वसर्गेऽभूः पृश्निः स्वायम्भुवे सति।।

तदायं सुतपा नाम प्रजापतिरकल्मषः।।३२।।

श्लोकार्थ : श्रीभगवान्ने कहा कि हे सति! पूर्व सृष्टिगत स्वायम्भुव मन्वन्तरमें तुम ही पृश्नि नामवाली हुई थी, उस समय यह वसुदेवजी सुतपा नाम वाले प्रजापति हुए थे, इनमें काम, क्रोध आदि कल्मष(दोष) नहीं थे।।३२।।

व्याख्यार्थ : पूर्वमें स्थितिको कहते हैं कि पूर्व सृष्टिकालमें जब सर्व प्रथम ब्रह्माण्ड रचना हुई, उस प्रथम कल्पमें अथवा इस वर्तमान कल्पसे पूर्व कल्पमें हे सति! तुम पृश्नि हुई थी. श्रीभगवान्ने श्रीदेवकीको ही सम्बोधितकर साक्षात् उनके प्रति ही वचन कहे हैं, क्योंकि उनकी दीनताके कारण उनमें स्नेह अधिक था. (पृश्नि) यह श्रीदेवकीका उस समय नाम था. उनके प्रति आप कहते हैं कि तुम ही पृश्नि हुई थी, उस समय स्वायम्भुव मन्वन्तर था. 'सति' शब्दसे सम्बोधितकर, श्रीदेवकीके प्रति अधिक कृपा होनेका कारण निर्दिष्ट किया है, कि 'पातिव्रत्य' धर्मकी महत्ता ही वैसी कृपाका कारण है. उस समय यह श्रीवसुदेवजी ही 'सुतपा' नामसे प्रसिद्ध प्रजापति हुवे थे, यह (मरीचि) आदिकी भांति ब्रह्माके पुत्र होनेसे प्रजापति कहे गये, कर्दम प्रजापतिकी भांति स्वभावसे ही यह अकल्मष थे, काम, क्रोध और लोभ आदि दोषोंसे रहित थे ।।३२।।

युवां वै ब्रह्मणादिष्टौ प्रजासर्गे यदा ततः।।

सन्नियम्येन्द्रियग्रामं तेपाथे परमं तपः।।३३।।

श्लोकार्थ : जब ब्रह्माने तुम लोगोंको प्रजा सृष्टिके निमित्त आदेश दिया,

उसी समय आदेश पाते ही तुम दोनोंने इन्द्रियवर्गको वशमें करके परम तपस्याका आरम्भ कर दिया।।३३।।

व्याख्यार्थ : ऐसे पूर्वमें स्थित थे. श्रीदेवकी परम पतिव्रता थीं. श्रीवसुदेव भी कामादि दोष रहित थे. उस प्रकार योग्यतापूर्व उन दोनोंके प्रति ब्रह्माजीकी आज्ञा हुई, ऐसा 'युवाम्' इस श्लोकसे कहते हैं कि प्रजाकी सृष्टिके निमित्त जब ब्रह्माने तुम लोगोंको आदेश दिया, उसके अनन्तर आदेश पाते ही तुम दोनों किसी विशेष स्थान पर इन्द्रियसमूहको वशमें कर, उस समयसे लौकिक दम्पतीके सम्बन्धको न कर, परम तपको करने लगे. सर्व इन्द्रियोंके नियन्त्रणसे सर्व प्रकारके आहारका त्यागकर देनेके कारण वायु आदिके निरोध होने पर शरीरमें सन्तापके जन्म होनेसे तप हो जाता है. इनका यह तप भगवान्को उद्देश्यरूपमें रखकर था, अतः भगवद्विषयक होनेसे इस तपको 'पर' अत्यन्त श्रेष्ठ या उत्कृष्ट कहा है. इस प्रकार उस जन्ममें जो उन्होंने कार्य किया था, उस कार्यका(तपका) निर्देश किया है।।३३।।

वर्षवातातपहिमधर्मकालगुणाननु।।
सहमानौ श्वासरोधविनिर्धूतमनोमलौ।।३४।।

श्लोकार्थ : तुम दोनों वर्षा, वायु, पञ्चाग्निका ताप, शीत, एवं धाम आदि कालके गुणोंको सहते रहते थे, तथा प्राणायामके द्वारा मनके मलोकों निकाल चुके थे।।३४।।

व्याख्यार्थ : 'वर्षवात' इत्यादि श्लोकसे उस तपके प्रकारको कहते हैं. वर्षाऋतुके समय पर खुले स्थान पर किसी वृक्ष आदिके ऊपर अन्तरिक्षमें बैठकर वर्षा और पवनका सहन करना, एवं पञ्चाग्नि प्रकारसे सब ओरसे तापको सहन करना(चारों दिशाओंमें अग्निपुञ्ज स्थापितकर, ऊपरसे सूर्यका ताप सहना) जलमें निवास आदिके द्वारा हिम शीतको सहन करना, पञ्चाग्नि तापके कालसे विभिन्न कालवाले धामका भी सहन करना, एवम् अन्यान्य तत्तत् समयके शीत आदि कालगुणोंको सहन करना, उन शीत आदिसे बचनेका उपाय न कर, उनमें ठहरे रहना ही उनका सहन है. दोनों ही सहन करते रहे, यह बात नहीं थी कि एक तप करता हो और दूसरा उसकी सेवा करता हो।।३४।।

शीर्णपर्णानिलाहारावुपशान्तेन चेतसा।।
मत्तः कामानभीप्सन्तौ मदाराधनमीहतुः।।३५।।

श्लोकार्थ : वृक्षोंके भरे हुए पत्तोंका और कभी वायुका ही आहार कर लेते थे, शान्तचित्तसे मेरे अराधनको करते थे(सकाम आराधना थी). मुझसे पुत्र आदि कामनाओंकी सिद्धि प्राप्त करना चाहते थे।।३५।।

व्याख्यार्थ : उस प्रकार तपस्यामें निरत हुवे उन दोनोंके द्वारा सम्पन्न हुई भगवत्सेवाका 'शीर्णपर्णा' इत्यादि श्लोकसे वर्णन करते हैं. कुछ समय तपश्चर्यासे चित्तकी शुद्धि हो जाने पर भगवत्सेवा करनी चाहिये, अन्यथा चित्तशुद्धिके बिना नहीं, ऐसा जानकर आप दोनों तपश्चर्या करते-करते सेवा करने लगे. सर्वथा आहार न करने पर और बाह्य अनुसन्धानके न रहने पर दोनोंकी सेवा नहीं हो पाती, अतः जिस प्रकारके तपके साथ सेवा की, वह प्रकारविशेष कहा जाता है, कि झरे हुवे पत्ते और पवन यह तो आप दोनोंका आहार था, चित्त उपशान्त था, राजस, तामस, भावोंसे रहित शुद्ध सात्त्विकगुण भावका चित्तमें उदय होना ही परम उपशान्ति है, इसे ही उपशम कहते हैं. वह उपशम भी यदि चित्तका स्वभावतः सिद्ध हो जावै, तब चित्त उपशान्त होता है. इस प्रकार इनके यम नियमोंका निरूपण किया. भक्तदुःखहारी मुझ हरिसे ही पुत्र आदि अभीष्ट पदार्थोंकी कामना करते हुवे सकामभावसे तुम लोगोंने मेरा आराधनकी परिचर्या की।।३५।।

एवं वां तप्यतोर्भद्रे ! तपः परमदुष्करम्।।
दिव्यवर्षसहस्राणि द्वादशेयुर्मदात्मनोः।।३६।।

श्लोकार्थ: हे भद्रे! इस प्रकार परम कठिन तपको करते हुए आप दोनोंका देवताओंके बारह हजार वर्षका दीर्घ काल व्यतीत हो गया, क्योंकि मैं तुम दोनोंके आत्मामें स्थित था।।३६।।

व्याख्यार्थ: इस प्रकार रहते दोनोंका जितना काल हुआ, उसे उक्त श्लोकसे कहते हैं. भद्रे' यह सम्बोधन स्त्री-पुरुष भावसे रहते हुवे दोनोंके सौभाग्यकी सूचना देता है. आगे-आगे क्रमसे तपकी वृद्धि होने पर उसकी परम दुष्करता(अधिक कष्टसाध्यता) हो जाती है. देवताओंके द्वादशसहस्र (१२,०००) वर्ष ही सत्ययुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग, कलियुग, इन चारों युगोंका काल मान है. कलिकाल आदिके युगधर्मोंने भी उन्हें बाधा नहीं पहुंचाई, ऐसा बतलानेको वैसा कालका निर्देश है, उतने समय तक देहकी स्थिति रहनेमें कारणका निर्देश 'यदात्मनोः' इस पदसे किया है, कि मैं ही तुम दोनोंके आत्मा या शरीरमें उपस्थित था।।३६।।

१.उक्त श्लोककी व्यख्यामें 'असकृत्' एवं 'चिन्तयन्तौ' इन दोनो पदोंका उल्लेख नहीं मिलता है, कारण चिन्त्य है. प्रथमकल्प, श्रीसुबोधिनीके प्रामाणिक आदर्श पुस्तककी अप्राप्ति. द्वितीयकल्प, आगे कारिकाओंमें चिन्तनका आकार प्रकार कहना है. अतः यहां पर उसके व्याख्यानको अनावश्यक समझा हो. यद्यपि, 'भद्रे' यह सम्बोधन श्रीदेवकीके प्रति ही प्रयुक्त हुवा है. अतः ''देवक्या सौभाग्यं बोधनार्थं'' इतना कहना ही पर्याप्त था. परन्तु श्रीमदाचार्यचरणोंकी उक्त पंक्ति इस आशयको व्यक्त कर रही है, कि स्त्री-पुरुष दोंनो ही यदि स्वकर्त्तव्य परायण हो, तब ही प्रत्येकका सौभाग्य सम्पन्न होता है, अन्यथा उस सौभाग्यमें अपूर्णता रहती है. पूर्ण सौभाग्यसूचक 'भद्रे' यह सम्बोधन देवकीके सौभाग्यको बोध कराता हुवा दम्पत्तिके सौभाग्यका बोधक है.

तदा वां परितुष्टोऽहममुना वपुषाऽनघे।।
तपसा श्रद्धया नित्यं भक्त्या च हृदि भावितः।।३७।।

श्लोकार्थ: हे पाप रहिते! उस समय तुम दोनोंके ऊपर मैं इसी अलौकिक शरीरसे प्रसन्न हुआ था, क्योंकि तुम लोगोंने तपश्चर्या, श्रद्धा एवं भक्ति, नित्य परिचर्या(सेवा)के द्वारा मानसी भावनासे हृदयमें मेरा चिन्तन किया था।।३७।।

व्याख्यार्थ : ऐसा करने पर मैं प्रसन्न हो गया, यह बात 'तदा' इत्यादि श्लोकसे कहते हैं. तुम दोनों पर मैं सर्वथा सन्तुष्ट हो गया. 'अहं' शब्दसे यह कहना अभीष्ट है, कि जो मैं हूं वही मैं तब भी था, वह मेरा कोई अंश हो या मैं उसका अंश होऊं यह बात नहीं, और तो क्या, शरीर भी यह ही था, जो तुम्हें दिखाया है, यही आकार थ. 'वपुः' इस पदके द्वारा भगवान् 'वं = सुखं पुष्णाति' इस व्युत्पत्तिके आधार पर पुत्रभावकी स्थापना करते हैं, क्योंकि पुत्रभाव सुखका पोषक है. यदि पुत्रभावकी स्थापना न की जावै, तो उन दोनोंका परम स्नेह होना सम्भावित नहीं. 'अनघे' यह सम्बोधन कन्दर्पकोटिलावण्यपूर्ण उस प्रकारके सुन्दर स्वरूपमें कामभावके उदय न होनेका सूचक है. परम पतिव्रता होनेसे उनकी सर्वथा पापाचारसे शून्यताका बोधक है. इस समय जैसा बालरूप है, उस समय भी जो रूप था वह भी बालरूप था. यद्यपि बालरूपसे कामका उदय सम्भावित नहीं, तो भी परम सुन्दर स्वरूपको देखकर अन्य स्त्रियोंका अपने धैर्य आदि स्थानसे च्युत हो जाना स्वाभाविक है, क्योंकि रूप, मोहित करनेमें अतिशय बलवान् है. भगवान्के सन्तोषमें तीन कारण हुवे, तप, श्रद्धा और नित्य सेवा. तप आदिके होते हुवे भी बहिर्मुखोंके ऊपर भगवान् प्रसन्न नहीं होते, इस कारण

इनकी अन्तर्मुखताका निरूपण करनेको 'हृदि भावितः' इस विशेषणका उपन्यास किया है. मानस पूजा आदिके द्वारा हृदयमें मेरी भावना की गई, अन्तर्देशमें मेरे स्वरूपका चिन्तन सदैव चलता रहा, अतः सन्तुष्ट होना आवश्यक था।।३७।।

प्रादुरासं वरदराड् युवयोः कामदित्सया।।
ब्रियतां वर इत्युक्ते मादृशो वां वृतः सुतः।।३८।।

श्लोकार्थ : तुम दोनोंको अभीष्ट वर देनेकी इच्छासे वरदायकोंका राजा स्वयं मैं प्रकट हुआ, 'वर मांगो' इस प्रकार मेरे कहने पर तुम दोनोंने मुझ जैसा पुत्र मांग लिया।।३८।।

व्याख्यार्थ : (उस समय मैं प्रकट हुआ) इस प्रकार कहते हुवे भगवान् (अपने प्रकट होनेका फल निकट ही रहना है, शीघ्र ही मिलता है) ऐसा बतलानेको 'प्रादुरासम्' आदि श्लोकसे वरयाचनाको भी कहते हैं. अन्य ब्रह्मा आदि देवता, वर देते हैं, अतः 'वरद' कहलाते हैं. साधना करनेवालेकी प्रार्थनाके परिमाणसे ही वह वरका दान देते हैं. उन वरदायक ब्रह्मादिकोंका मैं सम्राट् हूं, तो प्रार्थनासे कहीं अधिक बहुत कुछ देता है, और अलौकिक लोकोत्तर वस्तुको देता है, इसी कारण मुझ जैसे पुत्रका वर मांगने पर स्वयं मैं ही तीनवार पुत्र हुआ. इस कारण मैं वरदराज हूं. प्रकट होनेमें कारणका निर्देश करते हैं कि (तुम दोनोंके अभीष्ट प्रदान करनेकी इच्छासे मैं प्रकट हुआ) चार युगोंके सुदीर्घ काल तक तपश्चर्यासे तप्त हुवे तापसोंका 'युवयोः' पदसे उल्लेख किया है. उन तपोनिष्ठ व्यक्तियोंके द्वारा जो भी मांगा जाता थोड़ा ही था, उनका तप अधिक था मेरे स्वरूपमें पूर्ण निष्ठावाले उन दोनोंका तप स्वाभाविक तपसे कहीं अधिक फल सम्पन्न होनेके योग्य है, इसलिए उसके फल देनेकी योग्यताके सूचनार्थ 'वरदराट्' शब्द कहा है. हमने, (वर मांगिये) ऐसा साधारणतया ही कहा था, उन दोनोंने भी मुझे साधारण समझकर बालसौन्दर्यसे सम्मुग्ध होनेके कारण (तुम जैसा पुत्र हो) ऐसा वर मांगा, इस बातको 'यादृशः' आदि शब्दोंसे कहते हैं. 'वां' शब्द 'युवाम्'के अर्थमें प्रयुक्त हुवा है. 'वृतः', 'सुतः' इन दो शब्दोंके अर्थसे 'भूयात्' इस क्रियापदके इस प्रार्थना बोधक क्रियापदका अर्थ स्वतः प्राप्त है. सुत वरण किया, अर्थात् सुत होये, ऐसा वर मांगा ।।३८।।

अजुष्टग्राम्यविषयावनपत्यौ च दम्पती।।
न वव्राथेऽपवर्गं मे मोहितौ मम मायया।।३९।।

श्लोकार्थ : तुम दोनों लौकिक विषयसुखका सेवन नहीं कर पाये थे, और सन्तान भी नहीं हुई थी, मेरी मायासे मोहित होनेके कारण दोनों स्त्री-पुरुष मुझसे मोक्ष नहीं मांग सके।। ३९।।

व्याख्यार्थ : मोक्षके वर न मांगनेमें हेतुका वर्णन करते हैं, कि पृश्नि और सुतपाओंने ग्राम्य विषयका सेवन नहीं किया था, ग्राम्यविषय स्त्री सम्भोगको कहते हैं, यह लौकिक सुख है. उस सुखमें उन दोनोंकी प्रीति तो थी ही, सेवन नहीं किया था. इस कारण मोक्ष नहीं मांगा. कोई सन्तान भी नहीं थी. यद्यपि स्त्री सम्भोगके सेवन न करनेसे सन्तानका न होना अनुक्त सिद्ध है, परन्तु वैदिक यज्ञादिके द्वारा भी लौकिक पुत्रादि फलकी सिद्धि होती है, अतः वैदिककर्मके सम्भव होने पर भी लौकिक सन्तानरूप फलकी सिद्धि हो सकती थी, उसके निषेध करनेको 'अनपत्यौ' विशेषण कहा है, उन दोनोंके किसी प्रकार कोई सन्तान नहीं हुई थी. 'च' शब्द अन्य लौकिकसुख सेवनके भी अभावका सूचक है. उन्होंने अन्य लौकिक स्रक्, चन्दन आदि सुखोंका भी अनुभव नहीं किया था. 'दम्पती' शब्दसे दोनों, स्त्री-पुरुषोंका नियमतः साथ रहना कहा है, इस कारणसे भी मोक्षको नहीं मांग सके. लौकिक सुखभोगमें रागकी निवृत्ति न होनेसे, पुत्रके उत्पन्न होनेके कारण पितृ आदिके ऋणोंके भी निवृत्त न होनेसे एवं मोक्षके विरुद्ध गृहस्थ आश्रममें निष्ठा होनेसे मोक्ष नहीं मांग सके. सर्व प्रकारसे शास्त्रके अर्थका परिमार्जित ज्ञान होते हुवे भी पूर्वोक्त लौकिक सुख-रागादि तीन कारण मोक्षके वररूपसे स्वीकार करनेमें कैसे सफल हो सके? शास्त्रार्थ ज्ञानने उन लौकिक रागादिको निवृत्त क्यों नहीं कर दिया? उसमें कारण बतलाते हैं कि "**मोहितौ मम मायया**", मेरी मायासे वह दोनों मोहित थे. यह विशेष माया भगवान्की लीलाके साधनेमें अनुकूल है, साधारण माया तो शास्त्रसे निवृत्त हो जाती है. अपवर्गको उन्होंने नहीं मांगा. जन्म और मरणकी समाप्तिको अपवर्ग कहते हैं. यदि साक्षात् मोक्षको न मांगकर भक्तिको ही मांग लेते तो भी मोक्ष हो जाता, उन्होंने भक्ति भी नहीं मांगी, अतः निश्चयार्थक 'वै' शब्दका प्रयोग उपयुक्त है, कि उन्होंने किसी भी प्रकार मोक्ष मांगा ही नहीं, न तो सीधा मोक्ष ही मांगा और न भक्तिके द्वारा ही उसकी इच्छा की. 'वै'के स्थान पर 'ये' ऐसा पाठ माने तो मुझसे मोक्ष नहीं मांगा अथवा मेरे सम्बन्धका अवगाहन करनेवाला मोक्ष सुख नहीं मांगा, यह अर्थ निकलता है. 'प्रमेयबल(भगवदिच्छा)'से मोक्ष नहीं मांगा, यह अर्थ सिद्ध हुआ' ।।३९।।

१.मोक्षके स्वीकार न करनेमें माया मोहके कारण बतलाना भक्तिमार्गके अनुकूल नहीं क्योंकि ''दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः'' के अनुसार भक्तिमार्गमें तो भगवत्सेवा ही परम पुरुषार्थ है, मोक्षका अधिक महत्त्व नहीं, इस प्रकारकी शंकाके समाधानमें 'मे अपवर्गं न वव्राथे' इस योजनासे होता है, कि भगवत्सम्बन्धि भक्तिमार्गीय मोक्षका तो स्वीकार करना उचित था, उसको स्वीकार नहीं किया, इसमें चिकीर्षित लीलाके रसानुभाव करानेकी भगवदिच्छा ही कारण है, उसीको 'मम मायया' इन शब्दोंसे कहा है.

गते मयि युवां लब्ध्वा वरं मत्सदृशं सुतम्।।
ग्राम्यान् भोगानभुञ्जाथां युवां प्राप्तमनोरथौ।।४०।।

श्लोकार्थ : मेरे चले जाने पर तुम दोनों मुझ जैसा पुत्र वरदानरूपमें प्राप्त कर, विषयभोगमें रत हो गए, क्योंकि तुम दोनोंको मनोरथ तो प्राप्त हो ही चुका था, निश्चिन्त थे।।४०।।

व्याख्यार्थ : वरका दान तो अर्थसिद्ध है, बिना ही कथन किये आगे पीछेके वचनोंसे बुद्धिगम्य हो जाता है, इस कारण वरदानके प्रसङ्गको शब्दोंसे न कहकर, भगवान्के पधारने पर उन दोनोंने प्रथम तो लौकिकविषयोंसे रागकी निवृत्ति करनेकेलिये वैषयिक सुखभोगोंको भोगा. इस बातको 'गते मयि' इस श्लोकसे कहते हैं, कि मेरे चले जाने पर तुम दोनों मेरे समान पुत्रको वर ग्रहणरूपसे प्राप्तकर, अवश्य ही ऐसा पुत्र होगा, ऐसा निश्चयकर, ग्राम्य सुखके भोग करनेसे उस वरप्राप्तिमें विघ्न हो सकता है, ऐसी शंका न कर, ग्राम्यभोगोंको भोगने लगे, क्योंकि तुम दोनों अपने मनोरथको तो प्राप्त कर ही चुके थे. यहां 'युवां प्राप्तमनोरथौ' यह वाक्य पृथक् है, जो कि दोनों स्त्री-पुरुषोंकी निश्चिन्तता प्रतिपादन करनेको उसमें कारणताके उल्लेखकेलिये कह दिया है. 'युवाम्' शब्दकी पुनरुक्ति थी, देवकी-वसुदेवके जन्मान्तरीय संस्कारोंके जागरित हो जानेमें उनकी सम्मतिकी सूचनाकेलिये आवश्यक है, अतः दोषावह नहीं।।४०।।

अदृष्ट्वान्यतमं लोके शीलौदार्यगुणैः समम्।।
अहं सुतो वामभवं पृश्निगर्भ इति स्मृतः।।४१।।

श्लोकार्थ : शील, उदारता आदि सद्गुणोंसे अपने समान किसी अन्यको लोकमें न देखकर, मैं ही तुम दोनोंका पुत्र हुआ था, जो कि 'पृश्निगर्भ' इस नामसे प्रसिद्ध था।।४१।।

व्याख्यार्थ : यद्यपि तुम दोनोंने (मेरे समान कोई अन्य होगा) इस प्रकारके भ्रमसे मेरे सदृश पुत्र होनेका वर मांगा था, तो भी जो वस्तु उपस्थित ही नहीं, उसका दान तो सर्वथा अशक्य है, और मेरे सदृश किसी रूपको बनाया जा सकता नहीं, सर्वथा अपने दो स्वरूपोंके होने पर श्रुतिका विरोध और मर्यादाका भंग सम्भावित था, ''**एकमेवाद्वितीयम्**'', यह श्रौतसिद्धान्त एवम् ईश्वरके एक होनेकी मर्यादा, इन दोनों पर आपत्ति थी. वरके नहीं देनेमें भी मर्यादा भग्न हो जाती, क्योंकि मेरे शरणागत जनको किसी प्रकारकी चिन्ता करना योग्य नहीं, इस मर्यादाकी रक्षा न हो पाती, ऐसी परिस्थितिमें सादृश्य यद्यपि भेदकी अपेक्षा करता है, तो भी पृश्नि-सुतपाओंका मेरे इस परम मनोहर आकारमें ही तात्पर्य है, कि ऐसे सुन्दर आकारवाला पुत्र हो, उनका तात्पर्य यह नहीं है, कि वह पुत्र स्वयं यह न होकर इससे कोई अन्य हो, ऐसे विचारसे मेरे स्वयं पुत्र होनेमें उनके तात्पर्यका कोई विरोध न होनेसे, मैं ही पुत्र हुआ. उनका मुझ जैसे पुत्रकी प्रार्थनाका वचन जीवकी उक्ति है, केवल अपने तात्पर्य बतलानेको शब्दोंका प्रयोगमात्र है. इस दृष्टिसे यथाश्रुत वचनका बाधकर, अक्षरशः उस वचनके पालनको आवश्यकता न समझकर, स्वयं मैं ही उनका पुत्र हुआ, इस बातको 'अदृष्ट्वा' इस श्लोकसे कहते हैं, कि लोकमें स्वसदृश किसी भिन्नको नहीं देख, मैं ही तुम्हारा पुत्र हुवा. यद्यपि मुझसे भिन्न कोई हो भी सकते हैं, मायासे जिनको उत्पन्न किया जावे तो भी उनकी सत्ता तो मेरी सत्तासे ही है, मेरी सत्ताके आधीन होनेसे उनकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं, अतः सर्वथा सर्वांशमें भिन्न नहीं. असत्की सत्ता मानी नहीं जाती, इस कारण लोकमें अपने समान अन्यको न देखकर, मैं ही स्वयं तुम्हारा सुत हुआ. यद्यपि रूपकी समानता कृत्रिम[१] वस्तुमें की जा सकती है, परन्तु शील, उदारता, आदि गुण तो उसमें उत्पन्न नहीं किये जा सकते, वह तो आत्मा (भगवान्)के अन्तःकरणमें रहनेवाले हैं, उन अलौकिक उदारतादि गुणोंका उत्पादन नहीं हो सकता, अतः निजगुणोंसे सर्वथा विशिष्ट[२] अथवा अंशतः मिलित किसी अन्यका दर्शन ही नहीं हुआ, इस कारण मैं ही तुम दोनोंका पुत्र हुआ. दोनोंमें क्रमसे प्रकट हुआ. प्रथम सुतपाके मनमें, तत्पश्चात् पृश्निके हृदयमें उदित हुआ. श्रुतिने परमात्माके पुत्रादि भावसे प्रकट होनेका प्रतिपादन किया है, कि वह एक प्रकारसे होता है, दश प्रकारसे होता है. इन प्रकारोंमें पुत्ररूपसे होना भी एक प्रकार है, अतः भगवान्के पुत्ररूपसे प्रकट होनेमें कोई विरोध नहीं. जन्मकी मुख्यताको

लेकर ही 'पृश्निगर्भ' इस जन्म सूचक नामसे ही लोकमें प्रसिद्धि बतलाई है. 'स्मृतः' इस पदसे यह प्रसङ्गकी प्रामाणिकता सूचित की है।।४१।।

१.लेखकारने (कृत्रिम) शब्दका (अंश) अर्थ माना है. अर्थात् भगवान्के अंशवतारोंमें चतुर्भज आदि आकार एवं श्यामलत्वादि रूपका साम्य संभावित है.

२.विशिष्ट और मिलितके विवेचनको श्रीलेखकारने इस प्रकार किया है, कि भगवान्के अलौकिक शील उदारतादि गुणोंके समान लौकिक शील, उदारता आदि गुणोंसे युक्त होना 'विशिष्ट' होना है. एवं भगवन्निष्ठ अलौकिक गुणोंसे भी युक्त होना मिलित होना है. इनके व्याख्यानका आशय यह है, कि इस श्लोकमें 'अन्यतमम्', 'अदृष्ट्वा' यह पृथक् वाक्य है, और ''शीलौदार्यगुणैः समम् अदृष्ट्वा'' यह भिन्न वाक्य है. क्योंकि जब अन्यतम 'भिन्न' कोई है ही नहीं, तो उसमें शील, उदारतादिसे समानताका आपदान करना अशक्य है.

तयोर्वां पुनरेवाहमदित्यामास कश्यपात्।।
उपेन्द्र इति विख्यातो वामनत्वाच्च वामनः।।४२।।

श्लोकार्थ : फिर भी उन ही तुम दोनोंके मैं कश्यपसे अदितिमें उत्पन्न हुआ(दूसरे जन्ममें तुम अदिति थीं और वसुदेव कश्पय थे). उस समय 'उपेन्द्र' इस नामसे मैं विख्यात था और शरीर ठिगना होनेके कारण मुझे 'वामन' भी कहते थे।।४२।।

व्याख्यार्थ : मोक्षके न मांगनेके कारण उनका पुनः जन्मान्तर हुआ. उस जन्ममें भी वह दोनों पूर्व समान ही थे, इसलिए मैं ही उनका पुत्र हुआ. इस बातको 'तयोर्वाम्' इस श्लोकसे कहते हैं. उन्हीं तुम दोनोंके फिर भी मैं ही हुआ, अपने सदृशको न देखकर फिर भी मैं ही हुआ. उन पृश्नि, सुतपाओंको जन्मान्तरमें 'अदिति', 'कश्यप' इस नामसे कहा गया, इस बातको कहते हैं कि अदितिमें कश्यपसे मैं उत्पन्न हुआ. यद्यपि इस जन्ममें 'पृश्निगर्भ'की भांति 'अदितिगर्भ' ऐसा नाम आवश्यक है, तो भी लोकमें 'उपेन्द्र' नामसे विख्यात हुआ. 'वामन' इस दूसरे नामकी प्रसिद्धिका कारण मेरा वामन(ठिगना) होना था. दूसरे जन्ममें दो ही नाम थे 'उपेन्द्र' और 'वामन'।।४२।।

तृतीयेऽस्मिन् भवेऽहं वै तेनैव वपुषा युवाम्।।
जातो भूयस्तयोरेव सत्यं मे व्याहृतं सति।।४३।।

श्लोकार्थ : हे सति! उसके अनन्तर तुम्हारे इस तीसरे जन्ममें उस

पूर्वदर्शित शरीरसे ही मैं तुम दोनोंके प्रकट हुआ हूं, मेरा कहा वचन सत्य ही होता है ।।४३।।

व्याख्यार्थ : फिर तृतीय जन्म उनका हुआ, उस जन्ममें भी मैं ही पुत्र हुआ, इस बातको इस श्लोकसे कहते हैं. यह दीखनेवाला जन्म, तृतीयजन्म है. इसमें दो नाम मुख्य हैं 'कृष्ण' और 'वासुदेव'. तृतीयजन्ममें तीन नाम तो होने ही चाहिये, अतः तृतीय नामके स्थान पर मुख्य (देवकीनन्दन) यह नाम है, उसे आगे बतलायेंगे. और भी बहुतेरे नाम तृतीय नामके स्थान पर हैं, प्रथम दो जन्मोंमें रूपका भेद था, इस तृतीयजन्ममें तो उसी प्रसन्न शरीरसे उन्हीं माता-पिताओंके पुनः प्रकट हुवे, इस प्रकार तीनबार जन्म ग्रहण करनेका कारण बतलाते हैं कि मेरा कथन सत्य होता है. यदि वरदानके अनन्तर होनेवाले किसी भी जन्ममें भगवान् पुत्र नहीं होते, तो उनका कथन मिथ्या हो जाता, क्योंकि पूर्वजन्मका शरीर तो छोड़ दिया था, अतः पूर्वजन्मका पुत्र, पुत्र नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उस प्रकारका व्यवहार भी नहीं है, और उसमें प्रमाण भी नहीं है. पूर्वजन्मके पुत्रसे पुत्रवान् कोई नहीं होता, अतः जन्मान्तर होने पर पुत्ररूपसे प्रकट होना आवश्यक है. इसके पश्चात् तो अब तुम लोगोंका जन्म नहीं होगा, तो मेरा पुत्ररूपसे प्राकट्य भी नहीं होगा. 'सति!' यह सम्बोधन सम्मानका सूचक है. पतिव्रता वह ही होती हैं, जो कल्पके प्रारम्भमें जिस पतिको प्राप्त करे, कल्पान्त तक यदि प्रत्येक जन्ममें उसी पतिको पतिरूपसे प्राप्त करती रहे, उस पतिव्रताके धर्मोंको शास्त्रमें बतलाया है, और उसकी पहचान भी कहीं है, कि जो पतिसे पूर्व मृत्युको प्राप्त न करे, उसके मरण होनेपर ही मृत्युको प्राप्त हो, वैसी पतिव्रता तुम हो ऐसा श्रीदेवकीको बतलाते हैं, जिससे उनके मोक्षकी सूचना देते हैं. व्यभिचारिणी स्त्रीकी मुक्ति नहीं होती, अतः सर्व दोषोंके परिहार करनेको (सति!) यह सम्बोधन अन्तमें कहा।।४३।।

एतद् वां दर्शितं रूपं प्राग्जन्मस्मरणाय मे।।

नान्यथा[1] मद्भवं ज्ञानं मर्त्यलिङ्गेन जन्यते।।४४।।

श्लोकार्थ : पूर्वजन्मोंका स्मरण करानेको, मैंने यह रूप तुम दोनोंको दिखाया है, यदि ऐसा नहीं करता तो मनुष्यशरीरमें मेरा ज्ञान न हो पाता।।४४।।

१.उक्त श्लोक (४४)में (अन्यथाके स्थान पर 'नान्यथा' ऐसा पाठ प्रायः सर्वत्र उपलब्ध होता है. आचार्योंने 'मर्त्यलिङ्गे' यह सप्तम्यन्त पाठ माना है, और (न) यह पृथक् पद

माना है. 'अन्यथामर्त्यलिङ्गे न जायते' इस प्रकार योजना की है, 'नान्यथा' ऐसा पाठ मानने पर 'मर्त्यलिङ्गेन' यह तृतीयान्त पाठ मानना पड़ता है. यद्यपि विवक्षाके अनुसार (करण) और अधिकरण दोनों ही कारकोंका 'जायते' क्रियामें अन्वित होना सम्भावित है, परन्तु मुख्यतया विषयकी आधाररूपता ही स्वीकार की है, कारणता भी सम्भावित है, परन्तु करणता तो विवक्षाके आधीन ही है.

व्याख्यार्थ : इस प्रकार पुत्र होनेमें कारणका निर्देशकर, चतुर्भुज आदि रूपसे प्रकट होनेमें कारणको बतलाते हैं, कि यह पूर्वमें जिसका अनुभव आप लोगोंको हो चुका है, वह चतुर्भुज स्वरूप तुम दोनोंकेलिये दिखलाया है, क्योंकि ऐसा स्वाभाविक नियम है, कि किसी एक सम्बन्धी पदार्थके देखनेसे उसके सम्बन्धी अन्य पदार्थके विषयमें संस्कार जाग उठता है, और इस दिखनेवाले पदार्थके विषयमें लुप्त हुआ भी संस्कार पुनः जागरित हो जाता है. यद्यपि मेरे समीप होने मात्रसे सर्वज्ञता होने पर भी पूर्वजन्मका प्रत्यक्ष सम्भव था, परन्तु उस सर्वज्ञतामें तो वैराग्यकी सम्भावना थी, वैराग्य होने पर अविहित पुष्टिभक्ति रसका अनुभव नहीं होता, और इस रूपके दर्शनसे पूर्व संस्कारके जागरित करने पर तो पूर्वकालमें जैसा अनुभव हुआ है, वैसा स्मरण आप लोगोंको हो गया, इसमें भक्तिरस प्रतिबन्धक वैराग्यकी कोई सम्भावना ही नहीं, वाक्यसे (यह भगवान् है) ऐसा ज्ञान तो प्रत्यक्षकी अपेक्षा दुर्बल है, अतः कोई भी किसी प्रकारकी आशंका नहीं रह जाती. (बात ऐसी है, कि भगवान्को इस स्वरूपके दर्शनसे श्रीदेवकी वसुदेवको मोहित करना भी अभीष्ट है, जिससे लीलारसका अनुभव इन्हें होता रहे, सान्निध्यसे सर्वज्ञता होनेके कारण भगवत्स्वरूपके मार्मिक परिचय, पूर्ण स्तोत्र, इन दोनोंने किये, फिर भी भय इन लोगोंका निवृत्त नहीं हुआ. भयकी निवृत्तिकेलिये प्रार्थना अन्तमें दोनोंने की, ऐसी दशामें स्वीकार करना पड़ता है, कि भगवान् अपनी इच्छानुसार मोह भी उत्पन्न करते हैं और ज्ञानका भी प्रकाश करते रहते हैं, जिससे उनकी विचारित लीला यथोचित रूपसे सम्पन्न होती रहती है). उक्त रूपका दर्शन प्रथमके दोनों जन्मोंके अथवा प्रथमके एक ही जन्मके स्मरण दिलानेका भगवान्ने इन्हें कराया है, जिससे इन्हें यह विदित हो जावै कि इतने परिश्रमसे यह भगवान् पुत्ररूपसे प्रकट हुवे हैं, केवल वाक्यमात्र कहने पर तो भगवान्का माहात्म्य कहा हुआ भी अनुभव बिना शास्त्रवेद्य ही रहता, (अतः शास्त्र और अनुभव दोनोंके परस्परमें संवाद करानेको उनका मेल मिलानेको स्वरूप दर्शन कराया है), इसी बातको 'अन्यथा' इत्यादि उत्तरार्धसे कहते हैं कि

अन्यथारूप दर्शनके अभावमें केवल कहने पर कि मैं भगवान् हूं, मर्त्यलिङ्गरूपमें सर्वसाधारण मनुष्यशरीरमें (यह साक्षाद् भगवान् है, ऐसा करा देने पर तो कहा हुआ ज्ञान अनुभवारुढ हो जाता है, हृदयसे मिलान मिल जाती है)।।४४।।

युवां मां पुत्रभावेन ब्रह्मभावेन चासकृत्।।
चिन्तयन्तौ कृतस्नेहौ यास्येथे मद्गतिं पराम्।।४५।।

श्लोकार्थ : तुम दोनों, पुत्रभावसे अथवा ब्रह्मभावसे बार-बार मेरा चिन्तन करते स्नेह करनेसे मेरी परागति(व्यापिवैकुण्ठ)को प्राप्त करोगे।।४५।।

व्याख्यार्थ : इस समय तो मोक्षके न मांगने पर भी मोक्ष होगा, ऐसा कहते हैं कि तुम दोनों स्नेहके द्वारा परमगतिको प्राप्त हो जावोगे, क्योंकि इस समय प्रमेयबल प्रकट किया है, वस्तुशक्तिको ही प्रधानता दी गई है, शास्त्रकी इस समय प्रधानता नहीं, गौणता है, अप्रधानता है. इस कारण, शास्त्रमें जिसका कर्त्तव्यरूपसे वर्णन नहीं, उस अविहित भक्ति स्नेहके द्वारा पुत्रभावसे अथवा शास्त्रमें जिसका कर्त्तव्यरूपसे वर्णन है, उस विहित भक्ति स्नेहके द्वारा ब्रह्मभावसे किसी भी प्रकारसे मुझमें स्नेह करने पर व्यापिवैकुण्ठ नामवाली मेरी परागतिको प्राप्त हो जावोगे. बात यह है, कि स्नेहका विषय तो समान ही रहेगा. पुत्रभावसे स्नेहका विषय भी मैं ही रहूंगा और ब्रह्मभावसे भी स्नेहका विषय मैं ही रहूंगा. स्नेहके प्रकारोंमें अवश्य भेद है, (पुत्रभाव प्रयुक्त स्नेह), या (ब्रह्मभाव प्रयुक्त स्नेह) परन्तु परम गतिरूप प्रयोजनकी सिद्धिकेलिए अमुक भेद ही उपयुक्त है, ऐसी बात नहीं है, यथा कथञ्चित् मुझमें स्नेह करना ही आवश्यक है, उसके द्वारा परम गति प्राप्त हो ही जावेगी, बिना मांगे ही मुक्ति हो ही जावेगी, नित्य लीला प्रवेश ही यहां पर मुक्ति पदार्थ है, प्रकार भेद होते हुवे भी स्नेहमात्रसे समान फल या एक ही फलकी सिद्धि इसलिये असम्भावित नहीं कि उक्त फलके प्रति जिस स्नेहको कारण बतलाया है, वह माहात्म्यज्ञान पूर्वक (सुदृढ) एवं सबसे अधिक होना चाहिये, उसमें ब्रह्मरूपसे या पुत्ररूपसे होनेके प्रकारविशेषका निर्देश नहीं है, माहात्म्यज्ञान आप लोगोंको हो चुका है, अब तो स्नेहमात्रसे ही कार्य सिद्धि है, वह स्नेह, पुत्रभावसे हो या ब्रह्मभावसे हो, दोनों प्रकारोंमें माहात्म्यज्ञान पूर्वक सुदृढ सर्वतोऽधिक स्नेह तो तुल्य ही है, स्नेहमें माहात्म्य ज्ञानकी आवश्यकता है, तभी तो श्रीगोपीजनोंको भी माहात्म्यज्ञानका उदय आगे कराया जावेगा. यदि स्नेहमें माहात्म्य ज्ञान अपेक्षित नहीं रहता तो इस दशम स्कन्धमें ज्ञानकी चर्चा

अनावश्यक समझी जाती, क्योंकि इसमें तो निरोध प्रतिपाद्य है, और भक्तोंके प्रपञ्चकी निवृत्ति या अभाव ही निरोध कहलाता है, उक्त निरोधकी सिद्धि भगवान्‌की मधुर लीलाओंसे सम्पन्न हो सकती है, फिर उद्धवजीके द्वारा ज्ञानका प्रसङ्ग दशम स्कन्ध प्रतिपाद्य निरोधमें समावेश पानेके योग्य न होकर- अपनी अधिकताको या अनुपयुक्तताको झलकायेगा, या स्पष्ट बतलायेगा, भक्तिमें (बोध) अंश भी अपेक्षित है, इसलिए दशम निरोध स्कन्धसे पूर्व, नवम स्कन्धमें उत्पत्तिके निरूपणसे भक्तोंके स्वरूपका ही निरूपण किया है, उन भक्तोंको प्रेम, ज्ञान, निरोध, जिस प्रक्रियासे होते हैं, वह इस दशम स्कन्धमें ही कहेंगे, जो बात बिना कहे ही प्रतीत होती है, उसकेलिये शब्द प्रयोगकी आवश्यकता नहीं, अतः हमको गोकुल ले चलिये, वहां पधराकर वहांसे कन्याको ले आईये, इस बातको मुखसे नहीं कहा (प्रेरणामात्र की). ऐसा कहकर ही चुप हो गये, ऐसा समझना चाहिये. भगवान्‌ने इन वचनोंके द्वारा अपने प्रकट होनेके पूर्व और उसके पश्चात् भी देवकी-वसुदेवको दुःखकी प्राप्तिमें हेतुका निरूपण किया है, ऐसा जानना आवश्यक है. देखिये 'मत्तः कामानभीप्सन्तौ' इस वाक्यसे स्पष्ट होता है, कि पृश्नि-सुतपाओंने काम प्राप्तिकेलिए भगवान्‌का आराधन किया था, भगवत्प्राप्तिकेलिए नहीं. भगवान्‌का आराधन निष्फल नहीं होता, अतः भगवान् श्रीहरिका आविर्भाव हुआ. आविर्भाव होने पर उनकी सुन्दरताको देखकर, उन जैसा पुत्र वरदानरूपसे मांगा, स्नेहसे आर्त होकर प्रभुका प्राकट्य नहीं मांगा (स्नेह जनित आर्तिके अभावमें प्रभु प्राकट्यकी इच्छा कैसे हो सकती थी) इसलिये 'वरं मत्सदृशं सुतम्' इत्यादि वाक्यसे अपनी अभीष्टमें प्राप्ति होनेके अनन्तर भी ग्राम्य विषयोंका सेवन ही उन्होंने किया, ऐसा कहा है. ऐसी स्थितिमें अपनी समानताको अन्यत्र नहीं देखकर, अपनेको ही पुत्ररूपसे प्रकट करनेको भगवान्‌का आग्रह हुआ, जिसके कारण मुक्तात्माओंको भी दुर्लभ(प्राप्त न होनेवाले या कठिनतासे प्राप्त होनेवाले) अपने स्वरूपको थोड़ेसे कार्यकेलिए प्रकट करना पड़ा. प्रभुने 'अदृष्ट्वाऽन्यतमम्' इस वाक्यसे यह भी आशय सूचित किया है, अतः इस समय प्रभुके प्राकट्यके निमित्तसे देवकी-वसुदेवको कंसके द्वारा किये गये बन्धन प्रयुक्त कष्टका अनुभव उपस्थित हुआ. पृश्नि-सुतपाओंका पुत्ररूपमें आग्रह था, अतः इनके कीर्तिमान्, आदि पुत्रोंका नाश भी हुआ, वह दुःख भी इन्हें भोगना पड़ा, एवं समानतामें आग्रह था कि आप जैसा पुत्र हो और वह समानता

(ऐश्वर्यादि) षड्गुणोंसे ही सम्भावित है, अतः षड्गुणोंके समान सङ्ख्यावाले षट् पुत्रोंका ही नाश हुआ. भगवान् अद्भुतकर्मा हैं, अतः उन्होंने ही मर्यादाकी रक्षाकेलिये इनको यह दण्ड जैसा विधान किया है. अद्भुतकर्मा भगवान्के एक कार्यमें अनेक कार्य होते हैं, अतः इनका वह क्लेश अधिक स्नेहका कारण बन गया, क्योंकि क्लेशसे प्राप्त हुई वस्तुमें अधिक स्नेह आवश्यक है।।४५।।

आविर्भावे पुत्रतया साधनं तु तपोऽभवत्।
अग्रे लीलारसप्राप्तौ साधनं मृग्यमेव हि।।कारि.१।।

कारिकार्थ : उक्त श्लोक पर श्रीआचार्यचरणोंने इन कारिकाओंका उपन्यास कर, श्रीमद्गोकुलमें भगवान्के एकादश वर्षों तक स्थित रहनेका प्रयोजन बतलाया है[१] कि भगवान्के पुत्ररूपसे प्रकट होनेमें श्रीदेवकी-वसुदेवका जन्मान्तरीय साधन तो तप हुआ, परन्तु आगे लीलारसकी प्राप्तिमें भक्तिमार्गीय साधन तो विचारणीय ही है।।१।।

भक्तिमार्गीयमित्यात्मवियोगमकरोद्धरिः।
तदा तु स्वत एवासीद् भगवद्भावसन्ततिः।।कारि.२।।

इस कारण श्रीहरिने अपने वियोगरूप साधनको उपस्थित किया, तब तो श्रीदेवकी-वसुदेवकी स्वतः ही भगवद्भाव वृद्धि होने लगी।।२।।

एतावन्ति दिनान्यासन्नेवं कुर्वन् भविष्यति।
एतावन्मासिकश्चासीदेवमेवं करिष्यति।।कारि.३।।

कि इतने दिन हो गए ऐसा करते होंगे, इतने मासके हो गए ऐसा-ऐसा करते होंगे।।३।।

एतावद्वार्षिकश्चासीत् तेन चैवंविधाः शुभाः।
लीलाः कुर्वन् साग्रजः श्रीप्रभुस्तत्र भविष्यति।।कारि.४।।

इतने वर्षके हो गए उस कारणसे इस प्रकारकी शुभ लीलाओंको करते हुए ज्येष्ठ भ्राता श्रीरोहिणीनन्दनके साथ श्रीप्रभु वहां पर विराजते होंगे।।४।।

कुशल्यास्ते साग्रजो नु कदा द्रक्ष्यामि तादृशम्।
एवंविधानन्तभावैरत्यार्त्या दर्शने तयोः।।कारि.५।।

श्रीबलभद्रके साथ आप प्रसन्न तो है, कब मैं उनको सकुशल देखूंगा, इस प्रकारके अनन्त भावोंसे अत्यन्त विरहजन्य वेदनाके कारण उन देवकी वसुदेवको भगवान्का दर्शन (विप्रयोग दशामें) होता रहता था।।५।।

मिथस्तथालापतश्च सर्वथेन्द्रियवृत्तयः।
सर्वा हरिपरा आसन् स एव सततं हृदि।।कारि.६।।

ऐसी दशामें वह दोनों परस्परमें पूर्वोक्त प्रकारसे बातचीत करते रहते थे इस कारण उनकी इन्द्रियोंकी वृत्तियां सर्वथा भगवत्परायण हो गई, वह भगवान् ही निरन्तर उनके हृदयमें विराजमान् रहते थे।।६।।

वियोगतापतप्तेऽभूत् तेनासां जीवनं तयोः।
तेनैकादश वर्षाणि तथा कुर्वन् हरिर्बभौ।।कारि.७।।

भगवद्वियोगके तापसे सन्तप्त हृदयमें भगवान्का विराजना ही उन दोनोंके जीवनका कारण था, इन्द्रियोंकी एकादश संख्या होनेके कारण एकादश वर्ष पर्यन्त भगवान् श्रीहरि उनकी इन्द्रिय वृत्तियोंको अपने स्वरूप परायण करते हुए व्रजमें विराजे।।७।।

'युवां माम्' इतिवाक्येन चेममेव वरं ददौ।
अन्यथैतादृशो भावो न भवत्येव कुत्रचित्।।कारि.८।।

'युवां माम्' इस वाक्यसे भगवान्ने श्रीदेवकी-वसुदेवको यह ही वर दिया था कि आप दोनों पुत्रभावसे या ब्रह्मभावसे बार-बार मेरा चिन्तन करते स्नेह द्वारा परम गतिको प्राप्त करोगे. यदि भगवान् ऐसा वर नहीं देते तो इस प्रकारके भावकी कहीं भी संभावना नहीं थी।।८।।

अतो माहात्म्यधीयुक्तस्नेहोऽभवदिति प्रभुम्।
चिरात् प्राप्याऽपि पितरौ सस्वजाते न शंकितौ।।कारि.९।।

अतः देवकी-वसुदेवको माहात्म्यज्ञान सहित स्नेह हुआ, तभी तो कंस वधके अनन्तर एकादशवर्ष व्यतीत होने पर प्रभुको प्राप्त करके भी माहात्म्य ज्ञानसे शंकित हुए माता-पिताओंने पुत्र वात्सल्य प्रयुक्त आलिंगन नहीं किया ऐसा आगे स्पष्ट उल्लेख है।।९।।

१.असकृत् चिन्तनका आकार प्रकार इन कारिकाओंमें निर्दिष्ट किया है, अतः श्लोकके व्याख्यानमें 'असकृत्', 'चिन्तयन्तौ' इन पदोंका उल्लेख नहीं है.

श्रीशुक उवाच

इत्युक्त्वाऽऽसीद्धरिस्तूष्णीं भगवानात्ममायया।
पित्रोः सम्पश्यतोः सद्यो बभूव प्राकृतः शिशुः।।४६।।

श्लोकार्थ : श्रीशुकदेवजीने कहा कि इस प्रकार कहकर, भगवान् श्रीहरि

चुप हो गए और आत्ममाया[१]से माता पिताओंके देखते-देखते तत्काल ही साधारण शिशुरूप हो गए।।४६।।

१.प्रभुचरण गोस्वामी श्रीविठ्ठलनाथजीने 'आत्ममाया' शब्द पर जो प्रकाश डाला है, वह अत्यन्त ही आदरणीय एवं माननीय है. आपका कहना है, कि यहां आत्म शब्दके प्रयोगके बिना 'भगवान्' शब्दके सान्निध्यसे ही भगवच्छक्तिरूप मायाकी प्रतीति होते हुए भी 'आत्म' शब्दका प्रयोग इस मायाकी विलक्षणता सूचित करता है, कि यह माया आत्मस्वरूपा है, जिस प्रकार आत्मा निर्विकार है, शुद्ध है, सत्य है, यह माया भी वैसी ही है, इसका उपयोग केवल भगवान्की निर्विकार, शुद्ध, सत्य लीलाओंके अनुभव करानेमें ही है, असत्य पदार्थका अनुभव करानेवाली संसारकी बीजरूप मायासे यह सर्वथा विपरीत है, ऐसा होने पर भी इसको 'माया' इसलिए कहा जाता है, कि यह भक्तोंको अपने स्वरूपका विस्मरण करा देती है, और भगवान्मे आसक्ति करा देती है, जैसे साधारण माया जीवके स्वरूपका विस्मरण कराकर, लौकिकविषयोंमें आसक्ति कराती है, यह आत्ममाया भगवान्का ही एक अन्यतम स्वरूप है, सूर्यका प्रकाश सूर्यसे भिन्न नहीं, उसी भांति यह आत्ममाया भी आत्मरूप ही है, आत्मासे(भगवान्से) पृथक् नहीं है, इस आत्ममायासे ही श्रीदेवकी-वसुदेव माता-पिता हुए हैं, अन्यथा गर्भाधान, प्रसव आदिके न होने पर भी इन्हें माता-पिता कैसे कहा जा सकता हैं, इस आत्ममायासे ही देवकी-वसुदेवको इनका भली भांति दर्शन भी हो रहा है, अन्यथा मानुषरूपमें ईश्वरका भलीभांति ज्ञान असम्भव ही था, इस स्वरूपका दर्शन नयनोंके सामर्थ्यसे नहीं, किन्तु 'आत्ममाया'से ही हुआ है, प्राकृत शब्दका भी स्वारस्य यह है, कि इस शिशुका स्वरूप अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार लोगोंको प्रतीत होता है, जैसे रंगभूमिमें मल्लोंको, व्रजस्त्रियोंको काम आदि रूपमें प्रतीत होंगे, लौकिक प्रकृतिके जीव लौकिक समझते हैं और अलौकिक प्रकृतिवालोंको अलौकिकरूपसे प्रतीत होते हैं, 'प्रकृत्या ग्राह्यं प्राकृतम्' इस व्युत्पत्तिसे ऐसा मर्म स्पष्ट किया है. इसी प्रकारके निगूढ आशयोंसे 'रूपान्तर' स्वीकारको अध्यायार्थ माना है. इसी रूपान्तर स्वीकारके समय ही श्रीमद्गोकुलमें पुरुषोत्तमका प्राकट्य है, उसीका यहां पर दर्शन देवकी-वसुदेवको हुआ है.

व्याख्यार्थ : इस प्रकार कहकर, भगवान्ने अन्य रूपका अंगीकार किया, यह उक्त श्लोकसे कहते हैं. यद्यपि भगवान्का चुप होना नहीं भी कहा जावे तो भी वह तो सिद्ध ही है, उसके बतलानेको किसी शब्दप्रयोगकी आवश्यकता नहीं, परन्तु इस मर्मकी सूचना देनेको आपके चुप होनेका शब्दतः उल्लेख किया है, कि जिस प्रकार अलौकिक रूपको छुपाया, उसी प्रकार आपने

अपने अलौकिक दिव्यज्ञानको भी छुपा लिया, जिस प्रकार प्राकृतरूपका स्वीकार किया, उसी प्रकार ज्ञान भी प्राकृत स्वीकार किया, क्योंकि वैसा करने पर रूपान्तरका स्वीकार भली भांति सङ्गत होगा, सर्वांशमें सङ्घटित होगा, इस प्रकार अपने स्वरूपसे विरुद्धधर्मका स्वीकार क्यों किया? इस शंकाकी निवृत्ति 'हरि' शब्दसे होती है. आप हरि हैं, सर्व दुःखोंका हरण करनेवाले हैं, रूपान्तरके स्वीकार किये बिना भक्तोंका दुःख निवृत्त नहीं होता, अतः आपने वैसा किया, 'कहीं अपने मूल स्वरूपको भी आकार, और ज्ञानकी भांति अन्यथा न कर लें, इस शंकाके निवारणार्थ 'भगवान्' शब्द कहा है, कि प्राकृतरूपमें भी वह मूल स्वरूप भगवान् ही है. यदि भगवान् ही है, तो प्राकृतरूप और प्राकृतज्ञानके कार्य प्रकट नहीं हो सकते. वात्सल्य, माधुर्य आदि रसका अनुभव एवं आसुरव्यामोह, आदि क्रमशः प्राकृतरूप, एवं प्राकृतज्ञानके कार्य हैं, उनका नहीं हो सकेगा, इस शंकाके समाधान करनेको 'आत्ममायया' इस पदका प्रयोग किया है, भगवान्ने अपनी सर्वभवन सामर्थ्य(सबकुछ होनेकी शक्ति)से प्राकृतरूप एवं ज्ञानका अंगीकार किया है, इस कारण अपनी इच्छासे जब निज मूलरूपका कार्य आयेगा तब अर्जुनके प्रति गीताके उपदेशके अवसर पर एवं भीष्मपितामहके मुक्ति प्रसंग पर वैसे ही दिव्यरूप एवं ज्ञानको प्रकट करेंगे, अन्यकालमें तो माता श्रीदेवकीकी प्रार्थनासे प्राकृतरूपसे ही दर्शन देवेंगे. जब ही चुप हुवे, उसी समय तत्काल ही प्राकृत बालक हो गये. नाभिके नालच्छेदकी अवस्थासे पूर्ववर्ती अवस्थामें दर्शन देने लगे, नटोंको रूप परिवर्तन करनेमें दर्शनार्थीयोंकी परोक्षता अपेक्षित है, परन्तु भगवान् नटवर प्रभुके सम्बन्धमें यह आवश्यक नहीं, इस कारण कहते हैं, कि माता-पिताओंके देखते-देखते प्राकृत शिशुरूप हो गये. माता लौकिकज्ञानमें निपुण हैं, और पिता पारमार्थिक अलौकिक ज्ञानमें निपुण हैं, दोनों प्रकारकी निपुणता उपस्थित होते हुवे भी भगवान्के सामर्थ्यका प्रतिबन्ध नहीं कर सकीं, वह तो उनके सामने ही अद्भूत बालक प्राकृत शिशुरूपमें प्रद्युत हो गये।।४६।।

ततश्च शौरिर्भगवत्प्रचोदितः सुतं समादाय स सूतिकागृहात्।।
यदा बहिर्गन्तुमियेष तर्ह्यजा या योगमायाऽजनि नन्दजायया।।४७।।

श्लोकार्थ : और उसके पश्चात् भगवान्से प्रेरित होकर श्रीशुकदेवजी जब प्रसव मन्दिरसे पुत्रको लेकर बाहर जाने लगे, उसी समय नन्दपत्नी श्रीयशोदाने योगमायाको जन्म दिया जो 'अजा' भी कहलाती है।।४७।।

व्याख्यार्थ : इस प्रकार रूपान्तरके स्वीकार करने पर वहां स्थित रहनेमें कोई प्रयोजन नहीं था, एवं स्वयं पधारनेमें रूपान्तरके स्वीकारकी सार्थकता नहीं होती, तथा वसुदेवजीको यह कुछ ज्ञान नहीं था, कि अब इनको कहां पधराया जावे. इन सब कारणोंसे सर्वत्र त्रुटियोंके समाधान करनेको वसुदेवजीको मानसिक प्रेरणा देकर, उनके द्वारा स्वयं श्रीमद्गोकुल पधारे, यह कहते हैं. 'ततश्च' प्राकृतभाव होनेके अनन्तर. 'च' शब्दसे यह भी सूचित होता है, कि भगवान्की आज्ञाके भी अनन्तर 'शौरि', शूरनन्दन श्रीवसुदेवजीने सुतरूपमें भगवान्को अच्छी तरह लेकर उत्तम पात्रको लेकर, उस पर वस्त्रको बिछाकर और उसके ऊपर बालकको स्थापित करके, सूतिका सदनसे जब बाहर जानेकी इच्छा की, उसी समय नन्दपत्नी यशोदाने योगमायाको जन्म दिया. 'शोरि' शब्दसे वसुदेवजीको ऐसी विकट परिस्थितिमें रात्रिके समय महावनके प्रति प्रस्थान करनेमें किसी प्रकारका भय नहीं था, यह सूचित होता है. 'स' शब्द पूर्व परामर्शक होनेसे भगवान्के वाक्यमें विश्वासका सूचक है, कि यह वह वसुदेवजी है, जिनका भगवान्के प्रति वार्तालाप करके उसके वाक्यमें दृढ विश्वास हो चुका है. 'सुतम्' शब्दसे यह विदित किया जाता है, कि वसुदेवजीको भगवान्के प्रति पुत्र बुद्धि प्राकृत जैसी हो गई थी. 'सूतिका गृहात्' शब्दसे स्पष्ट होता है, कि प्रसवके धर्म उस गृहमें भी प्रकट हुवे थे, श्रीदेवकीके भी प्रसववतीत्व(बालकको जन्म देनेवाली माताके धर्म) प्रकट हुवे, साधारण[१] मोहकी निवृत्ति, साधारण ज्ञानसे हो सकती है, इसलिये गोकुल जानेमें स्वच्छन्दताका होना और कपाटोंका खुल जाना उचित है. गोकुलवासी जिस प्रकार अपने आपको भूल सकें, उसी प्रकार देहको भी भूल जावें. लड़का हुवा या लड़की, ऐसा न समझ पावें, इसलिए उसी समय योगमाया प्रकट हुईं. भगवान्के समानकालमें यदि प्रकट होती, तो देवकी वसुदेव भी सो जाते, उनको भी निद्रा आ जाती. इससे विदित होता है, कि भगवान्के प्रकट होनेसे एक मुहूर्त पीछे वह प्रकट हुईं है, और उसने नवमी तिथिके आने पर जन्म ग्रहण किया है. रोहिणी नक्षत्र तो दोनोंके जन्मके समय समान ही था, अतः उपवास करनेमें रोहिणी नक्षत्रका कृत्तिका नक्षत्रसे वेध होना दोषजनक नहीं. सप्तमी तिथिका वेध तो दोषावह है ही, पुत्रोत्सव आदि तो नवमीमें ही हुआ था. अतः शुद्ध अष्टमीके न मिलने पर केवल नवमीके दिन ही उपवास करना आवश्यक है. भगवान्के अन्त:स्थित[२] रहने पर मायाका उदय नहीं हो सकता,

अतः जब ही बाहर जानेकी इच्छा की, उसी समय मायाने जन्म लिया, ऐसा कहा है. वह माया योगकेलिये ही उपयुक्त है. भगवान्के कार्योंमें उपायोंकी सिद्धिकेलिये लोगोंको व्यामोहित करती है. प्रस्तुतमें भगवान्का गोकुल पधारना ही कार्य है, उसमें विघ्न उपस्थित न होनेके उपायको सिद्ध करनेकेलिये नागरिक लोगोंको शयन करा देना ही मोहित कर देना है. मायाको स्वतन्त्र न समझा जावे इसलिये 'नन्दजायया' पदसे सूचित किया है, कि यशोदाने उसे जन्म दिया है, भगवान्की तरह वह स्वयं ही प्रकट नहीं हुई।।४७।।

१.भगवान्ने वसुदेवजीको अपने गोकुल पहुंचाने और वहांसे कन्याके ले आनेकी प्रेरणा दी है, केवल इतने ही कार्यमें वसुदेवजी भगवान्की ज्ञानशक्तिसे व्याप्त थे, अतः उन्हें योगमायासे उत्पन्न होनेवाला सर्वलोकसाधारण मोह बाधक नहीं हुआ. उस साधारण मोहकी निवृत्ति, उस साधारणज्ञानसे हो गई, वसुदेवजीका वह भगवत्प्रेरणा लभ्य ज्ञान साधारण ही था, अतः उनको जानेमें स्वच्छन्दताका भान होनेसे धीरे-धीरे पैरोंको रखते हुवे जाना पड़ा, क्योंकि उन्हें असाधारण ज्ञान तो था नहीं, कि यह भगवत्कार्य अवश्यमेव सिद्ध होगा, अतः अपनी चतुरता करनी पड़ी.

२.इन पंक्तियोंसे श्रीमदाचार्यचरण स्पष्ट संकेत करते हैं कि जिस हृदयमें भगवान् विराजते हैं, वहां मायाको अवकाश नहीं, एवं माया, छल-कपट आदिको आश्रय देने पर हृदयमें भगवान् विराज नहीं सकते, पधार जाते हैं.

तया हृतप्रत्ययसर्ववृत्तिषु द्वाःस्थेषु पौरेष्वनुशायितेष्वथ।।
द्वारस्तु सर्वाः पिहिता दुरत्यया बृहत्कपाटायसकीलशृङ्खलैः।।४८।।

श्लोकार्थ : योगमायाने द्वाररक्षक पुरुषोंकी एवं नगर निवासियोंकी भी समस्त बुद्धि वृत्तियोंका हरण कर लिया और उनको निद्राके अधीन भी कर दिया, द्वार तो सब ही पूर्वमें ही उन द्वाररक्षकोंने बडे-बडे किवाड और लोहकी जञ्जीरोंसे बन्द कर दिए थे, उनसे निकलना बडा कठिन था।।४८।।

व्याख्यार्थ : उस योगमायाका कार्य बतलाते हैं, कि उस योगमायाने द्वारस्थ पुरुषोंमें विद्यमान् उनकी प्रत्यय(ज्ञान) वृत्तियोंका हरण कर लिया. उनके सर्वविध ज्ञानोंको व्यापारात्मक वृत्तियां विलुप्त हो गईं. उन्हें किसी प्रकारका भान नहीं रहा. जागरण एवं स्वप्न इन दो अवस्थाओंमें सर्व प्रत्यय या ज्ञानोंकी संशय आदि वृत्तियां उत्पन्न होती रहती हैं. मायासे मोहित हुवे द्वारपाल लोग तो मूर्च्छित हो गये. जगत्में मायाके उत्पन्न होने पर उसका प्रभाव पड़ा. श्रीगोकुलवासी श्रीयशोदा आदि तो मुग्ध हो गये, उनकी सावधानता जाती रही, तत्पश्चात् क्रममें

मथुरामें द्वारपाल, तदनन्तर मथुराके नागरिक लोग भी असावधान हो गये, मायाने केवल पूर्ववत् बुद्धिका हरणमात्र ही किया हो, इतनी ही बात नहीं, किन्तु निद्राके द्वारा अतिरिक्त बुद्धि भी सम्पन्न कर दी, जिस प्रकार अत्यन्त दीर्घकाल अन्य लोकके प्रति चले जानेवालोंकी भांति असावधानीसे चला जाता है, उस प्रकार मायाने लोगोंको सूला दिया. सुषुप्ति(गाढ निद्रा)को प्राप्त करा दिया. ऐसा होने पर द्वार स्वयं खुल गये. इस मायाने इतना ही कार्य किया कि लोगोंकी बुद्धि वृत्तियोंका हरण और निद्रासे उनका अत्यन्त अचेतनीभाव सम्पादन, बस इतना तो मायाका कार्य हुआ, अन्य कार्य तो अन्य प्रकारसे सम्पन्न हुआ, यह बतलानेको 'अथ' शब्दका प्रयोग किया है. 'अथ' शब्द भिन्न प्रकारसे क्रमके परिवर्तनका बोधक है. कपाटोंके स्वयं खुल जानेमें मायाका प्रभाव कारण नहीं, भगवत्प्रभाव ही कारण है. वह सब ही द्वार, जिन्हें पूर्वमें उन्हीं द्वारपुरुषोंने बड़े-बड़े कपाटोंसे लोहेकी कील व जंजीरोंसे बन्द कर रखे थे, जो स्वभावसे भी दुर्गम थे, जिन्हें प्राप्त करना या उल्लंघन करना कठिन था।।४८।।

गजा व्याघ्राः क्वचित् सिंहा विषमाश्चैव भूमयः।
दिवसेऽपि गतो नित्यं सर्वथा भयहेतवः।।कारि.१।।

कारिकार्थ : जहां हाथी, व्याघ्र, कहीं-कहीं सिंह तथा उंची-नीची भूमि यह सब दिनमें भी जानेमें भयके कारण सर्वदा एवं सर्वथा उपस्थित रहते थे, जिन द्वारों पर साधारण लोग तो जाते ही कैद कर लिए जाते थे, उस पर भी उस समय तो वह द्वार बन्द थे, जिनमें बडे-बडे किवाड लगे थे, लोहकी कील व जञ्जीरें थीं, अथवा कील सहित जञ्जीरें थीं, वह तालीसे ही खोले जा सकते थे, उनके खोलनेकी ताली भी विषम थी, उसको जाननेवाला ही काममें ला सकता था, सर्व साधारणकेलिए उससे कपाटोंका उद्घाटन नहीं हो सकता था।।१।।

ताः कृष्णवाहे वसुदेव आगते स्वयं व्यवर्यन्त यथा तमो रवेः।।
ववर्ष पर्जन्य उपांशुगर्जितः शेषोन्वगाद् वारि निवारयन् फणैः।।४९।।

श्लोकार्थ : वह बडे-बडे द्वार श्रीकृष्णके वाहक वसुदेवजीके आते ही सूर्यसे अन्धकार की भांति स्वयं ही हट गए, मन्द-मन्द गर्जनाके साथ मेघ वर्षा करने लगा, (वर्षासे भीग जानेकी स्थिति नहीं आ सकी) भगवान् शेषजी फणोंके द्वारा जलका निवारण करते पीछेसे चल रहे थे।।४९।।

व्याख्यार्थ : इस प्रकारके भी वह द्वार भगवान् कृष्णको पधराकर

वसुदेवजीके आने पर स्वयं ही खुल गये. ऐसा कहते हैं, कि वह द्वार विशीर्ण हो गये, उनकी दृढता शीथिल हो गइ. उनके कपाट स्वयं ही पृथक्-पृथक् हो गये, इस वर्णनसे यह बतलाना अभीष्ट है, कि भगवान् मोक्षके दाता हैं, अतः जड़ जातीय कपाट, जिन्हें अत्यन्त तमोमय लोह कील शृङ्खलाओंने बन्धनमें डाल रखा था, उनको भी मुक्त कर दिया. इस प्रकार तामस कर्मबद्ध मूढोंको भी मुक्तिका प्रदर्शन कराया गया है. इससे अन्य ज्ञानशून्य व्यक्तियोंकी मुक्तिका भी स्पष्टीकरण कर दिया है. यदि शुद्ध सत्त्व भगवान्को धारण करता हो तो मुक्ति होना अनिवार्य है, ऐसी सूचनाकेलिये 'कृष्णवाहे', 'वसुदेवे' इन पदोंका उल्लेख किया है. 'सत्त्वं विशुद्धं वसुदेवशब्दितम्'के अनुसार, रजोगुण, तमोगुणोंसे अस्पृष्ट शुद्ध सत्त्वात्मक अन्तःकरणमें यदि कृष्णकी धारणा सिद्ध हो जाये तो मोक्ष सहज सिद्ध है. मोक्ष प्राप्तिका यह ही उपाय है, यह बतलानेको दृष्टान्त कहते हैं, कि जिस प्रकार सूर्यके उदय होने पर अन्धकार विलीन हो जाता है, सहस्रशः उपाय करने पर भी सम्पूर्ण अन्धकार निवृत्त नहीं होता, सूर्यके उदय होते ही स्वतः चला जाता है, उसी प्रकार शुद्ध अन्तःकरणके भगवद्भाव पूर्ण होने पर सम्पूर्ण अविद्याका(बन्धन करनेवाली मायाका) नाश हो जाता है.

समस्त असाध्य कार्योंकी सिद्धि स्वतः हो जाती है, जो कि अन्य प्रकारसे नहीं हो पाती, ऐसा यहां निरूपण किया है. अन्तर्द्वारोंके निकल जाने पर, नगरीके भीतरी दरवाजोंके पारकर जाने पर, मायाका प्रवेश हुआ है. भगवान् और माया, इन दोनोंके सम्मुख होने पर जो दृश्य उपस्थित हुआ, उसे कहते हैं, कि वृष्टि होने लगी. वृष्टि भी सब लोगोंके न उठनेमें कारण हुई. वर्षाके कारण सब लोग पड़े ही रहे, मेघोंका उपांशु गर्जित(मन्द-मन्द गर्जना) भी लोगोंके न उठनेका कारण हुई तथा अन्य शब्दोंके कर्णगत न होनेमें भी कारण हुई, मेघकी मन्द गर्जनसे अन्य कोई किसीके आने जानेका शब्द नहीं सुनाई पड़ता था, अधिक गर्जना होने पर तो लोग उस गर्जनासे ही जाग उठते, अतः मन्द गर्जना लोगोंके न उठनेमें कारण सिद्ध हुई, यह इतना ही केवल वर्षामात्र मायाका कार्य सर्व साधारणरूपसे प्रवृत्त हुआ. वसुदेवजीको भी खेदका जनक है, अतः उस खेदके निवारणार्थ शेषजी पीछेसे चलने लगे. पातालसे आकर फणोंके द्वारा मेघके जलको रोकते अनुगमन करने लगे. शेषजी वसुदेवजीके पीछेकी ओरसे चल रहे थे, भगवान्के सम्बन्धके कारणसे शेषके सर्परूपसे होनेवाले भयका सम्भव नहीं.

कुछ विद्वानोंका कहना है, कि शेषजी अन्तरिक्ष आकाशमें चल रहे थे, तब तो शरीरके द्वारा भी वृष्टिका रोकना सम्भव था, यहां तो फणोंसे वारि(जल)का निवारण कहा है, एवं ऊपर चलना न कहकर (अनु-अगात्) पीछेसे चलना, कहा है. अतः स्पष्ट होता है, कि शेषजी वसुदेवजीके पीछेसे ही छत्रधारी कर्मचारीकी भांति चल रहे थे।।४९।।

मघोनि वर्षत्यसकृद् यमानुजा गम्भीरतोयौघजवोर्मिफेनिला।।
भयानकावर्तशताकुला नदी मार्गं ददौ सिन्धुरिव श्रियः पतेः।।५०।।

श्लोकार्थ : इन्द्रके बराबर वर्षा बरसानेके कारण यमुनाजी गम्भीर प्रवाहसे बह रही थीं, लहरियोंसे लहरा रही थीं, झागोंसे झगड रही थीं, भयानक भंवर पड रहे थे, उन भंवरोंसे व्यग्र हो रही थीं, (ऐसी दशामें) यमुना नदीने वसुदेवजीको उस प्रकार मार्ग दे दिया, जिस प्रकार सीतापति श्रीरामचन्द्रजीको लंका जानेके अवसर पर समुद्रने मार्ग दिया था।।५०।।

व्याख्यार्थ : जैसे-जैसे गोकुलके निकट पहुंचना, तैसे-तैसे मायाके समीप होनेके कारण पहुंचनेमें क्लेशका अधिक होना, एवं भगवान्के सन्निधानसे उन क्लेशोंका अभाव हो जाना, यह बतलानेको यमुनाके उस पार जानेमें प्रकारको कहते हैं कि इन्द्रके वृष्टि करते रहने पर यमुनाका प्रवाह भयावह था, परन्तु भगवान्के कारण कोई क्लेश उपस्थित नहीं हुआ. भगवान्के जन्मसमयमें मेघ सब ओर हट गये थे, तो भी मायाके जन्मके समयमें सब आ गये, इन्द्र भी मायासे मोहित होनेके कारण मेघोंको प्रेरणा देने लगा. यदि इन्द्रकी प्रेरणा न होती, केवल मेघ ही होते, तब तो भगवान्के गोकुल पधारनेके समय हट भी जाते, क्योंकि अल्प योग्यतावाले साधारण मायामोहित लोगोंका धैर्य अल्प ही होता है, अतः वह महान् पुरुषोंके प्रति विरोध नहीं करते. यहां क्षुद्र जातीय मेघोंका भगवान्से विरोध करना असम्भव है, यह बतलाना है, परन्तु इन मेघोंको तो देवराज इन्द्रसे प्रेरणा मिल रही थी, अतः वह वर्षा बरसाते रहे, रुके नहीं. इससे कहा है, कि 'मघोनि वर्षति', देवराज इन्द्रके बार-बार वर्षा करने पर वैसी परिस्थिति हो गई, मायामोहित देवराज इन्द्रकी प्रेरणाका बल पाकर, मेघ वर्षते ही रहे, जिससे यमुना प्रवाह भयावह हो गया. 'यमानुजा' शब्दसे यमराजकी भगिनी होनेके कारण स्वाभाविक क्रूरता बतलाई है, (जो कि भयंकर परिस्थितिके वर्णनमें अनुकूल है) अत एव गम्भीर जलप्रवाहके वेगसे एवं उमङ्गकी तरङ्गोंसे तथा फेन(झागों)से युक्त

बतलाया गया है. श्रीयमुनाका प्रवाह गम्भीर था, उसकी अगाधता गहराई भयानक थी, प्रवाह वेगसे तथा वायुके कारण उठती हुई लहरोंसे युक्त थी, तथा फेन(झागों)से पूर्ण थी. यमुनाके तीन प्रकारके दोषका निरूपण इस विशेषणसे हुआ है. अत्यन्त वेगसे राजस दोष है. और झाग बबूला आदि तामस दोष है. (गाम्भीर्य सात्त्विक दोष है). इस प्रकार वर्षाकालजनित दोषोंको कहकर, स्वाभाविक दोष बतलाते हैं कि सैंकड़ो भयंकर आवर्त(भमरों)से आकुल थीं, उनका प्रवाह सम नहीं था, ऊंचा नीचा विषमरूपसे बहता था, अन्यथा उन भंवरोंसे व्यग्र थीं, अपनी घबराहट प्रकट कर रही थीं. आवर्त(भंवर) तामस है, व्यग्रता राजस है, (समान प्रवाहका न होना सात्त्विक दोष है). इस प्रकार स्वाभाविक तीनों दोषोंका भी निरूपण किया. इस प्रकार स्वाभाविक एवं आगन्तुक दोषोंसे युक्त होते हुवे भी भयके कारण मार्ग देनेमें अनुकूल हो गईं, मार्ग दे दिया, विघ्न नहीं किया. सब ही नदी समुद्रकी पत्नी होती हैं. रामावतारमें समुद्र भी भगवान्को मार्ग न देनेके कारण शुष्क कर दिया था, तब उस समुद्रकी अल्प सामर्थ्यवाली एक पत्नीकी तो बात ही क्या है, अतः स्वरूपसे ही भ्रष्ट हो जाऊंगी इस भयसे समुद्रकी भांति मार्ग दे दिया, अथवा आगे लक्ष्मी (श्रीगोपीयों)से जल क्रीड़ा करेंगे, इस सन्तोषसे कि मेरा भी सौभाग्य सिद्ध होगा, श्रीयमुनाने मार्ग दे दिया. जिस प्रकार लक्ष्मीपतिको अपने जामाता भगवान्को उनका श्वसुर समुद्र कभी उन्हें अपने घरमें ले जानेको मार्ग देता है, अथवा 'श्री' शब्दसे सीताजीका ही ग्रहण अभीष्ट है, एक सीताके कामुक रघुनाथजी यदि समुद्रको सूखा चुके, तो बहुत सी गोपिकाओंके कामुक होकर मुझे क्यों न सुखा देंगे, इस भयसे यमुनाने मार्ग दे दिया।।५०।।

नन्दव्रजं शौरिरुपेत्य तत्र तान् गोपान् प्रसुप्तानुपलभ्य निद्रया।।
शिशुं यशोदाशयने निधाय तत्सुतामुपादाय पुनर्गृहानगात्।।५१।।

श्लोकार्थ : वसुदेवजी नन्दरायके व्रजमें पहुंचकर वहां उन गोपोंको निद्राके कारण सोता हुआ पाकर श्रीयशोदाकी शय्या पर नवजात शिशुको स्थापित कर, उनकी सुताको उठाकर, फिर अपने घर लौट आये।।५१।

व्याख्यार्थ : इस प्रकार मार्गकी तरह नदीको पारकर, गोकुलमें पहुंचे हुवे वसुदेवजीका कार्य बतलाते हैं कि शूरनन्दन वसुदेव वहां जाकर गोपोंको सोया हुआ पाकर, नवजात शिशुको वहां श्रीयशोदाकी शय्या पर पधाराकर, गृहके प्रति

लौट आये. 'शौरि' शब्द वसुदेवजीके अभयका सूचक है, और नन्दरायके व्रजमें जाना है. वहां उनको जानेमें हर्ष प्रकर्षका होना आवश्यक है, क्योंकि नन्दराय वसुदेवजीके मित्र हैं, अतः निर्भयतापूर्वक प्रसन्नतासे पहुंचे. 'व्रज', गौओंके निवासस्थानको कहते हैं. वहां कभी-कभी गौओंका शब्द होता ही रहता है, अतः मनुष्यके चलनेके शब्द(पैंछट)से भी वहां वालोंका जाग जाना सम्भव नहीं. 'उपेत्य'[१] शब्द 'समीपमें जाकर' इस अर्थका वाचक है. इससे धीरे-धीरे जानेकी सूचना होती है,(वसुदेवजी चुपकेसे पैर रखते हुवे गये, जिससे कोई जाग न जावे) और वहां पर उन सदा जागनेवाले गोपोंको भी उस समय सोता हुआ पाया. शयन, निद्राके बिना केवल पड़े रहनेको भी कह देते हैं, अतः 'निद्रया' शब्दका प्रयोग किया कि वह लोग निद्रासे सो रहे थे. बालकरूप भगवान्के प्रति इस अवसर पर 'शिशु' शब्दका प्रयोग अत्यन्त उपयुक्त है, क्योंकि वसुदेवजीको उनके भगवान् होनेका ज्ञान है, इस दृष्टिसे 'पुत्र' शब्दका प्रयोग उचित नहीं, अन्य नामोंका अभी आविर्भाव हुआ नहीं है. 'भगवान्' शब्दका प्रयोग भी स्थानान्तर पर छोड़नेके अवसर पर उचित नहीं, क्योंकि भगवान् होने पर उनका स्थापन अन्यत्र विसर्जन युक्त नहीं, अतः 'शिशु' शब्द ही उपयुक्त होनेसे प्रयुक्त किया है. (शयन) यद्यपि शय्याको कहतें है, परन्तु (शय्या पदका) प्रयोग अयुक्त[२] है, ऐसी आशंकाकर, (शयन) पदका प्रयोग किया है, अथवा श्रीयशोदाके शयन करने पर उनके सो जाने पर, या श्रीयशोदा जिस स्थान पर शयन करती थीं, उस स्थान पर शिशुको स्थापनकर, भली भांति पधराकर, श्रीयशोदाकी सुता मायाको लेकर पुनः उसी मार्गसे अपने गृह आ पहुंचे।।५१।।

१.'उप' उपसर्ग 'उपवेद' 'उपाध्यापक' आदि शब्दोंमें निम्न कक्षाका सूचक है, उसी प्रकार गमनके साथ भी उसकी निम्न कक्षा मन्दताका सूचक है.

२.पर स्त्रीकी शय्याका स्पर्श निषिद्ध है, अतः (शय्या) पदका प्रयोग नहीं किया, और इसी अरुचिसे शयन पदका भी प्रकारान्तरसे व्याख्यान किया है.

देवक्याः शयने न्यस्य वसुदेवोऽथ दारिकाम्।।
प्रतिमुच्य पदोर्लोहमास्ते पूर्ववदावृतः।।५२।।

श्लोकार्थ : इसके अनन्तर वसुदेवजी श्रीदेवकीकी शय्या पर लडकीको रखकर, अपने पैरोंमें लोहेकी बैडियोंको डालकर, पहलेकी तरह बद्ध हो गए।।५२।।

व्याख्यार्थ : इसके पश्चात् देवकीकी शय्या पर उस लड़कीको शयन करनेका स्थान सिद्धकर, उसे वहां स्थापितकर, वसुदेवजी पूर्वकी भांति निगडित हो गये. यहां पर 'अथ' शब्द प्रक्रमकी भिन्नताका सूचक है, श्रीयशोदाकी शय्या पर चुप चाप धीरे-धीरे शिशुका स्थापन किया था, क्योंकि वहां किसीको विदित न हो, यह आशंका थी, यहां उस प्रक्रमको बदल दिया है, क्योंकि यहां उस प्रकारकी कोई शंका नहीं है. 'दारिका' शब्दसे उनके अनादरकी सूचना है, कि उस परम मनोहर पुत्रकी स्मृति क्या इससे शान्त होगी, वसुदेवजी स्वयं अपने पैरोंमें लोहेकी बेड़ियोंको डालकर, भगवान्के जन्मसे पूर्वकालकी भांति आबद्ध हो गये।।५२।।

यशोदा नन्दपत्नी च जातं परमबुध्यत।।
न तल्लिङ्गं परिश्रान्ता निद्रयाऽपगतस्मृतिः।।५३।।

श्लोकार्थ : नन्दपत्नी यशोदाने इतना ही जान पाये कि कुछ हुआ है, लडके या लडकीका कोई चिह्न नहीं पहिचान सकीं, क्योंकि प्रसव वेदनासे अत्यन्त थक चुकी थीं. निद्राने उनकी स्मृतिका अपहरण कर लिया था।।५३।।

व्याख्यार्थ : यहां इस प्रकार आशंका करके उसके निवारणार्थ उक्त श्लोकको कहा है, कि यशोदाका शयन तो असम्भावित है, क्योंकि लोकमें प्रसव (अवस्थाके होने पर अज्ञानका सम्भव नहीं) उक्त शंकाकी निवृत्ति करते हुवे शुकदेवजी कहते हैं, कि नन्दपत्नी यशोदा इतना ही समझ सकीं, कि कुछ उत्पन्न हुआ, परन्तु वह उत्पन्न हुआ स्वरूप पुत्र है, या पुत्री है, ऐसा नहीं जाना. उक्त श्लोकमें 'यशोदा' शब्दके द्वारा एवम् उसके विशेषण(नन्दपत्नी) शब्दके द्वारा नन्दयशोदाओंके नामकी सार्थकता बतलाई है. यशोदा, प्रसवके ज्ञात होते ही पतिको यश देती है, कि तुम बड़भागी हो, तुम्हारी साधना आज सिद्ध हुई, मेरा आपके द्वारा पाणिग्रहण सार्थक हुआ, चिरकाल तक लोकमें नाम चलेगा, आदि-आदि. नन्दरायको भी प्रसवके ज्ञात होते ही सुख होता है, अपार आनन्द होता है, कि मेरा भर्ता होना आज सार्थक हुआ, अब इस भार्याके भरण करनेमें मुझे पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है. इत्यादि भावनाओंसे सुख होनेके कारण उन्हें 'नन्द' पदवी प्राप्त होती है, अन्य अवसरों पर भी वैसे समयमें बालकके जातकर्म आदि संस्कार आवश्यक कर्म होते हैं, अतः जागना ही होता है, शयनका सम्भव नहीं. 'नन्दपत्नी' शब्दके अन्तर्गत 'पत्नी' शब्दका प्रयोग स्त्रीकी एक विशिष्ट

योग्यताका सूचक है, उस योग्यताके आधार पर उसे पतिके साथ पारलौकिक यज्ञादि कर्ममें अधिकार प्राप्त होता है, अतः उसको प्रसव कालीन जातकर्मादि संस्कारोंकेलिए सावधान रहना आवश्यक है. श्रीयशोदाजी नन्दकी पत्नी होकर भी सावधान होते हुवे भी केवल इतना ही जान सकीं, कि जन्म[१] हुआ, कोई बालक प्रकट हुआ. प्रकट हुवे बालकका चिह्नविशेष कि यह लड़का है, या लड़की है, ऐसा नहीं जान सकीं, क्योंकि 'परिश्रान्त थीं', प्रसवके निमित्त वेदना अधिक हो चुकी थी. पीछे जिस समय श्रान्त हुईं(थक गईं), उसी समय प्रसव हुआ, कि उसके साथ ही निद्रा भी आ गई, उस निद्रासे उसकी स्मृति लुप्त हो गई, मेरे प्रसव हुआ है, इस प्रकारके पूर्व वृत्तान्तके अनुसन्धानात्मक स्मरणका अभाव हो गया, अतः पूर्वमें वसुदेवजीका किया हुआ सबकुछ शिशुका स्थापन कन्याका उत्थापन आदि सुन्दर प्रक्रियासे सम्पन्न हुआ।।५३।।

१.भगवान् श्रीकृष्णकी जयन्ती तिथिको जन्माष्टमी कहते हैं. इस तिथिका यह नाम श्रीकृष्णकी परब्रह्मताका परिचय देता है. 'रामनवमी', 'नृसिंहचतुर्दशी' आदि जयन्तीयोंको 'जन्म नवमी' या 'जन्म चतुर्दशी' नहीं कहा जाता, इस आकस्मिक शब्दप्रवृत्तिसे यदि इस प्रकार स्वीकार किया जावे, कि जन्म प्रयुक्त विशेषताको लेकर उक्त (जन्माष्टमी) संज्ञा प्रचलित हुई है, तो वह विशेषता अजन्मा परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्णके जन्मसे ही तो सम्बन्धित है, श्रीयशोदा भी ''जातं परमबुध्यत, न तल्लिङ्गम्''. धन्य श्रीयशोदे ! उस परब्रह्मकी कोई पहिचान नहीं, आपने उसके जन्मको जान लिया, या उसकी जन्मतिथिका नामकरण कर दिया.

इति श्रीमद्भागवत महापुराणके दशम स्कन्धके अध्याय ३ की
श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्रीसुबोधिनी टीकाका हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण.

अध्याय ४

मायासे कापट्य तथा अनिरुद्ध व्युहका प्राकट्य

इस अध्यायके पूर्वके तीन अध्यायोंमें क्रमशः हेतु, उद्यम तथा दूसरे रूपको स्वीकार करनेका निरूपण है, अर्थात् भगवान् किस हेतुसे भूतल पर पधारे, उस हेतुका निरूपण प्रथमाध्यायमें है. भगवान्के भूतल पर पधारनेके उद्यमका वर्णन द्वितीयाध्ययमें हैं और चतुर्भुजसे द्विभुजरूपको स्वीकार करना रूपान्तर स्वीकरण है, इसका तृतीयाध्यायमें निरूपण है. इस चतुर्थाध्यायमें मायाके कार्यका निरूपण होनेसे कापट्यका निरूपण किया जा रहा है, और धर्म रक्षार्थ अनिरुद्ध–व्यूहका प्राकट्य भी इसमें कहा गया है. जो किसीसे रोका नहीं जावे वही अनिरुद्ध है, और जो किसीसे नहीं रुकता वही धर्मकी रक्षा कर सकता है, परन्तु धर्म रक्षणकी तब ही आवश्यकता पडती है, जब माया अधर्मका प्रसार करे. इसी अन्तिम बातका निरूपण नीचेकी कारिकासे किया जा रहा है.

मायायाः कार्यमधुना चतुर्थे विनिरूप्यते।
अन्यथा भगवत्कार्यं न भवेदनिमित्ततः।।कारि.१।।

कारिकार्थ : इस चतुर्थ अध्यायमें सबको दुःख देना, धर्मको नष्ट करना आदि जो मायाके कार्य हैं, उनका निरूपण करते हैं. यदि माया ऐसा कार्य नहीं करती, तो देवकीको बन्धनसे छुडाना, सबको सुख देना, तथा धर्मरक्षा आदि कार्योंके करनेकेलिए भगवान्के पधारनेकी आवश्यकता नहीं होती. अतः भगवान्के कार्योंमें भक्तोंको दुःख देना आदि मायाके कार्य ही कारण हैं, अर्थात् माया यदि कंसद्वारा भक्तोंको दुःख दिलाना आदि कार्य न करती, तो तो भगवान्का उपर्युक्त कार्य भी नहीं होता।।१।।

ज्ञापने दुःखसुखदे ततोऽपि ज्ञापने तथा।
कंसस्य सह भृत्यस्य धर्मबाधो न चान्यथा।।कारि.२।।

कारिकार्थ : मायाने रुदन करके द्वारपालोंको यह बताया कि मैं उत्पन्न हो गई हूं. इसके पश्चात् गृहरक्षकोंने भी कंसको बालकका जन्म होना बताया. ये दोनों बातें दूसरी कारिकाके प्रारम्भमें आए प्रथमा द्विवचनान्त 'ज्ञापने' पदसे बताई गई है. अर्थात् 'ज्ञापने' यह पद प्रथमा द्विवचनान्त है. अत एव मायाका अपने आपको बताना और कंसको रक्षकों द्वारा सूचित कराना, ये दो कार्य मायाके कहे

गए हैं. मायाके ये कार्य वासुदेवादिको दुःख देनेवाले और कंसको सुख देनेवाले हुए. बादमें मायाने ''तेरा मारनेवाला कहीं पैदा हो गया है'', ऐसा कहा और इसी बातको कंसने अपने मन्त्रियोंको बताया. यह बात कारिकामें आए दूसरे 'ज्ञापने' पदसे कही है. ये दोनों कार्य भी भक्तोंको दुःख देनेवाले और कंसादिको सुख देनेवाले हुए. यदि माया यह कार्य नहीं करती, तो कंस और उसके सेवक, धर्म नाशकेलिए उद्यत नहीं होते।।२।।

तामसप्रभुक्ते राज्ये कृतो धर्मस्तु तद्गतः।
अतः पूर्वस्य नाशौ वै कर्तव्यं तामसाश्च ते।।कारि.३।।

कारिकार्थ : शंका होती है, कि भगवान्का अवतार तो धर्मरक्षाकेलिए होता है, तो यह अवतार धर्मनाशमें कारण कैसे बना ? क्योंकि भगवान्के प्राकट्यके भयसे ही कंसने ये सब पाप किये, इसलिए भगवान्का प्राकट्य ही इस अधर्ममें कारण हुआ, किन्तु यह होना उचित नहीं था. ऐसी आशंका पर कहते हैं, कि कंस तामसवृत्तिका था, अतः उसके राज्यमें पशु आदि तथा उनसे होने वाले यज्ञादि धर्म सब ही तामस थे. इस कारण उनका नाश कराना आवश्यक था।।३।।

ब्राह्मणा अपि तद्देशे स्वभावात् तामसा मताः।
कालस्तथा विधो यस्मात् पश्चाज्जातस्तु सात्त्विकः।।कारि.४।।

कारिकार्थ : यज्ञादि धर्म संपादनमें अंगभूत जो ब्राह्मण थे, वे भी उस प्रदेशमें स्वभावतः तामसवृत्तिके थे, तथा वह समय भी तामस था. अतः कंसके द्वारा निवृत्ति करानेके अनन्तर जो धर्म स्थापित किया गया, वह सात्त्विक धर्म हुआ।।४।।

आभास : भगवान्का कार्य आवरणोंको दूर करना एवं बन्धनसे मुक्त करना है, इसलिए सब द्वार खुल गए और वसुदेवजी बन्धनमुक्त हो गए. मायाका कार्य भगवान्से विपरीत होता है, अर्थात् माया धर्मका नाश करती है, और बन्धनमें डालती हैं, तथा आवरणको उत्पन्न करती है, इसलिए मायाके आनेसे आवरणरूप बाहर-भीतरके द्वारोंके किवाड बन्ध हो गए और वसुदेवजी पहलेकी भांति बन्धनमें पड गए. इस बातको नीचेके श्लोकमें कहते हैं:

श्रीशुक उवाच

बहिरन्तः पुरद्वारः सर्वाः पूर्ववदावृताः।

ततो बालध्वनिं श्रुत्वा गृहपालाः समुत्थिताः।।१।।

श्लोकार्थ : श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि जब वसुदेवजी लौट आए, तब मथुरा नगरके बाहिर तथा भीतरके सभी दरवाजे पहिलेकी तरह बन्द हो गए. बालकके रोनेको सुनकर उसमें प्रसूतिगृहके रक्षक ठीक रूपसे जाग गए।।१।।

व्याख्यार्थ : मायाके आने पर मथुरा नगरीके बाहिर एवं भीतरके सभी दरवाजे पूर्ववत् बन्द हो गये. यदि गृहपालोंके जागने तक किवाड़ खुले ही रहते और वसुदेवजी बन्धनमुक्त पाये जाते, तो द्वारपालोंको विलक्षणता मालूम पड़ती और वे यह समझ जाते कि वसुदेवजीने ही गुप्तरूपसे कुछ गड़बड़ी की है, इसलिए मायाने पुनः पहिलेकी स्थिति उत्पन्न कर दी. भगवान्के प्राकट्यसे, पूर्वमें निवृत्त हुवे वसुदेवजी-देवकीजीके भयको पुनः उत्पन्न करनेकेलिये ही मायाने रोदन किया. उसके रोदनसे सब प्रसूतिगृहके रक्षक, द्वारपाल जाग गये, यह श्लोकमें आये 'ततः' पदसे कहा है. यहां 'ततः' पदका 'इसके अनन्तर' यह अर्थ नहीं है, किन्तु 'उस रोदनसे' ऐसा अर्थ है, अर्थात् उत्पन्न हुवे बालकके रोदनसे प्रसूति गृहके रक्षक ठीक रूपसे जाग गये।।१।।

ते तु तूर्णमुपव्रज्य देवक्या गर्भजन्म तत्।
आचख्युर्भोजराजाय यदुद्विग्नः प्रतीक्षते।।२।।

श्लोकार्थ : वे द्वारपाल शीघ्र कंसके पास गए और आठवें गर्भने जन्म ले लिया यह कहा. कंस यही प्रतीक्षा कर रहा था कि बालकका जन्म कब होगा? प्रतीक्षामें कारण यह था कि वह उससे उद्विग्न(व्याकुल और घबडाया हुआ) था।।२।।

व्याख्यार्थ : 'ते तु' श्लोकसे द्वारपालोंके कार्यको कहते हैं. उस समय उन रक्षकोंको देवकी आदिने प्रार्थना की कि तुम जाकर कंसको न कहो, परन्तु उनने उनकी प्रार्थनाको न माना और कंसको कह ही दिया, यह आशय श्लोकमें आये 'तु' शब्दसे कहा गया है, अर्थात् उन द्वारपालोंने तो कह ही दिया. श्लोकस्थ 'तूर्ण' पदका यह अभिप्राय है, कि रक्षकोंने बीचमें दूसरा कोई कार्य नहीं किया और शीघ्रतासे जाकर कहा कि देवकीके गर्भका जन्म हो गया है. रक्षकोंने विचार किया कि यदि हम दूरसे ही कहेंगे, तो वसुदेवजी व देवकी अपने बालकको सम्भव है, छिपा दें, इसलिए कंसके समीपमें जाकर उन्होंने कहा. रक्षकोंने कन्या या बालकका विशेष निर्देश नहीं करते हुवे यही कहा कि देवकीके सन्तान हो

गया. श्लोकमें आया 'तत्' पद प्रसिद्धार्थक है, अर्थात् ''प्रसिद्ध आठवें सन्तानने जन्म ले लिया'' यह बात कंसको कही. श्लोकमें आये 'भोजराजाय' पदका अभिप्राय यह है, कि वह कंस, भोजवंशियोंका राजा है. राजाकी आज्ञाका पूरा पालन नहीं होता है, तो वह दण्ड देता है. इसलिए रक्षकोंने सोचा कि यदि हमने राजाको सूचना नहीं दी तो कंस, राजा होनेसे हमें दण्ड देगा. इसी भयके कारण बालकके जन्मकी सूचना कंसको, जो इस संवादकी प्रतीक्षा ही में था, दी. प्रतीक्षाका कारण यह था कि वह उस गर्भसे उद्विग्न था।।२।

स तल्पात्तूर्णमुत्थाय कालोऽयमिति विह्वलः।।
सूतीगृहमगाच्छीघ्रं प्रस्खलन् मुक्तमूर्धजः।।३।।

श्लोकार्थ : द्वारपालोंकी बात सुनते ही शीघ्रतासे कंस शय्यासे उठ खडा हुआ और ''मेरा काल पैदा हो गया'', इस विचारसे विह्वल होकर लडखडाता हुआ केश बिखरे हुए ही प्रसूतिगृहकी ओर शीघ्रतासे गया।।३।।

व्याख्यार्थ : अब कंसने क्या किया, सो कहते हैं कि कंस निद्रा न आनेसे वैसे ही शय्या पर पड़ा हुआ था. महान् होता हुआ भी वह बिना विचार किये ही पहिले खड़ा हुआ और पीछे यह मेरा काल है, ऐसा समझ विह्वल हो गया. उसे निश्चय हो गया कि अब मेरे जीवित रहनेकी सम्भावना नहीं है. यह भगवान् ही मेरा काल है, ऐसा समझकर सर्वांगमें विकल हो गया और प्रसूतिगृहकी ओर दौड़ा. श्लोकमें आये 'शीघ्रं' पदका आशय यह है, कि शीघ्रतासे जानेके कारण कंसने सब कार्योंका परित्याग किया और उसे किसी उपायका भी अनुसन्धान नहीं रहा. लड़खड़ाता हुआ गया, ऐसा कहनेसे मालूम हुआ कि उसे मार्गका ज्ञान नहीं रहा. केश बिखरे हुवे थे, ऐसा कहनेसे मालूम हुआ कि उसे देहका भान नहीं था।।३।।

आभास : कंस वहां गया और यह बालक है, या कन्या है, इसका विशेष ज्ञान न करता हुआ, पुत्र समझकर मारनेकेलिए प्रवृत्त हुआ, तो देवकीजीको अपने पुत्रोंके मारनेका जितना दुःख नहीं हुआ, उतना श्रीयशोदाजीकी कन्या होनेसे उसे मारनेका दुःख हुआ, इस बातको बतानेकेलिए देवकीके वाक्योंको तीन श्लोकोंसे कहते हैं:

तमाह भ्रातरं देवी कृपणा करुणं सती।
स्नुषेयं तव कल्याण स्त्रियं मा हन्तुमर्हसि।।४।।

श्लोकार्थ : उस कंससे बिना विचार किये ही मांगनेवाली वह देवकी देवी, करुणकी तरह अपने भाईसे बोलीं हे भाई ! यह कन्या तेरी पुत्रवधू होगी इसलिये, और स्त्रीजातीकी होनेसे तुझे इसे मारना ठीक नहीं है।।४।।

त्वदीया कन्यका चेयमतो मह्यं प्रदीयताम्।
भगिनी दानपात्रं हि हेतुकार्यफलैस्त्रिभिः।।कारि.१।।

कारिकार्थ : तीसरे श्लोकमें हेतुका निरूपण है, तो कारिकामें भी उसी रूपमें फल, कार्य और हेतुका निर्देश होना चाहिये, फिर ऐसा क्यों नहीं किया गया? इसका समाधान यह किया है, कि लोकमें देखा गया है, कि पहिले कारण होता है, फिर कार्य और तत्पश्चात् फल. बस इसी प्रसिद्धिको लेकर कारिकामें 'हेतुकार्यफलैः' ऐसा कहा है.

व्याख्यार्थ : देवकी पहिले श्लोकमें यह कहती हैं कि तेरी यह कन्या है, अर्थात् भविष्यमें तेरे लड़केकी स्त्री होनेसे तेरी यह कन्याके समान है, इसलिये इसे तू मुझे दे दे, क्योंकि बहिन दानका पात्र है, अतः उसे देना ही चाहिये. यह बात यहां तीन श्लोकोंमें कही है, अर्थात् ''तमाह भ्रातरं देवी'' से तुझे पुत्रवधूरूप फल प्राप्त होगा, ''पुत्रिकैका प्रदीयतां'' इस दूसरे श्लोकके अंशसे दानरूप कार्यका निरूपण, ''नन्वहं ते ह्यवरजा''से हेतुका निरूपण किया है. शंका होती है, कि पहिलेके श्लोकमें फलका निरूपण किया है, दूसरे श्लोकमें दानरूप कार्यका और तीसरे श्लोकमें हेतुका निरूपण है, तो कारिकामें भी उसी रूपमें फल, कार्य और हेतुका निर्देश होना चाहिये, फिर ऐसा क्यों नहीं किया गया? इसका समाधान यह किया है, कि लोकमें देखा गया है, कि पहिले कारण होता है, फिर कार्य और तत्पश्चात् फल. बस इसी प्रसिद्धिको लेकर कारिकामें 'हेतुकार्यफलैः' ऐसा कहा है. उस प्रसिद्ध, क्रूर, अपने भाई, कंसको देवकीजीने कहा. देवकी यद्यपि देवीरूपा है, अर्थात् देवतारूप है. देवता सात्त्विक[१] होते हैं, सत्त्वगुणसे ''**सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानम्**'' के अनुसार ज्ञान होता है, इसलिए देवकी ज्ञानवती भी हैं, परन्तु स्त्रीस्वभाववश, उसने कन्याको कंससे मांगा. शंका होती है, कि ज्ञान जिसमें होता है, उसमें वैराग्य भी होता है, तो फिर देवकीजीका उस कन्यामें इतना मोह क्यों हैं? तो कहते हैं कि स्त्रीस्वभाव होनेसे देवकीजीने ऐसा किया, क्योंकि ''**स्वभावो मूर्ध्नि वर्तते**'' अर्थात् स्वभाव सबके ऊपर रहता है, अतः स्त्री स्वभावके अधीन होकर ऐसा किया. स्त्रीमें स्वभावतः अधिक मोह होता है. देवकी,

देवी(देवता) है, इसलिए उसे सब उपायोंका ज्ञान है. वह यह समझती हैं, कि कंस अत्यन्त उग्र है, इसलिये ''**उग्रं स्तुतिभिः**'' उग्र व्यक्तिको प्रशंसासे प्रसन्न करना चाहिये, इस न्यायके अनुसार दीनता दिखाते हुवे, इसे प्रशंसासे प्रसन्न करना चाहिये, इस विचारसे जानबूझकर भी उस देवकीने कन्याको छुड़ानेकेलिए अपनी दीनता दिखाई. यहां यह शंका होती है, कि देवकी, देवी होनेसे देवता थीं, उसे तो मिथ्या नहीं बोलना चाहिये था, क्योंकि ''**सत्यं देवेषु**'' देवताओंमें सत्यकी स्थिति है, ऐसा कहा है. ऐसी दशामें देवकीने ''यह मेरी अन्तिम सन्तान है'' यह मिथ्या कैसे कहा? तो कहते हैं कि किसीके प्राणों पर संकट हो तो परार्थ मिथ्या बोलना निन्दित नहीं है. इसलिए देवकीजीने मिथ्या कहा सो ठीक किया. श्लोकमें आये 'कृपणा' पदका अर्थ बिना विचारे मांगनेवाली है. जैसा कि कहा है, ''**कृपणः स तु विज्ञेयो योऽनालोचित याचकः**'' कृपण वह होता है, जो यह नहीं समझता कि किससे याचना करनी चाहिये और किससे नहीं. देवकीने कंसके स्वरूपको न समझ याचना की, इसलिए वह कृपणा हुईं. इस प्रकार कंसके स्वरूपको न जाननेवाली वह देवकी करुण हो वैसे कंससे बोलीं. देवकी सती थीं, इसलिए उसे यह ज्ञान था कि मैं क्षत्रिया हूं, क्षत्रियको याचना नहीं करनी चाहिये, तो भी यह याचनाका समय है, इसलिए मुझे याचना करनी ही चाहिये, यदि मेरी याचना पर भगवान्के सर्वात्मक होनेसे कदाचित् भगवान् कंसको कन्या देनेकेलिए प्रेरित कर दें, तो कंसका अनिष्ट कभी भी नहीं होगा अथवा सती पदका यह भी अभिप्राय है, कि देवकी सत् स्त्री है. जैसे सत्पुरुष अनिष्ट करनेवालेका भी हित चाहते हैं, वैसे ही देवकी सत्स्त्री होनेसे सोचती हैं, कि यदि कंसको भगवान् कन्या देनेकेलिए प्रेरित कर दें, तो कंसका भी अनिष्ट न हो. यहां 'सती' पदका यह भी अभिप्राय है, कि सती स्त्री पतिका इष्ट ही चिन्तन करती है, इसलिए उसने विचार किया कि यदि मैं कंससे कन्याको छुड़ानेका आग्रह नहीं करूंगी, तो लोग मेरे पति वसुदेवजीको यह दोष लगायेंगे कि वसुदेवजी कैसे व्यक्ति है, जो अपने पुत्रको तो रख आये और मारनेकेलिए दूसरेकी कन्याको ले आये. देवकीने आग्रहपूर्वक जब कन्याको छुड़ानेका प्रयत्न किया तो वसुदेवजीको उक्त दोष नहीं लगा, क्योंकि ऐसी स्थितिमें विवशता मालूम पड़ी. यहां 'स्नुषा' पदका तात्पर्य यह है, कि मामाकी लड़कीके साथ जैसे विवाह करनेका पक्ष है, वैसे ही बूआकी लड़कीके साथ. जैसे भगवान्ने मित्रविन्दाके साथ विवाह किया. परन्तु यह सब कुछ तब ही

हो सकता है, जब कंसका पुत्र देवकीकी कन्याके साथ विवाह करे. कंसके पुत्र नहीं है, तो ऐसा सम्बन्ध न बननेसे देवकीकी कन्या कंसकी स्नुषा(पुत्रवधु) कैसे होगी? तो देवकी कहती हैं कि हे भाई! तू कल्याणरूप है, अतः पुत्र पैदा करनेमें समर्थ है, क्योंकि कल्याणरूप होनेसे तेरे पुत्र अवश्य होगा और एक बात यह भी है, कि मेरी सन्तानकी यदि तू रक्षा करेगा, तब तेरे भी पुत्र अवश्य होगा. यदि तू समझे कि यह मेरी पुत्रवधू नहीं होगी, तब भी यह स्त्रीजातिकी होनेसे मारने योग्य नहीं है. ऐसा तुझे विचार है भी, यदि ऐसा विचार न होता तो मुझे ही तूने क्यों न मार दिया. तूने स्वयं कहा है, कि ''**स्त्रियाः स्वसुर्गुरुमत्या वधोऽयम्**'' अर्थात् प्रथम स्त्रीजातिको ही मारना उचित नहीं है, आदि।।४।।

१.यहां लालूभट्टजीने कहा है, कि देवता सात्त्विक होते हैं, अतः उनमें स्वभावतः दया होती है. दयावश ही श्रीयशोदाजीकी कन्याको छुड़ानेकेलिए देवकीजीने कहा ''सात्त्विक्यपि स्त्री'', इसमें जो 'अपि' शब्द है, उसका तात्पर्य यह है, कि स्त्री होनेसे तामस भी थीं, अतः देवकीने यह मेरी अन्तिम सन्तान है, ऐसा मिथ्या कहा.

आभास : यदि तू कहे कि आठवां बालक मुझे मारनेवाला है, तो देवकी कहती हैं कि:

बहवो हिंसिता भ्रातः शिशवः पावकोपमाः।
त्वया दैवनिसृष्टेन पुत्रिकैका प्रदीयताम्।।५।।

श्लोकार्थ : हे भाई! मेरे अग्निके समान बहुत पुत्रोंको तूने भगवदिच्छासे प्रेरित होकर मार दिया, परन्तु यह कन्या, जिसके कोई भाई नहीं, शेष रही है, इसे मुझे दे अर्थात् इसे न मार।।५।।

व्याख्यार्थ : देवकी कहती हैं कि हे भाई ! तूने मेरे बहुत लड़के मार दिये, यह सन्तान स्त्रीजाति है. स्त्री, पुरुषको मार सकती है, ऐसा शास्त्रमें नहीं बताया है, अथवा शास्त्रमें स्त्रीको मारना नहीं कहा है. पुत्रोंको तो तूने मार ही दिया. एक आठवें पुत्रको मारना चाहिये था, उस जगह बहुत लड़के मार दिये. देवकीने हे भाई! ऐसा इसलिए कहा है, कि मैं तेरी बहिन हूं, इसलिए मेरे पर दया करनी चाहिये. जिन सन्तानोंको तूने मारा था, वे साधारण नहीं थे किन्तु आकृतिसे सम्भावना थी कि वे पराक्रमी भी होते, इस आशयसे कहा कि 'पावकोपमाः', वे पुत्र, अग्निके समान थे. देवकीने विचार किया कि स्नेह दिखाने पर इस कन्याको छोड़ देगा, इसलिये कंसको निर्दोष बताती हुई कहती हैं, कि ''त्वया दैवविसृष्टेन'' . शास्त्रमें कहा है,

कि ''**अनुरक्तो गुणान् ब्रूते**'' अनुरागवाला सामनेवाले व्यक्तिके गुण ही कहता है. इसके अनुसार प्रेम दिखानेकेलिए देवकीने कहा कि तूने अपनी इच्छासे मेरी सन्तानको नहीं मारा है, किन्तु भगवदिच्छासे प्रेरित होकर मारा है, परन्तु यह कन्या तो मारने योग्य नहीं है, इसलिए भगवान्की इच्छा भी तुझे मारनेकेलिए प्रेरित नहीं कर रही है. मेरी एक ही यह कन्या है. 'पुत्रिकैका' पदसे यह सूचित किया कि इसके कोई भाई नहीं है, इसलिये इसका विवाह इस प्रतिज्ञा पर करूंगी, कि जो इसका लड़का होगा, वह मेरा होगा, ऐसा करनेसे मैं भी सन्तानवाली हो जाऊंगी, यदि मेरी दूसरी सन्तान हो जावेगी, तो तूं इसे मार देना. वास्तवमें 'प्रदीयताम्' पदसे देवकीका यह कहना है, कि मुझे सदाकेलिए यह लड़की दे दे, अर्थात् यह लड़की सदाकेलिये मारने योग्य नहीं है।।५।।

आभास : तुझे इसे अवश्य देना चाहिये इसमें कारण बताती हैं कि:

नन्वहं ते ह्यवरजा दीना हतसुता प्रभो।
दातुमर्हसि मन्दाया अङ्गेमां चरमां प्रजाम्।।६।।

श्लोकार्थ : हे प्यारे समर्थ भाई! युक्तिके साथ कहती हूं कि मैं तेरी छोटी बहिन हूं. मेरे लडके मर गए हैं, इसलिए दुःखित हूं. अतः इस अन्तिम सन्तानको दे दें।।६।।

व्याख्यार्थ : इसे दे देने पर तुझे अवश्य दानरूप फल होगा. यहां 'ननु' यह सम्बोधनार्थक है. इससे देवकी यह बता रही हैं, कि तू मेरी युक्तिको समझ. 'ननु' पद वहां आता है, जहां युक्ति दिखानी होती है, इसलिए यहां 'ननु' सम्बोधनार्थक होता हुआ भी युक्तिको सूचित करता है. निश्चय ही मैं तेरी छोटी बहिन हूं, इसमें तेरा और मेरा अनुभव ही प्रमाण है, अर्थात् तू और मैं यह जानते हैं कि तू बड़ा भाई है और मैं छोटी बहिन हूं. छोटी बहिन होती है, वह दया योग्य होती हैं, मैं शोक आदिसे दुःखित हूं, कारण यह है, कि मेरे पुत्र मार दिये गये हैं, तू प्रभु(समर्थ) होनेसे दान देनेमें समर्थ है, अत एव तू देने योग्य है. 'मन्दायाः' पदसे सूचित किया कि मैं मन्दभाग्या हूं, इसलिये अब मैं रजस्वला भी नहीं हूंगी, जिससे सन्तानकी सम्भावना हो. अतः इस अन्तिम सन्तानको तू मुझे दे, दूसरी कन्या न दे कर यही कन्या दे।।६।।

आभास : इतना कहने पर भी कंसने कन्याको नहीं छोडा, इस बातको अब कहते हैं:

उपगूह्यात्मजामेवं रुदन्त्या दीनदीनवत्।
याचितस्तां विनिर्भर्त्स्य हस्तादाचिच्छिदेखलः।।७।।

श्लोकार्थ : इस प्रकार लडकीको छिपाकर अत्यन्त दीनकी तरह विलाप करती हुई देवकीको झिडकाकर, कंसने उसके हाथसे कन्याको छीन लिया. झिडका इसलिये कि उसने याचना की थी।।७।।

व्याख्यार्थ : इस प्रकार लड़कीको छिपाकर विलाप करती हुई देवकीको झिड़ककर, कंसने उसके हाथसे कन्याको छीन लिया. झिड़का इसलिए कि उसने मांगा था. श्लोकमें आये 'आत्मजां' पदका अर्थ अपनेसे पैदा हुई लड़की है, परन्तु यहां शंका होती है, कि देवकी यह नहीं समझती थीं, कि यह मेरी लड़की है, और श्रीशुकदेवजी सर्वज्ञ थे, इसलिए वे भी इसे देवकीकी कन्या नहीं समझते थे, तो फिर श्लोकमें 'आत्मजां' यह कैसे कहा? इस आशंकाकी निवृत्तिकेलिए आत्मजा शब्दकी व्याख्या करते हुवे आचार्यचरण आज्ञा करते हैं, कि भगवान्से उत्पन्न हुई इस कन्याको, ऐसा यहां 'आत्मजां' पदका अर्थ है. अर्थात् 'आत्मन्' शब्दसे यहां भगवान् अर्थ समझा जाता है. जैसा कि कहा है, ''व्यवहारे शब्दाः परमार्था एव'', व्यवहारमें आनेवाले शब्द अपने मुख्य अर्थका परित्याग नहीं करते. 'आत्मा' शब्दका मुख्य अर्थ भगवान् है, इसलिए यहां आत्मजा शब्दका अर्थ ''भगवानसे उत्पन्न हुई कन्या'' है. यहां कहते है, कि यहां श्रीशुकदेवजीका ऐसा अर्थ करनेमें कोई प्रयोजन नहीं था, इसलिए ऐसा अर्थ मानना ठीक नहीं है, तो दूसरे पक्षको लेकर कहते हैं, कि जैसे देह, इन्द्रिय आदिमें आत्मा शब्दका प्रयोग लोग करते हैं, ऐसे ही पुत्र मान लेने पर तथा दत्तक लेने पर आत्मजत्व न होने पर भी आत्मज शब्दका प्रयोग होता है, वैसे ही यहां आत्मजा शब्दका प्रयोग हुआ है. श्लोकमें आये 'एव' पदसे यह सूचित किया कि देवकीने इस प्रकारके वाक्य अनेकवार कहे. रोदन इसलिए किया कि यह यशोदाजीकी कन्या मेरे कारण मारी जा रही है. कंसको कहनेके समय देवकी दीनातिदीन थीं. जैसे कोई भाग्यहीन होनेसे पुत्रादि मर जाये तो दीन होती है, और वही रोगग्रस्त हो जाने पर अतिदीन बन जाती हैं, इसी प्रकार अपने पुत्रोंके मर जानेसे देवकी दीन तो थीं ही, उस पर भी जब दूसरेकी सन्तानको मारता देखा, तो वह अत्यन्त दीन हो गईं. कंसने एक हाथसे देवकीके एक हाथको पकड़ा और दूसरे हाथसे कन्याको देवकीके हाथसे छीना. कंसने ऐसा क्यों किया तो कहते हैं की वह दुर्जन था.

खलको बुरे कार्यका कोई ख्याल नहीं होता।।७।।

आभास : कंसने कन्याको छीनकर जो कुछ किया सो कहते हैं:

तां गृहीत्वा चरणयोर्जातमात्रां स्वसुः सुताम्।

अपोथयच्छिलापृष्ठे स्वार्थोन्मूलितसौहृदः।।८।।

श्लोकार्थ : नाल आदिसे युक्त अर्थात् नवजात अपनी भानजीके पैर पकडकर, कंसने उसे शिला पर पटक दिया, क्योंकि उसने स्वार्थवश सौहार्दका बिलकुल परित्याग कर दिया था।।८।।

व्याख्यार्थ : कंसने कन्याके पैर पकड़े. मारनेकेलिए ही उसने पैरोंकी तरफसे पकड़ा. कंसने इस रूपमें पकड़नेसे स्पष्ट सूचित हुआ कि मारनेकेलिए ही उसे पकड़ा है. उसके नाल आदि भी नहीं काटे गये थे, इससे उस लड़कीको अत्यन्त कोमलता बताई गई. अत्यन्त कोमल बालिकाके मारनेसे यह सिद्ध होता है, कि कंस कितना दुष्ट था. कन्या भी बहिनकी थी, इससे उसे मारना सर्वथा अनुचित था. इससे स्पष्ट हुआ कि कंस कितना बुरा कार्य करनेवाला था. धोनेके कपड़ेको जैसे पत्थर पर पछाड़ा जाता है, वैसे ही कन्याको शिला पर पछाड़ा. आंगनमें रखी हुई शिला स्नानकेलिए होती है, उस पर पछाड़ा. यदि कहें कि कंस, बहिन एवं कन्यामें सौहार्दयुक्त था, तो फिर ऐसा अयुक्त काम कैसे किया? तो कहते हैं, कि स्वार्थवश उसने सौहार्दको बिल्कुल तिलाञ्जलि दे दी थी।।८।।

आभास : तत्पश्चात् जो हुआ सो कहते हैं:

सा तद्धस्तात् समुत्पत्य सद्यो देव्यम्बरं गता।

अदृश्यतानुजा विष्णोः सायुधाष्टमहाभुजा।।९।।

श्लोकार्थ : वह कन्या उस कंसके हाथसे उछलकर, सद्यः देवतारूप बन गई और आकाशमें स्थित हो गई. ऐसी बात वह कन्या इसलिए कर सकी, कि व्यापक श्रीकृष्णकी छोटी बहिन थी. अत एव आयुध धारण किये हुए आठ भुजाओं सहित आकाशमें स्थित हुई, कंस आदिको दिखी।।९।।

व्याख्यार्थ: ज्यों हि कन्याको शिला पर पछाड़ा, त्यों ही हाथसे छूटकर शीघ्र ही देवतारूप बन गई और बादमें आकाशमें चली गई. उस समय आकाशमें बाजकी तरह स्थित हुई. उस कन्याको कंस आदि सभीने देखा. उसमें देवतारूप होकर आकाशमें स्थित होनेका सामर्थ्य इसलिए है, कि वह व्यापक परब्रह्मकी छोटी बहिन है. शंका होती है, कि माया देवकीजीसे उत्पन्न नहीं हुई, तो वह

भगवान्की अनुजा(छोटी बहिन) कैसे हो सकती है? यदि कहें कि भगवान्के प्राकट्यके अनन्तर मायाने जन्म लिया है, इसलिए वह यौगिक अर्थको लेकर अनुजा कहला सकती है, तो कहते हैं कि भगवान्के पीछे जहां कहीं उत्पन्न होनेवाले सभी बालक भगवान्के अनुज कहलायेंगे, इसलिए यहां पर यह शंका रह जाती है, कि भगवान् एवं मायाके माता-पिता एक न होनेसे माया अनुजा (छोटी बहिन) कैसे कहला सकती है? इस पर श्रीपुरुषोत्तमजी महाराज आज्ञा करते हैं कि कृष्णोपनिषद्में कहा कि नन्द परमानन्दरूप है, श्रीयशोदा मुक्तिरूपा है, देवकी ब्रह्मविद्या एवं वसुदेव वेदरूप है. लोकमें स्पष्ट है, कि जानने योग्य वस्तु ज्ञानप्राप्तिमें कारण होती है. तात्पर्य यह है, कि जब ज्ञेय होता है, तब ही उसका ज्ञान किया जाता है. कुछ न कुछ अर्थ होता है, तब ही शब्दका प्रयोग होता है. ऐसा जब विचार है, तो मुक्तिरूपा श्रीयशोदा, देवकीरूपा ब्रह्मविद्यासे प्राप्त होती है. इसलिए श्रीयशोदा आधिदैविक है, और देवकी आध्यात्मिक है. विचार किया जाय तो यह स्पष्ट है, कि आध्यात्मिक और आधिदैविक एक ही है. इसलिए श्रीयशोदा और देवकी एक ही है. माया, भगवान्के पीछे हुई है, अतः भगवान् देवकीके यहां अथवा श्रीयशोदाजीके यहां प्रकट हुवे हों और माया भी इन दोनोंमें किसीके यहां प्रकट हुई हो, तब भी वह श्रीकृष्णकी अनुजा कहला सकती है[१]. यहां यह प्रश्न हो सकता है, कि भगवान् एवं माया, यदि यशोदाजीके यहां प्रकट हुवे हैं, तो माया भगवान्के पीछे हुई. साथमें होनेवालोंमें जो पीछे होता है, वह बड़ा समझा जाता है, इसलिए नियमसे माया ही ज्येष्ठा कहलायेगी, वह छोटी बहिन कैसे कहलाई ? इसका उत्तर देते हैं कि 'पश्चाच्च जाता' यह पीछे हुई, इसलिए 'अनु=पश्चात् जाता = अनुजा', ऐसा यौगिक अर्थ मानकर अनुजा शब्दका प्रयोग यहां होता है. भगवान् श्रीयशोदाजी अथवा देवकीजीके पुत्र हैं, माया छोटी बहिन है, ऐसी लोकमें प्रसिद्धि है.'श्रुतिप्रत्यक्षमैतिह्यम्' इस वाक्यके अनुसार ऐतिह्यरूप जो लोकप्रसिद्ध है, उसे भी प्रमाण माना है. अतः लोक प्रसिद्धिके अनुसार माया छोटी बहिन कहला सकती है. व्यापक भगवान्की छोटी बहिन होनेसे उसका आकाशमें उस रूपमें स्थित होनेका सामर्थ्य है. मायाके भगवान्से द्विगुण हाथ थे, जिनमें वह आयुध धारण किये हुवे थीं. माया भगवान्का और अपना कार्य करने आईं हैं, इसलिए भगवान्की भुजाओंसे उसकी द्विगुण अर्थात् आठ भुजाएं हैं. अपने वाक्यों द्वारा देवकी एवं वसुदेवजीको

बन्धनसे छुड़ाया, इसलिए मायाने यह भगवान्का[1] कार्य किया और कंसको कहकर सबको दुःख दिलाया, तथा धर्मका नाश कराया, यह कार्य उसने अपना किया. इस प्रकार वह दोनोंका कार्य करने आईं. भगवान्के कार्यको भी करने आईं, इसलिए आयुध सहित आठ भुजावाली बताई गईं. जैसे भगवान्ने अपने प्राकट्यके समय सायुध चतुर्भुजरूप दिखाया, वैसे ही इसने भी सायुध अष्टभुज स्वरूप दिखाया।।९।।

१.यहां लेखकारका यह आशय है, कि श्रीवसुदेवजी एवं नन्दरायजी धर्मके भाई थे, अतः इन दोनो भाईओंके होनेवाली सन्तान भाई-बहिन हो सकती है. जैसे नन्दरायजी एवं वसुदेवजी धर्मके भाई होनेसे एक समझे जाते हैं, वैसे ही उनकी दोनो पत्नीयां भी एक ही समझी जायेगी. अत एव अलग-अलग मातासे उत्पन्न हुवे सभी पाण्डव परीक्षितके पितामह कहलाये, क्योंकि पाण्डुके एक होनेसे कुन्ती एवं माद्री एक ही समझी गई.

२.यहां श्रीवल्लभजी महाराज कहते हैं कि निबन्धकी रीतिसे यह माया 'अनिरुद्ध'का कार्य करने आई हैं.

आभास : मायाने प्रकट होनेके बाद इस समय दूसरा रूप धारण कर लिया. इसलिए उसकी सामग्रीका वर्णन करते हैं:

दिव्यस्रगंबरालेपरत्नाभरणभूषिता।
धनुः शूलेषु चर्मासि शङ्खचक्रगदाधरा।।१०।।

श्लोकार्थ : वह देवी दिव्य माला, दिव्य वस्त्र, दिव्य चन्दन, एवं रत्नजडित आभरणोंसे विभूषित तथा धनुष, त्रिशूल, बाण, ढाल, तलवार, शंख, चक्र, गदायुक्त हाथोंवाली दिखी।।१०।।

व्याख्यार्थ : दिव्य मालाएं, दिव्य वस्त्र, दिव्य चन्दन और रत्नजड़ित आभूषण इस प्रकार चार प्रकारकी सामग्रीसे वह देवी विभूषित है. यहां माला आदिका जो क्रम कहा गया है, वह दर्शनके क्रमसे हैं अर्थात् जो वस्तु पहिले दिखी अथवा जानी गई, उसका पहिले निर्देश किया गया है, और जो पीछे दिखी उसका पीछे. गन्धकी वजहसे पहिले नहीं देखी गई, मालाकी प्रतीति(ज्ञान) हुई इसलिए पहिले मालाका उल्लेख किया, फिर वस्त्र, तदनन्तर चन्दन और तत्पश्चात् आभूषण. इसलिए इसी क्रमसे श्लोकमें निर्देश किया गया है. अब मायाके हाथोंमें धारण किये गये आयुधोंकी गणना की जाती है. मायाके वामभागके एक हस्तमें धनुष है. दक्षिण भागके दो हाथोंमेंसे एक हाथमें त्रिशूल है,

और दूसरे हाथमें बाण है. एक वाम हस्तमें ढाल और एक दक्षिण हस्तमें तलवार, अन्य वाम हस्तमें शंख एवम् एक दक्षिण हस्तमें चक्र और शेष रहे वाम हस्तमें गदा. इस प्रकार वह माया अपनी आठों भुजाओंमें गदा पर्यन्त आठों आयुधोंको धारण किये हुवे थीं।।१०।।

आभास : उसका स्वरूप भगवान्की तरह सर्वजनवेद्य हुआ, इसको बतानेकेलिए कहते हैं कि :

सिद्धचारणगन्धर्वैरप्सरः किन्नरोरगैः।
उपाहृतोरुबलिभिः स्तूयमानेदमब्रवीत्।।११।।

श्लोकार्थ : जिसकी सिद्ध, चारण, गन्धर्व, अप्सरा, किन्नर और नागगणोंने बहुत सामग्री अर्पितकर स्तुति की, वह देवी कंससे इस प्रकार बोलीं।।११।।

व्याख्यार्थ : श्लोकमें कहे गये सिद्ध, चारण और गन्धर्व त्रिगुणात्मक हैं अर्थात् सात्त्विक, राजस, तामस हैं और भी कहे गये इसी प्रकारके हैं. श्लोकमें 'अप्सरैः' ऐसा पाठ मानते हैं, तो व्याकरणसे वह नहीं बन सकता, इसलिए छान्दस मानकर ''**बहुलं छन्दसि**'' से उसकी सिद्धि होगी. यदि 'अप्सरः' से लेकर आधा चरण पूरा ही समस्त मान लेते हैं, तो 'अप्सरस्' शब्द रहने पर भी कोई गडबडी नहीं होती. 'सिद्ध'से लेकर 'सर्प' तक प्रत्येक इस देवीके ऐश्वर्यादि छः गुणोंमेंसे एक-एक गुणसे निर्वाह करनेवाले हैं. कंससे देखते-देखते ही सिद्ध आदिने उस देवीको बहुत पूजा सामग्री भेंट की. श्लोकमें आया 'बलि' शब्द जय-जय आदि शब्दोंका भी उपलक्षक है, अर्थात् बलि शब्दसे जय-जय आदि शब्द भी लिये गये हैं. इस प्रकार सिद्ध आदिसे जिसकी स्तुति की गई ऐसी वह देवी, ''मैं कंसको मारनेमें समर्थ हूं'' ऐसा बताती हुई, आगे कही जानेवाली बात बोलीं।।११।।

आभास : दो बात यहां कहनी है, कि तू ही कंसको क्यों नहीं मार देती और देवकी आदिकी रक्षाकेलिए क्यों नहीं रहती तो देवी कहती हैं कि:

देव्युवाच

किं मया हतया मन्द जातः खलु तवान्तकृत्।
यत्र क्वचित् पूर्वशत्रुर्मा हिंसीः कृपणां वृथा।।१२।।

श्लोकार्थ : देवी कहती हैं, कि हे मूर्ख ! मेरे मारनेसे तुझे क्या लाभ है,

तेरा मारनेवाला जो तेरा पूर्वजन्मका शत्रु है, वह जहां कहीं पैदा हो गया है, अतः इस दीन देवकीको व्यर्थ न मार ।।१२।।

व्याख्यार्थ : मेरे मारनेसे तुझे क्या लाभ है? तू यदि मुझे मार भी देता तो भी मैं तेरा अनिष्ट नहीं करती, तो फिर बिना मारे कैसे अनिष्ट कर सकती हूं. तू इस गुप्त वृत्तान्तको नहीं जानता इसलिए मूर्ख है. मैं तुझे इसलिए नहीं मारती कि तेरा मारनेवाला कहीं पैदा हो गया है. जहां कहीं पैदा हो गया, ऐसा सामान्यरूपसे देवीने कहा. विशेष स्थानका निर्देश नहीं किया. इसका कारण यह है, कि छिपाकर कहनेसे देवता प्रसन्न होते हैं. यदि तू यह कहे कि मैं जैसा भगवान्का शत्रु हूं, वैसा तेरा भी शत्रू हूं और तुझमें मुझे मारनेका सामर्थ्य भी है, तो भगवान् मुझे मारेंगे, तू नहीं मारती, इसमें क्या कारण है? देवी कहती हैं, कि भगवान् तेरा पूर्वजन्मका शत्रु है. मेरा तो तू इस समय शत्रु बना है, और वह भी देवकीके अष्टम बालककी बुद्धिसे, अतः तुझे भगवान् ही मारेंगे, आकाशवाणीने भी यही बात कही है. अतः इस दीन देवकीको न मार. इसके मारनेसे तुझे कोई फल मिलनेवाला नहीं है।।१२।।

आभास : इस प्रकार कहकर, देवी चली गईं, यह कहते हैं:

श्रीशुक उवाच

इति प्रभाष्य तं देवी माया भगवती भुवि ।

बहुनामनिकेतेषु बहुनामा बभूव ह।।१३।।

श्लोकार्थ : श्रीशुकदेवजी कहते हैं, कि इस प्रकार स्पष्टतया अनेक बातें कहकर, वह माया भगवती देवी पृथिवीके अनेक स्थानोंमें स्थित होती हुईं बहुत नामवाली हुईं।।१३।।

व्याख्यार्थ : देवीने इस प्रकार स्पष्ट कहा. यहां 'प्रभाष्य' पदमें जो 'प्र' उपसर्ग है, उससे सूचित किया कि इसके अतिरिक्त भी देवीने कुछ कहा. यदि पूर्वोक्त बात ही कहतीं, तो उसके वाक्योंमें ब्राह्मण आदिका निर्देश न होनेसे ब्राह्मणोंके साथ वह द्वेष नहीं करता, परन्तु देवीने ब्राह्मण आदिके विषयमें भी कुछ कहा, इसलिए ब्राह्मणोंसे भी उसने द्वेष करना आरम्भ किया. कंसके साथ बातचीत करनेसे ही सब कार्य सिद्ध हो गया. यह बात देवता होनेसे देवीने समझ ली. इसी आशयसे श्लोकमें 'देवी' पद किया है. उस देवीमें भगवान्के ऐश्वर्यादि धर्म हैं, अतः उससे मोहित हुआ कंस, यदि दूसरी किसी भी शक्ति द्वारा समझाया

जाय तब भी न समझे, इस आशयसे श्लोकमें 'भगवती' पद दिया है. वह भगवती है, इसलिए सर्वत्र भगवद्भावको प्रगटकर, पूजाको प्राप्त करेगी. अतः वह भगवान्के कहे अनुसार पृथ्वीपर जितने भी स्थान हैं, उनमें अनेकरूप धारणकर, अनेक नामोंसे प्रसिद्ध हुई. दुर्गादि मूर्तियोंमें उसके अनेकरूप स्पष्ट हैं, अर्थात् दुर्गा आदिके जो भी रूप हैं वे उसीके हैं. वह माया भगवद्भावको प्रकटकर, अनेक स्थानोंमें अनेक रूपोंसे पूजी जायेगी, तो उसे अपने पास रखनेकेलिये वसुदेवजी देवकीजीका आग्रह व्यर्थ है।।१३।।

आभास : तेरा शत्रु कहीं उत्पन्न हो गया, ऐसे मायाके वचन सुनकर कंसने क्या किया? सो कहते हैं:

तया कथितमाकर्ण्य कंसः परमविस्मितः।
देवकीं वसुदेवञ्च विमुच्य प्रश्रितोऽब्रवीत्।।१४।।

श्लोकार्थ : देवी द्वारा कहे गए वाक्योंको सुनकर कंस बहुत विस्मित हुआ और उसके वाक्यमें विश्वासकर, देवकी और वसुदेवजीकी बेडीको तोडकर विनम्र होता हुआ बोला।।१४।।

व्याख्यार्थ : मायाने जो वाक्य कहे, वे भगवान्के ही वाक्य थे, क्योंकि माया भगवान्का भी कार्य करने आई हैं, इसलिए उसने तो भगवद्वाक्योंका अनुवाद ही किया है. देवीके उन वाक्योंको सुनकर कंसको बड़ा ही आश्चर्य हुआ. यदि कंस उसे देवता समझ लेता तो पकड़कर अपने पास रखता, परन्तु उसे यह ज्ञान नहीं हुआ. इसके पश्चात् देवीके वाक्यमें विश्वासकर, वह कंस, देवकी और वसुदेवजीकी बेड़ियां तुड़वाकर देवीके कथनसे शुद्ध भाववाला और नम्र होकर बोला अर्थात् कंसने देह और मनसे शुद्ध भाव दिखाकर, वाणीसे भी शुद्ध भाव दिखाया. यह बात ''विमुच्य प्रश्रितोऽब्रवीत्''से कही है. छोड़नेसे कायिक शुद्ध भाव दिखाया और नम्र होनेसे मनसे और बोलनेसे वाचिक शुद्ध भाव दिखाया।।१४।।

आभास : उस कंसके वाक्योंकों 'अहो भगिन्यहो' इत्यादि आठ श्लोकोंसे कहते हैं. प्रथम 'अहो भगिन्यहो' इत्यादि श्लोकोंके वाक्यार्थको निम्न निर्दिष्ट कारिकाओंसे बता रहे हैं:

स्वापराधस्य कथनं फलस्यापि च कीर्तनम्।
भ्रमाच्चैवापराधोऽयं शोकदूरीकृतिस्तथा।।कारि.१।।

एवं चतुर्भिर्लोकोक्त्या शोकाभावो निरूपितः।
तत्त्वावबोधनेनापि चतुर्भिः शोकनाशनम्।।कारि. २।।
आत्मनो न हि शोकोऽस्ति ज्ञानदृष्टेश्च नश्यति।
अतः शोको न कर्तव्यः कर्माज्ञानवशो यतः।।कारि. ३।।

कारिकार्थ : ''अहो भगिन्यहो भाम'' इत्यादिसे कंसने अपने अपराधको कहा.'स त्वहं' इत्यादि श्लोकसे उसने अपने अपराधका फल बताया. ''दैवमप्यनृतं वक्ति'' इत्यादिसे भ्रमसे मैंने यह अपराध किया ऐसा कहा. 'मा शोचतं' इत्यादिसे आपको शोक नहीं करना चाहिए यह कहा।।१।।

इस प्रकार चार श्लोकोंसे आप शोक न करें ऐसा लौकिक रीतिसे समझाया अर्थात् लोकमें जैसे समझाया जाता है, वैसे समझाया. इनसे आगेके चार श्लोकोंमें तत्त्वज्ञान समझाकर, कंसने वसुदेवजी और देवकीजीका शोक दूर किया।।२।।

इसमें 'भुवि भौमानि' श्लोकसे कहा कि आत्मा न जन्म लेता है, और न मरता ही है, इसलिए शोक नहीं करना चाहिए. ''यथा नैव विदो भेदः'' इस आगेके श्लोकसे आत्मज्ञानसे शोक निवृत्त हो जाता है, ऐसा कहा. 'तस्माद् भद्रे' इस श्लोकसे तथा 'यावद्धतोऽस्मि'से कहा कि जीव कर्म और अज्ञानसे विवश हो अपना अशुभ फल भोगता है[१] अत एव उनकेलिए तुमको शोक न करना चाहिए।।३।।

१.यहां यह समझना चाहिए कि 'तस्माद् भद्रे' श्लोकसे कर्मवश होकर जीव फल भोगता है, यह कहा और 'यावद्धतोऽस्मि'से यह कहा कि जीव अज्ञानवश होकर फल भोगता है.

आभास : पहिले अपने अपराधको कहकर कंस क्षमा चाहता है:

कंस उवाच

अहो भगिन्यहो भाम मया वां बत पाप्मना।
पुरुषाद इवाभ्येत्य बहवो हिंसिताः सुताः।।१५।।

श्लोकार्थ : कंस पश्चात्ताप करता हुआ आश्चर्यके साथ बोला कि हे बहिन! अजी बहनोईजी! मुझ पापीने मनुष्यभक्षी राक्षसके समान जबरदस्ती आप दोनोंके अनेक पुत्रोंका वध किया, मुझे इसका बडा दुःख है।।१५।।

व्याख्यार्थ : 'अहो' यह आश्चर्यबोधक सम्बोधन है. कंस आश्चर्ययुक्त

होकर देवकी-वसुदेवजीके पास आया और उन्हें पृथक्-पृथक् प्रार्थना करने लगा. 'अहो' यह आश्चर्यबोधक सम्बोधन होनेसे भिन्न पद है. कंस कहता है, कि हे बहिन ! हे बहनोईजी !, श्लोकमें 'भाम' पद देनेसे कंसने यह सूचित किया कि तुम मेरी बहिनके पति हो, तुम्हारा मेरा सम्बन्ध है, और सम्बन्धीके साथ स्नेह होता ही है, इसलिए तुमसे मेरा स्नेह है. तुम्हारे पुत्रोंको पापरूप मैंने मारा. यहां 'पाप्मना' कहकर यह बताया कि मेरेमें और पापमें कोई भिन्नता नहीं है, अर्थात् मैं पापरूप ही बन गया हूं. श्लोकमें आये 'बत' पदका अर्थ खेद है. अभिप्राय यह है, कि कंस कहता है, कि मैं इस कर्मसे हार्दिक पश्चात्ताप करता हूं, तुम्हारी प्रतारणाकेलिए दिखावा नहीं करता. जैसे खानेकेलिए राक्षस बालकोंको ले जाता है, वैसे ही मैंने यह समझकर कि बालकोंको मारनेसे मेरे देहकी रक्षा हो जायगी तुम्हारे बहुत पुत्रोंको मार दिया. राक्षस किसीसे न सम्बन्ध पालते हैं और न शास्त्रकी ही अपेक्षा रखते हैं अर्थात् राक्षसोंका न कोई सम्बन्धी होता है, और न वे ''बालकोंको नहीं मारना चाहिये'' इस शास्त्रमर्यादाका ही पालन करते हैं. वे तो अपने प्राणोकी रक्षाकेलिए, जिनके द्वारा सब पुरुषार्थ मिल सकते हैं, ऐसे सभीके सन्तानोंको खा जाते हैं, उन राक्षसोंकी भांति मैंने भी तुम्हारे पुत्र मारे. मैं तो उन राक्षसोंसे भी बढ़ गया, क्योंकि वे तो एक सन्तान ही खाते हैं और मैंने तो तुम्हारे बहुत पुत्रोंको मार डाला. यह बात यहां 'बहवः' पदसे कही है।।१५।।

आभास : कंस इस प्रकारके अपराधसे होनेवाले फलकी संभावना करता है:

स त्वहं त्यत्ककारुण्यः त्यक्तज्ञातिसुहृत् खलः।
काँल्लोकान् सङ्गमिष्यामि ब्रह्महेव मृतः श्वसन्।।१६।।

श्लोकार्थ : जिसने दया छोड दी है, और जाति एवं मित्रोंको भी छोड दिया है, ऐसा दुष्ट मैं, ब्रह्महत्या करनेवालेकी भांति किन लोकोंको प्राप्त करूंगा? मैं तो जीवित ही मृत हूं।।१६।

व्याख्यार्थ : यदि आप कहें कि तुझमें कालनेमीका आवेश हो गया था इसलिए तुझसे यह दुष्कर्म बना है, स्वयं तो तू अच्छा ही है, अतः तेरे नरकमें जानेकी सम्भावना नहीं हैं, तो कंस श्लोकमें आये 'तु' शब्दसे इस पक्षका निराकरण करता हुआ कहता है, कि यह अपराध मैंने किया है. ऐसा जो मानता है, वही ''**कर्त्तास्मीति निबद्ध्यते**'' इस शास्त्रीय नियमके अनुसार फल भोगता है.

मैं भी यही मानता हूं कि मैंने यह पाप किया है, इसलिए मुझे इसका फल मिलेगा ही. यदि कहें कि ''**जिघांसन्तं जिघांसीयात्**'' इस वाक्यके अनुसार जो मारनेकी इच्छा रखता हो, उसे मारना ही चाहिये, तो तेरा इसमें क्या दोष है. इस पर कंस कहता है, कि प्रथम तो बात यह है, कि जिन बच्चोंको मैने मारा है, वे मारनेकी इच्छा नहीं रखते थे और तुम भी मारनेकी इच्छा नहीं रखते हो. जब वे बालक मारने आते अथवा समर्थ होते तब ही उन्हें मारना उचित होता, पहिले उन दीन बालकोंको मारना उचित नहीं था. जिन भानेज बालकों पर मुझे दया करनी चाहिये थी, उन पर मैंने दया नहीं की, इसलिये मैं निर्दय हूं. यदि कहें कि यह मेरा शत्रु होगा, इस सम्भावना पर भी शत्रु एवं शत्रुपुत्र मारे जाते हैं, तो सम्भावनासे तूने इन्हें मारा है, इसलिए मारनेका दोष तुझे नहीं लगेगा. कंस कहता है, कि मैंने ज्ञाति मित्रोंके सम्बन्धको तोड़ दिया है. ये मेरे सुहृद्के पुत्र हैं, अतः उन्हें नहीं मारना चाहिये, यह विचार नहीं रखा है. यदि कहें कि जो अपनेको मारनेवाले हों, वे सब मारने योग्य हैं, जैसा कि कहा है, ''**भ्रातापि भ्रातरं हन्यात्**'', मारनेवाले भाईको भी भाई मार दे. तो कंस कहता है, कि मैं दुष्ट हूं, क्योंकि मैंने ही उन्हें मारा है, उन्होंने मुझे नहीं मारा है, अतः मैं व्यर्थ दूसरोंको मारनेवाला हूं, इसलिए दुष्कर्म करनेसे मैं किन लोकोंको प्राप्त करुंगा. यदि कहें कि मारनेवालोंको तामिस्र आदि नरक मिलते ही हैं, तो फिर तुझे यह सन्देह करना ही नहीं चाहिये कि मैं किन लोकोंको जाऊंगा. इस पर कंस कहता है, कि ब्रह्महत्या करनेवालेका जो नरक मिलता है, वह मुझे मिलेगा. यदि आप कहें कि ''**ब्रह्महा पच्यते घोरे पुनरावृत्ति–वर्जिते**'' इस वाक्यके अनुसार जहांसे पीछे नहीं लौटता है, ऐसे घोर नरकमें ब्रह्महत्या करनेवाला दुःख पाता है, तुझे भी वही नरक मिलेगा, फिर क्यों सन्देह करता है, कि मैं किस नरकमें पडूंगा. इस पर कंस कहता है, कि मैं प्रायश्चित करुंगा. उससे मुझे मारनेका दोष तो नहीं लगेगा परन्तु महान् व्यक्तियोंके अपराधसे प्रायश्चित न्यून है, या नहीं, इस सन्देहके होनेसे मैं ऐसा कहता हूं. यदि कहें कि प्रायश्चित कर लेने पर नरक मिलेगा ही नहीं तो कहता है, कि इस प्रकारका व्यक्ति जीवित ही मृत है, क्योंकि उसकी अपकीर्ति हो गई है. कंस कहता है, कि मुझमें पाप नहीं रहता तो मेरी अपकीर्ति मिट पाती, पाप नहीं रहनेके कारण भगवान्के सर्वात्मक होनेसे कोई भी मेरी अपकीर्ति नहीं करता, परन्तु ऐसा नहीं हुआ है, इसलिए मैं जीवन्मृत हूं. मैं किस नरकमें जाऊंगा यह सन्देह तो

इसलिये हो रहा है, कि प्रायश्चित बतानेवाला शास्त्र कहता है, कि प्रायश्चितसे पाप दूर हो जाते हैं।।१६।।

आभास : इस प्रकार संभावनासे अपनेको मिलनेवाले फलका निरूपण कर, इसमें मेरा सहज दोष नहीं है, इस बातको सिद्ध करनेकेलिए अपने आपको निर्दोष बताते हुए की तरह कंस कहता है:

दैवमप्यनृतं वक्ति न मर्त्या एव केवलम्।
यद्विश्रम्भादहं पापः स्वसुर्निहतवाञ्छिशून्।।१७।।

श्लोकार्थ : केवल मनुष्य ही झूठ नहीं बोलते, देवता भी झूठ बोलते हैं. देवताके विश्वास पर ही मुझ पापीने अपनी बहिनके बहुत बालकोंको मार दिया।।१७।।

व्याख्यार्थ : आकाशवाणीरूप देवताने तो यह कहा था कि इस देवकीका आठवां गर्भ तुझे मारेगा. आकाशवाणी जैसे देवता है, वैसे ही दुर्गा भी देवता है. जो दुर्गाने बात कही वह तो प्रत्यक्षके विरुद्ध नहीं हुई, किन्तु आकाशवाणीने जो कहा, वह प्रत्यक्षके विरुद्ध हुई. कंस देवताओंकी गुप्त बातको नहीं जानता है, इसलिये ऐसा कहता है. कंस कहता है, कि "**मर्त्येष्वनृतं प्रतिष्ठितं**" इस वाक्यके अनुसार झूठ मनुष्योंमें रहता है, और देवताओंमें सत्यकी स्थिति है, परन्तु यहां विपरीत देखनेमें आया. मैं तो समझता था कि मनुष्य ही झूठ बोलते हैं, परन्तु अब मालूम हुआ कि देवता भी झूठ बोलते हैं. देवताके वाक्य पर विश्वास करते ही मैंने बहिनके पुत्रोंको व्यर्थ ही मारा. यदि कहें कि तुझे इस बातमें सन्देह था, तो "**प्रमाणमन्तः करणप्रवृत्तयः**"के अनुसार अन्तःकरण ही यह ठीक है, या नहीं इसकी साक्षी दे देता है, तो तूने अन्तःकरणसे यह क्यों नहीं समझा? तेरे हृदयमें आकाशवाणीकी बात ही क्यों आई? तो कहता है, कि मैं अत्यधिक पाप करनेसे पापरूप बन गया हूं. जो महान् होते हैं, उनका अन्तःकरण साक्षी दे देता है, कि यह ठीक है, या नहीं और जो पापी हैं, उनका हृदय किसी बातको ठीक नहीं कर सकता. श्लोकमें आये 'स्वसुः शिशून्'का भाव यह है, कि बहिनके साथ प्रेम था, उस प्रेमका भी मैंने पालन नहीं किया और बच्चे बिलकुल छोटे हैं, इसका भी विचार मैंने नहीं रखा. मुझे आकाशवाणीने यह कहा कि आठवां गर्भ तुझे मारेगा इससे तो स्पष्ट था कि वह सामर्थ्यशाली होगा, परन्तु ये बच्चे तो इस प्रकारके नहीं निकलें, इन्हें तो मैंने व्यर्थ ही मारा।।१७।।

आभास : अब इसके आगे क्या करना चाहिए तो कहते हैं कि:

मा शोचतं महाभागावात्मजान् स्वकृतम्भुजः।
जन्तवो न सदैकत्र दैवाधीनाः सदासते।।१८।।

श्लोकार्थ : हे महाभाग्यशाली देवकी वसुदेवजी ! अपने पुत्रोंका शोक न करो, क्योंकि उन्होंने अपने किये हुए कर्मोंका फल भोगा है, भगवदिच्छासे जो जन्म एवं मरणके भागमें हैं, वे सदा साथ नहीं रहते।।१८।।

व्याख्यार्थ : जो महान् पुरुषोंके शोकका कारण बनता है, वह प्रायश्चित करनेका भी अधिकारी नहीं होता. ऐसी दशामें उसकी प्रायश्चितसे शुद्धि न होनेमें उसे नरक भोगना पड़ता है, इसलिए मुझ पर कृपाकर, आप शोक न करें. यदि कहें कि बुरा करनेवाले पर कृपा कैसे की जा सकती है? तो कंस कहता है, कि आप महाभाग हो, जो महाभाग्यवान् होते हैं, वे महान् होते हैं, उनमें शत्रु, मित्र एवं उदासीन भाव नहीं होते. आप यदि यह कहें कि हम जब महान् हैं, तो अपने आप शोक नहीं करेंगे, तू हमें क्या समझा रहा है, कि शोक नहीं करना चाहिये. इस पर कंस कहता हैं कि ये आपके पुत्र थे, आपको आपकी अकृतार्थताका शोक नहीं है, किन्तु बालकोंने जन्म लिया और उनसे कुछ भी सुकृत न बना, वे अकृतार्थ ही गये, इस बातका शोक है, परन्तु यह शोक नहीं करना चाहिये, क्योंकि जैसा उनका कर्म था, वैसा उन्होंने फल भोगा. कंसको यद्यपि यह ज्ञात नहीं था, कि ये बच्चे मरीचिके पुत्र थे, और इस प्रकार यहां उत्पन्न हुवे, तो भी कार्यसे अनुमान लगा लिया कि इन्हींने ऐसा कर्म किया था, जिससे ये बाल्यवस्थामें ही मारे गये. कंस कहता है, कि यदि आप यह कहें कि न हम बालकोंका शोक करते हैं और न अपना ही, हम तो इस बातका शोक करते हैं कि पुत्र और हम साथ न रहे. इस पर कंस कहता है, कि जो 'जायस्वम्म्रियस्व'के मार्गमें हैं, वे सदा ही एक जगह नहीं रहते, क्योंकि उनकेलिए भगवान्की इच्छा ऐसी ही है. इस बातको 'दैवाधीनाः' पदसे कहा है. यदि इस प्रकारके प्राणी रह भी जाते हैं तो भी उनमें पूर्ववासनासे शत्रु, मित्र एवम् उदासीनताके भावोंके नित्य रहनेसे वे अच्छे रूपमें नहीं रह सकते. श्लोकके अन्तमें 'सदासते', 'समासते' और 'सहासते' ये तीनों पाठ हो सकते हैं. इसलिए उपर्युक्त तीनों अर्थ किये गये हैं।।१८।।

आभास : मेरा इसमें कोई अपराध नहीं है, ऐसा लौकिकन्यायसे बताकर कंस अब शास्त्रके अनुसार भी चार श्लोकोंसे शोक दूर करता है:

भुवि भौमानि भूतानि यथा यान्त्यपयान्ति च।
नायमात्मा तथैतेषु विपर्येति यथैव भूः।।१९।।

श्लोकार्थ : जैसे मिट्टीसे घट आदि पैदा होते हैं और नष्ट हो जाते हैं, परन्तु मिट्टीमें विकार नहीं होता, वैसे ही शरीर बनते-बिगडते रहते हैं, परन्तु आत्मामें कोई विकार नहीं होता अथवा यों कहिए कि जैसे घट, तृण,भित्ति आदि पैदा होते हैं और नष्ट होते हैं, परन्तु पृथ्वीमें स्थित अन्तर्यामीरूप परमात्मामें कोई विकार नहीं होता, वैसे ही देहके उत्पन्न एवं नष्ट होने पर आत्मामें कोई विकार नहीं होता।।१९।।

व्याख्यार्थ : प्राणी जन्म लेते हैं और मरते हैं, वे भगवदिच्छाके अधीन होकर एक जगह नहीं रह पाते, यह पहिले कहकर, कंसने शोक दूर किया. अब कहता है, कि वे मरते ही नहीं, क्योंकि "**नित्यः सर्वगतः स्थाणुः**"के अनुसार आत्मा(जीव), व्यापक(सर्वत्र रहनेवाला) एक शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरमें नहीं जाने आदि धर्मोसे युक्त एवं कूटस्थ(सदा एक रसवाला) है. इस प्रकारके सांख्यमतको ही दैत्य मानते है, इसलिये कंसने इस प्रकारके मतको कहा. अर्थात् जीवको व्यापक आदि बताया. कंस कहता है, कि जैसे आकाशमें बादल, अन्धकार एवं प्रकाश होते रहते हैं, परन्तु आकाशमें कोई विकार नहीं होता, वैसे ही ऊंच-नीच देह उत्पन्न होते हैं और नष्ट हो जाते हैं, परन्तु आत्मामें कोई विकार नहीं होता. तुम्हारे पुत्रोंमें भी उस आत्माका रूप था, इसलिए उनके देहके चले जाने पर भी कोई क्षति नहीं हुई. यहां आकाशका दृष्टान्त तो दिया है, परन्तु स्पष्टरूपमें वह व्यवहारमें नहीं आता. इसलिए कंस दूसरा, प्रत्यक्षव्यवहारमें आनेवाला दृष्टान्त देता है, कि जिस प्रकार पृथ्वीके विकारभूत कृमि, कीट आदि एवं वृक्षादि हैं, वे भूमिसे पैदा होते हैं अर्थात् पृथ्वीसे भिन्न होते हैं और पृथ्वीमें ही लीन हो जाते हैं, उनके निकलने व लीन होने पर जैसे भूमिमें कोई विकार नहीं होता, वैसे ही आत्मामें समझना चाहिये. अपनेसे किये गये कर्मोंके अधीन होकर ही देह उत्पन्न होती हैं और लीन हो जाती हैं, परन्तु आत्मा न पैदा होता है, और न लीन होता है. श्लोकमें "**यथा भूः**" ऐसा कहा है. यहां श्लोकमें जैसे यह कहा कि पृथ्वीसे पैदा हुई चीजोंमें विकार होता है, और पृथ्वीमें विकार नहीं होता, वैसे ही श्लोकमें यह भी कहना चाहिये था, कि आत्मामें विकार नहीं होता, किन्तु देह आदिमें विकार होता है, परन्तु ऐसा इसलिए नहीं कहा कि देह भी श्लोकमें कहे

गये ''भौमानि भूतानि'' इन पदोंसे ले लिया गया, इसलिए पृथक् देह पद श्लोकमें नहीं दिया गया. श्रीप्रभुचरण आज्ञा करते हैं कि ''भुवि भौमानि भूतानि यथा यान्त्यपयान्ति तथात्मा न याति नापयाति'', इतना ही श्लोकका शक्य(मुख्य) अर्थ होना चाहिये और पद भी ये ही होने चाहिये, शेष रहे श्लोकके पद व्यर्थ हैं. और दूसरी बात यह भी है, कि पृथ्वीमें विकार होकर ही वस्तु पैदा होती है, इसलिए यह कहना ठीक नहीं है, कि पृथ्वीसे वस्तु पैदा होती है, और पृथ्वीमें कोई विकार नहीं होता. इस अरुचिसे श्रीसुबोधिनीमें दूसरे पक्षका उल्लेख करते हैं कि ''भुवि भौमानि भित्त्यादीनि'', अर्थात् पृथ्वीमें भित्ति आदि पैदा होते हैं और नष्ट हो जाते हैं, परन्तु पृथ्वी उस रूपमें न बनती है, और न बिगड़ती हैं. शरीरस्थ पंच महाभूत जो जल आदि हैं वे उत्पन्न और नष्ट होते हैं[१] ।।१९।।

१.इस प्रकार 'भूतानि' पदके अर्थका 'आत्मनि' पदके अर्थमें सम्बन्ध करनेसे अर्थ होता है. यद्यपि इस प्रकार अर्थ करने पर भी 'भूत' पद एवं 'एतेषु' इत्यादि पद सार्थक नहीं होते हैं, क्योंकि ''नायमात्मा तथा'' ऐसा कहनेसे भी काम चल जाता है, परन्तु यहां यह कहना हैं कि जल आदिमें वही भगवान् अन्तर्यामीरूपसे रहता है, परन्तु पञ्चमहाभूतोंके उत्पत्ति-नाश-रूप-धर्मसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं है. यहां 'भूतानि','एतेषु' आदि पद न देते, तो यह अर्थ नहीं होता. श्रीपुरुषोत्तमचरण कहते हैं कि जैसे 'भौमानि' पदके अर्थका अन्वय 'भुवि' पदके अर्थमें होता है, उसी रूपमें श्लोकस्थ 'भूतानि' पदका सम्बन्ध अध्याहार किये गये 'आत्मनि' पदके अर्थके साथ होता है, और बाकी अपेक्षित पदोंकी आवृत्ति करनी चाहिये, परन्तु यह पक्ष मान लेने पर 'आत्मनि'का अध्याहार करना ही दोष है, इसलिए श्रीसुबोधिनीमें ''भूतानि जातानि वा'' यह पक्ष दिया. इसका अर्थ यह हुआ कि पृथ्वीमें ही जल आदि पैदा होते हैं, परन्तु पृथ्वी तो अधिकरणरूपमें ही रहती है, और नित्य आकाशमें अतिरिक्त जल आदि भूत ही उसमें पैदा होते हैं. इस पक्षके मान लेने पर श्लोकमें आये 'च'कारसे यह दृष्टान्त लिया जा सकता है, और इस पक्षमें पदोंकी आवृत्ति भी नहीं करनी पड़ती. शंका करते हैं कि 'भौमानि'का भित्ति आदि अर्थका दूसरा पक्ष क्यों उठाया गया? इसका स्पष्टीकरण प्रभुचरणने ''ननु भुवि'' इत्यादि शंका करके किया है. श्रीसुबोधिनीमें आये ''भूतानि जातानि''में जो 'जातानि' पद है, उसका अर्थ यह है, कि जल आदि पृथ्वीमें पैदा होते हैं. इसमें जो दार्ष्टान्तिक अपेक्षित है, उसका उल्लेख श्रीप्रभुचरणने ''तथैतेष्वन्तः स्थित आत्मापि तथा'' आदिसे किया है.

श्रीसुबोधिनीजीमें जो ''दृष्टान्तएव प्रवेश उक्तः'' यह कहा है. यहां प्रभुचरण

आज्ञा करते हैं कि ''यथैव भूः'' यह जो दृष्टान्त-निरूपक वाक्य हैं, उसमें 'भूतानि' पदका सम्बन्ध है, और यह भी समझाते हैं कि श्लोकमें आये ''यथा भूः'' पदका विवेचन श्रीसुबोधिनीमें इस प्रकार किया है, कि जैसे पृथ्वीसे पैदा होनेवाले पदार्थ विकारको प्राप्त होते हैं किन्तु उनसे बाहिर रहनेवाली पृथ्वीमें विकार नहीं होता वैसे ही जलादिके अन्तःस्थित आत्मामें भी विकार नहीं होता. ऐसा अर्थ करने पर ''न तथा एतेषु'' इन पदोंकी आवृत्ति करनी चाहिये. यही बात ''तथैतेष्विति भिन्नं वाक्यं''से कही है. इसी पक्षमें 'एतेषु' इत्यादि पदोंकी श्रीसुबोधिनीमें प्रकारान्तरसे व्याख्या करते हैं कि ''एतेषु मनुष्यदेहेष्वप्यात्मा न विक्रियते'', इसका अर्थ यह है, कि जैसे मनुष्य आदि देहोंके उत्पन्न होने पर भी उनसे पृथक् रहनेवाली पृथ्वी, विकृत नहीं होती, उसी रूपमें आत्मामें भी विकार नहीं होता, यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है. श्रीप्रभुचरण आज्ञा करते हैं कि श्रीमदाचार्यचरण अब दूसरे प्रकारसे अर्थ करते हैं कि 'वर्षाकालोद्भवेषु' इन तृण आदिसे उत्पन्न होने पर पृथ्वीमें विकार होता है, परन्तु पृथ्वीके भीतर रहनेवाले अन्तर्यामीमें विकार नहीं होता. इस प्रकार यहां व्यतिरेक दृष्टान्त मानना चाहिये. पृथ्वीके भीतर अन्तर्यामी आत्मा रहता है, इसमें ''यः पृथिव्यां तिष्ठन्'' इत्यादि श्रुति प्रमाण है. इस श्रुतिका तात्पर्य यह है, कि पृथ्वीके भीतर रहनेवाला उस पृथ्वीका अभिमानी आत्मा है, परन्तु उसमें कोई विकार नहीं होता. यदि आत्माके भी उत्पत्ति आदि मान लिये जाते हैं, तो एक तृणरूपसे आत्मामें विकृति हो गई तो फिर आत्माके अवयव न होनेसे अंशका भेद तो कह नहीं सकते, तो दूसरे तीसरे तृण आदिमें भिन्न-भिन्न आत्मा माननी होगी. ऐसी स्थितिमें एक पृथ्वीरूप शरीरमें अनन्त आत्माओंकी कल्पना करनी होगी. जैसे देहमें रोमावलीके भेदसे आत्मामें कोई भेद नहीं है, उसी रूपमें भूमिमें भी एक ही आत्मा है, उसके सम्बन्धसे करोड़ों तृण आदि उत्पन्न होते हैं और विलीन हो जाते हैं. त्वचा आदि गोलकोंमें लोभ आदि इन्द्रियां हैं, उनकी अधिष्ठात्री जो औषधि आदि देवता है, वह शरीराभिमानी आत्मासे भिन्न है, इसलिये उन देवताओंके भेदसे आत्मा भिन्न नहीं हो सकती.

इस श्लोककी व्याख्या करते हुवे श्रीवल्लभजी महाराज कहते हैं कि पृथ्वीसे कृमि-कीट आदि उत्पन्न होते हैं और उसीमें लीन हो जाते हैं. यह अर्थ 'यान्ति' इत्यादि पदोंसे लिया गया है. देह और आत्माके पक्षमें ''यान्ति अपयान्ति''का अर्थ यह है, कि देह आते जाते रहते हैं, परन्तु आत्मामें यह बात नहीं है. यहां विकारसे अन्यथाभाव अर्थ लेना. श्रीवल्लभजी महाराज श्लोकका अन्वय इस प्रकार करते हैं, कि जिस प्रकार पृथ्वीमें भित्ति आदि बनते हैं और बिगड़ते हैं, उसी प्रकार जल आदि महाभूत जो पैदा हुवे हैं, वे आते हैं और जाते हैं, परन्तु इनमें विद्यमान् आत्मा न जाता

है, और न आता है. इस दृष्टान्तसे आत्माके आने जानेका निषेध किया है. दूसरे दृष्टान्तसे आत्मामें विकार नहीं होता यह 'न तथा एतेषु' इन तीन पदोंकी आवृत्तिकर, यह अर्थ किया है, कि जैसे बाहिर रही हुई पृथ्वी, विकृत नहीं होती, वैसे ही इन पञ्च महाभूतोंमें रहनेवाला आत्मा भी विकृत नहीं होता. परन्तु पृथ्वीमें तो विकार देखा गया है, इसलिये उक्त कथनमें अरुचि आई तो श्रीवल्लभजी कहते हैं कि ''यथा भूः''के साथ 'नकारका सम्बन्ध न करके व्यतिरेकदृष्टान्तसे यह कहा, कि जैसे पृथ्वीमें विकार होता है, वैसे आत्मामें विकार नहीं होता।।१९।।

आभास: शंका होती है, कि जब एक ही आत्मा है, तो लोकमें देवदत्तकी आत्मा भिन्न है, और यज्ञदत्तकी आत्मा भिन्न है, ऐसा व्यवहार कैसे होता है, अथवा 'देवोऽहं' 'मनुष्योऽहं' आदि भेद व्यवहार कैसे होते है ? तो कहते हैं कि:

यथानेवं विदो भेदो यत आत्मविपर्ययः।
देहयोगवियोगौ च संसृतिर्न निवर्तते।।२०।।

श्लोकार्थ: जिसे ठीकरूपसे यह ज्ञात नहीं कि आत्मा एक है, उसे भेद प्रतीति होती है, और उसी भेद प्रतीतिसे आत्माकी अनित्यता, भिन्नता तथा देहके संयोग-वियोग मालूम पडते हैं और संसार भी उसीके कारण निवृत्त नहीं होता।।२०।।

व्याख्यार्थ : जिसे ठीकरूपसे आत्माकी एकताका ज्ञान नहीं है, वह भेद समझता है, और जो आत्मा एक है, ऐसा ठीकरूपसे समझता है, उसको भेदज्ञान नहीं होता. ऊपर-ऊपरसे यदि कोई ऐसा समझता है, तो भी उसकी भेद प्रतीति नहीं जाती, इसलिये 'यथानेवं विदः'में यथा पद लगाया है, अर्थात् वास्तवमें जिसको, एक ही आत्मा है, ऐसा ज्ञान है, उसे भेदप्रतीति नहीं होती. श्लोकमें 'यथानेवं विदः' ऐसा समस्त एक पद है. यहां समासान्त 'क'प्रत्यय इसलिए नहीं हुआ कि ''**शेषाद्विभाषा**''में विभाषा पद है, इसलिए उससे विकल्पसे 'क' प्रत्यय होता है. जहां द्वित्व होता है, वहां ही भेद होता है, अर्थात् द्वित्वसे ही भेद-प्रतीति होती है, इसलिए यह नहीं मानना चाहिये कि भेदसे द्वित्व प्रतीति होती है. इसमें कारण यह है, कि जब एक व्यक्तिको देखते हैं, तो ''अयम् एकः'' यह एक है, ऐसा ही व्यवहार होता है, किन्तु ''अयम् अभिन्नः'' यह व्यवहार नहीं होता. द्वित्व अपेक्षाबुद्धिसे होता है. जैसे यज्ञदत्तसे देवदत्त दूसरा है, यहां जो देवदत्तको

द्वितीय बताया, वह यज्ञदत्तकी अपेक्षासे बताया है. इसलिए मानना चाहिये, कि 'द्वित्व' वस्तुमें रहनेवाला नहीं है, किन्तु बुद्धिगत ही है. बुद्धि पदार्थको बाहिर पैदा नहीं कर सकती, अतः यह मानना चाहिये, कि अज्ञानकृत ही भेद हैं, क्योंकि एक आत्मा होनेसे आत्मा अपेक्षाबुद्धिका विषय नहीं है, क्योंकि अपेक्षाबुद्धि अनेक होने पर होती है, अथवा यों कहिये कि आत्मा 'अहं' इस ज्ञानका ही विषय है, अपेक्षाबुद्धिका विषय नहीं है. अतः वहां अपेक्षा बुद्धि अज्ञानसे ही होती है. यहां पूर्वपक्ष करते हैं, कि भेद वास्तविक है, क्योंकि भेद न माननेसे श्रुति एवं स्मृतिका व्यवहार नहीं चल सकता. इस पर कहते हैं कि ''**यत आत्मविपर्ययः**'', आत्मा, नाश और उत्पत्तिवाला तथा प्रत्येक शरीरमें भिन्न-भिन्न है, ऐसा जो ज्ञान है, वह अन्यथाज्ञान है. इस अन्यथाज्ञानको मान लेते हैं, तो उत्पन्न होते ही बालक माताके स्तन पीनेमें कैसे प्रवृत्त होता है? इससे मानना चाहिये कि वह पूर्वजन्मके संस्कारसे ही स्तनपानादिमें प्रवृत्त होता है. इससे सिद्ध हुआ कि आत्मा नित्य है, और सम्पूर्णशरीरमें चैतन्यकी उपलब्धि होनेसे व्यापक भी है, परन्तु ऐसा अनुमान करने पर भी पूर्वोक्त विपरीतज्ञानभेदसे किये गये व्यवहारसे ही होता है. अतः यह उत्पन्न होता है, ऐसा कहा जाता है. यदि उत्पन्न एवं नाश होना नहीं मानते हैं, तो व्यवहारमें अपनेको अथवा दूसरेको किसीके उत्पन्न होने पर हर्ष नहीं होना चाहिये और नष्ट होने पर शोक नहीं होना चाहिये. इससे सिद्ध हुआ कि भेद व्यावहारिक ही है, पारमार्थिक नहीं है. यह नियम है, कि जो पारमार्थिक नहीं होता वह संसारका कारण होता है. भेद संसारका कारण है, इसलिए वह पारमार्थिक नहीं है. इस अनुमानसे न आत्माका भेद सिद्ध होता है, और न आत्मा उत्पन्न एवं नष्ट हो जाती है. यदि कहें कि आत्माको उत्पत्ति-विनाशशाली एवं प्रति शरीरमें भिन्न-भिन्न मानना, इसमें अज्ञान ही कारण है, भेद कारण नहीं है. इसका उत्तर देते हैं कि ''**आज्ञानत्वेन अज्ञान**'' अन्यथा बुद्धिका कारण नहीं है, किन्तु अज्ञानसे भेद होता है, और भेदज्ञानसे अन्यथाबुद्धि होती है. यदि अज्ञानसे ही अन्यथाबुद्धि होती है, ऐसा मान लेते हैं, तो सुषुप्तिअवस्थामें अज्ञान होनेसे अन्यथाबुद्धि होनी चाहिये, परन्तु वहां अन्यथाबुद्धि नहीं होती. इससे समझते हैं कि भेद ही अन्यथाबुद्धिमें कारण है. सुषुप्तिदशामें भेद नहीं है, इसलिये वहां अन्यथाबुद्धि नहीं होती. भेद केवल विपरीतज्ञानको ही पैदा नहीं करता, किन्तु किसी देहका सम्बन्ध एवं वियोग भी भेदज्ञानसे ही होता है, जैसे यज्ञदत्तके देहके

उत्पन्न होने पर एवं नष्ट होने पर देवदत्तमें कोई विकार नहीं होता, इसी प्रकार आत्माके नित्य होनेसे पूर्वदेहमें और दूसरे देहमें एक ही आत्मा है, ऐसा जान लेने पर विकार नहीं होता. व्यावहारिक भेद मानकर ही 'श्यामोऽहं' 'गौरोऽहं', मैं श्याम हूं, मैं गौर हूं, इत्यादि व्यवहार होते है. और एक बात यह भी है, कि भेद पारमार्थिक नहीं है, यह बात दूसरे कार्यसे भी सिद्ध होती है. यदि भेद वास्तविक हो तो जन्म-मरणके होते रहनेसे संसार सदा रहना चाहिये, परन्तु वह सदा नहीं रहता. इससे मानना चाहिये कि भेद वास्तविक नहीं है. अतः समझना चाहिये कि आत्मा अविकृत है, परन्तु उसका वह अविकृतत्व तब ही सिद्ध होगा, जब उसे अविकारी एवं कूटस्थ(सदा एक रसवाला) मानें. इन सब युक्तियोंसे आत्मा कूटस्थ, व्यापक एवम् अविकृत ज्ञात होता है, और ऐसे आत्माके जानने पर शोक नहीं होता।।२०।।

आभास : अब कंस कहता है, कि आप दोनों आत्मा-व्यापक, कूटस्थ और अविकारी है, यह जानते ही हैं, इसलिए आपको शोक नहीं करना चाहिए:

तस्माद् भद्रे स्वतनयान् मया व्यापादितानपि।
मानुशोच यतः सर्वः स्वकृतं भुञ्जतेऽवशः।।२१।।

श्लोकार्थ : हे कल्याणरूपिणी देवकी ! मेरे द्वारा मारे गये अपने पुत्रोंका तथा स्वयंका शोक न कर, क्योंकि अपने-अपने कर्मोके अनुसार विवश होकर सब ही फल भोगते हैं।।२१।।

व्याख्यार्थ : कंसका यह विचार है, कि वसुदेवजी ज्ञानी होनेसे शोक नहीं करेंगे, अतः देवकीको ही समझाना चाहिये. इसलिए देवकीसे कहता है, कि हे भद्रे! अर्थात् हे कल्याणरूपिणी देवकी!, तू कल्याणरूपा है, अतः आगे भी तेरा कल्याण ही होगा और सन्तान भी होगी, इसलिए तू पुत्रोंका शोक न कर. पहिले तू अपना शोक करती है, बादमें पुत्रोंका, इस बातको सूचित करनेकेलिए श्लोकमें आये 'अनुशोचः' पदमें 'अनु' उपसर्ग लगाया है. यद्यपि तेरे लड़के अपने कर्मोके अधीन होकर ही मरे हैं, मैंने उन्हें नहीं मारा है, क्योंकि उनके कर्मोंने ही मुझे प्रेरित किया था, ऐसी दशामें भी यदि तू यह समझती है, कि तूने ही मेरे पुत्रोंको मारा है, तो भी तुझे शोक नहीं करना चाहिये. शोक न करनेमें बहिर्मुखोंकेलिए एक युक्ति है, कि नहीं चाहते हुए भी पराधीन होकर सभी अपने किये हुए कर्मोंके अनुसार ही फल भोगते हैं. कंस यह नहीं समझता है, कि ''पुष्टि, प्रवाह, मर्यादा एवं सदा

अस्थिर रहनेवाले'' चार प्रकारके जीव हैं. कारण यह है, कि दैत्योंके मतमें ऊपर कही गई चार प्रकारकी सृष्टि नहीं मानी गई है. तात्पर्य यह है, कि कंस यदि यह समझता कि पुष्टिजीव भी हैं और वे कर्मके अधीन नहीं होते, तो साधारणरूपसे यह नहीं कहता कि कर्मके अधीन होकर सबको फल भोगना पड़ता है, अतः यह समझना चाहिये, कि दैत्य, उक्त प्रकारकी सृष्टि नहीं मानते.[१] श्लोकमें एक वचनके स्थान पर 'भुञ्जते' यह बहुवचन दिया है, इससे सूचित किया गया कि सब ही के देह भिन्न-भिन्न होनेसे अनेक प्रतीति सिद्ध है, क्योंकि अनेक देहोंसे भोग होते हैं. इन सब कथनके कंस यह भी सूचित करता है, कि भगवत्प्रेरणासे यह कार्य हुआ है. ऐसा वास्तविकरूपसे नहीं समझनेसे, और मेरेमें कर्त्तृत्वका अभिमान होनेसे तुम मेरेलिये दण्डका विचार नहीं भी करोगे तो भी मुझे दण्ड मिलेगा ही, अतः आपको यह भी चिन्ता नहीं करनी चाहिये, कि कंसको इस दुष्कर्मका दण्ड नहीं मिलेगा।।२१।।

१.यहां श्रीवल्लभजी महाराज कहते हैं कि काल, कर्म, स्वभाव एवं भगवदिच्छासे सृष्टि होती है, यह बात कंस नहीं मानता.

आभास : आप यदि यह कहें कि तू ज्ञानका उपदेश देनेवाला है, इसलिए तेरेमें दृढ ज्ञान होनेसे तू दण्डभागी नहीं होगा, तो कंस कहता है कि:

यावद्धतोऽस्मि हन्तास्मीत्यात्मानं मन्यतेऽस्वदृक्।
तावत्तदभिमान्यज्ञो बाध्यबाधकतामियात्।।२२।।

श्लोकार्थ : शास्त्रीय ज्ञान होने पर भी तब तक देहाभ्यासवश यह मानता है, कि मैं इससे मारा गया और मैं इसे मारनेवाला और मरनेवाला होता ही है, क्योंकि उसने ज्ञानको अपनेमें क्रियान्वित नहीं किया है।।२२।।

व्याख्यार्थ : शास्त्रका ज्ञान होने पर भी जीव जबतक यह मानता रहता है, कि मैं मारा गया और मैं मारनेवाला हूं, तबतक स्वयं दुःख भोगता है, और दूसरोंको दुःख देता है. 'हतोऽस्मि'से व्यापारजन्य जो प्राणवियोगरूप फलका आश्रय कहनेसे बाध्य(मरनेवाला) होता है, और 'हन्तास्मि'से व्यापाराश्रय कहनेके बाधक(दूसरोंको मारनेवाला) माना जाता है. निष्क्रिय आत्मामें जैसी ही वह क्रिया मानता है, वैसी ही क्रियाको प्राप्त करता है. शंका करते हैं कि मिथ्या बाध्य-बाधकत्व धर्मकी प्रतीतिमें क्या कारण है, तो कहते हैं कि उसे आत्मज्ञान नहीं है. यद्यपि शास्त्रीय ज्ञान उसे है, तो भी वह, उस ज्ञानका विषय नहीं बनता

अर्थात् वह अपनेमें उस ज्ञानको क्रियान्वित नहीं करता, इसलिए अपनेको फलाश्रय और व्यापाराश्रय मानता है. ऐसा माननेसे क्या होता है? तो कहते हैं कि देहाभिमानी होनेसे वह अपनेको मरनेवाला एवं मारनेवाला मानता है. यह सब कुछ आत्मज्ञान न होनेसे होता है. आत्मज्ञान होने पर तो देह आदिमें अध्यास नहीं रहता और अध्यासके रहने पर, मैं कौन हूं, यह ज्ञान नहीं रहता अर्थात् स्वरूपाज्ञान हो जाता है. शरीरका अभिमानी होनेसे ही वह अज्ञ है, और उसे ही मैंने मारा और मैं इससे मारा गया, यह अज्ञान रहता है।।२२।।

आभास : इस प्रकार आपके बालकोंको कर्मवश फल मिला है, और मुझे भी फल मिलेगा ही, अतः आप पुत्रोंका शोक न करें और मेरे लिए दण्डका विचार न करें, क्योंकि मुझे भी कर्मवश स्वतः दण्ड मिल ही जाएगा, परन्तु मैंने जो आपका अतिक्रमण किया है, उसे सहन करें. इस प्रकार कहता हुआ वह कंस क्षमा चाहनेकेलिए देवकीजी और वसुदेवजीको नमस्कार करता है:

क्षमध्वं मम दौरात्म्यं साधवो दीनवत्सलाः ।

श्रीशुक उवाच

इत्युक्त्वाश्रुमुखः पादौ श्यालः स्वस्रोरथाग्रहीत्।।२३।।

श्लोकार्थ : मैंने, जो बिना विचारे अन्याय किया है, उसे क्षमा करें, क्योंकि आप साधु होनेसे दीनोंसे प्रेम करनेवाले हैं.

श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि इस प्रकार कहकर वह कंस, जिसके मुख तक आंसू आ रहे हैं, अपनी बहिन और बहनोईके पैरोंमें पड गया।।२३।।

व्याख्यार्थ : मेरी दुरात्मताको क्षमा करें. जो बिना विचारे अन्याय करनेवाला है, वह दुरात्मा है. मैंने बिना विचारे अन्याय किया है, इसलिये मैं दुरात्मा हूं. इसीलिए मैंने आपकी आज्ञाका उल्लंघन किया है, और पुत्रोंको मारने आदि कुकृत्य किये हैं. आप उन सबको क्षमा करें. महापुरुषोंके हृदयमें पश्चात्ताप रहने पर महान् शोक होता है, अतः क्षमा करें. इसकेलिये आपको कुछ देनेकी भी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि आप साधु होनेसे दीनोंसे स्वतः प्रेम करनेवाले हैं. मैं अपकीर्ति होनेसे नरकभागी हूं अथवा यों कहिये कि मेरी अपकीर्ति है, और मैं नरकभागी हूं, अतः दीन हूं. इस प्रकार कंसने वचनसे ही दीनता नहीं दिखाई किन्तु स्वरूपसे भी दीनता दिखाई. इस बातको बतानेकेलिए कहा कि 'अश्रुमुखः', आंसू जिसके मुंह तक आ रहे हैं. यहां 'अश्रुमुखः' पदसे यह भी

सूचित होता है, कि अधिक विकल होनेसे आंसूओंको भी नहीं पोंछ सकनेसे मुंह पर आंसू ज्योंके त्यों दीख रहे हैं. कंस इस समय छोटी बहिनके भी पैरोंको पकड़कर अकर्तव्य अर्थात् छोटी बहिनके पैरोंमें बड़े भाईको नहीं झुकना चाहिये, सो भी कर रहा है, तो उनके छीने हुए धनको देना अथवा उससे भी अधिक धन देना, उसकेलिए कोई आश्चर्यकी बात नहीं है. श्लोकमें आये 'स्वस्रोः' पदके विचारमें कहते हैं कि स्वसृ शब्दसे अभिधा वृत्तिके द्वारा बहिन देवकी और वसुदेवजी नहीं कहे जा सकते, क्योंकि पाणिनीका ऐसा सूत्र नहीं है, कि स्वसृ और पति शब्दके समस्त होने पर एक शेष हो. यहां 'स्वस्रोः' कहनेका यह अभिप्राय है, कि देवकीजीके सम्बन्धसे ही वसुदेवजी मान्य हुए हैं, क्योंकि कन्या पक्षवाले कन्याको ही मुख्यता देते हैं, अतः उसकी मुख्यता बतानेकेलिये 'स्वसृ' शब्दका ही निर्देश किया गया है. यद्यपि वसुदेवजीके मान्य होनेसे उनको भी साक्षात् प्रणाम करनेमें कोई दोष नहीं है, तो भी कंसने देवकीके पैरोंको ही मानो दोनोंके पैर समझकर पकड़ा. इस बातको बतानेकेलिये यहां 'स्वसृ' और 'पति' शब्दका एकशेष किया है[१]. यद्यपि पाणिनीका कोई ऐसा सूत्र नहीं है, जिससे यहां एकशेष हो, परन्तु "**पुमान् स्त्रिया**" आदि चार सूत्रोंमें तृतीयान्तका ही निर्देश है. इससे सामान्यरूपसे यह ज्ञापन करेंगे कि जो अप्रधान होता है, वह विरूप होने पर भी नहीं रहता. यहां 'स्वसृ' शब्दका अर्थ 'प्रधान' है, इसलिये अप्रधानार्थक पति शब्द नहीं रहा. यदि कहें कि तृतीयासे यही कैसे समझ लिया? तो कहते हैं कि यदि ऐसा नियम मान लेते हैं कि विरूपके एकशेषमें स्त्रीवाचक शब्दके साथ कहा गया पुरुषवाचक शब्द ही शेष रहता है, तो 'स्त्रीपुरुषाभ्याम्' और 'स्त्रीपुंभ्याम्'की जगह 'पुरुषाभ्याम्' 'पुंभ्यम्' ये ही प्रयोग होंगे, परन्तु ऐसी जगह पर ये ही प्रयोग नहीं देखे गये हैं, किन्तु 'स्त्रीपुरुषाभ्याम्', 'स्त्रीपुंभ्याम्', ऐसे भी प्रयोग देखे हैं. (इसलिए सामान्यरूपसे यह ज्ञापन करना कि अप्रधान नहीं रहता परन्तु ऐसा मानने पर 'स्त्रीपुंसौ' आदि प्रयोग नहीं होंगे. इससे यहां यह ज्ञापन होना चाहिये कि जहां दोनोंकी प्रधानता विवक्षित हो, वहां विरूपमें एकशेष नहीं होता. जैसे 'स्त्रीपुरुषाभ्याम्', 'स्त्रीपुंभ्याम्'को एकशेष नहीं हुआ क्योंकि यहां दोनों ही प्रधान हैं और जहां एक अप्रधान रहे वहां एकशेष होता है. जैसे 'स्वस्रोः' यहां एकका अप्राधान्य विवक्षित है, इसलिये 'स्वसृ' शब्द ही बाकी रहा. वैयाकरण, जैसा लक्ष्य देखते हैं, वैसा ही नियम बना लेते हैं, क्योंकि 'लक्ष्यैकचक्षुष्कत्व' पक्षको

ही उन्होंने माना है, अर्थात् वे जैसा लक्ष्य देखते हैं, वैसा ही नियम बनाते हैं.)

श्लोकमें आये 'अथ' शब्दका भाव यह है, कि कंस अब कुछ और ही हो गया है, क्योकि अब उसमें कालनेमिका आवेश नहीं रहा और राजसभाव भी उसका निवृत्त हो गया।।२३।।

१.श्रीधरस्वामीने यहां कहा है, कि मिश्रित लक्षणासे 'स्वसृ' शब्दसे पतिका भी अभिधान है, अर्थात् अभिधा वृत्तिसे 'स्वसृ' शब्दसे पति भी लिया गया है, परन्तु पुरुषोत्तमजी महाराज इसका खण्डन करते हैं कि 'स्वसृ' शब्दसे अभिधा वृत्तिसे पतिका बोध नहीं हो सकता, क्योंकि 'स्वसृ' शब्दका पति अर्थ अभिधेय नहीं है, किन्तु बहिन अर्थ ही अभिधेय(वाच्य) है. यदि कहें कि द्वित्व विवक्षामें 'स्वसृ-स्वसृ-औ' ऐसे मानने पर एक 'स्वसृ' शब्द अभिधासे बहिनको कहेगा और दूसरा 'स्वसृ' शब्द लक्षणसे 'पति' अर्थको कहेगा, तो कहते हैं कि ऐसी स्थितिमें एकशेष हो ही नहीं सकता, क्योंकि वाचक और लक्षकका कहीं भी एकशेष नहीं देखा गया है. उपर्युक्त सब भावको लेकर श्रीसुबोधिनीजीमें ''नैव अभिधीयेते'' ऐसा कहा है.

शंका होती है, कि ''श्यालः स्वस्रोः''के स्थान पर ''भाम: स्वस्रोः'' ऐसा पाठ माननेसे भाम पदसे बहिनोई लिये जानेसे, श्याला अर्थ अपने आपसे लिया जायेगा, तो न एकशेषका झगड़ा रहेगा और न श्याला अर्थ लेनेमें ही अड़चन आयेगी, तो फिर उपर्युक्त पाठ न मानकर ''श्यालः स्वस्रोः'' पाठ माननेमें व्यासजीका क्या आशय है? तो कहते हैं कि यहां 'स्वसृ' शब्दसे ली गई बहिन प्रधान है, उससे बहिनोई भी ले लिये जायेंगे. इसी आशयसे व्यासजीने ऐसा कहा है.

शंका होती है, कि समानरूप हो तो 'सरूपाणां' सूत्रसे एकशेष हो सकता है, परन्तु 'स्वसृ' और 'पति' शब्दका सारूप्य न होनेसे एकशेष कैसे होगा? तो कहते हैं कि यहां ''स्वसा च पतिश्च स्वसारौ'' ऐसा विग्रह मानना चाहिये. और 'पुमान् स्त्रिया' आदि चार सूत्रोंमें आदि तृतीयासे ज्ञापन करना चाहिये कि विरूपके एकशेषमें जो अप्रधान विवक्षित हो, वह नहीं रहता. ऐसा मानने पर उपर्युक्त विग्रह करने पर दोष नहीं आता.

आभास : कंसने देवकी-वसुदेवजीको बन्धनसे छुडा दिया, यह बात अब कहते हैं:

मोचयामास निगडान् विस्रब्धः कन्यकागिरा।
देवकीं वसुदेवं च दर्शयन्नात्मसौहृदम्।।२४।।

श्लोकार्थ : अपना सौहार्द दिखाते हुए उस कंसने योगमायाके वाक्य पर विश्वास कर, अर्थात् देवकी-वसुदेवजी निर्दुष्ट हैं, ऐसा समझकर देवकी

वसुदेवजीको लोहकी शृंखलासे छुडा दिया।।२४।।

व्याख्यार्थ : वह बन्धन करनेका स्थान था, अतः दूसरोंको बांधनेकेलिए शांकलकी आवश्यकता होनेसे स्तंभसे बन्धी हुई शांकलको नहीं तोड़ा, किन्तु उन्हींको उससे छुड़ा दिया. शंका करते हैं कि इतना दण्ड देने पर भी देवकी वसुदेवजीके क्षुब्ध न होनेसे तथा मारनेवाले बालकके होनेमें आकाशवाणी प्रमाण होनेसे कंसने यह क्यों नहीं समझ लिया कि वसुदेव-देवकीने ही कुछ कापट्य किया होगा? तो कहते हैं कि ''विस्रब्धः कन्यकागिरेति''. उस कन्याकी वाणी पर विश्वास करके ही उन्हें छोड़ दिया. यद्यपि वह कन्या माया है, इसलिये उसके वचन असत्य भी हो सकते हैं, तथापि उससे कन्याके वाक्यमें ही विश्वास किया. पूर्वमें जो ''यत्र क्वचित् पूर्वशत्रुर्मा हिंसीः कृपणां वृथा'' यह पद्यार्द्ध है, उसमें आये 'कृपणां' पदमें स्त्रीलिंग और एकवचन है, इसलिए आकाशवाणीने यह बता दिया कि देवकीका इसमें कोई दोष नहीं है, क्योंकि जो भी कुछ किया, वसुदेवजीने ही किया है, यही मायाका आशय था. मायाका स्वभाव है, कि वह अन्यथा स्फूर्ति करा देती है. कंसने पहले देवकीको छोड़ा और पीछे वसुदेवजीको. साथमें उन्हें भी छोड़ दिया जो वसुदेवजीके सम्बन्धी थे. उस समय कंस स्वयं उनकी सेवा कर रहा है, और अपना सौहार्द भी दिखा रहा है।।२४।।

आभास : जब कंसने उनकी प्रसन्नता चाही, तो देवकी-वसुदेवजी उस पर प्रसन्न हो गए, यह कहते हैं:

भ्रातुः समनुतप्तस्य क्षान्त्वा रोषं च देवकी।
व्यसृजद् वसुदेवश्च प्रहस्य तमुवाच ह।।२५।।

श्लोकार्थ : भाईको अधिक पश्चात्ताप युक्त देखकर देवकीने उसके रोषको क्षमा कर दिया और अपने रोषको छोड दिया, वैसे ही वसुदेवजी एवं अन्य लोगोंने भी किया. आश्चर्यकी बात तो यह है, कि वसुदेवजी उससे हंसकर बोले।।२५।।

व्याख्यार्थ : भाई पश्चात्तापसे सन्तप्त हुआ, भाई होनेसे सम्बन्धी है. सम्बन्धीके रोषको क्षमा करना चाहिये, इस विचारसे उसके रोषको क्षमाकर अथवा श्लोकमें ''क्षान्त्वा रोषं''की जगह 'क्षान्तरोषा' भी पाठ मान लेते हैं, तो यह अर्थ होगा कि जिसने रोषको सहन कर लिया है(दबा दिया है). श्लोकमें ''क्षान्त्वा दोषं'' भी पाठ हो सकता है. इस पाठके मानने पर यह अर्थ होगा कि

कंसके अपराधको क्षमाकर, उससे किये गये पूर्व अपराधको मनमें नहीं रखा. श्लोकमें 'रोषं' भी पाठ है, इसलिए यह भी अर्थ होगा कि उसके किए हुए रोषको मनमें नहीं रखा. देवकीने कंसके रोषको सहन किया और अपने रोषको छोड़ा. जिस रोषने पुत्र मरवा दिये, ऐसे कंसके रोषको सहन किया अर्थात् कंसका रोष ऐसा है, जिसने अपना कार्य कर दिखाया है, ऐसे कंसके रोषको सहन किया और जिसने कुछ भी कार्य नहीं किया, ऐसे अपने रोषको छोड़ दिया. इसी प्रकार वसुदेवजीने भी किया. श्लोकमें आये 'च' कारका भाव यह है, कि जिन-जिनको उसने छोड़ा, उन सबने ऐसा ही किया. देवकीने रोष अथवा अपराधको क्षमा किया, क्योंकि देवकी है, अर्थात् देवतारूप है. वसुदेवजी भी ऐसे ही हैं. देवकीका शोक नहीं रहा, यह उसके मुखकी प्रसन्नतासे जान लिया, परन्तु वसुदेवजी पुरुष होनेसे गूढहृदय हैं, इसलिए कदाचित् ये अप्रसन्न हो, ऐसे कंसके विचारको हटानेकेलिए वसुदेवजी हंसकर बोले, इसी बातको ''प्रहस्य तमुवाच''से कहा है. श्लोकमें आया 'ह' पद आश्चर्य अर्थमें है, अर्थात् पुत्र मारनेवालेसे बात भी करना उचित नहीं है, इसलिए वसुदेवजीको कंससे बोलना ही नहीं चाहिये था, परन्तु आश्चर्य इस बातका है, कि ऐसे कुकृत्य करनेवालेसे भी बात की।।२५।।

आभास : कंससे कहा गया ज्ञान उसीके हृदयमें जमें(स्थिर हो), इसलिए उसका अनुमोदन करते हैं:

वसुदेव उवाच

एवमेतन्महाराज यथा वदसि देहिनाम्।

अज्ञानप्रभवाहन्धीः स्वपरेति भिदा यतः।।२६।।

श्लोकार्थ : वसुदेवजी कहते हैं कि हे महाराज कंस! जैसा तुम कहते हो वैसा ही है, क्योंकि प्राणियोंको देह आदिमें अहंबुद्धि अज्ञानसे ही होती है, और उसीसे यह अपना है, यह दूसरेका है, ऐसी भेददृष्टि होती है।।२६।।

व्याख्यार्थ : वसुदेवजीने कंसको हे महाराज! इसलिए कहा है, कि राजा दण्ड देता है, परन्तु उसे मारनेका दोष नहीं लगता, इसलिए तुम्हें मेरे पुत्रोंको मारनेका दोष नहीं लगेगा. हे महाराज! जैसा तुम कहते हो वही ठीक है. कंसके वाक्योंका सार वसुदेवजी कहते हैं कि देहाध्यासवालोंको देह आदिमें अहंबुद्धि अज्ञानसे ही होती है, और उसीसे यह अपना है, यह पराया है, आदि सभी व्यवहार होते हैं. श्लोकमें आये 'देहिनां'का यह अर्थ है, कि जिनको देहाध्यास

है. तात्पर्य यह है, कि जिनको देहाध्यास है, उनको अहंबुद्धि होती है. अहंकार अज्ञानसे होता है, इसमें देहाध्यास ही कारण है. इससे यह कहा गया कि जिसको देहाध्यास है, वही अहंबुद्धि करनेका अधिकारी होता है. देहमें जो आत्मबुद्धि है, वह अन्यथाज्ञान है, और वही अहंबुद्धि है. अन्यथाज्ञान, अज्ञानसे होता है. यदि ऐसा नहीं होता, तो आत्माके भानमें उससे भिन्न शरीरका भान कैसे होता. इसलिए यह समझना चाहिये कि अज्ञानसे ही यह सब कुछ होता है।।२६।।

आभास : कंससे बताया गया ज्ञान, यह वस्तु नित्य है, और यह अनित्य है, इस ज्ञानका उपयोगी है. ऐसा निरूपणकर, वसुदेवजी अब कंस पर कृपा करते हुए अपने सिद्धान्तसिद्ध ज्ञानका उपदेश देते हैं:

शोकहर्षभयद्वेषलोभमोहमदान्विताः।
मिथो घ्नन्तं न पश्यन्ति भावैर्भावं पृथग्दृशः।।२७।।

श्लोकार्थ : वसुदेवजी कहते हैं कि जो लोग शोक, हर्ष, भय, द्वेष,लोभ, मोह एवं मदसे युक्त हैं, वे परस्परमें अर्थात् एक धर्ममें प्रविष्ट होकर दूसरे धर्मको नष्ट कराते हुए, भगवान्को नहीं देखते. कारण यह है, कि वे भगवान्में इन्द्रियोंका सम्बन्ध नहीं मानते. वे मानते हैं कि इन्द्रियवाला जीव ही कर्त्ता हो सकता है, निरिन्द्रिय भगवान् कर्त्ता नहीं हो सकता।।२७।।

व्याख्यार्थ : यहां यह बात तो वास्तविक है, कि स्वयं देहधारी किसीको नहीं मारता, क्योंकि वह स्वतन्त्र नहीं है. वह तो किसी दूसरेसे प्रेरित होकर ही मारता है. इससे भी मुख्यसिद्धान्त यह है, कि भगवान् ही अन्तर्यामीरूपसे सर्वत्र प्रविष्ट होकर मारता है, यह शास्त्रसिद्ध है. इस प्रकारके सिद्धान्त-प्रतिपादक शास्त्रके ज्ञानमें भगवान्के छः धर्मोंके बाधक जीवमें छः धर्म विद्यमान् हैं. जैसे भगवान्में ऐश्वर्य है, उसका बाधक(उससे विपरीत) शोकरूप धर्म जीवमें है. भगवान् करने, न करने और अन्यथा करनेमें समर्थ हैं. ऐश्वर्य होनेसे आप जो कुछ करते हैं समझकर ही करते हैं. यह ज्ञान जीवको नहीं है, इसलिए शोक करता है. यहां यह भी अभिप्राय हो सकता है, कि जीवको यह भी समझना चाहिये कि भगवान् करने, न करने और अन्यथा करनेमें समर्थ है, इसलिए मनुष्यके बुरा करने पर भी वह भला कर सकता है. ऐसा समझने पर जीवको शोक नहीं हो सकता. भगवान् ही सब कुछ करते हैं, ऐसा नहीं मानते हैं, तो यह कैसे हो सकता है, कि भगवान्के स्वांशभूत जीवोंकी अपेक्षित वस्तुको दूसरा कोई नाश करे. यदि कोई

स्वतन्त्ररूपसे ऐसा करना चाहे, तो उसका इस प्रकारका सामर्थ्य नहीं है, और भगवान्‌की इच्छाके विरुद्ध काम करनेवालेको दण्ड भी मिल सकता है. भगवान् ही नष्ट करते हैं, ऐसे ऐश्वर्यके ज्ञान न होनेसे जीवको शोक होता है. जीवमें जो हर्ष है, वह भगवान्‌के वीर्यके विरुद्ध है. हर्ष किसी अत्यन्त अपेक्षित वस्तुके प्राप्त होने पर होता है. यह हर्ष जीवको तब न हो, जब वह भगवान्‌के वीर्यरूप कालको जान ले. वह यह नहीं जानता कि जिस वस्तुकी प्राप्ति पर मुझे हर्ष हो रहा है, वह वस्तु भगवान् अपने वीर्यरूप कालसे नष्ट कर सकते हैं. ऐसा समझता रहे तो जीवको हर्ष नहीं हो[१]. यदि जीव भगवान्‌के यशको जान ले, तो उसे भय कभी नहीं हो, क्योंकि ऐसी दशामें उसे यह ज्ञान रहेगा कि वह भगवान् यशवाला है, इसलिए अयुक्त कभी नहीं करेगा क्योंकि अयुक्त करने पर उनका यश नष्ट होता है, इसलिए वे ऐसा कोई कार्य नहीं करेंगे, जिससे उनका यश नष्ट हो. अतः उसे भय नहीं करना चाहिये. जीवमें द्वेष और लोभ तब नहीं हो, जब जीव भगवान्‌की श्रीको जान ले. द्वेष स्त्रीकृत होता है, और लोभ धनसे होता है. यदि जीव यह समझ ले, कि सभी स्त्रियें श्रीलक्ष्मीका अंश है, तो भगवान्‌से उत्तम स्त्री प्राप्त हो सकती है, मुझे उसकेलिए किसीसे द्वेष नहीं करना चाहिये. भगवान्‌में लक्ष्मीके होनेसे धन भी उनकी कृपासे स्वतः प्राप्त हो जायेगा, तो फिर मुझे लोभ क्यों करना चाहिये? (अथवा यहां यह भी भाव हो सकता है, कि सब कुछ वस्तु भगवान्‌की ही है, मुझे इसकेलिए किसीसे द्वेष एवं लोभ नहीं करना चाहिये) भगवान्‌के ज्ञानको समझ ले, तो जीवको कभी मोह नहीं हो. जीवमें वैराग्यके विरुद्ध मद है. मद तो वही करता है, जिसमें वैराग्य लेश भी नहीं होता. इस प्रकार भगवान्‌के धर्मोंके विरुद्ध जीवमें ये धर्म हैं. अतः वह हर्ष शोक आदि करता है, और उनके रहते हुए उसे भगवान्‌का ज्ञान नहीं हो सकता. अतः भगवान् ही परस्परमें नष्ट कराते हैं, यह बात मनुष्य नहीं विचारते हैं. यदि जीव यह जान जाय कि मरनेवाला मारनेवाला वही है, तो एक ही मरनेवाला और मारनेवाला होनेसे किसीसे वह द्वेष आदि नहीं करे. यदि कहें कि मारनेवाला मरनेवाला एक ही है, तो यह मारता है, यह मरता है, इस प्रकारका व्यवहार भगवच्छास्त्रमें कैसे उपपन्न होगा? तो कहते हैं कि धर्मोंसे धर्मोंका ही नाश होता है, धर्मीका नाश नहीं, क्योंकि यह नियम है, कि जो पैदा होते हैं, वे ही नष्ट होते हैं. श्लोकमें भाव शब्दका यही अभिप्राय है, कि जो पैदा होते हैं, वे भाव कहलाते हैं और वे हैं धर्म.

जैसे एक वस्त्रमें श्वेत आदि धर्म रंगनेवाले द्रव्यके सम्बन्धसे उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं. नष्ट वह करता है, जो बलवान् होता है. भगवान् जब अमुक धर्मको दबानेकेलिये अमुक धर्ममें प्रविष्ट होते हैं, तो जिस धर्ममें वे प्रविष्ट होते हैं, वह धर्म बलिष्ठ होनेसे अन्य धर्मको तिरोहित कर देता है. इसलिये वसुदेवजी कहते हैं कि हे कंस! तू तो मेरे बच्चोंको मारनेमें घटनिर्माणमें दण्डकी तरह करण ही है, कर्त्ता नहीं है. क्रिया करनेमें जो करण होता है, उसे कोई उपालम्भ नहीं देता और न उसकी कोई स्तुति करता है. यदि वह कर्ता होता तो उपालम्भ एवं स्तुतिके योग्य होता, परन्तु यह सब कुछ ज्ञान इसलिए नहीं होता कि वह यह समझता है, कि इन्द्रिय आदिसे सम्बन्ध रखनेवाला जीव ही कर्ता होता है. भगवान् तो इन्द्रिय सम्बन्धवाला नहीं है, इसलिए भगवान् कर्ता नहीं है, जीव ही कर्ता है, यह बुद्धि होती है. इन्द्रियवाला कर्त्ता करणसे पृथक् है, और करण कर्तासे भिन्न है, ऐसा समझनेवाला इस प्रकारकी बुद्धि करता है. जो भगवान्को सर्वत्र आविष्ट मानता है, उसकी बुद्धि, दूसरा मारता है, ऐसा नहीं होकर यही बुद्धि होती है, कि भगवान् ही सब कुछ करते हैं, तो ऐसी दशामें वह किसीको दोष नहीं देता. वसुदेवजी कहते हैं कि मैं तो यह समझता हूं कि भगवान्ने ही मेरे पुत्रोंको मारा हैं और तुझे भी वे ही मारेंगे, अतः तुझे भी अपने मरनेका शोक नहीं करना चाहिये।।२७।।

१.भगवान्में वीर्य है, वे सभी विपत्तियोंको मिटा सकते हैं, यदि ऐसा समझ लें तो किसीसे भय नहीं हो, परन्तु जीवमें भगवान्के वीर्यके विरुद्ध भय है, इसलिये समझा जाता है, कि वह भगवान्के वीर्यको नहीं जानता.(इस प्रकार) श्रीपुरुषोत्तमजी महाराजने भयको वीर्यके विरुद्ध बताया है, और द्वेषको यशके विरुद्ध कहा है.

आभास : इस प्रकार मायाने जो कहा था कि तेरा मारनेवाला कहीं पैदा हो गया. तू इस दीन देवकीको व्यर्थ न मार, इस कथनका कार्य देवकी वसुदेवजी को छुडाना था, उसका निरूपणकर, अब इस प्रसंगको समाप्त करते हैं:

श्रीशुक उवाच

कंस एवं प्रसन्नाभ्यां विशुद्धं परिभाषितः।
देवकीवसुदेवाभ्यामनुज्ञातोविशद् गृहम्।।२८।।

श्लोकार्थ : श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि हे परीक्षित ! इस प्रकार अपने सिद्धान्तके कहनेसे प्रसन्न दिखाई देनेवाले वसुदेवजीने जब विशुद्धभावसे कंसको कहा, तो कंस उनकी अनुमति लेकर अपने महलमें चला गया।।२८।।

व्याख्यार्थ : इस प्रकार प्रसन्न होते हुए देवकी-वसुदेवजीने अपना सिद्धान्त कहा, तो कंसने यही समझा कि मुझे ये कर्त्ता न मानकर करण ही मान रहे हैं, इसलिए मेरे पर प्रसन्न ही हैं. यह बात ''एवं प्रसन्नाभ्यां विशुद्धं परिभाषितः''से कही है. पूर्वके २६वें श्लोकमें हे महाराज! ऐसा कहनेसे और कंसकी बातका अनुवादकर, उसका समर्थन करनेसे कंसने यही समझा कि देवकी वसुदेवजी प्रसन्न हैं, परन्तु ये वचन वसुदेवजीने ही कहे हैं, शायद देवकी अप्रसन्न होगी, इस शंकाको मिटानेकेलिए श्लोकमें 'देवकीवसुदेवाभ्यां' ऐसा कहा. देवकी और वसुदेवजीकी आज्ञा लेकर, उस समय उत्पन्न हुए बच्चेके मारनेकेलिए कुछ भी प्रतीकार न कर, वह कंस अपने महलमें चला गया।।२८।।

आभास : इस प्रकार भगवान्की प्रेरणासे वसुदेवजी एवं देवकीको छुडाना रूप जो मायाका कार्य है, उसका निरूपणकर, मायाने स्वतन्त्रतया जो कुछ किया उसका निरूपण करनेके लिए 'तस्यां रात्र्यां'से इस अध्यायकी समाप्ति तक कहते हैं:

तस्यां रात्र्यां व्यतीतायां कंस आहूय मन्त्रिणः।
तेभ्य आचष्ट तत्सर्वं यदुक्तं योगनिद्रया।।२९।।

श्लोकार्थ : उस रात्रिके बीत जाने पर कंसने मन्त्रियोंको बुलाया और जो योगमायाने कहा था, वह सब वृत्तान्त कंसने उनको सुनाया।।२९।।

व्याख्यार्थ : यदि माया स्वतन्त्रतासे अर्थात् भगवान्की प्रेरणाके बिना आगे कहे गये कार्यको कंससे न कराती तो वह मरता ही नहीं. उसका न मरना देवताओंको इष्ट नहीं था, वे तो यही चाहते थे, कि किसी भी रूपमें यह कंस उग्र पापमें निरत हो जाय तो जल्दी मरे, इसलिए देवमायाने ऐसा कार्य कराया अर्थात् उसे आगे कहे जानेवाले पापमें प्रवृत्त किया अथवा यों कहिये कि ''**मायेत्यसुराः**'' इस श्रुतिके अनुसार दैत्योंका उपास्य भगवान् माया ही है. इसलिए उनके मायारूप भगवान्ने उन्हें मुक्ति देनेकेलिए राक्षसोंका जो बच्चे आदि मारना स्वधर्म है, उसमें लगाया, अर्थात् ऐसा कार्य करानेमें मायाका यही आशय रहा कि यदि ये दैत्य, क्रूर कार्य करेंगे, तो भगवान्के हाथसे मरनेसे मुक्त हो जायेंगे. जो स्वधर्मका पालन करता है, वह मुक्त ही हो जाता है, इसलिए मायारूप भगवान्ने उनसे स्वधर्म, जो क्रूर धर्म है, उन्हें कराया और सब शास्त्रोंके विरोधी, मोक्षको दिलाया, इसलिए ऐसा कहा है. शंका करते हैं कि दैत्य बहुतसे थे, वे एकमत

होकर स्वधर्ममें निरत कैसे हुए? तो कहते हैं कि राजा जिन धर्मोंको अपनाता है, वे सबकेलिए पालनीय हो जाते हैं. अतः वे सब ऐसे क्रूर कर्ममें प्रवृत्त हुए. क्योंकि जैसा कंस है, वैसे उसके मन्त्री भी दुरात्मा हैं. कंसने विचार किया कि मैंने पहले बिना विचारे बच्चोंको मारा, यह ठीक नहीं किया, अब आगे विचारकर ही काम करना चाहिये. इस विचारसे उसने मन्त्रीयोंको बुलाया और उनसे विचार लेनेकेलिए पहले जो कुछ भी हुआ, वह कहा. कंसने देवकी-वसुदेवजीसे अलग होते ही उसी क्षणमें प्रतिकारका विचार क्यों नहीं किया? तो कहते हैं कि उसे योगमायासे यह ज्ञात हो गया कि मेरा मारनेवाला पैदा हो गया और उसके समर्थ होनेमें अभी विलम्ब है, इसलिए उसने एक रात्रिको बीतने दी. कंसके मन्त्री भी तामस थे, क्योंकि तामस राजाके तामस मन्त्री होते हैं. यह बात श्लोकमें दिये गये 'कंस' पदसे बताई गई. कंसने उनके सामने यह नहीं कहा कि मैंने देवकी वसुदेवजीसे विनय किया था, उसने तो वही बात कही जो योगमायाने कही थी. कंस, जैसे विवेकरहित था, वैसे ही उसके मन्त्री भी विवेकरहित थे।।२९।।

आभास : अब मन्त्रियोंकी दुष्टताको कहते हैं:

आकर्ण्य भर्तृगदितं तमूचुर्देवशत्रवः।
देवान् प्रति कृतामर्षा दैतेया नातिकोविदाः।।३०।।

श्लोकार्थ : अपने स्वामीके वचनोंको सुनकर देवताओंके शत्रु, तथा देवताओं पर क्रोध करनेवाले वे दैत्य, जो पूर्णतया नीतिमें कुशल नहीं थे, कंससे बोले।।३०।।

व्याख्यार्थ: अपने स्वामी कंससे कही गई बातको सुनकर और विचारकर, कंससे मन्त्री बोले. दैत्योंकी यह बुद्धि नहीं थी, कि कंसकी रक्षा हो किन्तु देवताओंसे द्वेष करनेका मौका मिल गया, इससे वे प्रसन्न हुए. यही बात 'देवशत्रवः'से श्लोकमें कही है।।३०।।

आभास : पहले वे दैत्य अपनी बुद्धिसे निश्चित किये गए प्रतिकारको कहते हैं:

दैत्या ऊचुः
एवञ्चेत् तर्हि भोजेन्द्र पुरग्रामव्रजादिषु।
अनिर्दशान्निर्दशांश्च हनिष्यामोऽद्य वै शिशून्।।३१।।

श्लोकार्थ : दैत्योंने कहा कि हे राजाओंमें स्वामी कंस! आज ही हम

शहरोंमें, छोटे गांवोंमें, व्रज आदिमें हुए बालकोंको, जो दश दिनके भीतरके हैं, अथवा जो दश दिनके उपरके हैं, उन्हें मारेंगे।।३१।।

व्याख्यार्थ : कंसके मन्त्री कहते हैं कि यदि ऐसा ही है, तो आपके मारनेवाला कहीं पैदा हुआ होगा, तो एक मासके भीतर ही पैदा हुआ होगा, ऐसा निश्चय न होने पर भी हम सभी बालकोंको मारेंगे. ये बालक पुरके हों, ग्रामके हों अथवा व्रजके हों, हम मारे बिना नहीं छोड़ेंगे. शहरमें बालक ज्यादा मिलते हैं, उससे न्यून ग्राममें और उससे कम व्रजमें. इसीलिए श्लोकमें क्रमसे पुर, ग्राम एवं व्रजका निर्देश किया है. श्लोकमें आये 'अद्य' पदका स्वारस्य यह है, कि हमें इसमें कोई विलम्ब नहीं होगा. 'राजेन्द्र' इस सम्बोधनका यह आशय है, कि तुम राजाओंमें प्रधान हो, इसलिए हमें आज्ञा दे सकते हो. हम उन सब बच्चोंको जो दश दिनके भीतरके हैं अथवा दश दिनसे ज्यादा उम्रके हैं, उन सबको विशेषरूपसे मारेंगे. श्लोकमें आया 'हि' शब्द निश्चयार्थक हैं, अर्थात् यह आप निश्चयरूपमें समझें, इसमें सन्देहकी कोई बात नहीं है. हम उन बालकोंको भी मारेंगे, जो हमारे सम्बन्धी दैत्योंके घरमें पैदा हुए हैं. दैत्योंने यह समझा कि राजा कंसने जब बहिनके पुत्र भी मार दिये, तो दूसरोंको भी अपने सम्बन्धियोंके पुत्र भी मारने चाहिये. यदि कंस अपनी बहिनके पुत्रोंको नहीं मारता, तो वह यह समझता कि जब मैं बहिनके पुत्रोंको नहीं मारता हूं, तो ये दैत्य भी मेरी बातको नहीं मानेंगे. जब उसने स्वयं ऐसा किया, तो 'यथा राजा तथा प्रजा'के अनुसार प्रजा होनेसे दैत्योंको भी यह गर्हित कार्य करना उचित हो गया. स्वयं कंसने ऐसा कार्य किया है, इसलिए आज्ञा देनेमें वह निःशंक था, अन्यथा आज्ञा ही नहीं देता।।३१।।

सामर्थ्यं च जयश्चैव दीनत्वं च दया यथा।
शत्रूणामल्पता चैव राजनीतिस्तथैव च।।कारि.१।।

कारिकार्थ : इस प्रकार दैत्य अपना कर्तव्य कहकर, कंसको भय न हो इसकेलिए 'किमुद्यमैः' आदि छः श्लोकोंसे उसे प्रोत्साहित करते हैं. वे कहते हैं कि जैसे भगवान्में छः गुण हैं, वैसे ही आपमें भी छः गुण हैं. यहां 'किमुद्यमैः करिष्यन्ति' इस श्लोकसे देवताओंमें कितना सामर्थ्य है, इसका निरूपण है. 'अस्यतस्ते शरव्रातैः'में कंसके जयका निरूपण है. और 'केचित्प्रांजलयो भीताः' से देवताओंकी दीनता कही गई है. 'न त्वं विस्मृतशस्त्रास्त्रान्'से कंसकी दया बताई. 'किं क्षेमशूरैः' से देवताओंको तुच्छ बताया और 'किमिन्द्रेणाल्पवीर्येण'से

राजनीतिका वर्णन किया गया. इस प्रकार 'किमुद्यमैः'से लेकर, छः श्लोकोंसे क्रमशः सामर्थ्य, जय, दीनता, दया, शत्रुओंकी अकिञ्चत्करता तथा राजनीतिका वर्णन किया गया है. दैत्य कहते हैं कि यदि आप यह कहें कि तुम यदि बालकोंको मारोगे, तो देवता अन्य उपाय कर लेंगे, तो कहते हैं कि:

किमुद्यमैः करिष्यन्ति देवाः समरभीरवः।
नित्यमुद्विग्नमनसो ज्याघोषैर्धनुषस्तव।।३२।।

श्लोकार्थ : देवताओंके उद्योगमात्रसे क्या हो सकता है. युद्धमें डरनेसे वे क्रिया तो कर ही नहीं सकते. उन्हें भय होनेमें कारण यह है, कि तुम्हारे धनुषके टंकारसे वे उद्विग्न रहते हैं।।३२।।

व्याख्यार्थ : देवता उद्योगमात्र करेंगे, उनमें क्रिया करनेका सामर्थ्य नहीं हैं, क्योंकि वे संग्रामको देखकर ही डरनेवाले हैं. उनको ऐसे भय होनेमें कारण यह है, कि नित्य ही उद्विग्न मनवाले रहते हैं. पहले कंसने दिग्विजय करनेके समय सबको मार दिया था, इन्द्र भी डरकर भाग गया था, ब्रह्मा आदि देवता भी भयके कारण छिप गये थे, बाकी रहे सभी देवताओंको पकड़कर आप यातना दे रहे हैं. इस कारणसे दूसरेकेलिए भी जब आप धनुषका टंकार करते हैं, तो देवता उद्विग्न मनवाले हो जाते हैं. श्लोकमें आये 'तव' पदका अभिप्राय यह है, कि तुम्हें इसका अनुभव है, इसलिए हमारा कहना ठीक है न?।।३२।।

आभास : तुम्हारे धनुषके टंकारसे ही देवताओंको उद्वेग हो जाता है, इसमें पूर्ववृत्तान्तको हेतु बताते हुए कहते हैं कि:

अस्यतस्ते शारव्रातैर्हन्यमानाः समन्ततः।
जिजीविषव उत्सृज्य पलायनपरा ययुः।।३३।।

श्लोकार्थ : जब आप बाणवर्षा करते हैं, तब बाणोंके समुहसे चारों ओरसे मारे जाते हुए जीवनकी इच्छा रखनेवाले वे देवता, धर्म और युद्धको छोड कर भागने लगते हैं।।३३।।

व्याख्यार्थ : बाण चलाते हुए तुम्हारे सामने नहीं आये भी देवता उन चलाये हुए बाणोंसे, जिनके सब अंग छिन्न-भिन्न हो गये हैं, वे जीवनकी इच्छा रख, धर्म और संग्रामको छोड़कर भागने लगते हैं. श्लोकमें अमुक देश विवक्षित न होनेसे जहां कहीं भागने लगते हैं, ऐसा ही हम कह सकते हैं. अर्थात् अमुक देशमें ही गये, यह निश्चितरूपसे हम नहीं कह सकते. और जो देवता आपसे दूर

थे, वे भयके मारे ही भाग गये।।३३।।

आभास: जो देवता पास ही थे वे भाग नहीं सके, उनने जीनेकी इच्छासे दूसरा उपाय किया, इस बातको कहते हैं:

केचित् प्राञ्जलयो भीता न्यस्तशस्त्रा दिवौकसः।
मुक्तकच्छशिखाः केचिद् भीताः स्म इति वादिनः।।३४।।

श्लोकार्थ : कुछ देवता, जिनने शस्त्र डाल दिए हैं, जो डरे हुए हैं और जिनकी चोटी एवं कच्छ खुल गए हैं, हाथ जोडकर आपके सामने खडे हैं और कुछ यह कह रहे हैं कि हम भयभीत हैं, हमारी रक्षा करो।।३४।।

व्याख्यार्थ : कोई देवता नम्रतासे हाथ जोड़कर मानो स्तुति करनेकी तरह खड़े हैं. श्लोकमें आये 'प्राञ्जलयः'से उनके देहकी अवस्था कही. भय अन्तःकरणमें होता है, इसलिए 'भीताः' पदसे अन्तःकरणकी अवस्था कही. शस्त्र छोड़ देने पर शत्रुको नहीं मारना चाहिये, इस शास्त्रकी आज्ञासे कंस हमें नहीं मारेगा, इसलिए देवताओंने शस्त्र-अस्त्र छोड़ दिये. यहां शंका होती हैं कि यदि देवताओंने शस्त्र-अस्त्र छोड़ दिये, तो वे स्वधर्मत्यागसे स्वर्गमें कैसे रहेंगे? तो कहते हैं कि 'दिवौकसः'. देवता इस समय ऐसे हैं, कि स्वर्गमें उनका केवल स्थान है, वे वहांके भोग नहीं कर पाते. शंका होती है, कि देवताओंने अपने धर्मका त्यागकर, अयुक्त कार्य कैसे किया? तो कहते हैं कि 'मुक्तकच्छशिखाः', कच्छ एवं शिखा खुलनेसे वे परम आपत्तिसे विकल हो गये. आपत्कालमें अपने धर्म छोड़े जा सकते हैं अर्थात् आपत्तिके समय यदि अपने धर्मका त्याग हो जाता है, तो कोई दोष नहीं है. उनमें कुछ ऐसे हैं, जिनकी दैवगतिसे कच्छ, शिखाएं नहीं खुली, वे कह रहे हैं, कि हम भयभीत हैं. शरीरमें डरे हुएका कार्य नहीं दीखनेसे मुखसे ही वे कह रहे हैं कि हम डरे हुए हैं।।३४।।

आभास: यदि कहें कि जो मारने योग्य हैं, वे किसी भी रूपमें उपस्थित हों, मारने योग्य ही होते हैं, तो हम डरे हुए हैं, ऐसा कहने पर भी क्या होगा? तो कहते हैं कि:

न त्वं विस्मृतशस्त्रास्त्रान् विरथान् भयसन्नतान्।
हंस्यन्यासक्तविमुखान् भग्नचापानयुध्यतः।।३५।।

श्लोकार्थ : जो भयके मारे शस्त्र-अस्त्र भूल गए हैं, रथहीन हैं, भयसे शरणागत हैं, अन्य कार्यमें आसक्त होकर युद्धसे विमुख हैं, अथवा जो

अन्यासक्त हैं और युद्धसे विमुख हैं, जिनके धनुष टूट गए हैं और जो युद्ध न कर, दर्शकके रूपमें उपस्थित हुए हैं, उन्हें तुम नहीं मारते।।३५।।

व्याख्यार्थ : संग्रामके धर्मको आप नहीं छोड़ते, अतः जो देवता भयसे शस्त्र एवं अस्त्रोंको भूल गये हैं, उन्हें आप नहीं मारते. शस्त्र वे होते हैं जो हाथोंसे पकड़कर चलाये जाते हैं और अस्त्र वे हैं, जो दूरसे चलाये जाते हैं. अथवा यों कहिये कि जो मन्त्रसे चलाये जाते हैं वे अस्त्र हैं. जो देवता इन दोनोंको भयसे भूल गये हैं उनको, तथा जो सारथि घोड़े आदि मरनेसे रथ रहित हो गये हैं, उन्हें "**प्रपन्नं विरथं भीतं न रिपुं हन्ति धर्मवित्**" वाक्यके अनुसार आप नहीं मारते. उपर्युक्त वाक्यका अर्थ यह है, कि जो शत्रु शरणागत, रथरहित और डरा हुआ हो, उसे धर्म जाननेवाले नहीं मारते. इससे यह बताया कि रथरहित शत्रुको भी नहीं मारना चाहिये. और जो भयसे शरणागत हैं, उन्हें भी नहीं मारना चाहिये. यहां प्रसङ्गसें दूसरोंको भी कहते हैं कि जो अन्यासक्त होकर युद्धसे विमुख हो गये हैं, अथवा यहां यह भी कहा जा सकता है, कि जो अन्यासक्त हैं और युद्धसे विमुख हैं, जिनके धनुष टूट गये हैं और जो युद्ध न कर, दर्शकके रूपमें उपस्थित हुए हैं उन्हें तुम नहीं मारते. ऊपर कहे गये छः प्रकारके अथवा अन्यासक्त एवं विमुखको भिन्न-भिन्न मानते हैं, तो सात प्रकारके होते हैं, इन्हें नहीं मारना चाहिये. अतः "**प्रपन्नं विरथं भीतं**" इस न्यायके अनुसार स्वधर्मके पालनसे देवता जीवित रहे हैं।।३५।।

आभास : इस प्रकार साधारण देवता आपका कुछ नहीं बिगाड सकते, ऐसा कहकर महान् भी आपका कुछ नहीं बिगाड सकते, यह कहते हैं:

किं क्षेमसूरैर्विबुधैरसंयुगविकत्थनैः।
रहोजुषा किं हरिणा शंभुना वा वनौकसा।।३६।।

श्लोकार्थ : देवता वहीं वीर बनते हैं, जहां अपने अकल्याणकी संभावना न हो. वे रणके बाहिर बडी-बडी डींग मारनेवाले हैं. उनसे तथा एकान्तमें रहनेवाले हरि भगवान्से, वनवासी शंकरसे अपना क्या बिगाड हो सकता है?।।३६।।

व्याख्यार्थ : जो भी वायु, अग्नि, वरुण आदि प्रसिद्ध शूर हैं, वे जबतक कल्याण रहे तभी तक शूर हैं, अथवा यों कहिये कि घरमें एवं भार्याके सम्मुख ही शूर बनते हैं, जहां उन्हें अकल्याणकी आशंका नहीं हैं, जैसे स्त्री अपने पतिको

नहीं मार सकती यह सम्भावना है. जहां यह सम्भावना हो कि मारेगा ही तो वे वहांसे भाग ही जाते हैं. इस अर्थका उन्हें परिज्ञान हैं, इसलिए वे विबुध हैं, अर्थात् कहां विपत्ति आ सकती है, और कहां नहीं, इस बातको देवता समझते हैं. इसलिए विबुध हैं अर्थात् विशेषरूपसे समझनेवाले हैं. इस प्रकार देवताओंके शरीरका शौर्य कहकर, अब उनकी वाणीके शौर्यको कहते हैं कि ''असंयुग–विकत्थनैः'', अपने पराक्रमसे प्रकट करनेवाले वाक्योंको कहना विकत्थन कहलाता है. यह डींग भी युद्धके बाहिर ही मारते हैं. अर्थात् जब किसीके साथ युद्ध न होता हो, तब हम ऐसे हैं, हम ऐसे हैं, ऐसी डींग मारते हैं. इस प्रकार देवताओंको दूषण लगाकर, मुख्य चार देवताओंके विषयमें कहते हैं कि हरि शूर अवश्य है, परन्तु वह किसीके सामने आता ही नहीं, वह तो उसीके सम्मुख प्रकट होता है, जो एकान्तमें उसीकी भक्ति करता है. स्तुतिपक्षमें जैसा पद है, वैसा ही अर्थ करना, जिससे भगवान्की स्तुति हो जाय. निन्दापक्षमें यह भाव होगा कि स्त्री जैसे किसीके सम्मुख नहीं आती और अपनेमें अनुरक्ति रखनेवालेको ही एकान्तमें मिलती है, वैसे ही हरि भी किसी अननुरक्त व्यक्तिके सम्मुख नहीं आता. इससे दैत्योंने भगवान्को स्त्री तुल्य बताया. और एक बात यह भी है, कि सब दुःखोंको दूर करनेवाला है, इसलिये हरि है. यहां दैत्योंका भाव यह है, कि जो शौर्य आदिसे रहित हैं और दुःखित हैं, उनके सामने ही प्रकट होता है. महादेव यद्यपि शूर है, परन्तु वह सदा वनमें रहनेवाला तपस्वी है. वनमें रहनेवाला तपस्वी किसीका शत्रु नहीं होता, क्योंकि वह किसीके समान नहीं होता, जहां समानता होती है, वहां ही द्वेष होता है।।३६।।

किमिन्द्रेणाल्पवीर्येण ब्रह्मणा वा तपस्यता।
तथापि देवाः सापत्न्यान्नोपेक्ष्या इति मन्महे।।३७।।

श्लोकार्थ : यद्यपि अल्प वीर्यवाले इन्द्रसे, तथा तप करनेवाले ब्रह्मासे कुछ भी नहीं बिगड सकता, तथापि शत्रुता होनेसे देवता उपेक्षणीय नहीं है, ऐसा हम मानते हैं।।३७।।

व्याख्यार्थ : देवताओंका इन्द्र यद्यपि वृत्रासुरको मारनेवाला है, तथापि अल्प पराक्रमी है. यदि अधिक पराक्रमी होता तो वज्र आदि लेनेकेलिए वह प्रार्थना क्यों करता. ब्रह्मा यद्यपि महान् हैं, तथापि ब्राह्मण ही है, और तपस्वी है. ब्राह्मण एवं तपस्वीका कोई शत्रु नहीं होता. दैत्य कहते हैं कि इस प्रकार यदि

विचार किया जाय, तो सभी देवता कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते, तो भी राजनीतिके विचारसे वे उपेक्षाके योग्य नहीं हैं, क्योंकि देवताओंके और दैत्योंके परस्पर सापत्न्य है. यद्यपि देवता और दैत्य सब ही कश्यपजीका हिस्सा लेनेवाले हैं अर्थात् उनकी सन्तान हैं, परन्तु भिन्न-भिन्न मातासे पैदा हुए हैं, इसलिये वे परस्परमे सहज शत्रु हैं. जब ही वे देवता पुष्ट हो जायेंगे तब ही हमें मारेंगे, इसलिये देवता उपेक्षणीय नहीं हैं, उन्हें क्षीणदशामें ही मारना चाहिये. यह बात हो सकती है, या नहीं यह विचारक जानें, हम तो ऐसा मानते हैं।।३७।।

आभास : इस प्रकार कंसके माहात्म्यको और नीतिको कहकर, अब क्या करना चाहिए? इस पर दैत्य कहते हैं कि:

ततस्तन्मूलखनने नियुङ्क्ष्वास्माननुव्रतान्।।३८।।

श्लोकार्थ : इसलिए उनके मूलको उखाडनेकेलिए हमें आज्ञा दीजिए, क्योंकि हम सर्वथा आपका अनुसरण करनेवाले हैं।।३८।।

व्याख्यार्थ : जो भी देवताओंका मूल हो, उसे ही उखाड़ फेंकनेकेलिए आज्ञा दीजिये. हम आपके अनुव्रत हैं अर्थात् आपका अनुसरण करनेवाले हैं. यहां 'अनुव्रत' शब्दको यौगिक मान लेते हैं तो 'अनु= पश्चात् गमनस्य व्रतं= नियमो येषाम्', ऐसा अर्थ होता है, अर्थात् आपके पीछे चलनेका है, नियम जिनका. ऐसे हमको आज्ञा दीजिये. यदि 'अनुव्रत' शब्दको रुढ मानते हैं, तो सेवक अर्थ होता है. इस अर्थके मानने पर भी यही तात्पर्य होगा कि हम आपका अनुसरण करनेवाले सेवक हैं. मूल कौन है, इसे आगे बतायेंगे और खननको पहले कह रहे हैं।।३८।।

आभास : यदि देवताओंकी उपेक्षा करें, तो क्या दोष होगा? तो कहते हैं कि:

यथामयोऽङ्गे समुपेक्षितो नृभिर्न शक्यते रूढपदश्चिकित्सितुम्।
यथेन्द्रियग्राम उपेक्षितस्तथा रिपुर्महान् बद्धबलो न चाल्यते।।३९।।

श्लोकार्थ : जैसे शरीरमें होनेवाले ज्वर आदि रोगकी उपेक्षा की जाए, तो वह अपनी जड जमा लेता हैं और फिर असाध्य हो जाता है. जैसे इन्द्रियोंकी उपेक्षा करनेवाले योगीका उनके द्वारा सर्वनाश हो जाता है, वैसे ही शत्रुकी उपेक्षा की जाए, तो उसके प्रबल होने पर उसका दबाना कठिन हो जाता है और उससे अपना सर्वनाश हो जाता है ।।३९।।

व्याख्यार्थ : ज्वर आदि रोग शरीरमें उत्पन्न हो जाय और उसकी परवाह न कर, स्नान भोजन आदि करता रहे, तो उस रोगके दृढमूल हो जाने पर उसकी चिकित्सा नहीं हो सकती और वह अपने शरीरको ही नष्ट कर देता है. यदि ज्वरसे सन्निपात हो गया, तो अच्छे वैद्यसे भी उसकी चिकित्सा नहीं हो सकती. इससे यह शंका निवृत्त हुई कि सम्बन्ध रहते कैसे मारें. जैसे शरीरसे पैदा होनेसे रोग अपना सम्बन्धी है, परन्तु उपेक्षा होने पर वह अपना सर्वनाश करनेवाला है, इसलिए उसके मिटानेका उपाय करना ही चाहिये, वैसे ही यदि कोई अपना सम्बन्धी है, और अपना सर्वनाश करनेवाला है, तो उसे भी नष्ट करना ही चाहिये. यह बात लौकिक बाधकरूपमें कही. अब वैदिक बाधा बताते हुए दूसरा दृष्टान्त देते हैं कि जैसे योगीको परम पुरुषार्थ साधन करना हो, तो अपने इन्द्रिय समूहकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये. यदि उनकी उपेक्षा की जाती है, तो ''इन्द्रियैर्विषयाकृष्टैराक्षिप्तं''के अनुसार उसका सर्वनाश हो जाता है. यदि इन्द्रियां प्रबल हो गईं, तो फिर वे विषयोंसे हटाई नहीं जा सकती. और रोग बढ़ने पर शरीरको नष्ट करेगा, इसलिये वह व्यक्ति ऐहिकफलसे वञ्चित रहेगा. जैसे योगीकी इन्द्रियोंके प्रबल होने पर उसे परलोकका सत्फल नहीं मिलता और रोगकी उपेक्षासे जैसे ऐहिकफल नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार देवताओंकी उपेक्षा करने पर देवताओं द्वारा दैत्योंका सर्वनाश हो जायेगा. इसी बातको कहनेकेलिए ''रिपुर्महान् बद्धबलो न चाल्यते''से कहा है. जो स्वरूपसे पहिले ही अपनेसे महान् हैं, फिर यदि वे बलवान् बन जाते हैं, तो उन्हें विचलित भी नहीं किया जा सकता. इसलिये देवताओंकी उपेक्षा करना उचित नहीं है।।३९।।

आभास : अब दैत्य देवताओंके मूलको बताते हैं:

मूलं विष्णुर्हि देवानां यत्र धर्मः सनातनः।
तस्य च ब्रह्मगोविप्रास्तपोयज्ञाः सदक्षिणाः।।४०।।

श्लोकार्थ : देवताओंका मूल विष्णु है, जिसमें यज्ञादिरूप सनातन धर्म रहता है, उस विष्णुके तथा देवताओंके मूल वेद, गायें, ब्राह्मण, तप तथा दक्षिणा सहित यज्ञ हैं।।४०।।

व्याख्यार्थ : देवताओंका मूल विष्णु है. सब देवता विष्णुसे पैदा हुए है. देवता सत्त्वगुणवाले हैं और सत्त्व अथवा यज्ञके अधिष्ठाता विष्णु हैं. देवताओंका मूल विष्णु है, इसमें बताई गई युक्तिको श्लोकमें आया 'हि' शब्द कहता है.

देवताओंका मूल विष्णु है. इस बातको प्रकारान्तरसे भी कहते हैं कि 'यत्र धर्मः सनातनः'. याग आदि जो धर्म हैं, वह देवताओंके उद्देश्यसे द्रव्य अर्पण करना रूप हैं और वेदमें कहा गया धर्म ही सनातन(सदासे रहनेवाला) है, जैसा कि श्रुतिमें कहा है, ''**तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्**'', यागादि धर्म आरम्भसे ही थे अथवा यों कहिये कि वे धर्म सबसे प्रथम थे. यदि यज्ञ नहीं होते हैं, तो देवताओंको भक्ष्य नहीं मिलता, इसलिए यज्ञ, देवताओंका मूल है, और वह यज्ञ अपने देवतासे नियम्य है. यज्ञका देवता विष्णु है, जैसा कि ''**यज्ञो वै विष्णुः**''से कहा गया हैं. यज्ञ विष्णुरूप हैं, इसलिए यज्ञका नियामक विष्णु है. वह विष्णु यज्ञका नियामक ही नहीं है, किन्तु यज्ञका आधार भी है, इसलिये ''यत्र धर्मः सनातनः''में 'यत्र' पद दिया है, अर्थात् जिस विष्णुमें सदासे रहनेवाले याग आदि धर्म हैं. यहां 'यत्र' इस अधिकरण निर्देशसे धर्मका आधार भगवान् है, यह कहा, इसलिए ''धर्मस्य प्रभुरच्युतः'' ऐसा कहा है, अर्थात् धर्मका स्वामी विष्णु है, इससे सिद्ध हुआ कि लौकिक-वैदिक देवताओंका मूल विष्णु है, और उस विष्णुका तथा देवताओंके मूल-वेद, गायें, ब्राह्मण, तप और दक्षिणा सहित यज्ञ हैं. यज्ञमें वेद प्रमाण माना जाता है. गायोंमें हवि(घृत) रहता है, और ब्राह्मणमें मन्त्र रहते हैं. धर्म दो प्रकारका है, एक प्रवृत्तिरूप और दूसरा निवृत्तिरूप. प्रवृत्तिरूप धर्म, यज्ञ है, और निवृत्तरूप धर्म तप है. दक्षिणा यज्ञकी भार्या है, उस सहित यज्ञका यहां निर्देश है, इसलिए यज्ञको प्रवृत्ति धर्मरूप बताया. तात्पर्य यह है, कि जो स्त्रीके साथ रहता है, वह प्रवृत्तिमार्गमें ही समझा जाता है. वेद[१], यज्ञ, गो, विप्र, और तप ये पांचो जिसके स्वरूप हैं, ऐसा विष्णु ही देवताओंका मूल है. प्रकारान्तरसे दो ही मूल हैं. मूल बतानेवाले वाक्यसे यह सिद्ध होता है, कि ब्राह्मण और गायें, ये दो मुख्यरूपसे मूल हैं, अर्थात् दुहाती हुई गायें और यज्ञ करनेवाले तपस्वी वेद वेत्ता ब्राह्मण. यज्ञकेलिये घृत एवं दुग्ध, गायोंसे मिलता है, और यज्ञ करानेवाले ब्राह्मण, मन्त्र बोलनेवाले होते हैं, इन दोनोंसे यज्ञ सम्पन्न होता है. तपस्वी वेदवेत्ता ब्राह्मण निवृत्तिमार्गीय धर्मके चलानेवाले हैं।।४०।।

१.''पञ्चात्मको वा मूलत्वेन निरूपितः'' इस सुबोधिनी पर श्रीपुरुषोत्तमजी कहते हैं कि वेद, यज्ञ, गो, विप्र और तपरूप विष्णु ही देवताओंका मूल है.

आभास : ब्राह्मण एवं गायोंके उन्मूलनकेलिए कहते हैं:

तस्मात् सर्वात्मना राजन् ब्राह्मणान् ब्रह्मवादिनः।

तपस्विनो यज्ञशीलान् गाश्च हन्मो हविर्दुघाः।।४१।।

श्लोकार्थ : इसलिए अपनेसे, दूसरोंसे साक्षात् एवं परम्परया जैसे भी लौकिक–वैदिक साधन न कर सकें, वैसे हम वेद एवं वेदार्थ जाननेवाले, तपस्वी तथा जिनका यज्ञ करनेका स्वभाव है, ऐसे ब्राह्मणको और हविष्य देनेवाली गायोंको मारेंगे।।४१।।

व्याख्यार्थ : जिस प्रकार लौकिक एवं वैदिक साधनोंसे वे स्वयं हटे अथवा दूसरोंके द्वारा हटाये जाय, ऐसा उपाय साक्षात् हम करें, अथवा दूसरोंसे करावें और ऐसे ब्राह्मणोंको मारें, जो वेद तथा कर्म एवं ज्ञानरूप जो वेदके अर्थ हैं, उनको जाननेवाले हों अर्थात् जो कर्म एवं ज्ञानमें निरत, तपस्वी, यज्ञ करनेके स्वभाववाले ब्राह्मण हों और गायें भी वैसी हो, जो हविकेलिए दुही जाती हो, उन सबको हम मारेंगे. श्लोकमें 'हन्मः' पदमें जो वर्त्तमानकालमें लट् है, वह "**वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद् वा**"से किया है. यदि ऐसा यहां नहीं मानते हैं, तो 'हन्मः' यह प्रयोग हो ही नहीं सकता, क्योंकि इस समय मन्त्रणा ही हो रही है, मारना आरम्भ नहीं किया गया है, अतः "**वर्तमाने लट्**" सूत्रसे यहां लट् नहीं हो सकता. शीघ्रातिशीघ्र मारना बताना है, इसलिए भविष्यत् अर्थमें भी "**वर्तमान सामीप्ये वर्तमानवद् वा**" इस सूत्रसे लट् हो गया।।४१।।

आभास : इस प्रकार विष्णुके मूलभूत ब्राह्मण एवं गायोंको मारना चाहिए, ऐसा निरूपणकर, अब साक्षात् निराकरण करनेकेलिए ये भगवान्के शरीर हैं, ऐसा निरूपण करते हैं:

विप्रा गावश्च वेदाश्च तपः सत्यं दमः शमः।
श्रद्धा दया तितिक्षा च क्रतवश्च हरेस्तनूः।।४२।।

श्लोकार्थ : ब्राह्मण, गायें, हविष्यके उपयोगी सभी अन्न, वेद एवं उनके अंग अथवा व्रत, तप, सत्य, इन्द्रियोंका दमन, अन्तःकरणका शमन, श्रद्धा, दया, तितिक्षा(अतिक्रमणको सहन करना) तथा 'ज्योतिष्टोमादि याग' ये सब हरि भगवान्के शरीर हैं।।४२।।

व्याख्यार्थ : ब्राह्मण, गायें, श्लोकमें आये 'च'कारसे दूसरे–दूसरे हविष्यके साधन, सभी अन्न, वेद तथा श्लोकमें आये दूसरे 'च'कारसे लिये गये वेदोंके अंग अथवा व्रत. यहां श्लोकमें आये 'तपः सत्यं दमः शमः' पदोंसे क्रमसे ब्रह्मचर्यादि आश्रमधर्म लिये गये हैं. तप शरीरका धर्म है. सत्य वाणीका, दम

इन्द्रियोंका, शम अन्तःकरणका धर्म है. सबमें श्रद्धा, सब प्राणियोंमें दया, अतिक्रमण सहन करना, ये श्लोकमें शब्दतः कहे गये दश धर्म भगवान्‌के दश अवताररूप हैं. ज्योतिष्टोम आदि याग अनन्त हैं. ये सब सम्पूर्ण दुःख हरण करनेवाले हरि भगवान्‌के शरीर हैं. अतः इन सबका आत्मा विष्णु है. इससे उसके प्रयत्नसे ही ये काम करते हैं. जैसे शरीरमें जीवके रहते चेष्टा होती है, वैसे ही ब्राह्मण आदिका संचालन विष्णुसे ही होता है, क्योंकि ये सब उसके शरीर हैं।।४२।।

आभास : इस बातका उपसंहार करते हुए दैत्य, भगवान्‌को ही इनका मूल बताते हैं:

स हि सर्वसुराध्यक्षो ह्यसुरद्विड् गुहाशयः।
तन्मूला देवताः सर्वाः सेश्वराः सचतुर्मुखाः।।
अयं हि तद्वधोपायो यदृषीणां विहिंसनम्।।४३।।

श्लोकार्थ : वह विष्णु सब देवताओंका अध्यक्ष, दैत्योंका शत्रु, अन्तःकरणमें गुप्तरूपसे रहनेवाला, तथा ब्रह्मा, महादेव सहित सब देवताओंका मूल हैं, अतः उसके मारनेका उपाय यही है, कि ऋषियोंको मारना।।४३।।

व्याख्यार्थ : जहां प्रधान और अप्रधान बताये जाय, वहां प्रधानमें कार्य होता है, यह ही "**गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसंप्रत्ययः**"का आशय है. अतः इस न्यायसे गौण(अमुख्य) देवताओंको मारना व्यर्थ है, किन्तु इनका अध्यक्ष विष्णु ही हैं, अतः उसे ही मारना चाहिये. एक बात यह भी है, कि अन्य देवता विष्णुकी तरह द्वेष नहीं करते, वे कभी समुद्रमन्थन आदि कार्योंमें हमारे साथ भी रहते हैं, परन्तु विष्णु तो हमसे द्वेष ही करता रहता है. उसे साक्षात् मार भी नहीं सकते, क्योंकि वह गुप्तस्थानमें अथवा "**गुहां प्रविष्टौ**"के अनुसार गुप्त अन्तःकरणमें रहता है[१]. भगवान् लौकिक स्वामी(राजा)की तरह देवताओंका अध्यक्ष ही नहीं है, किन्तु उनका मूलभूत भी है. श्लोकमें 'देवताः' यह स्त्रीलिंगका निर्देश है, इससे दैत्य सूचित करते हैं कि देवता स्त्रीकी तरह नगण्य हैं. महादेव और ब्रह्मा भी स्वतन्त्र नहीं हैं, इस बातको 'सेश्वराः सचतुर्मुखाः'से कहा है, अर्थात् महादेव एवं ब्रह्मा सहित सभी देवोंका मूल भगवान् ही है, अतः विष्णुका प्रतिकार करना चाहिये. उसके प्रतीकारकेलिए ऋषियोंका, तथा उनसे प्रवर्तित धर्मका निराकरण करना आवश्यक है. यहां 'ऋषि' पदसे उनसे उपदिष्ट धर्म भी लिया गया है।।४३।।

१.श्रीपुरुषोत्तमजी लिखते हैं : श्रीसुबोधिनीमें जो 'गुप्त' पद आया है, इसका अर्थ यह

है, कि वह सुरक्षित स्थानमें रहता है, अथवा यों कहिये कि अन्तःकरणमें रहनेवाला है, इसलिए अत्यन्त समीप है, परन्तु जब अन्त:करण ही अणु है, तो उसमें रहनेवाला भगवान् तो अत्यन्त सूक्ष्म है, और वह नित्य भी है, अतः उसको मारना कठिन है. एक बात यह भी है, कि वह अन्तःकरणमें रहता है, इसलिए हमारे विचारोंको समझकर अन्तर्हित हो सकता है. अन्तःकरणमें रहनेवाला तब ही मारा जा सकता है, जब अन्तःकरणवाला स्वयं मरे. यदि स्वयं ही मर जाता है, तो फिर दूसरेको कैसे मार सकता है, इसलिए वह विष्णु मारा नहीं जा सकता.

आभास : इस प्रकार दैत्योंके वचनको सुनकर कंसने क्या किया? सो कहते हैं:

एवं दुर्मन्त्रिभिः कंसः सह सम्मन्त्र्य दुर्मतिः।
ब्रह्महिंसां हितं मेने कालपाशावृतोऽसुरः।।४४।।

श्लोकार्थ : इस प्रकार वह कंस, दुष्टमन्त्रियोंसे मन्त्रणाकर, खराब बुद्धिवाला हो गया और उसने ब्राह्मणोंकी हिंसाको अपना हित माना, क्योंकि वह असुर होनेसे स्वभावसे दुष्ट था और कालपाशसे आवृत भी था।।४४।।

व्याख्यार्थ : इस प्रकार कुमन्त्रियोंसे मन्त्रणाकर, ब्राह्मणोंको मारना उसने अपना हितकर समझा. शंका होती है कि वह कंस क्षत्रिय है, और क्षत्रिय ब्राह्मणोंका रक्षक होता है, तो फिर इसने ब्राह्मणोंकी हिंसाको हित कैसे माना? तो कहते हैं कि जिनके साथ कंसने मन्त्रणा की, वे दुष्ट मन्त्री थे, क्योंकि उन्हें ऐसा करने पर परिणाममें क्या होगा इसका ज्ञान नहीं था. कंसने उनके साथ मन्त्रणा की, इसलिये वह भी दुर्बुद्धिवाला हो गया. बुद्धिसे ही सब निर्णय होता हैं. बुद्धिका नाश करनेवाला दुःसंग है, ऐसी स्थितिमें यदि दुष्टोंको ही मन्त्री बना ले, तो फिर कहना ही क्या है. अत एव ब्राह्मणोंकी हिंसाको अपना हितकर माना. यदि कहें कि दुःसंग होने पर भी उसका स्वाभाविक भाव कैसे बदल गया? तो कहते हैं कि वह असुर होनेसे स्वतः स्वभावदुष्ट था और कालपाशसे आवृत्त होनेसे आपदग्रस्त था. आपत्तिमें भी जब सम्पूर्ण बुद्धिका नाश हो जाता है, तो कालपाशसे वेष्टित होने पर तो महाविपत्ति आती ही है. ऐसी दशामें उसकी बुद्धिके नष्ट होनेमें क्या आश्चर्य है. यह बात काल एवं पाश, इन दोनों पदोंसे कही गई है।।४४।।

आभास : इस प्रकार बुद्धिके नष्ट हो जाने पर कंसने जो कुछ किया, उसे कहते हैं:

सन्दिश्य साधुलोकस्य कदने कदनप्रियान्।
कामरूपधरान् दिक्षु दानवान् गृहमाविशत्।।४५।।

श्लोकार्थ : स्वयं पीडा देनेकी इच्छावाले एवं इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले, उन राक्षसोंको सत्पुरुषोंको पीडा देनेकेलिए दशों दिशाओंमें जानेका आदेश देकर, वह कंस अपने महलमें चला गया।।४५।।

व्याख्यार्थ : जो स्वयं ही पीड़ा देना चाहते थे और पीड़ा देनेकेलिए जो नानारूप धारण कर सकते थे, उन्हें सत्पुरुषोंको पीड़ा देनेकेलिए दशदिशाओंमें अर्थात् अपने देशमें और दूसरे देशोंमें कंसने भेजा. जो इच्छानुसाररूप धारण कर सकते हैं, उनका सर्वत्र जानेका सामर्थ्य होता है, इसलिए उन्हें सर्वत्र भेजा. श्लोकमें आये 'दानव' शब्दका अर्थ क्रूर है. राक्षसमात्रमें दानव शब्दका प्रयोग होता है. अर्थात् वह कंस, उन क्रूर राक्षसोंको जानेका आदेश देकर, अपने महलमें चला गया. उसने अपने महलमें इसलिए प्रवेश किया कि यदि कोई इन राक्षसोंके उपद्रवसे दुःखी होकर, मेरे पास शिकायत करने आवे, तो मैं न मिलूं।।४५।।

आभास : उन दैत्योंने कंसकी आज्ञासे भी अधिक कार्य किया, यह कहते हैं:

ते वै रजः प्रकृतयस्तमसारूढचेतसः।
सतां विद्वेषमाचेरुरारादागतमृत्यवः।।४६।।

श्लोकार्थ : निश्चय करके रजोगुणके स्वभाववाले और आगन्तुक तमोगुणसे व्याप्तचित्तवाले उन दैत्योंने सत्पुरुषोंके साथ द्वेष किया, क्योंकि उनकी मृत्यु पास ही आ गई. जो आसन्नमृत्यु होते हैं, उन्हें कर्त्तव्याकर्त्तव्यका ज्ञान नहीं रहता।।४६।।

व्याख्यार्थ : निश्चय करके स्वभावसे ही दैत्य, रजोगुणकी प्रकृतिवाले होते हैं. जो राजस होते हैं, वे क्रूर होते हैं. इस पर भी उनके चित्तमें आगन्तुक तमोगुण व्याप्त हो गया. उनमें पूर्वमें रहे विवेकको नष्ट करनेकेलिए तमोगुण प्रविष्ट हो गया. ऐसी स्थितिमें जो रजोगुण तमोगुणसे व्याप्त हो जाते हैं, वे सात्त्विक पुरुषोंसे द्वेष करते ही हैं. इस कारणसे विशेषरूपसे जिससे द्वेष हो जाये, ऐसे उपद्रवकी चारों ओरसे करने लगे. इस श्लोकमें यह सिद्ध हुआ कि उन दैत्योंके अन्तःकरणके स्वरूपका नाश हो गया. अन्तःकरण वैकारिक अहंकारसे

पैदा होता है, और वह अन्तःकरण ज्ञानको पैदा करता है, इसलिए अन्तःकरण स्वरूपतः सात्त्विक है, उसके उस स्वरूपका नाश रजोगुणसे होता है, और जब सत्त्वरूप अन्तःकरण रहता है, तब उसमें ज्ञान रहता है. उनके उस ज्ञानको तमोगुणने नष्ट कर दिया, इसलिए ज्ञानरूप धर्मके नहीं रहनेसे धर्मतः उसका नाश हो गया. तात्पर्य यह है, कि अन्तःकरणका स्वरूप जो सात्त्विक था, उसे रजोगुणने नष्ट कर दिया और उसमें होनेवाले ज्ञानको तमोगुणने नष्ट कर दिया, अतः अन्तःकरणके स्वरूपका और उसके धर्मका नाश हो गया, अतः दैत्योंने उपद्रव किया. शंका करते हैं कि दैत्योंने कंसकी आज्ञासे भी अधिक कार्य किस लिये किया? तो कहते हैं कि उनकी मृत्यु पास ही आ गई अर्थात् वे मरणासन्न थे, इसलिए ऐसा अनुचित कार्य किया. जो विकल होता है, वह उलटा कार्य करता ही है।।४६।।

आभास : दैत्योंके सर्वनाशकेलिए मायाने ही महान् पुरुषोंका अतिक्रमण कराया. इस बातको बतानेकेलिए महापुरुषोंके अतिक्रमसे क्या-क्या फल मिलते हैं, यह कहते हैं:

आयुः श्रियं यशो धर्मं लोकानाशिष एव च।
हन्ति श्रेयांसि सर्वाणि पुंसो महदतिक्रमः।।४७।।

श्लोकार्थ : (शुकदेवजी कहते हैं कि) जो लोग महापुरुषोंका अनादर करते हैं, उनका वह कुकृत्य, आयु, लक्ष्मी, यश, धर्म, एवं उससे प्राप्त होनेवाले स्वर्गादिलोक, पुत्र आदि जो भी अभीष्ट हैं, उनको और अन्य सब कल्याणोंको नष्ट कर देता है।।४७।।

व्याख्यार्थ : श्लोकमें बताये गये छः गुण जीवोंमें उत्तम हैं. उनके नहीं रहने पर प्राणी अकृतार्थ करता है. छः गुणोंमें पहली आयु है, क्योंकि जीवित रहेगा तब ही तो सब कुछ करेगा. वह आयु महान् पुरुषोंके अनादरसे नष्ट हो जाती है. उसके बाद महान् पुरुषोंका अतिक्रमण लक्ष्मीको नष्ट करता है. लक्ष्मीसे जो उपकार होता है, वह स्पष्ट ही है. तदनन्तर यश, तत्पश्चात् अन्तरंग धर्म और उससे होनेवाले स्वर्गादिफल, लोकके सभी वांछनीय और श्लोकमें आये 'च'कारसे लिये गये पुत्रादि, जो ऐहिक फलरूप माने जाते हैं, वे और 'एव'कारसे जितने भी जीवको अभीष्ट हैं, वे सब लिये गये हैं अर्थात् जिसको जो भी अभीष्ट है, उन सबको महापुरुषोंका अतिक्रमण नष्ट कर देता है. यदि ऐसा नहीं कहा जाय

तो श्लोकमें गिनाये गये, यदि किसीको अभीष्ट न हो, तो महापुरुषोंके अतिक्रमणसे उनका कुछ नहीं बिगड़ेगा, इसलिए यह कहना आवश्यक है, कि जिसको जो भी कुछ अभीष्ट है, वह सब नष्ट हो जाता है. लोकसिद्ध आयु आदिको तो गिना दिया, अब जिनको नहीं गिनाया गया, उनके संग्रहकेलिए कहते हैं कि 'सर्वाणि' अर्थात् सब कुछ कल्याण नष्ट हो जाते हैं. श्लोकमें जो 'पुंसः' यह आया है, उसका तात्पर्य यह है, कि पुरुष स्वतन्त्र होता है, उसके भी उपर्युक्त सभी नष्ट हो जाते हैं. श्लोकमें आये 'महान्'का अर्थ भगवदीय है, अर्थात् जो भगवद्भक्त होता है, वह महान् होता है, उसका उल्लंघन यह सब कुछ करता है. जीव भगवान्के सम्बन्धसे ही महान् बनता है. यदि ऐसा नहीं मानते हैं, तो व्रीहिके अग्रभागके समान जीव महान् कैसे बन सकता है? अतः यह समझना चाहिये, कि जीवमें महत्ता भगवत्सम्बन्धसे ही आती है. क्योंकि भगवान् महान् हैं, इसलिए उससे सम्बन्ध करनेवाला जीव महान् बन जाता है. जैसे अग्निके सम्बन्धसे जलमें उष्णता आती है, वैसे ही भगवान्के सम्बन्धसे भगवान्की महत्ता जीवमें आती है. इस प्रकार सबको दुःख देना रूप जो मायाका कार्य हुआ, वह अनिरुद्ध द्वारा धर्म रक्षा करानेमें कारण हुवा. यदि माया कंससे इतना उपद्रव नहीं कराती, तो अनिरुद्धव्यूहका चरित्र, जो धर्मरक्षणरूप है, वह नहीं होता।।४७।। इति शम्.

इति श्रीमद्भागवत महापुराणके दशम स्कन्धके अध्याय ४ की
श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्रीसुबोधिनी टीकाका हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण.